महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य विरचित
श्रीभागवत विवृति

सुबोधिनी

हिन्दी भावानुवाद

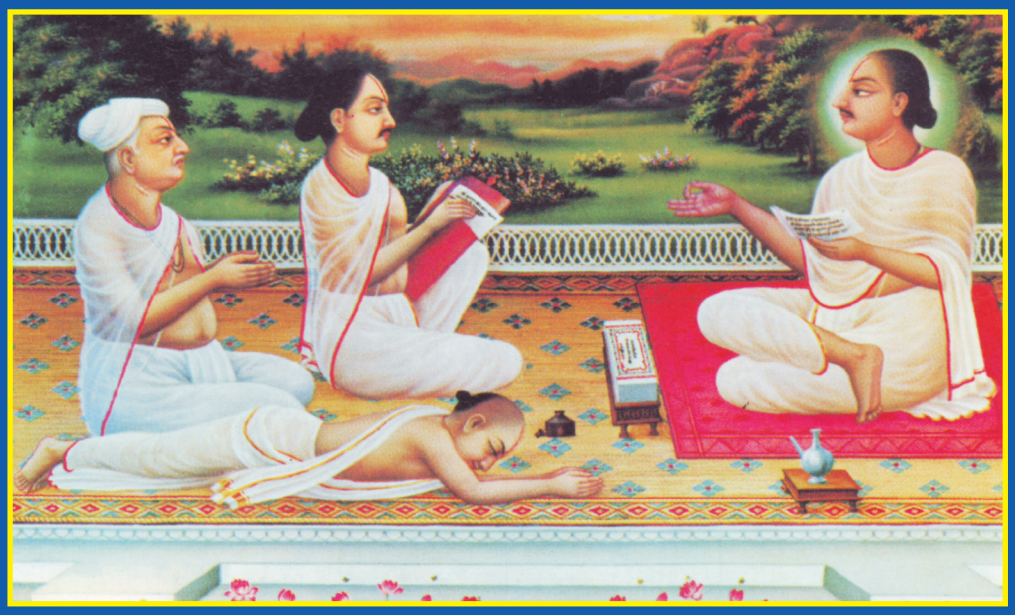

दशम स्कन्ध गुण प्रकरण

(अध्याय ८२/८५–८७/९०)

खंड १४/क

जय श्रीकृष्ण

श्रीवल्लभाधीशो जयति

महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्य

... तब व्यासजीने भागवतपुराण प्रकट किया जिसके अभ्यास (श्रवण–स्मरण–कीर्तन) से लोग मुक्त हो सकते हैं, बशर्ते भागवतका आजीविकार्थ उपजीवन न किया जाय. यह श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ साधन है. अतः प्रयत्नपूर्वक, किसी लौकिक हेतु या दम्भ के बिना, आदरके साथ इसका पठन करना चाहिये. भागवतका पाठ प्रयत्नपूर्वक किसी भी अन्य हेतुके बिना ही करना चाहिये. प्राण चाहे कण्ठमें ही क्यों न अटक जायें परन्तु आजीविकार्थ उसका उपयोग नहीं ही करना चाहिये. भागवतका आजीविकार्थ उपयोग न करके अन्य किसी भी उपायसे अपना निर्वाह चले चला लेना चाहिये

(तत्त्वार्थदीपनिबन्ध.२।६७, २४३, २५४).

जो लोग भगवद्गुणगानको अपनी आजीविकाका साधन बनाते हैं ऐसे गुणगानकर्ता गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये जमीनमें खोदे गये गहरे गढ्ढेकी तरह होते हैं. (जलभेद.५)

मुंह–हाथ–पांव आदि धोनेमें प्रयुक्त गंदे जलको एकत्रित करनेकेलिये भूमिमें जो गढ्ढे खोदे जाते हैं उनके जैसे अधम होते हैं दक्षिणा लेकर कथा करनेवाले ...आशय यह है कि गढ्ढेमें भरे हुवे प्रक्षालनोच्छिष्ट गंदे जलकी तरह इन गानोपजीविओंका भाव सत्पुरुषोंकेलिये ग्राह्य नहिं होता ... पौराणिकोंके भावोंका निरूपण करनेके बाद जो गायकोंका निरूपण किया गया है वह यह दिखलानेकेलिए कि (आजीविकार्थ पुराणोंका उपयोग करनेवाले) पौराणिक भी ऐसे गायकोंके तुल्य नीच ही होते हैं.

(श्रीकल्याणरायविरचित जलभेदविवृति ५).

।। प्रासंगिक ।।

यह ज्ञापित करते हुए अत्यन्त हर्ष हो रहा है कि महाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीभागवतकी विवृति 'सुबोधिनी'के हिन्दी अनुवादका पुनः प्रकाशन किया जा रहा है.

यह तो सुविदित है कि मूल संस्कृत सुबोधिनीका पुनः प्रकाशन पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजीके सम्पादकत्वमें श्रीवल्लभविद्यापीठश्रीविट्ठलेश-प्रभुचरण आश्रम ट्रस्ट, कोल्हापुर द्वारा किया गया है.

सुबोधिनीके गो.वा.श्रीनानुलाल गांधी, गो.वा.श्रीमग्नलाल शास्त्री तथा गो.वा.श्रीव्रजलाल सांकळीया आदि विद्वानों द्वारा लिखित गुर्जरभाषानुवादका पुनः प्रकाशन श्रीवल्लभाचार्य ट्रस्ट, मांडवी द्वारा किया जा चुका है.

इसी तरह श्रीरामानुजमतानुयायी किन्तु सुबोधिनीके परम प्रेमी श्रीटी. रामनन्ने सुबोधिनीका अंग्रेजी अनुवाद करके उसे सद्गुरु पब्लिकेशन्स, दिल्ली द्वारा मूल संस्कृत सहित प्रसिद्ध करवाया है, जो २४ खंडोंमें उपलब्ध होता है. यह अंग्रेजी अनुवाद श्रीरामन्ने श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर द्वारा प्रकाशित, सम्प्रति अनुपलब्ध, सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका ही किया है. वे लिखते हैं:

> "I owe a deep debt of gratitude to Sri Subodhini Parakashan Mandal (Jodhpur). My traslation is, to a very large extent, based on this book and I am, indeed, very grateful for this Mandal".

सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादका प्रकाशन ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल''(जोधपुर) नामकी संस्थाको स्थापित करके उसके द्वारा गो.वा. श्रीनन्दलालजी मानधना,जोधपुर ने करवाया था. इनको इस भगीरथ कार्यमें गो.वा.श्रीरामचन्द्र(नन्ददास) वर्मा का साथ मिला. इन दोनों महानुभावोंकी निष्ठा प्रेरणा उत्साह और समर्पण से पुष्टिमार्गके अनेक विद्वानोंने मिल-जुलकर सुबोधिनीका अनुवाद तैयार किया. इनमें उल्लेखनीय हैं:

गो.वा.श्रीफतहचन्द वासु (जोधपुर)

दशमस्कन्धके नब्बे अध्यायोमेंसे चोहत्तर अध्याय;

तृतीय स्कन्धके १ से २१ अध्याय.

गो.वा.श्रीआनन्दीलालजी शास्त्री (श्रीनाथद्वारा)

प्रथम स्कन्धके १ से ९ अध्याय

गो.वा.श्रीनारायणप्रसाद व्यास(कोटा)

प्रथमस्कन्धके १० से १९ अध्याय.

गो.वा.पं.गोरधनजी शास्त्री(कोटा)

दशमस्कन्धके चौदह अध्याय,

गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी(नाथद्वारा)

द्वितीय स्कन्धके १ से ४ अध्याय. तृतीय स्कन्धके २२ से ३३ अध्याय .

गो.वा.श्रीरमानाथ शास्त्री(कांकरोली)

द्वितीय स्कन्धके ५ से १० अध्याय.

इस अनुवादके संशोधन तथा सम्पादन कार्यमें पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला), गो.वा.श्रीनारायणजी त्रिपाठी (श्रीनाथद्वारा) तथा गो.वा.श्रीरणछोड कलाधर भट्ट(मुम्बई) का भी योगदान रहा है. पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी (किशनगढ-पार्ला) तो ''श्रीसुबोधिनी प्रकाशन मंडल, जोधपुर'' के संरक्षक भी हैं.

इस श्रीभागवत-सुबोधिनीके हिन्दी अनुवादके पुनःप्रकाशनका एकमेव उद्देश्य यही है कि श्रीवल्लभवाङ्मय कभी भी किसी भी जिज्ञासुकेलिए अलभ्य न रहे. हमें विश्वास है कि इस पुनःप्रकाशनसे सुबोधिनीके अध्येताओंको अवश्य लाभ होगा.

अन्तमें सुबोधिनीके हिन्दी भाषानुवादके पूर्व प्रकाशक, अनुवादक, संशोधक, सम्पादक, द्रव्यसहायक आदि सभीके प्रति हम हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं तथा इस कार्यमें निःस्वार्थ भावसे सहयोग करनेवाले सभी वैष्णवोंका भी सादर स्मरण करते हैं.

सुबोधिनी स्वाध्याय मंडल

क्या आप पुष्टिमार्गी हैं?

एक बार श्रीवल्लभाचार्यके ये आदेश पढ़ें.

सोचें, क्या आप श्रीवल्लभके मार्ग पर चल रहे हैं?

परब्रह्म श्रीकृष्णको ही अपना आश्रय-रक्षक जानें. मन-वचन-कर्मसे अन्याश्रय कदापि न करें.

भगवानने पुष्टिजीवोंको अपनी स्वरूपसेवाकेलिये भूतल पर प्रकट किया है. कृष्णसेवा ही पुष्टिजीवका स्वधर्म है. अतः कृष्णसेवाको जो स्वधर्म समझता है वही पुष्टिजीव है और वही पुष्टमार्गमें प्रवेशके योग्य है.

भगवत् शास्त्रको अच्छी तरहसे समझकर, आत्मनिवेदित होकर अपने तन-धनसे अपने घरमें श्रीकृष्णकी सेवा करें.

घरमें बिराजते ठाकुरजीको ही अपना सर्वस्व समझें जो खास आप ही के उद्धारार्थ कृपा करके आपके घर पधारे हैं. उनको छोडकर अन्य ठाकुरजीके दर्शन-सेवा केलिये भटकना अपने सेव्यप्रभुका तिरस्कार है.

अपनी सभी वस्तु-व्यक्ति-व्यवहारका समर्पण अपने घरमें बिराजते ठाकुरजीकी सेवामें ही करें. वे ही उनके सच्चे स्वामी हैं.

अपने ठाकुरजीको सर्वस्व समर्पित करके उस समर्पित महाप्रसादसे ही खान-पान-दान आदि सभी लौकिक-शास्त्रीय कार्य करें. असमर्पित पदार्थके उपयोगका सर्वथा त्याग करें.

हवेली-मन्दिरोंमें भेंट-सामग्री देकर कराये जाते सेवा-मनोरथ पुष्टिसिद्धान्तके अनुसार सेवा-भक्ति है ही नहीं; वो न केवल सेवा-भक्तिके नामपर पाखंड है अपितु परम पवित्र भगवत्सेवाको धंधा बनानेवाले दुष्टोंको पोषित करना है.

भगवत्सेवा-मनोरथ-कीर्तनके निमित्त भेंट-सामग्री मांगना-स्वीकारना उनको व्यापार-धंधा बनाना है. ऐसा पाप करनेवालेका नर्कमें पात होता है.

अतः भगवत्सेवा–मनोरथ–कीर्तनके निमित्त किसीको कुछ भी न दें.

अनजानेमें भी यदि कोई अवैष्णव सेव्य ठाकुरजीका दर्शन कर लेता है तो हमारी एक वर्षकी सेवा निष्फल हो जाती है. ऐसा हो जाने पर श्रीठाकुरजीको पञ्चामृत स्नान कराकर शुद्ध करना चाहिये.

भगवत्सेवा अपने ही घरमें करें. सार्वजनिक हवेली–मन्दिरमें सेवा–मनोरथ करना पुष्टिसिद्धान्तके अत्यन्त विरुद्ध है.

दर्शनको कभी भक्ति न समझें. दर्शनका आग्रह उसीका रखें जो कृपा करके आपके घरमें आपकेलिये आपके माथेपर बिराज रहे हैं, जिनकी सेवा आप स्वयं कर रहे हैं.

मंदिर–हवेलियोंमें दिया जाता या वहांसे खरीदा जाता प्रसाद–पातल महापातकी देवद्रव्य होता है. ऐसा प्रसाद खानेवाला नर्कमें ही जाता है.

प्रसादका नहीं किन्तु घरके ठाकुरजीने जो अङ्गीकार किया है उस समर्पित महाप्रसादको लेनेका आग्रह रखें.

भगवत्सेवाकी ही तरह भागवतका पाठ भी स्वयं ही करें. भक्तिभावकी वृद्धिके अलावा दूसरे किसी भी हेतुसे भागवतका पाठ न करें.

प्राण निकल जायें तो भले ही निकल जायें परन्तु दक्षिणा लेकर भागवतकी कथा–कीर्तन कभी भी न करें.

दक्षिणा लेकर कथा–कीर्तन करनेवालोंके मुखसे कथा–कीर्तन सुनना गटरका पानी पीनेके समान हीन कृत्य है. व्यावसायिक कथावक्ताओंके संगको दुष्टसंग समझकर उनका त्याग करो.

।। अनुक्रमणिका ।।

भागवतार्थ निबन्धानुसार सारणी

गुणप्रकरण तथा एकादशस्कन्ध की प्रस्तावना ०१

लेखक: पूज्य गोस्वामी श्रीश्याम मनोहरजी(पार्ला-किशनगढ)

भागवतार्थ निबन्ध ४९

श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रस्तोत्र(गुण प्रकरणके नाम) ६५

दशम स्कन्ध गुण प्रकरण

अध्याय ८२/८५. वसुदेवजीको ब्रह्मज्ञानका उपदेश तथा देवकीजीके छः पुत्रोंका लौटाना १

अध्याय ८३/८६. सुभद्राहरण और राजा जनक व श्रुतदेवके घर एक ही साथ जाना ४१

अध्याय ८४/८७. वेद स्तुति ७९

अध्याय ८५/८८. शिवजीका संकटमोचन १९३

अध्याय ८६/८९. भृगुजी द्वारा त्रिदेवोंकी परीक्षा २२२

अध्याय ८७/९०.भगवान् श्रीकृष्णकी लीला विहारका वर्णन २६३

एकादश स्कन्ध

अध्याय १. भगवानका मुक्तिलीला विहार तथा यदुकुलका उपसंहार ३०७

अध्याय २. वसुदेवजीके पास नारदजीका आना और उन्हें राजा जनक तथा नौं योगीश्वरों का संवाद सुनाना ३३२

अध्याय ३. माया, माया से पार होनेके उपाय तथा ब्रह्म और कर्मयोगका निरूपण ३७९

अध्याय ४. भगवानके अवतारोंका वर्णन ४२८

अध्याय ५. भक्तिहीन पुरुषोंकी गति और भगवानकी पूजाविधिका वर्णन ४५२

भागवतार्थ निबन्धानुसार प्रकरणादि विभाग

गुण प्रकरण

अध्याय ६

अध्याय.८२	ऐश्वर्य
अध्याय.८३	वीर्य
अध्याय.८४	यश
अध्याय.८५	श्री
अध्याय.८६	ज्ञान
अध्याय.८७	वैराग्य

एकादश स्कन्ध(मुक्तिलीला)

(अध्याय ३१)

जीवमुक्ति

अविद्यानाश और विद्यासे

अधिकारी: जनक. अध्याय १-५ ब्रह्मभावमुक्ति ज्ञानसे
१.वैराग्य २.सांख्य ३.योग. ४.तप ५.भक्ति

प्रकृतिके अतिक्रमणसे

अधिकारी: उद्धवजी. अध्याय ६-२९
सायुज्यमुक्ति भक्तिसे

ब्रह्ममुक्ति

अध्याय ३० अहन्तासे
अध्याय ३१ ममतासे
} ब्रह्म द्वारा नाट्यवत् ग्रहण किये इच्छाशरीरका त्याग

गुणप्रकरण तथा एकादशाध्यायत्रयी की प्रस्तावना

(गुणप्रकरणविषयवाक्य)

१.''स्वभावम् एके कवयो वदन्ति कालं तथा अन्ये परिमुह्यमानाः, देवस्य एष महिमा तु लोके येन इदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्. येन आवृतं नित्यम् इदं हि सर्वं, ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः, तेन ईशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यापस्तेजोऽनिलखानि चिक्त्यम्. तत् कर्म कृत्वा विनिवर्त्य भूयः तत्त्वस्य तत्त्वेन समेत्य योगम्, एकेन द्वाभ्यां त्रिभिः अष्टभिः वा, कालेन चैव आत्मगुणैश्च सूक्ष्मैः आरभ्य कर्माणि गुणान्वितानि भावान् च सर्वान् विनियोजयेद् यः, तेषाम् अभावे कृतकर्मनाशः कर्मक्षये याति स तत्त्वतो अन्यः. आदिः स संयोगनिमित्तहेतुः परः त्रिकालाद् अकलोऽपि दृष्टः, तं विश्वरूपं भवभूतम् आद्यम् ईड्यं देवं स्वचित्तस्थम् उपास्यं पूर्वम्''(श्वेता.उप.६।१-५).

२.''पुरुषः चेता प्रधानान्तःस्थः. सएव भोक्ता प्राकृतम् अन्नं भुक्तइति. तस्य अयं भूतात्मा हि अन्नम् अस्य कर्ता प्रधानः, तस्मात् त्रिगुणं भोज्यं, भोक्ता पुरुषो अन्तःस्थः... यस्माद् बीजसम्भवा हि पशवः, तस्माद् बीजं भोज्यम्. अनेनैव प्रधानस्य भोज्यत्वं व्याख्यातम्. प्राकृतम् अन्नं त्रिगुणभेदपरिणामित्वाद् महदाद्यं विशेषान्तं लिङ्गम्... सुखदुःखमोहसंज्ञं हि अन्नभूतम् इदं जगत्, नहि बीजस्य स्वादुपरिग्रहो अस्तीति यावद् न प्रसूतिः... एवं प्रधानस्य व्यक्ततां-गतस्य उपलब्धिः भवति, तत्र बुद्ध्यादीनि स्वादुनि भवन्ति. अध्यवसायसंकल्पाभिमानाः इत्यथ इन्द्रियार्थान् पञ्च स्वादुनि भवन्ति. एवं सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि एवं; व्यक्तम् अन्नम् अव्यक्तम् अन्नम्, अस्य निर्गुणो भोक्ता, भोक्तृत्वात् चैतन्यं प्रसिद्धं तस्य''(मैत्राय.उप.६।१०).

३.''ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यद् ज्ञात्वा मोक्ष्यसे अशुभाद् अनादिमत् परं ब्रह्म न 'सत्' तद् न 'असद्' उच्यते. सर्वतः पाणिपादान्तं सर्वतो अक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमद् लोके सर्वम्

आवृत्य तिष्ठति. सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् असक्तं सर्वभृत् चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च... कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः उच्यते, पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते, पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्, कारणं गुणसंगो अस्य सदसद्योनि-जन्मसु. 'उपद्रष्टा' 'अनुमन्ता' च 'भर्ता''भोक्ता' 'महेश्वरः' 'परमात्मा' इति चापि उक्तो देहे अस्मिन् पुरुषः परः... प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः यः पश्यति तथा आत्मानम् अकर्तारं च पश्यति, यदा भूतपृथग्भावम् एकस्थम् अनुपश्यति ततएव च विस्तारं ब्रह्म सम्पद्यते तदा. अनादित्वाद् निर्गुणत्वात् परमात्मा अयम् अव्ययः शरीरोऽस्थोऽपि, कौन्तेय !, न करोति न लिप्यते''

(भग.गीता. १३।१२-३१).

४.''सत्त्वं रजः तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनम् अव्ययम्... न अन्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टा अनुपश्यति गुणेभ्यः च परं वेत्ति मद्भावं सो अधिगच्छति. गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तो अमृतम् अश्नुते... मां च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्य एतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते''

(भग.गीता. १४।५-२६).

५.''सत्त्वं रजस् तम इति निर्गुणस्य गुणाः त्रयः, स्थितिसर्ग-निरोधेषु गृहीताः मायया विभोः. कार्यकारणकर्तृत्वे द्रव्यज्ञान-क्रियाश्रयाः बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः''

(भाग.पुरा. २।५।१८-१९).

६.''गुणेषु आविशते चेतो गुणाः चेतसि च प्रभो, कथम् अन्योन्यसंत्यागो मुमुक्षोः अतितितीर्षतोः?... मनसा वचसा दृष्ट्या गृह्यते अन्यैरपि इन्द्रियैः अहमेव न मत्तो अन्यद् इति बुद्ध्यध्वम् अञ्जसा. गुणेषु आविशते चेतो गुणाः चेतसि च प्रजाः जीवस्य देहे उभयं गुणाश्चेतो मदात्मनः. गुणेषु च आविशत् चित्तम् अभीक्ष्णं गुणसेवया गुणाश्च चित्तप्रभवाः, मद्रूपः उभयं त्यजेत्. जाग्रत् स्वप्नः सुषुप्तं च गुणतो बुद्धिवृत्तयः तासां विलक्षणो जीवः साक्षित्वेन विनिश्चितः. यर्हि संसृतिबन्धो अयम् आत्मनो गुणवृत्तिदो मयि तुर्ये

स्थितो जह्यात् त्यागः तद्गुणचेतसां'' (भाग.पुरा. ११।१३।२९).

७.''अहम् आत्मा उद्धव! अमीषां भूतानां सुहृद् ईश्वरः अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः. अहं गतिः गतिमतां कालः कलयताम् अहम् गुणानां चापि अहं साम्यं गुणिनि औत्पत्तिको गुणः'' (भाग.पुरा. ११।१६।९-१०)

भावानुवाद : १.कुछ मनीषी स्वभावकी कल्पना करते हैं तो दूसरे मुग्धजन कालकी, परन्तु, वस्तुतः तो इस लोकमें उस देवकी ही यह महिमा है जिसके कारण यह ब्रह्मचक्र फिरता रहता है. यह सब कुछ सदा उससे आवृत है, वह ज्ञानवान् कालका काल और सर्वज्ञ है, उसके द्वारा चिन्तित और नियत कर्मके कारण पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश प्रकट होते हैं. यहां कर्मको कर जो लौटनेको पुनः एक दो तीन या आठ तत्त्वसे तत्त्वको योजित कर, कालवश या सूक्ष्म आत्मगुणोंके वश कर्मोंका आरम्भ कर गुणोंसे अन्वित सारे भावोंको वहीं योजित कर पाता है, वह गुणोंके अभावमें किये हुवे सारे कर्मोंका क्षय होनेपर मूल तत्त्वको प्राप्त कर लेता है. जो गुणोंके साथ संयोगका आदि निमित्तकारण है वह कालत्रयातीत है और अकल भी है. ऐसे विश्वरूप आद्य भवभूत स्तुत्य देवको अपने चित्तमें उपास्यतया निरुद्ध करना चाहिये.

२.चेतन पुरुष अचेतन प्रधानके भीतर रहता है. तब वह प्राकृत अन्नका भोग करनेवाला भोक्ता बनता है. प्रधाननिर्मित यह भूतात्मा (विज्ञानात्माके वास्ते) अन्नकी तरह है. अतः भोज्य त्रिगुणात्मक होता है और भोक्ता पुरुष उस भोग्यान्नके भीतर रहता है. क्योंकि सारे पशु किसी न किसी बीजसे प्रकट होते हैं, अतः बीजको 'भोज्य' कहा जाता है. इसी आधारपर प्रधानके भोज्य होनेकी व्याख्या भी मिल जाती है. प्रकृतिके सत्त्वरजस्तमोगुणोंके वैषम्यके कारण परिणत होनेवाला अन्न प्राकृत माना जाता है, जो महत्तत्त्वसे ले कर विशेष पर्यन्त है... 'सुख' 'दुःख' या 'मोह' संज्ञक यह जगत् अन्नभूत है. बीज, परन्तु, तब तक स्वादिष्ट नहीं लगता, जब तक फल या धान्य के रूपमें परिणत न हो जाये... इस तरह प्रधानके

व्यक्त होनेपर ही उसकी उपलब्धि होती है. इनमें बुद्धि आदि स्वादपूर्ण होती हैं, क्योंकि बुद्धिकी विविध वृत्तियां, नामशः, अध्यवसाय संकल्प या अभिमान और इन्द्रियोंके पांच रूप रस गन्ध आदि अर्थ स्वादु होते हैं. इसी तरह अन्य भी इन्द्रियोंके और प्राणोंके सारे कर्मोके बारेमें भी समझ लेना चाहिये. व्यक्त और उनके उपादानभूत अव्यक्त भी अन्नरूप कहे जाते हैं. चेतनतया प्रसिद्ध होनेके कारण भोक्ता निर्गुण होता है.

३.अब उस ज्ञेयके बारेमें बता रहा हूं, जिसे जान लेनेपर सारी अशुभताओंसे मुक्त हुवा जा सकता है. वह है अनादि परं ब्रह्म. इसे न 'सत्' और न 'असत्' कहा जा सकता है. उसके हाथ-पैर सभी जगह पहुंच पाते हैं, उसके सिर आंख और मुख सभी जगह पसरे हुवे हैं. लोकमें सब कुछ वह सुन सकता है और सबको आवृत करके रहता है. सारी इन्द्रियोंसे ग्राह्य गुणोंका आभास उसमें होता है परन्तु वह सभी इन्द्रियोंसे विवर्जित है. कहीं भी सक्त न होनेपर भी सभीका भरण करता है, निर्गुण होनेपर भी गुणोंका भोग करता है... कार्य कारण और कर्ता का होना प्रकृतिके कारण सम्भव होता है, परन्तु, सुख-दुःखोंका भोक्ता पुरुष बनता है. क्योंकि प्रकृतिके भीतर रहनेवाला पुरुष प्रकृतिजन्य गुणोंका भोग करता होनेके कारण सद् या असद् योनियोंमें जनमता रहता है. इसी देहमें उपद्रष्टा अनुमन्ता भर्ताभोक्ता और महेश्वर परमात्मा के रूपमें एक अन्य पुरुष भी रहता है... सारेके सारे कर्म सर्वथा प्रकृतिके कारण प्रकट होते हैं, ऐसा जो देख-समझनेके कारण स्वयंको अकर्ता मान पाता है, वह सत्यद्रष्टा होता है. उत्पन्न होनेवाली सभी पृथक्-पृथक् वस्तुओंको किसी तत्त्वमें प्रकट होती जब कोई देख पाता है तो उसका ब्राह्मिक विस्तार सम्पन्न हो जानेके कारण उसे सभीका ब्रह्मतया अनुभव होने लगता है. अनादि-अव्यय और निर्गुण होनेके कारण यह परमात्मा शरीरके भीतर अवस्थित होनेपर भी न तो किसी कर्मका कर्ता बनता है और न कर्मके फलोंमें वह लिप्त हो पाता है.

४.सत्त्व रज और तम ये प्रकृतिसे पैदा होनेवाले गुण अव्यय

देहीको देहमें बांध देनेवाले बन जाते हैं...किन्तु इन गुणोंके अलावा और कोई कर्ता नहीं होता, ऐसा देख-समझ पानेवाला और स्वयंको इन गुणोंसे पर माननेके कारण भगवद्भावसे सम्पन्न हो जाता है. देहवशात् या देहोत्पादक इन तीन गुणोंका अतिक्रमण करनेपर जन्म मृत्यु वार्धक्य आदि दुःखोंसे मुक्त हो कर बद्धजीव अमृतलाभ पा लेता है... इसके अलावा भी जो अव्यभिचारी भक्तियोगद्वारा मेरा सेवन करता है वह भी वह भी इन तीनों गुणोंसे ऊपर उठ कर ब्रह्मभूय बन जाता है.

५.जगत्की उत्पत्ति स्थिति और निरोधके वास्ते निर्गुण विभु तत्त्वने अपनी मायाके द्वारा सत्त्व-रजस्-तमोरूप तीन गुण ग्रहण किये हैं. इन गुणोंके कारण द्रव्यमें कार्य होनेका, ज्ञानमें कारण होनेका; और, क्रियामें कर्ता होनेका आभास प्रकट होने लगता है. एतावता नित्यमुक्त होनेपर भी मायी पुरुष इन गुणोंमें बंध जाता है.

६.गुणोंमें चित्त आविष्ट रहता है और गुण चित्तमें, ऐसी स्थितिमें मुक्तिकामी यदि इन गुणोंके पार जाना चाहे तो कैसे जाये ?... मनसे वाणीसे दृष्टिसे या अन्य भी इन्द्रियोंसे मैं ही तो गृहीत होता हूं, मेरे अलावा और कुछ नहीं यह भलीभांति समझ जाओ. गुणोंके, परन्तु, अतिशय सेवनके कारण चित्त गुणोंमें आविष्ट हो जाता है और चित्तमें भी गुण आविष्ट हो जाते हैं. मेरे अवान्तररूप जीवके देहमें मेरे ही रूपान्तरतया ये चित्तप्रभव गुण और चैतन्य विद्यमान रहते हैं. मेरे अवान्तररूप जीवको चाहिये कि इन दोनोंका त्याग करे. जीवकी जाग्रदवस्था स्वप्नावस्था और सुप्तावस्था इन बुद्धिवृत्ति-ओंके गुणोंके कारण ही अनुभूत होती हैं. जीव तो साक्षी होनेके रूपमें इन गुणोंसे विलक्षण निर्गुण ही होता है. जब इस जीवात्माके भीतर अविद्याकृत गुणवृत्तियां मिल जाती हैं तो वह संसारमें बंध जाता है. जब जीवात्मा जाग्रदादि अवस्थारहित तुरीय अवस्थावाले मुझमें निरुद्ध हो जाता है तो गुण और चित्त दोनोंका ही प्रभाव सहज ही निरस्त हो जाता है.

७.मैं इन सभी भूतोंकी आत्मा सुहृद् ईश्वर हूं. सारे भूतोंके रूप

मैंने ही धारण किये हैं. उनके उद्भव स्थिति और लय भी मैं ही बनता हूं. जो गतिशील पदार्थ हैं उनमें गति मैं हूं, जिन पदार्थोंकी भूत-वर्तमान-भावी अवस्थाओंका आकलन हो पाता हो, उनमें मैं कालरूप हूं. गुणोंमें मैं उनकी साम्यावस्था हूं तथा गुणवान् पदार्थोंके जो भी स्वभावसिद्ध गुण हों वह मैं हूं.

(उपक्रम)

उपर्युद्धृत श्रुति स्मृति और पुराण के वचनोंकी एकवाक्यता साधनेपर जो बात उभर कर सामने आती है, वह यह है कि एक-अद्वितीय ब्रह्म परमात्मा भगवान् स्वरूपतः प्राकृत गुणत्रयीसे अतीत या रहित होनेपर भी स्वयं त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका रूप लीलया धारण करते हैं. अतः ये गुण ब्रह्मात्मक होनेपर भी ब्रह्म स्वयं त्रिगुणात्मकतया इदमित्थतया निर्धारित नहीं हो पाता.

भागवतके नब्भे अध्यायोंवाले दशम स्कन्धके तीन अध्याय प्रक्षिप्त होनेके कारण उसके ८७ अध्यायोंका प्रारूप महाप्रभुने यों दरसाया है "**चतुर्भिः च चतुर्भिः च चतुर्भिः च त्रिभिः तथा षड्भिः विराजते यो असौ पञ्चधा हृदये मम**" (सुबो.१०।१।१). अर्थात् दशमस्कन्धके प्रारम्भके चार अध्याय श्रीकृष्णकी जन्मलीलाके वर्णनपरक हैं. उसके बाद सात-सात अध्यायोंके चार सप्तकोंवाला प्रमाण प्रमेय साधन और फल रूपी उपप्रकरणोपेत तामसप्रकरण है. क्योंकि महाप्रभु कहते हैं कि प्रकृतिके तीन गुणोंमें जकड़े जीवात्माको गुणातीत परमात्माकी ओर अग्रसर होना हो तो इन गुणोंपर संयम या उनका त्याग अपेक्षित होता है. परमात्मा, परन्तु, जब स्वयं जीवात्माओंके बीच में प्रकट होना चाहता हो तो प्राकृत गुणोंवाली लीला प्रकट करनेमें उसकी निर्गुणता या गुणातीतता को क्षति नहीं पहुंचती. "**स्वभावस्य अन्यथाभावो न वै शक्यः कथञ्चन अतः त्रिविध-जीवेषु त्रिविधा भगवत्कृतिः**"(सुबो.१०।१।१(६)). अतः तामस स्वभाववालोंके बीच भगवान्की तामसी लीलामें उनके ऐश्वर्यादि छह दिव्य गुणों और धर्मिरूपेण प्रकट हो कर लीलापरिकरोंका चित्त स्वयंमें निरुद्ध कर लेते हैं. अतएव भागवतमें सुस्पष्ट शब्दोंमें कहा गया है "**नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिः भगवतो, नृप!, अव्ययस्य अप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः, कामं क्रोधं भयं स्नेहम् ऐक्यं सौहृदमेव वा नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मतां हि ते**"(भाग.पुरा.१०।२६।१४-१५). इसी तरह तृतीय प्रकरण भी अतएव सात-सात अध्यायोंके प्रमाण प्रमेय साधन और फल

रूपी चार सप्तकोंवाला, अर्थात् ३३वें अध्यायसे ६० अध्याय पर्यन्त कुल २८ अध्यायोंवाला राजसप्रकरण है. चतुर्थ सात्त्विकप्रकरण २८ अध्यायके बजाय २१ अध्यायोंवाला है. क्योंकि सात्त्विकी बुद्धिको पृथक् प्रमाणकी अपेक्षा नहीं रहती. अतः प्रमेय साधन और फल रूपी त्रिविध लीला ही इस प्रकरणमें भगवान्की वर्णित हुयी हैं, शेष सब समान है. यों ६१वें अध्यायसे ८१वें अध्याय वाले सात्त्विक प्रकरणके बाद प्रस्तुत अन्तिम पांचवाँ प्रकरण छह अध्यायोंवाला गुणप्रकरण है. यह भगवान्के ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य रूपी छह दिव्य गुणोंकी लीलाके निरूपणार्थ है.

अतएव स्कन्धान्तमें इसे ''यो असौ भगवान् षड्भिः लीलाभिः विराजते'' ऐसे सन्दर्भमें महाप्रभुको यह अभिप्रेत है.

(संशय)

यहां स्वाभाविकतया मनमें एक संदेह उभरता है कि यदि त्रिगुणात्मिका प्रकृतिके गुणोंके वैषम्यवश जीवात्माओंके भीतर पनपे स्वभाववैषम्यके प्रतिरूप भगवान्के दिव्य गुणोंवाली लीलाओंका निरूपण इन छह अध्यायोंमें अभिप्रेत हो तो, या तो प्रकृतिके गुणोंसे अतीत ऐसे परमात्माको निर्गुण मान कर गुणातीत लीलाओंका वर्णन मानना जाहिये अथवा केवल 'गुणप्रकरण' संज्ञानके बजाय 'दिव्यगुणप्रकरण' अभिधान प्रयोग उचित होता.

(पूर्वपक्ष)

वस्तुतः तो उपर्युद्धृत ''**सत्त्वं रजस् तम इति निर्गुणस्य गुणाः त्रयः, स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीताः मायया विभोः. कार्यकारणकर्तृत्वे द्रव्यज्ञानक्रियाश्रयाः बध्नन्ति नित्यदा मुक्तं मायिनं पुरुषं गुणाः**''(भाग.पुरा.२।५।१८-१९) वचनमें निर्गुण परमात्माका गुणग्रहण माया माना गया होनेके कारण पारमार्थिक नहीं हो सकता. अतः मिथ्या मानना अनिवार्य होनेके कारण जिन्हें 'दिव्यगुणों'के रूपमें बिरदाया जा रहा है, वे गुण भी भगवान्के 'एकमेव अद्वितीय' होनेकी श्रौत एकान्तिक अवधारणासे विपरीत होनेके कारण या तो दिव्य होनेपर भी ब्राह्मैक्यके आवरणविक्षेपाहित भान होनेसे पूर्वकी केवल व्यावहारिक कथा है अथवा उपासनार्थ आरोपित गुण ही उन्हें मानने चाहिये.

(उत्तरपक्ष)

वैसे 'माया' पद निरुक्त-निघन्टुमें तो '' '**माङ्**'**=माने** '**माछाससिभ्यो यः**'

इति 'य'प्रत्यये मीयन्ते परिच्छिद्यन्ते अनया पदार्थाः'' की व्युत्पत्तिवश प्रज्ञाके वाचक ग्यारह पर्यायोंमें से अन्यतम माना गया है (द्रष्ट.निरु.३।९।९). तो प्रस्तुत सन्दर्भमें भी 'माययां'पदका प्रज्ञाविरोधी अविद्यार्थक लेनेका कोई औचित्य बुद्धिगत नहीं होता. फिर यह भी विचारणीय है कि यदि अविद्यार्थक ही आग्रहिलतया स्वीकारने हो तो 'बन्धमुक्तिरूपा लीलाओंके कर्ता निर्गुणात्मा' 'नित्यमुक्त होनेपर भी बन्धनार्ह आत्मा' और 'माया' पदोंके अर्थोंके तारतम्यकी विवेचना कैसे करनी? ''**सत्त्वं रजस् तम इति निर्गुणस्य गुणाः त्रयः, स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीताः मायया विभोः**'' यहां 'उपासनार्थं आरोपित गुण' की कल्पना तो नितान्त अप्रासंगिक ही होगी क्योंकि 'गृहीता' पदप्रयोगके वश निर्गुणात्माद्वारा गुणोंका स्वयंगृहीत होना स्फुटतया स्वीकृत हो रहा है. और विभु तत्त्वको मायाद्वारा गुणोंका ग्रहणकर्ता माननेपर भी उसके निर्विकल्पचेतनारूप होनेके बजाय सविकल्पबोधशाली तथा ससंकल्पक्रियाशाली होना भी पृष्ठलग्न चला आता होनेसे ऐकान्तिक अद्वैतकी अवधारणा तो निरस्त ही हो जाती है. फिरभी ''**सदेव सौम्य इदम् अग्र आसीद् एकमेवाद्वितीयम्... तद् ऐक्षत बहु स्यां प्रजायेय**'' (छान्दो. उप.६।२।१-३) वचनमें पूर्वप्रक्रान्त एकमेव अद्वितीय सत्का परामर्शी 'तद्'पद या तो मायाका उसके साथ तादात्म्य अथवा आत्यन्तिक अभाव को ही इंगित कर रहा है. अन्यथा निर्गुणात्माकी अद्वितीय-एकता निरस्त हो जायेगी.

यदि निर्गुणात्माको पारमार्थिक सत् और माया को सदसद्विलक्षण मान कर अद्वितीय-एकताकी उपपत्ति खोजनी हो तो उपर्युद्धृत ''**ज्ञेयं यत् तत् प्रवक्ष्यामि यद् ज्ञात्वा मोक्ष्यसे अशुभाद् अनादिमत् परं ब्रह्म न 'सत्' तद् न 'असद्' उच्यते**'' वचनमें निर्गुणात्माको भी सदसद्विलक्षण माना गया होनेके कारण, उसकी शक्तिरूपा मायाका भी वैसा ही होना मान्य करना चाहिये था. अतएव या तो दोनोंके बीच तादात्म्य अन्यथा दोनोंका ही मिथ्यात्व ही फलित होता है.

यदि सोचा जाये कि एक ही निर्गुणात्मा मूलतः निरुपाधिकभावसे सदसत्त्वेन अवाच्य अकर्ता और मायोपाधिकभावसे सदसत्त्वेन अनिर्वचनीय स्रष्टा भी बन जाता है, अर्थात् निर्विकल्पक स्वयंप्रकाश होनेसे अवाच्य और सविकल्पक श्रौतशब्दप्रकाश्य होनेके कारण मिथ्या सदसदनिर्वचनीय बन सकता है, तो इसमें भी यह अनुपपत्ति लगती है कि ''**संयुक्तम् एतत् क्षरम् अक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वम् ईशः. अनीशः च आत्मा बध्यते भोक्तृभावाद् ज्ञात्वा देवं**

मुच्यते सर्वपाशैः. ज्ञाज्ञौ द्वौ अजौ ईशानीशौ. अजा हि एका भोक्तृभोग्यार्थयुक्ता... क्षरं प्रधानम् अक्षरं हरः, क्षरात्मानौ ईशते देवः एकः. तस्य अभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्च अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः''(श्वेता.उप.१।८-१०) इस वचनमें निवर्त्य क्षर(मिथ्या !) और अनिवर्त्य अक्षर(परमार्थ !) से भिन्न तृतीय क्षराक्षर-भर्ता जिसके ज्ञानसे विश्वमायाकी निवृत्ति स्वीकारी गयी है, इसे भी पुनः अग्रिम ''**सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मम् एतत्**''(श्वेता.उप.१।१२) वचनमें ब्रह्मके ही अन्यतम प्रकारतया मान्य किया गया होनेके कारण एकको सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय मिथ्या ब्रह्म और अपरको सदसत्त्वेन अवाच्य पारमार्थिक ब्रह्म मानना भी ब्रह्मकी असर्वतामें पर्यवसित हो जाता है. अतः उपपन्न नहीं. अतएव पूर्वोद्धृत ''**कार्यकारणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिः उच्यते, पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुः उच्यते, पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुंक्ते प्रकृतिजान् गुणान्, कारणं गुणसंगो अस्य सदसद्योनिजन्मसु, 'उपद्रष्टा' 'अनुमन्ता' च 'भर्ता''भोक्ता' 'महेश्वरः', 'परमात्मा' इति चापि उक्तो देहे अस्मिन् पुरुषः परः**'' भगवद्गीताके वचनमें प्रकृति पुरुष और परमात्मा का जो त्रैविध्य है उसका ''**भूमिः आपः अनलो वायुः खं मनो बुद्धिर् एव च अहंकारः इति इयं मे भिन्ना प्रकृतिः अष्टधा, अपरा इयम् इतस्तु अन्या प्रकृतिं विद्धि मे परां जीवभूतां महाबाहो यया इदं धार्यते जगत्. एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणि इति उपधारय अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयः तथा. मत्तः परतरं न अन्यत् किञ्चिद् अस्ति, मयि सर्वम् इदं प्रोतं सूत्रे मणिगणाइव**'' (भग.गीता.७।४-७) वचनसे संवाद साधनेपर ब्रह्मत्रैविध्यमें मिथ्या और परमार्थ का प्रभेद सिद्ध नहीं हो पाता.

अतः पारमार्थिक निर्गुणात्मा द्वारा पारमार्थिक गुणग्रहणका अवशिष्ट कल्प सोचनेपर गुणसंनिरोधवश नैर्गुण्यावस्था केवल ब्रह्मता न हो कर सगुण-निर्गुण दोनोंके ईश्वररूप एक तृतीय परमार्थतम तत्त्वको स्वीकार करने बाधित होना पड़ता है. उसके बिना सर्वविध शास्त्रवचनोंके साथ न्याय नहीं हो पाता. यह उपर्युद्धृत ''**सत्त्वं रजः तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनम् अव्ययम्... न अन्यं गुणेभ्यः कर्तारं यदा द्रष्टा अनुपश्यति गुणेभ्यः च परं वेत्ति मद्भावं सो अधिगच्छति. गुणान् एतान् अतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान् जन्ममृत्युजरादुःखैः विमुक्तो अमृतम् अश्नुते... मां च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्य एतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते**'' इस गीतावचनके आधारपर भी उपबृंहित होता ही है.

(गुणमीमांसा)

इस सन्दर्भमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यही है कि इन सत्त्वरजस्तमो–गुणोंकी त्रयीकी तीन अवस्थाओंपर वैचारिक धांधलीमें दुर्लक्ष्य हो गया है. इसे यों समझा जा सकता है :

(१) निर्गुणात्मा द्वारा पारमार्थिक गुणत्रयीका अंगीकार.

(२) इनकी साम्यावस्थाघटित प्रकृति या प्रधान रूपा पारमार्थिकी जडसृष्टिकी कार्योन्मुखी अवस्था.

(३) भगवच्चेष्टारूप कालकृत क्षोभवशात् इनकी तृतीय वैषम्य अवस्था. इसे 'क्षरब्रह्म' कहा जा रहा है, ब्रह्मके सगुणनिर्गुण उभयविध रूप श्रुतिप्रतिपादित होनेसे.

(१)इस विषयकी विवेचना करते हुवे महाप्रभु कहते हैं :

> **''यथा ऊर्णनाभिः सृष्ट्यर्थम् एकाम् ऊर्णाम् उद्वमते तथा भगवानपि त्रिविधसृष्ट्यर्थं त्रीन् गुणान् उद्वमते. गुणरूपत्वात् च 'गुण'शब्दव्यवहारः. (सत्+चिद्+आनन्दरूपब्रह्मणः) सद्–रूपेण निर्गतं 'सत्त्वम्' इति उच्यते. केवलचिद्–रूपेण निर्गतं क्रियाशक्तिप्रधानत्वाद् आनन्दाभावात् च 'रज' इति उच्यते. आनन्दांशात् च तमः. ते भगवद्रूपाएव भगवता सृष्टाः. नच भगवति ते पूर्वं स्थिताः (काशकृत्स्नमतीयोत्पत्तिपक्षानुरोधात्). तथा सति भगवदात्मकाः ते न भवेयुः. यथा कार्पासे नहि सूत्रं तदेव हि पश्चात् स्वावयवैः पौर्वापर्यम् आपद्यमानं सूत्रताम् आपद्यते. अतएव भगवान् निर्गुणः.** (सुबो.२।५।१८).

इस प्रक्रियाको अस्वीकार करनेपर निर्गुणात्माके तीन गुण कहनेके बजाय मायाके ही तीन गुण कहने चाहिये थे. जबकि मायाका तो गुणग्रहण क्रियामें करणतया उपयोग निरूपित हुवा है. कर्ता तो अभीष्ट क्रियाको सम्पन्न करनेमें स्वतन्त्र होता है, करण नहीं. ऐसी स्थितिमें मायोपाधिक गुणोंको माननेपर कर्ताका स्वातक्त्र्य खण्डित हो जायेगा. और मायाको स्वतन्त्र माननेपर निर्गुणात्माकी अद्वितीय एकताका प्रत्याख्यान हो जायेगा. अतः सर्वभवनसमर्थ निर्गुणात्माका असाधारण सामर्थ्य माननेका आग्रह महाप्रभु कर रहे हैं. यों अखण्डैकरस सच्चिदानन्द निर्गुणात्माका स्वयंके सदंश चिदंश और आनन्दांश रूपी खण्डोंमें विभक्त होना सत्त्वगुण रजोगुण और तमोगुण का आविर्भावक

बनता है. और यही इनका मौलिक प्राथमिक स्वरूप है. इसे पद्मपुराणके अधोनिर्दिष्ट वचनोंके आधारपर भलीभांति जाना जा सकता है :

यद् अद्य मे त्वया दृष्टम् इदं रूपम् अलौकिकम्।
घनीभूतामलाप्रेम सच्चिदानन्दविग्रहम्।।
नीरूपं निर्गुणं व्यापि क्रियाहीनं परात्परम्।
वदन्ति उपनिषत्संधा इदमेव मम अनघ !।।
प्रकृत्युत्थगुणाभावाद् अनन्तत्वाद् तथा ईश्वरम्।
असिद्धत्वात् मद्गुणानां निर्गुणं मां वदन्ति हि।।
अदृश्यत्वाद् मम एतस्य रूपस्य चर्मचक्षुषा।
अरूपं मां वदन्ति एते वेदा सर्वे महेश्वर !।।
व्यापकत्वात् चिदंशेन ब्रह्म इति विदुः बुधाः।
अकर्तृत्वात् प्रपंचस्य निष्क्रियं मां वदन्ति हि।।
मया गुणैः यतो मे अंशाः कुर्वन्ति सर्जनाधिकम्।
न करोमि स्वयं किञ्चित् सृष्ट्यादिकम् अहं शिव !

(पद्मपु.५१।६६-७१).

(२)निर्गुणात्मा स्वभावतः चेतनस्वरूप होनेपर भी लीलया जडरूप धारण करने सक्षम न हो तो बृहदारण्यकोपनिषद्के "**यथा ऊर्णनाभिः तन्तुना उच्चरेद् यथा अग्नेः क्षुद्राः विस्फुलिंगाः व्युच्चरन्ति एवमेव अस्माद् आत्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति. तस्य उपनिषत् प्राणाः वै सत्यं तेषाम् एषः सत्यम्**"(बृह.उप.२।१।१९) वचनमें 'एवमेव' ऐसा सावधारण प्रयोग अर्थहीन सिद्ध होगा. यहां प्रकृतिशक्तिका करणतया अनुपयोग या अनुल्लेख भी समर्थ और सामर्थ्य के बीच स्वाभाविक तादात्म्यका उपोद्बलक ही है. यह स्पष्ट हो जानेपर उपर्युद्धृत "**अहम् आत्मा, उद्धव !, अमीषां भूतानां सुहृद् ईश्वरो अहं सर्वाणि भूतानि तेषां स्थित्युद्भवाप्ययः. अहं गतिः गतिमतां कालः कलयताम् अहम्, गुणानां चापि अहं साम्यं गुणिनि औत्पत्तिको गुणः**" वचनमें भगवान् द्वारा कण्ठोक्त सर्वात्मरूपता सर्वरूपता सर्वोत्पत्तिस्थितिलयरूपता सर्वगतिरूपता सर्ववस्तुत्रैकालिकरूपता तथा सर्वोपादानभूतप्रकृतिरूपा त्रिगुणसाम्यावस्था का भगवद्रूप होना बाधितार्थसामानाधिकरण्य रूप गौण माननेका कोई कारण बच नहीं जाता है. अतएव महाप्रभु स्पष्टीकरण देते हैं :

''ते गुणाः पुनः स्थितिसर्गनिरोधेषु उत्पत्तिस्थितिलयार्थं गृहीताः. तेषामपि ग्रहणं मायया. एषा हि माया जगत्कर्त्री नतु व्यामोहिका. विभोरिति समर्थस्य जगत्कर्तुः. साहि तच्छक्तिः सर्वरूपभगवत्सम्बन्धात् सर्वप्रतिकृतिरूपा. सा जगत्करणे करणरूपा''. (सुबो.२।५।१९).

अतएव उपर्युद्धृत **''नृणां निःश्रेयसार्थाय व्यक्तिः भगवतो, नृप !, अव्ययस्य अप्रमेयस्य निर्गुणस्य गुणात्मनः''** वचनमें 'निर्गुण' और 'गुणात्मा' पदोंका अर्थ महाप्रभु **''निर्गताः गुणाः यस्मात्—सर्वगुणानां सएव आत्मा''** करते हैं. अतएव भागवतके ऊतिस्कन्धके **''त्वं वायुरग्नियदाम्बुमात्राः प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन् नान्यत् त्वद् अस्त्यपि मनोवचसा निरुक्तम्. नैते गुणा न गुणिनो महदादयो ये सर्वे मनःप्रभृतयः सहदेवमर्त्याः आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वाम् एवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्...एतद् वर्णितगुणो भक्त्या भक्तेन निर्गुणः''** (भाग.पुरा.७।१०।४८-५१) वचनमें यही विवक्षित है. प्रकृतिके घटक समप्रमाण सत्त्वरजस्तमोगुण मूलतः निर्गुण ब्रह्मात्मक ही होनेपर भी पुरुषचैतन्यके उनमें आविष्ट हानेपर अर्थात् अनुग्राहक बननेपर आवेशनकालिक क्षोभवशात् वैषम्य प्रकट होता है तथा विकृतिरूप दृश्यकोटि दर्शनकरणकोटि और द्रष्ट्रकोटि का संघात प्रकट होता है अतः ब्रह्म जो इनकी समष्टि है उसे सगुण और निर्गुण उभयरूप समझना चाहिये.

इसके निष्कर्षतया महाप्रभु यह उपपत्ति और देते हैं कि साधननिरपेक्ष हो कर मुक्तिप्रदान करना भूतलपर प्रकट होनेका अन्यतम प्रयोजन न होता तो साधनसापेक्ष मुक्तिदान तो भगवान् प्रकट हुवे बिना करते ही हैं.

(३)त्रिगुणोंके वैषम्यवशात् सारी वैकारिकी सृष्टि मिथ्या है या क्षरब्रह्मात्मिका है यह अन्तमें मीमांस्य रह जाता है. एतदर्थ **''येन अश्रुतं श्रुतं भवति, अमतं मतम्, अविज्ञातं विज्ञातं भवति... यथा, सौम्य !, एकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृणमयं विज्ञातं भवति. वाचारम्भणं 'विकारो' नामधेयं 'मृत्तिका' इत्येव सत्यम्''** (छान्दो.उप.६।१।३-४) वचनमें उपादेय कार्यका उपादानकारणसे पृथक् 'विकार'के रूपमें संज्ञानको असत्य मानना और वास्तविकतया तो उपादाननाम्ना ही संज्ञानको, उदा. 'मृत्तिका'को सत्य मानना, कार्यकी कारणात्मना अनन्यताका प्रतिपादन है ; न कि सदसद्विलक्षण मिथ्यात्वका.

यद्यपि पूर्वोद्धृत ''भूयश्च अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः'' वचनके आधारपर त्रिगुणात्मकप्रकृति या अविद्यारूपा मायाको अनादि-सान्त माना जा सकता है. इसमें, परन्तु, कठिनाई यही है कि ब्रह्मके प्रमेयरूप प्रमाणरूप साधनरूप या फलरूप किसी भी तरहके विमर्श करनेपर ''ज्ञाननिवर्त्यत्वं मिथ्यात्वं'' व्याप्ति उपपन्न नहीं हो पाती.

बाह्यार्थैकास्तित्ववादी चिन्तनमें चेतनाके बाह्यार्थप्रसूत होनेके कारण चेतनाके विकसित रूप प्रमाका भी प्रमेयप्रसूत स्वरूपयाथार्थ्य और प्रामाण्य होना आन्तरिक संगतिकी मांग है. इसी तरह बाह्यार्थके अस्तित्वको इन्कारनेवाले चिन्तनमें बाह्यार्थकी तरह भासित होते प्रमेयका याथाभासितरूप और प्रमाका अनधिगताबाधितार्थरूप प्रामाण्य भी आन्तरिक संगतिके आधारपर उन्नेय कथा है.

इन ऐकान्तिक दृष्टिओंसे, किन्तु, पर्याप्तरूपेण भिन्न औपनिषदिक चिन्तनकी अवधारणामें कृत्स्नप्रज्ञानघन ब्रह्मके भीतर बाह्यार्थके प्रकट होनेकी कथा है: ''**तस्माद् वा एतस्माद् आत्मनः आकाशः सम्भूतः... वायुः अग्निः आपः पृथिवी ओषधयः अन्नं पुरुषः**'' (तैत्ति.उप.२।१) वचनोक्त क्रमिकताके अनुसार स्वयंके भीतर अवकाशसृजनपूर्वक उसमें बाह्यार्थका सृजन प्रतिपादित हुवा है. इस ब्रह्मोपादानक आकाशमें बाह्यार्थतया या तो तत्तद् वैकारिक परिणाम क्रमशः या सहसा व्युच्चरित होते हैं. यों उभयविध प्रक्रिया प्रतिपादित हुयी हैं.

अतः मूलतत्त्वकी अवाङ्मनोगोचरतया अप्रमेयावस्था या अखण्डैक्य में स्वप्रकाशताके ही आत्मविस्ताररूपेण [क]प्रमा [ख]प्रमेय [ग]प्रमाता [घ]प्रमाण रूपी चार खण्ड प्रकट होते माने गये हैं :

> [क]''**न यत्र वाचो न मनो न सत्त्वं तमो रजो वा महदादयो अमी, न प्राणबुद्धीन्द्रियदेवता वा न सन्निवेशः खलु लोककल्पः. यथा हिरण्यं बहुधा समीयते नृभिः क्रियाभिः व्यवहारवर्त्मसु एवं वचोभिः भगवान् अधोक्षजो व्याख्यायते लौकिकवैदिकैः जनैः. यथा घनो अर्कप्रभवो अर्कदर्शितो अर्कांशभूतस्य च चक्षुषः तमः, एवन्तु अहं ब्रह्मगुणः तदीक्षितो ब्रह्मांशकस्य आत्मनः आत्मबन्धनः**''.
>
> (भाग.पुरा.१२।४।२०-३२).

अतः ब्रह्मात्मक याथार्थ्यपर अज्ञानावरण या भ्रमात्मकविक्षेप भी

सर्वथा अब्रह्ममूलक न होनेके कारण ब्रह्मज्ञानसे निवर्त्य मिथ्या हो नहीं सकता. मूलप्रमेयस्वरूप अपने अंशोंद्वारा अवगम्य बन पाये एतदर्थ ही नाम-रूप-कर्मात्मिका सृष्टि प्रकट हुयी है, ऐसा श्रुति और महाप्रभु दोनों स्वीकारते हैं :

''ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत् तद् देवान् असृजत्. तद् देवान् सृष्ट्वा एषु लोकेषु व्यारोहत्. अस्मिन्नेव लोके अग्निम्. अन्तरिक्षे वायुं दिव्येव सूर्यं... अथ ब्रह्मैव परार्धम् अगच्छत्. तत् परार्धं गत्वा ऐक्षत् कथन्नु इमान् प्रत्यवेयायमिति द्वाभ्यामेव प्रत्यवेद् रूपेण नाम्ना च... तएते ब्रह्मणो महती अब्भ्वे''.

''उभयात्मको हरिः वेदे निरूप्यते. ततश्च वेदानुसारेण तदभिव्यक्तौ सत्यां सर्वएव पुरुषार्थः सिद्ध्यति यतो भगवान् पुरुषार्थस्वरूपः... विचित्रो रूपप्रपञ्चः जीवाश्च अंशाः. अल्पानां विचित्रे भ्रमो भवत्येव. अतः तस्मिन् निवारणार्थं श्रुतिं चकार... सात्त्विकानामेव अयम् अर्थः प्रकाशते न सर्वेषाम् इति अर्थः. ननु सर्वे भगवदंशाः तत्र कथं केचन सात्त्विकाः अन्ये न इति व्यवस्था ? 'प्रजायेय'इति भगवदिच्छया विनिर्गताः चिदंशाः जीवाः तुल्याः मा भवन्तु इति भगवन्मायागुणैः त्रिविधैः व्याप्ताः विविधरसभोगाय. अन्यथा तामसवस्तूनां भोगो न स्यात्. अतएव श्रुतौ 'त्रया ह वै प्राजापत्याः' इति देवा मनुष्याः असुराः गणिताः''.

(शतप.ब्रा.२।३।१-५, त.दी.नि.प्र.२।१७-१९).

इसमें अर्धजरती माननेका कोई योग्य हेतु सामने नहीं आता कि जगत्में अनुभूयमान अस्ति भाति प्रिय नाम और रूप के पंचकमे प्रथम तीनको ब्रह्मरूप और नामरूपद्वयीको मायिक या आविद्यक मानना. अतएव ब्रह्मज्ञानिओंकी ब्रह्मानुभूतिमें पारमार्थिक ब्रह्मकी सत्ता चेतना और प्रियता की अनुभूति अखण्ड स्वयंप्रकाशताके वश होती है और अज्ञानियोंको ब्रह्मेतर नाम-रूपखण्डोंकी अनुभूति सदसद्विलक्षण मिथ्या अविद्याके वश होती है यह उपपन्न नहीं होता. **''प्रजापतिः प्रजाः असृजत, ताः सृष्टाः समाश्लिष्यन् ताः रूपेण अनुप्राविशत् तस्माद् आहुः 'रूपं वै प्रजापतिः' इति. ताः नाम्ना अनुप्राविशत्. तस्माद् आहुः 'नाम वै प्रजापतिः'''**(तैत्ति.ब्राह्म.२।२।८।१). अतः कृत्स्नप्रज्ञानघन निर्गुणात्माने स्वयं को नाम-रूप-कर्मोंके त्रिविध खण्डोंमें विभक्त किया. श्रुति तो ऐसा ही कहती है

कि **''सर्वाणि रूपाणि विचिक्त्य धीरो नामानि कृत्वा अभिवदन् यद् आस्ते'', ''त्रयं वा इदं नाम रूपं कर्म... ब्रह्म एतद्धि सर्वाणि नामानि... रूपाणि... कर्माणि बिभर्ति. तदेतत् त्रयं सद् एकम् अयम् आत्मा आत्मा एकः सन् एतत्त्रयम्''**. (तैत्ति.आर.३।१२।७, बृह.उप.१।६।१-३) इनमें सदंश जो एक-दूसरेसे समाश्लिष्ट थे, उन्हें अनन्त रूपात्मना विभक्त किया गया. इसी तरह इतरेतर-समाश्लिष्ट चिदंशोंको अनन्त नामात्मना विभक्त किया गया :

> **''सत्त्वेव सौम्य ! इदम् अग्रे आसीत् तद् ऐक्षत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति तत् तेजो असृजत्... तद् अपो असृजत्... तद् अन्नम् असृजत्... तेषां खलु एषां भूतानां त्रीण्येव बीजानि भवन्ति अण्डजम् जीवजम् उद्भिज्जम् इति. सेयं देवता ऐक्षत 'हन्त अहं तिस्रो देवताः अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि' इति''.**
>
> (छान्दो.उप.६।२-३).

एतावता उनके मूलमें आधारिक जो कृत्स्नप्रज्ञानघनता है वह रूप एवं नाम में केवल अन्तर्निहित या ओझल हुयी है, निवृत्त या निरस्त नहीं. यहां एक आशंका उठ सकती है कि तब **''यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रे अस्तंगच्छन्ति नामरूपे विहाय तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषम् उपेति दिव्यं, स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति''**(मुण्ड.उप.४।२।८-९) इस वचनमें नामरूपसे विमुक्तिके बाद ही परब्रह्मकी प्राप्ति प्रतिपादित हुयी है. अतः यदि नामरूप ब्रह्मात्मक ही हों तो विमुक्तिका कोई प्रसंग उपस्थित नहीं होना चाहिये था.

यहां परन्तु यह विवेचनीय हो जाता है कि नामरूपसे विमुक्ति क्या रज्जुपर आरोपित सर्पकी तरह ब्रह्मपर मिथ्यारोपित नामरूपभ्रान्ति अधिष्ठानज्ञानके कारण ''न वहां थी न है और न रहेगी'' ऐसी त्रैकालिक निषेध-प्रतियोगिता है ? अथवा वस्तुतः प्रकट हुयी थी सूर्यपर उसे ढंक देनेवाले मेघकी अपगत हो जाने जैसी ? अथवा तो सागरकी अगाध जलराशिमें से मेघ वर्षा नदी की तरह अनेक नामरूपात्मना विभक्त 'बाष्प' 'बिन्दु' और 'प्रवाह' तया प्रकट हुयी अनेकविधताका एकीभावापन्न हो जाना है ? समाधान स्वयं श्रुतिने दे ही रखा है **''गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्वे प्रतिदेवतासु कर्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परे अव्यये सर्वे एकीभवन्ति''** (मुण्ड.उप.३।२।७) यहां 'एकीभवन्ति'पद ''अभूततद्भावे च्वी'' है अर्थात् जो पहले एक नहीं थे वे बादमें एक बन जाते हैं.

अतएव केवल आत्मसायुज्य प्रतिपादित करनेके बजाय सर्वसायुज्यका प्रतिपादन कण्ठतः श्रुति कर रही है. अतएव नाम-रूप-कर्मोंकी ब्रह्मात्मना एकविधता और ब्रह्मकी नाम-रूप-कर्मात्मना त्रिविधता का कारणावस्था और कार्यावस्था के व्यवस्थाभेदसे निरूपण ही उचित है. यों त्रिविधता और एकविधता दोंनों ही पारमार्थिक ही ठहरती हैं. रूपानुभूतिमें चिदंशको नामापेक्षा निर्विकल्पानुभूतिसे आगे बढ़ कर सविकल्पकबोधार्थ रहती है. इसी तरह सदंशभूत वस्तुनिष्ठरूपको भी स्वविषयक अभिज्ञा व्यवहार प्रत्यभिज्ञा अनुमिति अभिधान राग द्वेष उपेक्षा स्मृति या भ्रान्ति आदिके हेतु नामापेक्षा रहती है. जैसे विद्यालयमें बच्चोंको अपूर्ण वाक्य लिख कर रिक्तपूर्ति करवायी जाती है तद्वत् प्रत्येक रूपवस्तुमें एक तरहकी वस्तुगत रिक्तता रहती है, विषयात्मना विकसित होनेके वास्ते, जो नामद्वारा पूर्ण होती है.

यों त्रिगुणसाम्यावस्थापन्न प्रकृति या प्रधान को इस बंटवारेमें रूपलाभ हुवा और दैव-आसुर-चर्षणी भावात्मना विभक्त मौलिक निर्गुण चेतन पुरुषको नामलाभ हुवा. प्रमेयकी ऐसी विविधभावापत्तिके वश नामावलम्बित विविध प्रमाणव्यवस्था प्रकट हुयी. सृष्टिकी परिच्छिन्नतामें इसकी क्रियान्विति परन्तु प्रमेयमूलक प्रमाणपरिच्छित्ति नहीं प्रत्युत प्रमाणमूलक प्रमेयपरिच्छित्तिमें प्रतिफलित होती है. उदाहरणतया वृक्षोंकी प्रकाशकी दिशामें प्रत्यभिमुखी वृद्धि प्रमाणमूलक प्रमेयपरिच्छेदात्मिका प्रवृत्ति न हो कर प्रमेयमूलक प्रमापरिच्छेदकी होती है. हम नेत्रवान् प्राणियोंकी, परन्तु, चाक्षुषप्रमामूलक रूपवत्प्रमेयाभिमुखी प्रवृत्ति होती है.

मौलिक ब्रह्म तत्त्वके अनेकानेकविध स्वरूप शक्ति गुणधर्म और कार्य के बारेमें नामात्मक श्रुतिवचनोंद्वारा प्रकट होता परोक्षज्ञान, अथवा श्रुत्यादि शास्त्रोंद्वारा प्रतिपादित ब्रह्मकी क्रियाशक्ति ज्ञानशक्ति या पुष्टिशक्ति द्वारा सम्भाव्य कर्म-ज्ञान-भक्तिरूप उपायोंद्वारा होता कार्यरूप ज्ञेयरूप अथवा भजनीय रूपोंका भान; अथवा भगवान्की अविद्याशक्ति द्वारा सम्भाव्य अज्ञेय-अस्वीकार्य उपेक्ष्य अथवा हेय या द्वेष्य होनेकी भगवान्के बारेमें मानसिकता ये सभी कुछ ब्रह्मकी स्वयंप्रकाशरूपताके लीलात्मक विस्तार ही हैं.

[ख]अतएव प्रमाणदृष्ट्या विमर्श करनेपर ब्रह्मकी स्वाभाविकी अप्रमेयताका भी और लीलात्मिका सर्वविधज्ञानमें एकमात्र ज्ञेयताका भी

प्रतिपादन हमें इन श्रुत्यादिशास्त्रवचनोंमें उपलब्ध होता है :

''न यत्र चक्षुः गच्छति न वाग् गच्छति नो मनो न विद्मो न विजानीमो यथा एतद् अनुशिष्याद् अन्यदेव तद् विदिताद् अथो अविदिताद् अधि... यस्य अमतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद स अविज्ञातो विजानतां विज्ञातम् अविजानताम्''

(केनोप.१।३-२।३).

''न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं न इमा विद्युतो भान्ति कुतो अयम् अग्निः तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं तस्या भासा सर्वम् इदं विभाति'' (कठोप.२।२।१५).

''यद् वाचा अनभ्युदितं येन वाग् अभ्युद्यते तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि न इदं यद् इदम् उपासते. यद् मनसा न मनुते येन आहुः मनो मतं न इदं यद् इदम् उपासते'' (केनोप.१।१-५).

''सर्वस्य च अहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च वेदैश्च सर्वैः अहमेव वेद्यो...'' (भग.गीता.१५।१५).

''स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्वः आत्मा'' (भाग.पुरा.२।१।३९).

यह स्वभावतः देशकालस्वरूपतः अपरिच्छिन्न प्रमेयकी लीलेच्छया देशकालस्वरूपतः परिच्छेदके अंगीकारके कारण प्रकट होनेवाली प्रमेय-प्रमाणसे जुड़ी व्यवस्था है. अतएव देशकालस्वरूपतः परिच्छिन्न रूप-नाम-कर्मप्रकारक ब्रह्मविशेष्यक ज्ञान असुलभ होनेपर भी श्रुत्यादि शास्त्रोंके प्रामाण्यवश इन परिच्छिन्न रूप-नाम-कर्मविशेष्यक ब्रह्मत्वप्रकारक परोक्ष ज्ञान सुलभ हो जाता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं **''ब्रह्मवादे निरुक्तिस्तु न वक्तव्यैव कुत्रचिद् वस्तुतो ब्रह्म सर्वं हि व्यवहारस्तु लोकतः''** (पत्रावलंब.). क्योंकि जो तैत्तिरीयोपनिषद् एक ओर ब्रह्मको **''एतस्मिन् अदृश्ये अनात्म्ये अनिरुक्ते अनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दते अथ सो अभयं-गतो भवति, यदा ह्येवैष एतस्मिन् उदरम् अन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति... यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह''** (तैत्ति.उप.२।७-९) इस तरह निरूपित करता है, वही पहले **''सो अकामयत 'बहु स्यां प्रजायेय' इति... इदं सर्वम् असृजत. यद् इदं किञ्च तत् सृष्ट्वा तदेव अनुप्राविशत्. तद् अनुप्रविश्य सत् च त्यत् च अभवत्. निरुक्तं च अनिरुक्तं च, निलयनं च अनिलयनं च, विज्ञानं च अविज्ञानं च, सत्यं च अनृतं च, यद् इदं किञ्च तत् सत्यम् इति आचक्षते''** (तैत्ति.उप.२।६) ऐसा भी

कह चुका है. एतावता यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रकट-अप्रकट निरुक्त-अनिरुक्त, सशरीर-अशरीर, विज्ञान-अविज्ञान, सत्य-अनृत आदि भिन्न-भिन्न रूप उसने ही अपनी इच्छासे लिये हैं और ये स्वयंमें भिन्न-भिन्न भी होते हैं. फिरभी इनके कारण उस परम तत्त्वमें भेद नहीं पड़ता है और कोई पाड़ता हो तो वह महाभयका कारण बन जायेगा. अतः जिस प्रकट रूपकी हम अपने विज्ञानके बलपर निरुक्ति कर पाते हों या जिस अप्रकट रूपकी अपने अविज्ञानके वश निरुक्ति कर पाने सक्षम नहीं हो पाते, वे दोंनो ब्रह्मात्मक हैं. एतावता जिसे हम किसी आकारशरीरमें सत्य मानते हों, अन्यथा किसी भी आकारमें अविद्यमान=अनिलयन अनृत मानते हों ऐसे सारे परस्पर विरुद्ध भेदोंका भी वह एक अविरुद्ध आश्रय होता है. अर्थात् उसमें अन्तर नहीं पड़ता. अतः अकारण उस निर्गुण परमात्मतत्त्वकी अखण्ड एकतामें अन्तर डालनेवाली उससे परमार्थतः भिन्न या अपरमार्थतः भिन्न या प्रतिभासमात्रतः भिन्न भी अविद्याके वश सगुणता माननेका कोई प्रमाण उपपन्न नहीं होता है. स्वयं उसके द्वारा लिये गये अविज्ञानके स्वरूप वह गुणोंका निलयन न लगता हो और प्राकृत सत्त्व-रजस्-तमो गुण प्राकृत वैकारिक क्षर जगत्के ही गुणधर्म प्रतीत होते हों या अनिलयन=स्वप्रतिपन्नोपाधौ त्रैकालिक निषेधके प्रतियोगी लगते हों तो भी इन प्राकृत सगुण पदार्थोंमें ''तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं'' न्यायेन उस ब्रह्मको त्रैकालिक निषेधप्रतियोगी मानना पड़ेगा. और यों वह ब्रह्म भी मिथ्या सिद्ध हो जायेगा. क्योंकि प्राकृत सगुण पदार्थोंमें मायिक रूप-नाम-कर्मकी तरह ब्राह्मिक अस्ति भाति प्रियत्व धर्मोंका भास भी होता ही है. उसका वहां अत्यन्ताभाव माननेपर सच्चिदानन्द ब्रह्मके भी मिथ्यात्वके गर्तमें पातकी आपत्ति गलेपतित रहेगी ही. इसके अलावा प्रकृति स्वयं अप्राकृत सत्त्वरजस्तमोघटित गुणोंकी साम्यावस्था होनेके कारण अनाविद्यक भगवत्प्रकृतिरूपा है, यह तो हम देख ही चुके हैं.

"अतएव मूलतत्त्वकी प्राप्यता साधनलभ्य न मान कर वरणलभ्य मानी गयी है. परन्तु सृष्टिलीलामें प्रकट, भगवान्के दिव्य अवतारोंके रूपोंके अपवादको छोड़ कर, रूपोंकी प्राप्यतामें साधनानुष्ठानकी महत्ता अपरिहार्य दृष्टिगत होती है. साधनदृष्ट्या उसके सगुण या निर्गुण होनेकी मीमांसा करनेपर यह एक निरतिशय महत्त्वपूर्ण तथ्य दृष्टिसे ओझल नहीं होने देना चाहिये. क्योंकि ईशावास्योपनिषद्में समझाया गया है :

''अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये अविद्याम् उपासते ततो भूयइव तमो ये उ विद्यायां रताः. विद्यां च अविद्यां च यः तद् वेद उभयं सह अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्यया अमृतम् अश्नुते. अन्धन्तमः प्रविशन्ति ये असम्भूतिम् उपासते ततो भूयइव तमो ये उ सम्भूत्यां रताः. अन्यदेव आहुः सम्भवाद् अन्यद् आहुः असम्भवात्... सम्भूतिं च विनाशं च यः तद् वेद उभयं सह विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्या अमृतम् अश्नुते''. (ईशा.उप.९-१४).

अविद्योपासना-विद्योपासनामूलक या असम्भूत्युपासनासम्भूत्युपासना मूलक साधनोंके फलरूपतया अन्धन्तम और अमृत, मृत्यु और अमृत को गिना कर ब्रह्मको उभयोपेत प्रतिपादित करनेके अभिप्रेतार्थके बोधार्थ बृहदारण्य-कोपनिषद् कहता है—

''द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तञ्चैव अमूर्तञ्च मर्त्यञ्च अमृतञ्च स्थितञ्च यच्च सच्च त्यच्च... अथात आदेशो 'न'इति 'न'इति, नहि एतस्माद् इति 'न'इति अन्यत् परम् अस्ति''.

(बृह.उप.२।३।१-६).

यों इन दोनों श्रुतिवचनोंकी एकवाक्यता खोज पायें तो सहज ही समझा जा सकता है कि ब्रह्मके उभयविध रूपोंमें से किसी एकतर रूपको सम्पूर्ण ब्रह्म मान लेना बड़ी वैचारिक धांधली है, जिसका श्रुति 'न'इतिद्वारा प्रतिषेध करना चाहती है. ब्रह्मसूत्रकार अतएव **''प्रकृतैतावत्त्वं प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूयः''** (ब्र.सू.३।२।२२) विधानद्वारा स्पष्टीकरण भी प्रदान करते हैं. अतएव चाहे कर्मयोग हो या ज्ञानयोग हो अथवा तो भक्तियोग हो, किसी भी परप्रापक साधनाका या वर्णाश्रमधर्मका भी अनुष्ठान त्रिगुणात्मक प्राकृत देहेन्द्रियप्राण-मनोबुद्धिके साथ अप्राकृत निर्गुणात्माके आविद्यक अहन्ता-ममताके अध्यासके बिना शक्य ही नहीं रह जाता है. कोई भी सदसत् पुण्यपापात्मक कर्म भी जीवचेतनाके चित्ताहंकारबुद्धिमन पंचप्राण पंचज्ञानेन्द्रिय पंचकर्मेन्द्रिय और पांचभौतिक शरीर के साथ आविद्यक तादात्म्याध्यासके बिना शक्य नहीं. अतएव कर्मबन्धनमूलक जन्ममरण भी सम्भव नहीं है. इनके बिना अमृतोपभोग भी सम्भव नहीं बन पाता, वह जीवन्मुक्तिरूप हो दिव्यलोकानन्द-रूप हो या ब्रह्मानन्दरूप हो अथवा भजनानन्दरूप हो! और तो और, निःशेषद्वैतभ्रान्तिकी निवारिका

''अहं ब्रह्मास्मि'' वृत्तिकी तरह ही शांकरवेदान्तमें आवरण-विक्षेपरूप उभयविध अज्ञानके प्रभेदके आधारपर आत्यन्तिक अद्वैतके आवरणमूलक द्वैतविक्षेपकी अनुवृत्ति, ब्रह्मज्ञानसे आवरणनिवृत्तिके बाद भी, जीवन्मुक्तिमें स्वीकारी गयी है. इसे ज्ञाननिवर्त्य मिथ्याकोटिमें रखनेके बजाय ''ज्ञान अज्ञानका ही निवर्तक होता है वस्तुका नहीं'' उपनियमके अंगीकारवश किसी वस्तुभूत होनेकी ही छद्मांगीकृतिके रूपमें देखा जाना चाहिये. जैसे अविद्याको अहैतुकी अनादि-सान्तका दरज्जा देना, अविद्याके अनाविद्यक वस्तु होनेकी छद्मांगीकृति है. केवलाद्वैतवादकी इस वैचारिक विवशताका सावधानीके साथ विमर्श करनेपर इन ईशावास्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद्के दोनो वचनोंमें श्रुतिने कितना महान् सत्य हमें समझा दिया है !

अर्थात् प्रमाणदृष्ट्या विद्या और अविद्या के इतरेतरके घनिष्ठ सहयोगद्वारा ही प्रमा प्रकट होती है जैसे, वैसे ही प्रमेयदृष्ट्या परमतत्त्व भी प्रातिस्विक स्वभाववश परस्पर विरुद्धधर्मोंका एक अविरुद्ध आश्रय होता है. श्रीमद्भागवतपुराण इन अधोनिर्दिष्ट दो वचनोंसे अतिरिक्त भी कुछ समझाना चाहता है.

> **''न अयम् आत्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया, न बहुना श्रुतेन यमेयैष वृणुते तेन लभ्यः तस्य एष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्''.**
>
> **''अणोः अणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितो अस्य जन्तोः, तम् अक्रतुं पश्यति वीतशोकः धातुः प्रसादाद् महीमानम् ईशः''.**
>
> (कठोप.१।२।२३, महानारा.उप.८।३)

ऐसे श्रुतिवचनोंके आधारपर भगवान्की अगण्य शक्तियोंमें प्रमाण-प्रमेय-साधन-फल वर्गमें गणनार्थ इन चतुर्विध शक्तियोंको त्रिगुणित कर बारह तरहकी शक्तियोंका उल्लेख उपलब्ध होता है : **''श्रिया पुष्ट्या गिरा काक्त्या कीर्त्या तुष्ट्या इलया ऊर्जया विद्यया अविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्''** (भाग.पुरा.१०।३६।५५) भगवान्की असंख्य शक्तियोंमें से इन प्रमुख बारह शक्तियोंके अन्तर्गत प्रमाणान्तर्गत गिरा कीर्ति और कान्ति, प्रमेयान्तर्गत इच्छा माया और इला, फलान्तर्गत श्री ऊर्जा और तुष्टि की तरह स्वप्रापक साधनान्तर्गत अविद्या विद्या और पुष्टि शक्तियोंको सोचा जा सकता है.

ब्रह्मकी फलदृष्ट्या मीमांसा करनेसे पहले पुनः एक बार पूर्वोद्धृत वचनका अनुसन्धान कर लेना उपयुक्त होगा :

''पुरुषः चेता प्रधानान्तःस्थः. सएव भोक्ता प्राकृतम् अन्नं भुक्तइति. तस्य अयं भूतात्मा हि अन्नम् अस्य कर्ता प्रधानः, तस्मात् त्रिगुणं भोज्यं, भोक्ता पुरुषो अन्तःस्थः... यस्माद् बीजसम्भवा हि पशवः, तस्माद् बीजं भोज्यम्. अनेनैव प्रधानस्य भोज्यत्वं व्याख्यातम्. प्राकृतम् अन्नं त्रिगुणभेदपरिणामित्वाद् महदाद्यं विशेषान्तं लिङ्गम्... सुखदुःखमोहसंज्ञं हि अन्नभूतम् इदं जगत्, नहि बीजस्य स्वादुपरिग्रहो अस्तीति यावद् न प्रसूतिः... एवं प्रधानस्य व्यक्ततां–गतस्य उपलब्धिः भवति, तत्र बुद्ध्यादीनि स्वादुनि भवन्ति. अध्यवसायसंकल्पाभिमानाः इत्यथ इन्द्रियार्थान् पञ्च स्वादुनि भवन्ति. एवं सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि एवं; व्यक्तम् अन्नम् अव्यक्तम् अन्नम्, अस्य निर्गुणो भोक्ता, भोक्तृत्वात् चैतन्यं प्रसिद्धं तस्य.'' (मैत्राय.उप.६।१०).

इसे भाष्यरूप वचन मान कर चलें तो सूत्ररूप वचन है :

''एको अवर्णो बहुधा शक्तियोगाद् वर्णान् अनेकान् निहितार्थो दधाति, वि च एति च अन्ते विश्वम् आदौ स देवः बुद्ध्या शुभया संयुनक्तु. तदेव अग्निः तद् वायुः तत् सूर्यः तदु चन्द्रमा तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तद् आपः स प्रजापतिः... अजाम् एकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः अजोहि एको जुषमाणो अनुशेते जहाति एनां भुक्तभोगाम् अजो अन्यः... द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते, तयोः एकः पिप्पलं स्वादु अत्ति अनश्नन् अन्यो अभिचाकशीति'' (श्वेता.उप.४।१–६).

यहां स्पष्टतया देख सकते हैं कि एक अवर्ण स्वयं अनेक लोहित शुक्ल कृष्ण वर्णोंको धारण कर त्रिगुणात्मिका अजा भी बन रहा है और उस अजाका उपभोक्ता अज भी बन रहा और वही भोगके बाद विमुक्त अजावस्थासे एकीभावापन्न भी हो रहा है. और इन त्रिविध ब्रह्मोंको ही **''संयुक्तम् एतत् क्षरम् अक्षरं च व्यक्ताव्यक्तं भरते विश्वम् ईशो अनीशश्च आत्मा बध्यते भोक्तृभावाद् ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः... क्षरं प्रधानम् अमृताक्षरं हरःक्षरात्मानौ ईशते देवः एकः. तस्य**

अभिध्यानाद् योजनात् तत्त्वभावाद् भूयश्च अन्ते विश्वमायानिवृत्तिः... भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्मम् एतत्'' (श्वेता.१।८-१२) अतः निर्गुणता और सगुणता दोनों ही एक ही सिक्केके दो पहलुकी तरह कारणावस्था और कार्यावस्था केवल हैं. साथ ही साथ ऐसे भी नहीं मान लेना चाहिये कि कार्यावस्थापत्तिमें मूल कारणावस्था निःशेष हो जाती है, क्योंकि श्रुतिने खुलासा दे ही रखा है कि ''**एतावान् अस्य महिमा अतो ज्यायांश्च पुरुषः**''(ऋक्संहि. १०।९०।३). अतएव चाहे गुणत्रयी और निर्गुण दोनों ही क्षराक्षरकी दृष्टिसे देखा जाये या नाम-रूप-कर्मत्रयी और उनसे परार्धंगत की दृष्टिसे निहारा जाये, औपनिषदिक सिद्धान्त ''**ऐतदात्म्यम् इदं सर्वम्**'' (छान्दो.उप.६।८।७) श्रुतिप्रति-पादित ब्रह्मतादात्म्य सर्वत्र सर्वदा सर्वथा अक्षुण्ण ही रहता है.

निष्कर्षतया भगवद्गीताके १४वे अध्यायमें भगवान्के सृष्ट्यर्थ परिगृहीत सात्त्विक राजस और तामस गुणोंके अतिक्रमण करनेकी एक विद्याविद्या मूलक क्रमिक प्रक्रिया है, जिसमें उत्तरोत्तर उत्कृष्ट गुणोंके अवलम्बनद्वारा गुण एवं गुणकृत बन्धनसे विमुक्ति दरसायी गयी है और दूसरी प्रक्रिया भक्ति (या आगे चल कर प्रपत्तिद्वारा भी) उपदिष्ट हुयी हैः ''**१.प्रकाशं**[सात्त्विक] **च प्रवृत्तिं**[राजस] **च मोहमेव**[तामस] **च पाण्डव ! न द्वेष्टि सम्प्रवृत्तानि निवृत्तानि न कांक्षति. उदासीनवद् आसीनो गुणैः यो न विचाल्यते गुणाः वर्तन्ते इत्येव यो अवतिष्ठति नेङ्गते... सर्वारम्भपरित्यागी 'गुणातीतः' स उच्यते. २.मां च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्य एतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते**''(भग.गीता.१४।२२-२६). भगवद्गीताके गुणत्रयविभाग योगका रहस्य तो यही है.

भगवद्गीताकी व्याख्यारूपा श्रीमद्भागवतमें इसकी विवेचना सविस्तर मिलती है जैसे कि-

> **१.''इति एतत् कथितं गुर्वि ज्ञानं तद् ब्रह्मदर्शनम्, येन अनुबुद्ध्यते तत्त्वं प्रकृतेः पुरुषस्य च. ज्ञानयोगश्च मन्निष्ठो नैर्गुण्यो भक्तिलक्षणः, द्वयोरपि एकएव अर्थो 'भगवच्'छब्दलक्षणः. यथा इन्द्रियैः पृथग्द्वारैर् अर्थो बहुगुणाश्रयः, एको नाना ईयते तद्वद् भगवान् शास्त्रवर्त्मभिः''**
>
> **२.''सत्त्वे प्रलीनाः स्वः यान्ति नरलोकं रजोलयाः तमोलयास्तु निरयं यान्ति मामेव निर्गुणाः... कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो**

वैकल्पिकं च यत्, प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतं... सात्त्विकः कारको असङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः, तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः. सात्त्विकी आध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धातु राजसी, तामसी अधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा... सात्त्विकं सुखम् आत्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसं, तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्. द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः, श्रद्धा अवस्था आकृतिः निष्ठा त्रैगुण्यः सर्वएव हि... भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते... सत्त्वं च अभिजयेद् युक्तो नैरपेक्ष्येण शान्तधीः, सम्पद्यते गुणैः मुक्तो जीवो जीवं विहाय माम्. जीवो जीवविनिर्मुक्तो गुणैः च आशयसम्भवैः, मयैव ब्रह्मणा पूर्णो न बहिः न आन्तरः चरेत्''

(भाग.पुरा.३।३२।३२-३४, ११।२५।२२-३६).

यहां परखा जा सकता है कि प्रथम उद्धरणमें ब्रह्मदर्शनप्रदायक ज्ञान प्राप्त हो जानेपर प्रकृति और पुरुष तत्त्वोंका अनुबोध (=मिथ्यात्वेन न तो बाध और न पार्थक्येन अस्तित्वका स्वतन्त्रबोध अपितु) ब्रह्मतादात्म्यप्रकारक बोध होने लगता है. भगवन्निष्ठ=भगवद्विषयक ज्ञानयोग एवं निर्गुणा भक्ति, दोनोंका अर्थ=विषय या आलम्बन त्रिगुणातीत और त्रिगुणोपादानभूत एकमात्र 'भगवच्'छब्दद्वारा अभिधेय अर्थ होता है. जैसे नेत्रादि इन्द्रियां खुदके विभिन्न द्वारोंसे एक विषयको अनेक गुणोंवाला प्रकट करती हैं, ऐसे ही विभिन्न शास्त्रीय उपायोंद्वारा भगवान्के भी अनेक गुण प्रकट होते हैं. अतः सत्त्वगुणमें लीन होनेवाले स्वर्गलोकमें जाते हैं. रजोगुणमें लीन होनेवाले नरलोकमें. तमोगुणमें लीन होनेवाले नरकलोकमें जाते हैं. जो गुणत्रयीका अतिक्रमण कर पाता है वह भगवानको प्राप्त करता है... परन्तु सात्त्विक ज्ञान आत्मकैवल्यकी अनुभूति प्रदान करता है. राजस ज्ञानमें अनेकविध विकल्प, यथा ज्ञाता ज्ञान ज्ञानकरण और ज्ञेयार्थ सदृश अनुभूत होते हैं. तामस ज्ञान प्राकृत होता है. भगवद्विषयक ज्ञान, परन्तु, निर्गुण होता है... इसी तरह सात्त्विक कर्ताका कर्म अहंकार या फलकामना के संगसे रहित होता है. राजस कर्ता हर कर्म रागान्ध हो कर करता है. तामस कर्ता भूतकालीन अनुभूतियोंसे सीख नहीं ले पाता. भगवदाश्रयवाला कर्ता किन्तु गुणातीत बन जाता है. क्योंकि सात्त्विकी श्रद्धा आध्यात्मिकी होती है,

कर्मश्रद्धा राजसी होती है, अधर्ममें श्रद्धा तामसी होती है परन्तु भगवत्सेवामें निष्ठा निर्गुणा होती है... अतएव आत्मानुभूतिसे मिलता सुख सात्त्विक होता है, विषयानुभूतिसे मिलता सुख राजस होता है, मोह या दैन्य के कारण मिलता सुख तामस होता है परन्तु भगवदाश्रित सुख निर्गुण होता है. यों गुणमूला और गुणातीत भगवल्लीला की विविधताके कारण द्रव्य देश फल काल ज्ञान कर्म कारक श्रद्धा अवस्था आकृति निष्ठा सभी कुछ त्रिगुणात्मक होते हैं परन्तु... भक्तियोगद्वारा भगवन्निष्ठ होनेपर भगवद्भावमें उनका अन्तर्भाव हो जाता है... इन सात्त्विकादि गुणोंसे मुक्त जीव जीवको छोड़ कर भगवान्को जब पा लेता है तो ब्रह्मभूय हो जानेके कारण न बाह्य और न आन्तर में विचरनेकी अपेक्षा रख पाता है.

मर्कटन्यायेन उपदिष्ट इन्हीं सूत्रात्मक सूक्तियोंके मार्जारन्यायेन लीलात्मक भाष्यके रूपमें श्रीमद्भागवतके दशमस्कन्धमें भगवान्की जन्मप्रकरण से प्रारम्भ होकर निज लीलापरिकरोंके स्वभावोंके अनुरूप चेष्टाद्वारा अर्थात् तामसादि लीलाओंद्वारा लीलापरिकरोंके स्वभावोंका स्वयंके अनुरूप निर्गुणभावमें जो भगवान्ने उन्नयन किया वही इस गुणप्रकरणमें प्रतिपादित भगवल्लीला भी है. अतएव महाप्रभु कहते हैं :

'' 'निरोधो अस्य अनुशयनं प्रपञ्चे क्रीडनं हरेः शक्तिभिः दुर्विभाव्याभिः कृष्णस्य' इति हि लक्षणम्. 'निरोधो' यौगिकः च अत्र रोधनात्मा सतां मतः, भक्ताः पूर्वत्र (नवमस्कन्धे) निर्दिष्टाः ते रोद्धव्याः विमुक्तये (एकादशस्कन्धीयलीलया). कृष्णे निरुद्ध-करणाद् भक्ताः मुक्ताः भवन्ति हि, भक्तेः च शुद्धतासिद्धयै प्रपञ्चाद् (त्रिगुणात्मकाद्) विनिवारणम्. आसक्तिः आत्मनि (परमात्मनि) तथा निरोधार्थं न संशयः. प्रपञ्चविस्मृतिः तस्मात् कृष्णासक्तिः च वर्ण्यते (दशमस्कन्धे) 'शय्यासनाटनालापः (क्रीडास्नानाशनादिषु न विदुः सन्तम् आत्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः)' श्लोके फलितम् (निरोधलीलायाः) ईरितम्. रूपान्तरन्तु नटवत् स्वीकृत्य त्रिविधान् निजान् प्रपञ्चाभावकरणाद् उज्जहार इति निश्चयः. समुदायो (भगवतो भक्तेषु लीलारूपः) जन्मवाची क्रीडायुक्तस्य वै हरेः, प्रपञ्चविस्मृति-सक्तिः भक्तानां चानियोगतः (प्रपञ्चाद् भक्तानां भगवति आसक्त्या निरोधरूपतः),

प्रक्रियापञ्चकं हि अत्र जन्मार्थं प्रथमा मता, तामसानान्तु भक्तानाम् उद्धृत्यै तु ततः परा राजसानां, तृतीयातु सात्त्विकी मता. 'अन्तर्याम्यधिदैवादि'न्यायेन अत्रापि वै हरेः भगस्य (ऐश्वर्यवीर्य–यशःश्रीज्ञानवैराग्यरूपस्य) व्यपदेशः स्याद्, अतः, तस्य निवृत्तये भगस्य सहजत्वाय पञ्चमी (एतद्गुणप्रकरणीया) मता''

(त.दी.नि.३।१०।१४–२३).

अर्थात् दशमस्कन्धमें प्रतिपाद्य लीलाका अभिधान 'निरोधलीला' है. उस निरोधलीलाका प्रयोजन यही है कि श्रीहरि अपनी दुर्विभाव्य शक्तियोंको साथ रख कर जिनको मार्जारन्यायेन भक्त बनाना है उनके बीच प्रकट हो कर ऐसी लीला करते हैं जिससे वे अपने प्राकृत स्वभावके बन्धनोंसे विमुक्त हो कर भगवान्में अनन्यासक्ततया निरुद्ध हो जाते हैं. नवमस्कन्धमें भगवान्की भक्ति करनेवालोंकी कथा कही गयी. सो ऐसे भक्त जिन्हें बनाना हों उनका निरोध (खुदमें उन्हें रोके रखना) आवश्यक हो जाता है. क्योंकि भगवान्में जो निरुद्ध हों वे ही अग्रिम ११वे स्कन्धमें अभिप्रेत भागवती मुक्ति पा सकते हैं. अतः जो भी भगवान् श्रीकृष्णमें निरुद्ध हो जाते हैं उन्हें जीवन्मुक्त ही समझना चाहिये. भगवद्भक्तिको, परन्तु, शुद्ध बनानेको त्रिगुणात्मक प्रपञ्चके विषयोंमें रही आसक्तिसे छुटकारा अपेक्षित है. अतः सभी देहधारी आत्माओंके भीतर बिराजमान परमात्मामें अनन्यासक्तिरूप निरोध जैसे भी सिद्ध हो पाये ऐसी भगवल्लीला इस दशमस्कन्धमें वर्णनार्थ अभिप्रेत है. यह ''**शय्यासनाटनालापः क्रीडास्नानाशनादिषु न विदुः सन्तम् आत्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः**'' (भाग.पुरा. १०।८७।४६) श्लोकमें निरोधलीलाका जो फलित निरूपित हुवा है उससे सिद्ध होता है. एतदर्थ जिसे जैसा भगवान्का स्वरूप भावाकर्षक लगे भगवान्ने वैसे–वैसे रूप धारण कर लीला उनके बीच सम्पन्न की. अतएव तामस राजस और सात्त्विक स्वभाववालोंके बीच वैसी लीला प्रकट कर भगवान्ने उनकी प्रापंचिक विषयोंमें आसक्तिका निवारण करते हुवे उन्हें स्वयंमें निरुद्ध कर लिया. भगवान्को जो लीला अपने जिन भक्तोंके साथ करनी अभीष्ट हो ऐसोंका समुदाय प्रथम जन्मप्रकरणमें निरूपित है. साथ ही साथ भक्तोंकी भी प्रपञ्चविस्मृति और भगवदासक्ति का भी स्वरूप = प्रपञ्चसे भक्तोंका भगवान्में आसक्तिवश सिद्ध होता निरोध भी यहां वर्ण्यविषय है ही. यहां अतएव पांच प्रक्रिया प्रतिपादित हुयी

हैं. पहली भगवज्जन्मकी प्रक्रिया, दूसरी तामसस्वभाववालोंके भगवान्में निरोधकी प्रक्रिया, तीसरी राजसस्वभाववालोंके भगवान्में निरोधकी प्रक्रिया, चौथी सात्त्विकस्वभाववालोंके भगवान्में निरोधकी प्रक्रिया. पांचवीं जिन भगवान्में इन सभी तरहके भक्तोंके निरोध हुवा उनके प्राकृत गुणोंके उपादान होनेपर भी उनसे अतीत होनेकी तथा ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य रूप छह गुणोंके द्योतक छह अध्यायोंमें वर्णनीय प्रक्रिया है. अन्तर्यामी अथवा प्रत्येक आधिभौतिक आध्यात्मिक तत्त्वोंके अन्तर्निहित आधिदैविक रूपोंकी तरह भगवान् श्रीकृष्णके स्वरूपमें भी ये छह गुण आंशिक ही हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये. अथवा तो मौलिक न हो कर केवल लीलार्थ ही प्रकट गुण हैं ऐसा नहीं मानना चाहिये. ये गुण सहज एवं निरुपाधिक हैं.

(अध्यायार्थमीमांसा)

गुणप्रकरणार्थके विमर्शके बाद अब प्रस्तुत प्रकरणके छह अध्यायोंके विशेष अभिप्रेतार्थका विमर्श प्रासंगिक हो जाता है. तदनुसार दशमस्कन्धीय लीलाके कर्ता श्रीकृष्णकी भगवत्ताके ज्ञापक ८२, ८३, ८४, ८५, ८६ और ८७ (प्रक्षिप्त तीन अध्यायोंको भी जोड़ कर गणना करनी हो तो ८५-९०) तकके छह अध्याय ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान और वैराग्य गुणोंके द्योतक हैं.

१.ऐश्वर्यद्योतक ८२ वा अध्याय :

इसमें पिता वसुदेवद्वारा पुत्रद्वयी बलराम-कृष्णकी परम भगवान् होनेके रूपमें स्तुति की गयी है. ऐसे तत्त्वरूपका ज्ञान भगवान्ने निज ऐश्वर्यबलसे अपने पिताको प्रदान किया जिससे उन्हें पुत्रभक्ति सिद्ध हो पाये. कंसद्वारा मारे गये छह पुत्रोंके पुनः आनयनसे माता देवकीको बाह्यानन्द प्रदानद्वारा अपनी भक्तिकी सिद्धि प्रदान की. इन लीलाओंमें भगवान्के ऐश्वर्य गुणकी महिमा गायी गयी है.

२.वीर्यद्योतक ८३ वा अध्याय :

इस अध्यायमें बुद्धिवीर्य और क्रियावीर्य के प्रभेदवश दो तरहके भगवान्के वीर्य गुणका चरित निरूपित हुवा है. इसमें प्रथम बुद्धिवीर्यके निरूपणार्थ अर्जुनद्वारा सुभद्राके अपहरणादिमें किसी तरहका प्रतिबन्ध न आ पाया और न निन्दाका कोई प्रसंग उपस्थित हुवा ऐसी कथा वर्णित है. दूसरे क्रियावीर्य गुणके निरूपणार्थ श्रुतदेव और बहुलाश्व दोनोंके आमन्त्रण एकसाथ स्वीकारके एक समय दोनोंके यहां भगवान्का पधारना वर्णित है.

३.यशोद्योतक ८४ वा अध्याय :

श्रुतिगीता तो सुस्पष्टतया भगवान्के आधिदैविक यश गुणका श्रुतिद्वारा निरूपण है.

४.श्रीद्योतक ८५ वा अध्याय :

इस अध्यायमें महादेवजीकी आपत्तिका निवारण श्री गुणका प्रतिपादन है.

५.ज्ञानद्योतक ८६ वा अध्याय :

इस अध्यायमें सर्वश्रेष्ठ देवके निर्धारणार्थ भृगु ऋषिकी लात सहन करनेकी लीला ज्ञान गुणका निरूपण है.

६.वैराग्यद्योतक ८७ वा अध्याय :

इस अध्यायमें यदुकुलमें अवतीर्ण भगवान् श्रीकृष्णने धर्मार्थकाम पुरुषार्थोंके इतरेतराविरोधेन सेवनकी जो लीला की वह भगवान्के संयमरूप वैराग्य गुणका निरूपण है.

(उपसंहार)

अतएव वैदिक दृष्टिकोणकी एक सर्वधर्मविलक्षण घोषणारूप, ब्रह्मके पारमार्थिक रूपमें आत्यन्तिक निर्गुण अथवा अपारमार्थिक रूपमें सगुण होनेके आत्यन्तिक विद्यावादी मतकी वेदानुकूलता या वेदविपरीतता का विमर्श करते समय, अथर्ववेदके अधोनिर्दिष्ट महान् उद्गारको आंखोंके सामनेसे ओझल नहीं होने देना चाहिये :

''गृहं कृत्वा मर्त्यं देवाः पुरुषम् आविशन्।
स्वप्नो वै तन्द्रीः निर्ऋतिः पाप्मानो नाम देवताः।।
जरा खालत्यं पालित्यं शरीरम् अनुप्राविशन्।
स्तेयं दुष्कृतं वृजिनं सत्यं यज्ञो यशो बृहत्।
बलं च क्षत्रम् ओजश्च शरीरम् अनुप्राविशन्।।
भूतिश्च अभूतिश्च रातयो अरातयश्च याः।
क्षुधश्च सर्वाः तृष्णाश्च शरीरम् अनुप्राविशन्।।
निन्दाश्च अनिन्दाश्च यच्च हन्ता इति नेति च।
शरीरं श्रद्धा दक्षिणा अश्रद्धा च अनुप्राविशन्।।
विद्याश्च अविद्याश्च यच्च अन्यद् उपदेश्यम्।

शरीरं ब्रह्म प्राविशद् ऋचः सामा अथो यजुः।।
आनन्दा मोदा प्रमुदो अभी मोदमुदश्च ये।
.....
रेतः कृत्वा आज्यं देवाः पुरुषम् आविशन्।।
शरीरं ब्रह्म प्राविशत् शरीरे अधि प्रजापतिः।
सूर्य चक्षुः वातः प्राणं पुरुषस्य विभिजिरे।।
अथ अस्य इतरम् आत्मानं देवाः प्रायच्छन् अग्नये।
तस्माद् वै विद्वान् पुरुषम् 'इदं ब्रह्म' इति मन्यते।।
सर्वा हि अस्मिन् देवताः गावो गोष्ठइव आसते।''

(अथर्वसं.११।२५।४)

—*—

(एकादशस्कन्धीयविषयवाक्य)

१.''यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य एष महिमा भुवि, दिव्ये ब्रह्मपुरे हि एष व्योम्नि आत्मा प्रतिष्ठितः... तद् विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीराः आनन्दरूपम् अमृतं यद् विभाति. भिद्यते हृदयग्रन्थि छिद्यन्ते सर्वसंशयाः क्षीयन्ते च अस्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे. न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतः कुतो अयम् अग्निः, तमेव भान्तम् अनुभाति सर्वं तस्या भासा सर्वम् इदं विभाति. ब्रह्मैव इदम् अमृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतः च उत्तरेण, अधश्च ऊर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैव इदं विश्वम् इदं वरिष्ठम्... तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यम् उपेति''

(मुण्ड.उप.२।२।७-११, ३।१।३).

''ब्रह्मणः सायुज्यं सलोकताम् आप्नोति, एतासामेव देवतानां सायुज्यं सार्ष्टिता समानलोकताम् आप्नोति, यः एतम् अग्निं चिनुते य उ च एनं वेद'' (तैत्ति.आर.३।१२।५).

''तदिदमपि एतर्हि य एवं वेद 'अहं ब्रह्म अस्मि'इति स इदं सर्वं भवति. तस्य ह न देवाश्च अनाभूत्या ईशते, आत्मा ह्येव एषां स भवति. अथ यो अन्यां देवताम् उपास्ते 'अन्यो असौ अन्यो अहम् अस्मि' न स वेद यथा पशुः एवं स देवानाम्''(बृह.उप.१।४।१०).

२.''अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः तस्य अहं सुलभः पार्थ ! नित्ययुक्तस्य योगिनः... आब्रह्मभुवनाद् लोकात् पुनरावर्तिनो अर्जुन ! माम् उपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'', ''सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः अनेन प्रसविष्यध्वम् एष वो अस्तु इष्टकामधुक्...इष्टान् भोगान् हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः तैः दत्तान् अप्रदायैभ्यो यो भुंक्ते स्तेनएव सः. यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यते सर्वकिल्बिषैः'', ''यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम् नायं लोको अस्ति अयज्ञस्य कुतो अन्यः...'' ''सर्वतः पाणिपादं तं सर्वतो अक्षिशिरोमुखं सर्वतः श्रुतिमद् लोके सर्वम् आवृत्य तिष्ठति. सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितं असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च... इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्च उक्तं

समासतः मद्भक्तः एतद् विज्ञाय मद्भावाय उपपद्यते... इदं ज्ञानम् उपाश्रित्य मम साधर्म्यम् आगताः सर्गेऽपि न उपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च... माञ्च यो अव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते स गुणान् समतीत्य एतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते...'' (भग.गीता.८।१४-१६, ३।१०-१३, ४।३१, १३।१३-१४, १४।२६).

३.''अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थानं पोषणम् ऊतयो मन्वन्तरेशानु-कथा निरोधो मुक्तिः आश्रयः. दशमस्य विशुद्ध्यर्थं नवानाम् इह लक्षणम्... अवतारानुचरितं हरेश्च अस्य अनुवर्तिनां सताम् ईशकथा प्रोक्ता, निरोधो अस्य अनुशयनम् आत्मनः सह शक्तिभिः, मुक्तिः हित्वा अन्यथारूपं स्वरूपेण व्यवस्थितिः. आभासश्च निरोधश्च यतश्च अध्यवसीयते स आश्रयः परं ब्रह्म परमात्मा इति शब्द्यते''

(भाग.पुरा.२।१०।१-७).

''अभिसन्धाय यो हिंसां दम्भं मात्सर्यमेव वा संरम्भी भिन्नदृग्भावं मयि कुर्यात् स तामसः. विषयान् अभिसन्धाय यश ऐश्वर्यमेव वा अर्चादौ अर्चयेद् यो मां पृथग्भावः स राजसः. कर्मनिर्हारम् उद्दिश्य परस्मिन् वा तदर्पणं यजेद् यष्टव्यम् इति वा पृथग्भावः स सात्त्विकः. 'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये मनोगतिः अविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसो अम्बुधौ' लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य हि उदाहृतम् 'अहैतुकी अव्यवहिता या भक्ति पुरुषोत्तमे सालोक्य-सार्ष्टि-सामीप्य-सारूप्य-एकत्वमपि उत दीयमानं न गृणन्ति विना मत्सेवनं जनाः', सएव 'भक्तियोगाख्यः आत्यन्तिकः' उदाहृतः, येन अतिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावाय उपपद्यते''

(भाग.पुरा.३।२९।७-१४).

भावानुवाद : १.''जो सब तरहके ज्ञानवाला और सब कुछ जाननेवाला है जिसकी महिमा इस भूतलपर है, वह आत्मा दिव्य ब्रह्मपुररूप इस व्योममें प्रतिष्ठित रहता है... उस आनन्दरूप अमृतका विभान जो हो रहा है, उसे धीर पुरुष विज्ञानद्वारा भलीभांति देख पाते हैं. उस परावरके दर्शन हो जानेपर हृदयकी सारी ग्रन्थियां खुल जाती हैं, सारे संशय छितरा जाते हैं, सारे कर्म क्षीण हो जाते हैं. वहां, परन्तु, न तो

सूर्यका प्रकाश पहुंचता है न चन्द्रमाका या तारागणोंका भी, न बीजली चमकती हो तो यह भौम अग्नि तो कहांसे होगी ? वस्तुतः तो उसके भासवश ये सभी भासित हो रहें हैं. यों सामने-पीछवाड़े दायें-बांयें, ऊपर-नीचे सर्वत्र पसरा हुवा विश्व वह अमृतरूप वरिष्ठ ब्रह्म ही है... उसे यों जान लेनेवाला पुण्य और पाप दोनों प्रकारके कर्मोंके धब्बोंको धो कर निरञ्जन हो कर उसके साथ परम साम्य प्राप्त कर लेता है.

''जब कोई इस अग्निका चयन करता है या उस ऐसे जान-मान लेता तो ब्रह्माके साथ सायुज्य सालोक्य प्राप्त कर लेता है, इसमें इन देवताओंके साथ सायुज्य सार्ष्टि सालोक्य प्राप्त भी कर लेता है.''

''अबभी जो कोई 'मैं ब्रह्म हूं' ऐसा अनुभव कर पाता हो वह यह जो कुछ है सर्वरूप हो जाता है. देवगण भी उसे अनाभूतिद्वारा अपना ऐश्वर्य उसपर जता नहीं पाते. क्योंकि इन देवगणोका भी आत्मरूप बन जाता है. जो किन्तु स्वयं भिन्न मान कर किसी देवकी उपासना करता है कि 'मेरा यह देव कोई और है और मैं कोई और' वह देवोपासनाका रहस्य जान नहीं पाया वह सो देवोंके लिये एक पशुवत् होता है.''

२.''जो अनन्य चित्तद्वारा नित्ययुक्त योगी सतत भगवान्का स्मरण नित्यशः करता हो उसके लिये तो भगवान् सुलभ ही होते हैं... ब्रह्मभुवन तकके सारे लोकोंसे पुनरावर्ति होती है परन्तु भगवान्को पानेवालेका पुनर्जन्म नहीं होता'', ''प्रजापतिने प्रजाका सृजन यज्ञके साथ किया और आदेश दिया कि इस यज्ञद्वारा तुम सब जन्मो और फुलोफलो. तुम इन यज्ञोंके द्वारा देवताओंका भावन करो देवतागण तुम्हारा भावन करेंगे. उन देवताओंसे जो प्राप्त होता है उसे उन्हें दिये बिना केवल तुम भोगना चाहोगे तो वह चोरीकी वृत्ति होगी. इसलिये यज्ञशिष्टका भोग करनेवाले सारे पापोंसे छुटकारा पा लेते हैं. यज्ञशिष्ट अमृतका भोग करनेवालोंको सनातन ब्रह्मकी प्राप्ति होती है. जो यज्ञाचरण नहीं करता उसे तो यह लोक भी भलीभांति सिद्ध नहीं होता तो परलोककी तो कथा ही क्या ?'' ''उसके कर-चरण सर्वत्र हैं, उसके नेत्र-मुख और मस्तक भी सर्वत्र हैं, वह लोकमें सर्वत्र सुन पाता है वह सभीको समेट कर रहता है. जितनी भी इन्द्रियोंसे जो गुण ग्रहीत होतें है

वे उसमें भासित हो रहें हैं यद्यपि उसमें कोई भी इन्द्रिय नहीं. वह कहीं आसक्त न होनेपर भी सभीका भरण करता है. स्वयं निर्गुण होनेपर भी गुणोंका भोक्ता भी बनता है... दृश्य-कार्य-भोग्यरूप ज्ञेयक्षेत्र तथा दर्शन-कर्म-भोगरूप ज्ञान समासविधिसे प्रतिपादित हुवा है. जो भगवान्का भक्त इसे भलीभांति जान लेता है वह भगवद्भावसे उपपन्न हो जाता है... इस ज्ञानका उपाश्रय कर भगवान्का साधर्म्य पा जानेवाले न तो सर्गके समय जनमते हैं और न प्रलयके समय व्यथित होते हैं... जो भगवान्का अव्यभिचारी भक्तियोगद्वारा सेवन करता है वह इन गुणोंसे ऊपर उठ कर ब्रह्मभूय बन जाता है...''.

३.''इस भागवतपुराणमें सर्ग विसर्ग स्थान पोषण ऊति मन्वन्तर ईशानुकथा निराध मुक्ति और आश्रय लीला प्रतिपादित हुयी हैं. दशम आश्रय लक्ष्यके विशोधनार्थ सर्गादि नौ लीला लक्षणरूपा हैं... अवतारोंका अनुचरित अर्थात् हरि और उनके अनुवर्ति सत्पुरुषोंकी कथा 'ईशकथा'के रूपमें निरूपित है, उसी ईश्वरका अपनी शक्तियोंके साथ अनुशयन निरोधलीला है. उसके बाद अन्यथा स्वरूपके परित्याग द्वारा स्वरूपतया व्यवस्थित होना मुक्तिलीला है. अपने अद्वैतमें अपनेसे भिन्नतया इन नवविध लीलाओंका अवभासन और उनका अनवभास जिसके कारण और जहां घटित होता है वह तत्त्व, जिसे 'ब्रह्म' 'परमात्मा' 'भगवान्' पदसे अभिहित किया जाता है, उसे आश्रयतया जानना चाहिये''.

''जो भगवान्की भक्ति, हृदयमें परहिंसा दम्भ या मात्सर्य का अनुसन्धान रखते हुवे भेदभाववाले उद्यमके रूपमें करता हो, वह तामस होता है. इन्द्रियविषयोंके अभिसन्धान यश या ऐश्वर्य पानेके लिये अर्चाआदिमें पृथग्भाव रख कर जो पूजनमें तत्पर हो वह राजस होता है. कर्मके निर्हरणके उद्देश्यवश अथवा परमात्माको कर्मोको अर्पित करनेको अथवा यज्ञादिको अपना नियत कर्तव्य मान कर जो भेदबुद्धिको निभाते हुवे कर्म करता हो, उसे सात्त्विक मानना चाहिये. भगवान्के गुणोंके श्रवणमात्रसे सर्वगुहाशय भगवान्में मनकी अविच्छिन्न गति होनी चाहिये जैसी गंगाके जलप्रवाहकी अविच्छिन्न

गति सागरकी ओर होती है. इसे निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया है. पुरुषोत्तममें अहैतुकी अव्यवहिता भक्ति जिसके कारण भक्त सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य या एकत्व रूपा मुक्ति दिये जानेपर भी लेना नहीं चाहते, यदि भगवत्सेवा न मिलती हो तो, इसे ही 'आत्यन्तिक भक्तियोग' कहा जाता है. इसके कारण प्रकृतिके तीनों गुणोंसे ऊपर उठ कर भगवद्भावार्थ जीव उपपन्न हो जाता है''.

(संशय)

''**ऐतदात्म्यम् इदं सर्व, तत् सत्यं, स आत्मा, तत् त्वम् असि**'' (छान्दो.उप. ६।८।७) श्रुतिवचनमें प्रतिपादित औपनिषदिक ब्रह्मतादात्म्यवादके सन्दर्भमें सम्पूर्ण जड़-जीव-ईश्वरात्मक सृष्टिका लक्ष्यभूत आश्रयरूप ब्रह्मके साथ तादात्म्य जैसे स्वाभाविक स्वरूपावस्थामें होता है वैसे ही लक्षणरूपा लीलार्थगृहीतरूपावस्थामें भी स्वीकारा गया है. दूसरे शब्दोंमें कहना हो तो कारणावस्था या कार्यावस्था का प्रभेद तो सुबोध्य है, परन्तु ब्रह्मव्युच्चरित ब्रह्मांशभूत ब्रह्मात्मक जीवोंकी बद्धावस्था एवं मुक्तावस्था के प्रभेदको बुद्धिग्राह्य बनानेमें कुछ समस्या अवश्य उभरती हैं. क्योंकि दोनों अवस्थाओंमें उसकी ब्रह्मात्मकतामें तो कोई तारतम्य प्रकट होता नहीं है. सो इन उपर्युद्धृत श्रुति गीता और पुराण के वचनोंमें 'साम्य' 'साधर्म्य' 'सालोक्य' 'सार्ष्टि=समानैश्वर्य' 'सामीप्य' 'सारूप्य' अथवा 'सायुज्य=एकत्व' रूपी मुक्तिओंके जो अनेक प्रकार दरसाये गये हैं, वे जीवकी बद्धावस्थामें उपलब्ध हों ही तो मुक्तिमें कौनसी अधिकता सिद्ध होती है ?

यहां यह विवेचनीय हो जाता है कि ब्रह्मदृष्ट्या सत्ता चेतना प्रियता नाम और रूप सभी ब्रह्मवादमें ब्राह्मिक माने गये हैं. और ब्रह्मकी मूलावस्था और सृष्ट्यवस्था दोनों अवस्थाओंमें किसी न किसी तरह विद्यमान होनेके कारण साम्यको उभयावस्थानुगत सिद्ध करते हैं. इनके अंशात्मना आविर्भाव अथवा तिरोभाव की प्रतिपादित प्रक्रियाके अनुरोधवश मूलावस्थामें अविभक्त एकात्मिका तथा सृष्टिमें विभक्त अनेकात्मिका स्वीकारनेपर भी उपनिषत् प्रतिपादित ब्रह्मकी सर्वातीतता और सर्वसमता भी ''**न तत्समः च अभ्यधिकः च दृश्यते**'',''**स सर्वशइति स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव पुनः**

स्मृतः शतं च दशं च एकश्च सहस्राणि च विंशतिः'' (श्वेता.उप.६।८, छान्दो.उप. ७।२६।२) इन वचनोंमें प्रतिपादित है ही.

परमात्मदृष्ट्या निहारनेपर भी उभयथा अंशिदृष्ट्या और अंशदृष्ट्या साधर्म्य तो स्वीकारा ही गया है :

१.''तस्माद् वा एतस्माद् विज्ञानमयाद् अन्यो अन्तर आत्मा आनन्दमयः... तस्य प्रियमेव शिरः.''

२.''न वारे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियो भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियो भवति''.

३.''एषो अस्य परम आनन्दः एतस्यैव आनन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्राम् उपजीवन्ति.''

(तैत्ति.उप.२।५, बृह.उप.२।४।५, ४।३।३२).

यदि भगवद्दृष्ट्या भी निहारना हो तो ''युक्तं भगैः स्वैः इतरत्र च अध्रुवैः'' (भाग.पुरा.२।९।१६)सदृश वचनोंमें ब्रह्म परमात्मा के भगवत्ता अर्थात् ऐश्वर्य वीर्य यश श्री ज्ञान वैराग्य रूपी गुणधर्म यदि भगवान्में सहज सदातन होते हैं तो जीवात्माओंमे भी कृत्रिम तथा नश्वर तो होते ही हैं. एतावता जीवात्मामें होते ही नहीं ऐसा तो नहीं कहा जा सकता. अतः सादृश्य भी सिद्ध होता ही है.

ऐसी स्थितिमें सालोक्य का विचार करें तो जैसे पुरुषोत्तम ''**यस्मात् क्षरम् अतीतो अहम् अक्षरादपि च उत्तमः अतो अस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः**'',''**यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति 'अव्यक्तो अक्षर' इत्युक्तः तम् आहुः परमां गतिं यं प्राप्य न निवर्तन्ते तद् धाम परमं मम**'' (भग.गीता.१५।१८,८।२०-२१) वचनोंके आधारपर अक्षरधाममें अवस्थित है वैसे ही निखिल सृष्टि भी ''**इमे यद् भूतं भविष्यत् च इति आचक्षते आकाशएव तद् ओतं च प्रोतं च... एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि ! सूर्याचन्द्रमसौ विधृते तिष्ठतः... न अन्यद् अतो अस्ति द्रष्टा... एतस्मिन् खलु अक्षरे आकाशः ओतश्च प्रोतश्च**''(बृह.उप.३।८।८-१२) वचनोंके आधारपर अक्षर ब्रह्ममें अवस्थित है. अतः उभयावस्थामें सालोक्य भी तो सिद्ध ही है.

इस तरह सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य और एकत्व या सायुज्य पर्यन्त सभी प्रकार ''**यो वै सः प्रजापतिः षोडशकलः अयमेव स योऽयम् एवंवित् पुरुषः**'',''**सृष्ट्वा पुराणि विविधानि अजया आत्मशक्त्या... तैस्तैः अतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय ब्रह्मावलोकधिषणं मुदम् आप देवः**'', ''**सहैव सन्तं न विजानन्ति देवाः**'',''**द्वा सुपर्णा**

सयुजा सखायौ''(बृह.उप.१।६।१५, भाग.पुरा.११।९।२८, तैत्ति.आर. ३।११।५, श्वेता.उप.४।६) सदृश श्रुति-आदि वचनोंके अवलोकन करनेपर मुक्तिके ये विविध प्रकार [१]''विस्मृतकण्ठमणि'न्यायेन केवल विभ्रमावभासित अन्यथामतिके निरासद्वारा निजताके पुनःस्मरणरूप हैं ? [२]अथवा अनवगत आत्मस्वरूपका 'राधेयका कौन्तेयतया' इदंनूतन आत्मप्रत्यभिज्ञान हैं ? [३]अथवा वस्तुतः अन्यथाभावापन्न पदार्थका अन्यथास्वरूपके त्यागपूर्वक नूतन स्वरूपेण अवस्थान है ? [४]अथवा किसी शोकमोहग्रस्त नश्वर लोकमेंसे शोकमोहातीत अनश्वर अपरलोकमें प्रयाण हैं ?

(पूर्वपक्ष)

[१]प्रथम कल्पमें ब्रह्मलीलारूपा सृष्टिमें अलीलात्मक विभ्रम तो अप्रसक्त होनेसे स्वयं जीवात्माकी अविद्यावशात् शांकर केवलाद्वैतवादसे ब्रह्मवादका पार्थक्य निरस्त हो जायेगा. [२]इस द्वितीय कल्पमें शांकर वेदान्तीय उदाहरण रहनेपर भी प्रक्रिया काश्मीरी प्रत्यभिज्ञावादमें ब्रह्मवादको पर्यवसित कर देगी. [३]तृतीय कल्पमें बन्धसत्यतावादी सांख्य-न्यायादि द्वैतवाद गलेपतित होता लगता होनेसे तादात्म्यवादका त्याग करना ही पड़ेगा. [४]चतुर्थ कल्पमें जिस शोकमोहातीत अनश्वर लोकोंमें प्रयाणतया मुक्तिको सोचा जाये वह अक्षरब्रह्मात्मक हो तो उभयत्र व्यापक मानना पड़ेगा और अक्षरब्रह्मात्मक न हो तो लोककी नश्वरता और मुक्त्यर्थ प्रयाणकर्ता जीवात्माकी समष्टिरूपेण विभुता और व्यष्टिरूपेण अविभुता यों उभयविधताका त्याग तो करना ही पड़ेगा.

(उत्तरपक्ष)

ब्रह्मवादके हार्दको समझनेके लिये सर्वप्रथम तो बन्धकारिणी माया-अविद्या हो मुक्तिप्रदायिनी विद्या हो दोनोंको किसी विभु सर्वसमर्थकी सनातनी शक्तिके रूपमें मान्य करना अनिवार्य है क्योंकि [१]जीवात्माके केवल स्वस्वरूपके ज्ञान या अनुभव से मोक्षलाभ दरसानेके बजाय न्यूनतम निजके बारेमें पर वैसे तो वस्तुमात्रके ब्रह्मतादात्म्यके साक्षात्कारको संसारनिवर्तक माना गया है. [२]बन्धमोक्षव्यवस्था किसी एक या दो-चार जीवात्माके गुणदोषकी कथा न हो कर अगण्य जीवात्माओंकी सृष्टिव्यापी सर्वसाधारण कथा है. ः

[१]''ततः परं ब्रह्मपरं बृहन्तं यथानिकायं सर्वभूतेषु गूढं विश्वस्यैकं परिवेष्टितारम् ईशं तं ज्ञात्वा अमृताः भवन्ति... तमेव विदित्वा अतिमृत्युम् एति न अन्यः पन्था अयनाय विद्यते'',,''तमेवं विद्वान् अमृत इह भवति''

(श्वेता.उप.३।६-८, तैत्ति.आर.३।१।३).

''ब्रह्मविद् आप्नोति परं तद् एषा अभ्युक्ता सत्यं ज्ञानम् अनन्तं ब्रह्म यो वे वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सो अश्नुते सर्वान् कामान् ब्रह्मणा सह'',''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म इति''

(तैत्ति.उप.२।१-३।१).

[२]''यदा चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति वै नराः तदा देवम् अविज्ञाय दुःखस्य अन्तो भविष्यति. तपःप्रभावात् देवप्रसादाच्च ब्रह्म ह श्वेताश्वरो अथ विद्वान्'',''दैवी हि एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एतां तरन्ति ते'',''दैवी सम्पद् विमोक्षाय निबन्धाय आसुरी मता... द्वौ भूतसर्गौ लोके अस्मिन् दैव आसुरएव च... तान् अहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् क्षिपामि अजस्रम् अशुभान् आसुरीष्वेव योनिषु.''

''सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभएव च प्रमादमोहौ तमसो भवतो अज्ञानमेव च'',''ये चैव सात्त्विका भावाः राजसाः तामसाः च ये मत्तएव इति तान् विद्धि'',''सर्वस्य च अहं हृदि संनिविष्टो मत्तः स्मृतिः ज्ञानम् अपोहनं च''

(भग.गीता.१४।१६,७।१२,१५।१५, श्वेता.उप.६।२०, भग.गीता.७।१४-१६,५।१९).

''विद्याविद्ये मम तनू विद्धि उद्धव ! शरीरिणां मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते. एकस्यैव मम अंशस्य जीवस्यैव महामते ! बन्धो अस्य अविद्यया अनादिः विद्यया च तथा इतर''

(भाग.पुरा.११।११।३-४).

''एष ह्येव एनं साधु कर्म कारयति तं यम् एभ्यो लोकेभ्यः उन्निनीषते, एष उ एव एनम् असाधु कर्म कारयति तं यम्

अधोनिनीषते. एष लोकपालः एष लोकाधिपतिः एष सर्वेशः स मे आत्मा'' (कौषि.उप.३।८).

इन वचनोंका अवगाहन करनेपर यह बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि औपनिषदिक आदर्शके अनुसार न तो निजात्माके देहादि उपाधिरहित शुद्धस्वरूपकी स्मृति न साक्षात्कार और न प्रत्यभिज्ञान के कारण मुक्तिलाभ सुलभ है परन्तु या तो निजात्मविषयक ब्रह्मत्वप्रकारक अथवा ब्रह्मविषयक निजात्मत्वप्रकारक ज्ञानसे ही मुक्ति या अमृतत्व का लाभ सुलभ होता है. अतएव भगवद्गीतामें यज्ञाचरणसे इहलोकमें निष्पाप त्रैवर्गिक सिद्धिकी तरह यज्ञावशिष्ट ब्रह्मविद्यारूप अमृतोपभोगसे सनातन अक्षरब्रह्मकी प्राप्ति भी स्वीकारी गयी है. अर्थात् ब्रह्मविद्याका अयज्ञात्मक लौकिक त्रैवर्गिक उपभोग, अलौकिक अपवर्गात्मक उपभोग और भगवद्भजनार्थ भजनानन्दात्मक उपभोग भी शक्य है. अतएव जो परब्रह्म प्राप्त करनेमें समर्थ ब्रह्मविद् हो उसके लिये उसे ब्रह्मका सत्य ज्ञान और आनन्दात्मक=देश-काल-स्वरूपतः अपरिच्छिन्न अर्थात् सर्वव्यापी सनातन नाम-रूप-कर्मोके धारक होनेपर भी उनमें परिसीमित न हो पानेवाले ज्ञानरूप सत्यको अपने हृदयमें अनुभूत करना आवश्यक माना गया है. क्योंकि ब्रह्मकी परिभाषामें ही यह स्पष्ट हो जाता है कि जिससे यह नाम-रूप-कर्मात्मक सृष्टि कार्यात्मना या अंशात्मना प्रकट होती है, जिसके धारण करनेपर जीवित रहती है और ब्रह्मार्पित कर्मके वश ब्राह्मिक लोकोंमें सालोक्यादि रूपा मुक्ति, या ब्रह्मज्ञानवश सायुज्य=एकत्वरूपा मुक्ति अथवा तो उस ब्रह्मके निजात्मात्मतया ब्राह्मिक दिव्यकामोंके सेवन-सन्तुष्टिवश लौकिक शोकमोहसे अग्रस्त हो कर यथामनोरथ सालोक्य सार्ष्टि सामीप्य सारूप्य या सायुज्य रूपा मुक्तिका अनुभव भूतलपर भी करने सक्षम हो पाता है उसे 'ब्रह्म' माना गया है. इसके बिना अन्यान्य प्रकारक कर्म बोध या उपासना द्वारा सारे गगनमण्डलको चर्मसे आवेष्टित कर पाने जैसा अशक्य हो जाता है सांसारिक दुःखोंसे छुटकारा पाना. यह जीवात्माके तप और परमात्मा के प्रसादकी इतरेतरसंवादितावश ही शक्य माना गया है. परमात्माकी आधिदैविक गुणमयी माया भगवान्की प्रपत्तिके बिना लांघी नहीं जा सकती. अतः न तो बन्धन स्वयं जीवहेतुक है और न मुक्ति ही. जीवात्मा केवल स्वगत अज्ञान मोह वासना भ्रम या तत्प्रसूत कर्मसे न तो दैवसम्पत्तया मुक्तिका अधिकारी बनता है और न ही आसुरसम्पत्तया अनधिकारी

... वैसे कहनेको आसुरी सम्पद्को भगवान् उनकी अशुभ वासना और कृतियों के कारण अशुभयोनिमें डालते रहते हैं परन्तु जिस सत्त्वगुणके प्रबल होनेपर मोक्षोपयिक ज्ञान उपलब्ध होता है और राजस या तामस गुणोंके कारण मुक्तिमें प्रमाद-मोह-भ्रम-अज्ञानप्रयुक्त अनधिकारिता आती है वह सभी कुछ सभीके हृदयमें बिराजमान भगवान्द्वारा प्रदत्त ध्रुवा-स्मृति तत्त्वज्ञान या ज्ञानके अपोहन द्वारा प्रकट होता है. ऐसी ये विद्या या अविद्या दोनों ही स्वयं भगवान्की स्वरूपात्मक शक्तियां हैं और शरीरधारी जीवात्माओंकी मोक्षदायिका या बन्धकारिका बनती हैं. जीवहेतुक होती तो अविद्या अनादि हो ही नहीं सकती, विशेषतः उस स्थितिमें जबकि जीव भी अनादि आविद्यक ही माना गया है. भगवान् तो अनादि-अनन्त हैं पर जीवात्माको अविद्याग्रस्त तब तक ही रखते हैं जबतक विद्या प्रदान न करनी हो. अतएव निष्कृष्टार्थ कौषितकी उपनिषद् यों समझाता है कि यह सभी लोकोंके पालक अधिपति ईश्वर होनेसे जिसे ऊपर उठाना चाहता है उससे साधु कर्म करवाता है और जिसे नीचे गिराना चाहता है उससे असाधु कर्म करवाता है. वह एतावता न तो किसीका पक्षपात करता है और न किसीके प्रति निष्ठुर सिद्ध होता है क्योंकि जीवात्माओंके भीतर बिराजमान जो परमात्मा है वह ऐसा है कि न उसका कोई अपना है और न पराया. सभी कुछ वह स्वयं बना है, इसलिये.

अतः अवशिष्ट रह जाते हैं पूर्वपक्षमें लगाये गये आरोप कि जीवात्माके स्वरूपाज्ञान देहेन्द्रियादिके पंचपर्वा अविद्यामूलक तादात्म्याध्यासवश अनुष्ठित सदसत्कर्म या तज्जन्य वासना आदि जीवगत हेतुओंके वश सांसारिक बंधन स्वीकारनेपर अंशांशितादात्म्यवादको छोड़ना पड़ेगा और आत्यन्तिक अद्वैतवादमें पर्यवसान होगा. अथवा बन्धको भगवत्कृत मानना हो तो वैराग्य सांख्य योग तपो भक्ति रूप विद्याके पंच पर्वोंसे ध्रुवा स्मृति अथवा निजात्मस्वरूपके प्रत्यभिज्ञान रूप मुक्तिलाभ स्वीकारनेपर काश्मीर प्रत्यभिज्ञावादमें शुद्धाद्वैतवादका पर्यवसान होगा. अथवा भगवत्कृत न मान कर ब्रह्मसे भिन्न अज्ञान या तज्जन्य कर्मबन्धनों से आत्मस्वरूपज्ञान भगवत्स्वरूपज्ञान या भक्ति द्वारा दिव्य लोकान्तरप्राप्तिरूप मोक्षकी कल्पना करनेपर द्वैतवाद गलेपतित होगा. ऐसे आरोप औपनिषद ब्रह्मतादात्म्यवादपर लागू नहीं होते क्योंकि तादात्म्य न तो आत्यन्तिक भेदरूप होता है और न आत्यन्तिक अभेदरूप ही. वह न ''द्वयोः वैलक्षण्यं पार्थक्यं प्रभेदो

वा'' रूप होता है और न ''द्वित्वात्यन्ताभावोपलक्षित-एकत्व''रूप होता है. वह तो ''अनेकेषाम् एकत्वम्'' अथवा ''एकस्यैव अनेकत्वम्'' रूप होता है. स्वरूपतः स्वाभाविक एकत्व और लीलया कृत्रिम परन्तु सत्य अनेकत्वरूप होता है. अतः साम्यसे प्रारम्भ कर एकत्व पर्यन्त मोक्षके सभी प्रकारोंको उपपन्न कर पाता है. अतएव महाप्रभु कहते हैं :

''विद्यया अविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति — निद्रावद् अविद्यापगमे न जीवस्य जन्ममरणे. तदा तस्मिन् जन्मनि गृहीतानां देहादीनां विलयाभावम् आह — देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्यस्ताः भवन्ति हि. अध्यासएव गच्छति न स्वरूपं, प्रपञ्चमध्य-पातात् — स्वबुद्ध्या लीनवत् प्रतिभानेऽपि न सर्वेषां बुद्ध्या तथा प्रतिभानम्'', ''ननु 'नित्यः सर्वगतः स्थाणुः' इति वाक्याद् (जीवो) व्यापको भविष्यति इति आशंक्य आह — व्यापकत्वश्रुतिः तस्य भगवत्त्वेन युज्यते, भगवदावेशे भगवद्धर्माः व्यापकत्वादयः तत्र श्रूयन्ते. नतु जीवो व्यापकः. ननु वेदे 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'इति वाक्याद् आराग्रमात्रत्वं न वास्तवम् इति चेत् तत्र आह — आनन्दांशाभिव्यक्तौ तु तत्र ब्रह्माण्डकोटयः प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तत् — अण्वपि ब्रह्म व्यापकं भवति कृष्णो यशोदाक्रोडे स्थितोऽपि सकलजगदाधारो भवति''.

(त.दी.नि.प्र.१।३३,५४).

अतः ऐसी स्थितिमें ''**ब्रह्म वा इदम् अग्रे आसीत् तद् आत्मानमेव अवेद् 'अहं ब्रह्म अस्मि'. तस्मात् तत् सर्वम् अभवत्... तद्ध एतत् पश्यन् ऋषिः वामदेव प्रतिपेदे 'अहं मनुः अभवम् अहं सूर्यः च' इति. तदिदमपि एतर्हि य एवं वेद 'अहं ब्रह्म अस्मि' इति स इदं सर्वं भवति**'' (बृह.उप.१।४।१०) वचनका आशय ऐसा नहीं लिया जा सकता कि ब्रह्म सब कुछ नहीं बना प्रत्युत वामदेव ऋषि सब कुछ बने ! ऋषि वामदेवकी ब्रह्मानुभूतिमें 'अहं'कारद्वारा अवभासित उद्देश्यीभूत विषय देश-काल-स्वरूपके परिच्छेदोमें ही यथापूर्व अवगत हो कर ब्रह्मानुभूतिकी अनधिगताबाधितार्थ-विषयकताके अनुरोधसे विधेयभूत प्रकारताका बोध है. निजात्म(वामदेव)विषयक ब्रह्मत्वप्रकारक बोध है. इसे ही महाप्रभु ''प्रतीयेरन् परिच्छेदो व्यापकत्वं च तस्य तत्'' वचनांश द्वारा स्फुट कर रहे हैं. अतः सहज सम्भव है कि 'अहं ब्रह्म' एक बार

अवगत होते ही सद्योऽनुभूतिका रूप त्याग कर 'विस्मृतकण्ठमणि'न्यायेन पूर्वानुभूत ब्रह्मैक्यकी स्मृति अथवा 'सोऽहम्'न्यायेन प्रत्यभिज्ञा रूप धारण कर ले. अतएव महाप्रभु कहते हैं ''**ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानाम् आत्मनैव सुखप्रमा संघातस्य विलीनत्वाद् भक्तानां तु विशेषतः सर्वैन्द्रियैस्तथाच अन्तकरणैः आत्मनापि हि ब्रह्मभावात्तु भक्तानां गृहएव विशिष्यते**''(त.दी.नि.१। ५१) अर्थात् ब्रह्मज्ञानकी जीवितावस्थामें जीवनमुक्ति ब्रह्मके स्वरूपानन्दात्मिका जैसे सम्भव है अथवा विदेहमुक्ति जैसे अक्षरब्रह्मा–नन्दात्मिका सम्भव है वैसे ब्रह्मके साथ भजनात्मक सम्बन्धवशात् ब्रह्मकी लीला भजनात्मिका मुक्ति ब्रह्मभावरूप भी सम्भव है ही. इसी तरह ब्रह्मसूत्र (२।३।१९)के 'उत्क्रान्ति–गत्यागति...'अधिकरण द्वारा निश्चायित परलोकादि गति भी ब्रह्मकी विरुद्ध–धर्माश्रयताके आधारपर उपपन्न हो जाती है. अनादि–अनन्त सच्चिदानन्द ब्रह्म अपने सदंश चिदंश और आनन्दांश के द्वारा जनन–मरण आवागमन और प्राकट्य–तिरोधान के त्रिविध व्यापार करनेमें कर्तुम् अकर्तुम् और अन्यथाकर्तुं समर्थ है. अवलोकनीयः ''**अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं च इति सा त्रिधा**''(अणुभा. २।३।१).

(सिद्धान्तसंगति)

अन्तमें भाष्यकारद्वारा इस समूचे विवादके निष्कर्षतया प्रतिपादित वचन अनुसन्धेय बन जाता है :

> ''**सर्वोपनिषत्सु ब्रह्मज्ञानं परमपुरुषार्थसाधनम् इति तन्निर्णयार्थं भगवान् व्यासः सूत्राणि चकार. तत्र ब्रह्मसूत्रे विचारं प्रतिज्ञाय जगत्कर्तृत्वाद्यसाधारणलक्षणं ब्रह्मणः प्रतिज्ञाय समन्वयनिरूपणे जीववाक्यानि दूरीकृत्य अविरोधे ऐक्येऽपि अहितादिकरणादिदोषम् आशंक्य 'अधिकन्तु भेदनिर्देशाद्' इति परिहृत्य जीवस्य अणुत्वम् उपचाराद् ब्रह्मत्वम् अंशत्वम् पराधीनकर्तृत्वादिकं प्रतिपाद्य तस्यैव दक्षिणमार्गेण पुनरावृत्तिम् उक्त्वा ससाधनेन ब्रह्मज्ञानेन अर्चिरादिद्वारा ब्रह्मप्राप्तिम् उक्त्वा 'न स पुनरावर्तते' इति अनावृत्तिं वदन् शास्त्रपर्यवसानेन सर्वान् वेदान्तान् अव्याकुलतया योजितवान्... तत्र वेदान्तानां ब्रह्मपरत्वं जीवपरत्वं वा इति यद् अत्र युक्तं तत् सद्भिः अनुसन्धेयम्**''
>
> (अणुभा.२।१।२२).

अर्थात् श्रुतिरूप तथा स्मृतिरूप सभी उपनिषदोंका उद्देश्य ऐसे ब्रह्मज्ञानसे हमें मण्डित करना है कि ब्रह्मके अनन्यसाधारण लक्षण ब्रह्मके सदंश चिदंश या आनन्दांशोमें न भी हो परन्तु एतावता उनका ब्रह्मतादात्म्य सन्दिग्ध या असम्भव नहीं बन जाता. अतएव ब्रह्मके तादात्म्यके अनुरोधवश जब ब्रह्मांशका ब्रह्मतया उल्लेख शास्त्रोंमें किया जाता है तो वह अंशत्वके निरसनार्थ न होकर अंशोंके अंशित्वका अभेदोपचार है; क्योंकि अंशात्मकरूपोंकी उत्पत्ति स्थिति तथा लय तो अंशीसे अंशीमें अंशीके आत्मरमणार्थ ही है. और उसी आत्मरमणके अनेक प्रकारोंके अन्तर्गत कभी किसी अंशसे अंशी होनेके तत्त्वानु-सन्धान या भावानुसन्धान के साथ करता है. तो कभी अंशीके तत्त्वानुसन्धान या भावानुसन्धान बिना अंशोंके परस्पर तत्त्वानुसन्धान या भावानुसन्धान के साथ करता है. तो कभी अंशांशीकी तात्त्विकविस्मृतिके साथ भी करता है. यही तो एकमेव अद्वितीय तत्त्वके आत्मरमणकी अनात्मानुसन्धान या आत्मविस्मृति पर्यन्त की जाती आत्मरमणात्मिका लीलाकी बहुविधता है. इसकी फलितता संसृति मुक्ति और भक्ति का मूल है. एतावता जीवके ब्रह्मांश होनेका तात्पर्य कथमपि ब्रह्मताके अस्वीकारके साथ जीवैक्यके याथार्थ्यको ब्रह्मजिज्ञासाका विषय नहीं माना जा सकता. और न ही ब्रह्मके जड़रूप जीवरूप अंशोंकी ब्रह्मात्मकताके अस्वीकारके साथ ब्रह्मके कैवल्यको ब्रह्मजिज्ञासाका विषय माना जा सकता है.

इस एकादशस्कन्धके प्रतिपाद्य विषय मुक्तिके स्वरूपकी विवेचनाके बाद अब स्कन्धोंके अध्यायप्रतिपाद्य विषयोंके विहंगावलोकनार्थ उद्यत होना उचित होगा.

(अध्यायार्थमीमांसा)

प्रस्तुत एकादशस्कन्धमें प्रतिपाद्यविषय मुक्तिके निरूपणार्थ जीवमुक्ति तथा ब्रह्ममुक्ति के प्रमुख दो प्रकरण हैं. जीवमुक्ति प्रकरण १-२९ अध्यायोंमें निरूपित हुवा है. ब्रह्ममुक्तिका निरूपण अन्तिम ३०-३१ दो अध्यायोंमें हुवा है. जीवमुक्तिके प्रतिपादनपरक १-५ अध्यायोंमें ब्रह्मभावद्वारा प्राप्त होती मुक्तिका निरूपण है तथा द्वितीय जीवसायुज्यरूपा मुक्तिके निरूपणार्थ ६-२९ अध्याय योजित हुवे हैं.

वैराग्य सांख्य योग तप और भक्ति रूप भगवान्‌की विद्याशक्तिके पांच पर्वोंके अनुरूप पांच अध्यायोंमें ब्रह्मभावरूपा मुक्ति जो सिद्ध होती है तदन्तर्गत क्रमशः विद्याशक्तिके पांच पर्व यों प्रतिपादित हुवे हैं :

१.वैराग्यरूप प्रथम विद्यापर्वका निरूपक प्रथम अध्याय :

इस अध्यायमें ब्राह्मण ऋषिका उपहास करनेवाले यदुवंशी राजकुमारोंको दिये गये शापसे प्रकटे वैराग्यकी कथा कही गयी है.

२.सांख्यरूप द्वितीय विद्यापर्वका निरूपक द्वितीय अध्याय :

इस अध्यायमें देवर्षि नारदद्वारा वसुदेवजीको दिये उपदेशके अन्तर्गत नौ निमियोगिओंके उपदेशमें कवि योगीद्वारा उपदेशमें तत्त्वातत्त्वकी विवेचनारूप सांख्यविद्याका प्रतिपादन हुवा है.

३.योगरूप तृतीय विद्यापर्वका निरूपक तृतीय अध्याय :

इस अध्यायमें प्रबुद्ध योगीके उपदेशमें गुरुकी उपसत्तिद्वारा भगवद्धर्मके शिक्षणमें सर्वतः मनको निःसंग बनानेके उपदेशमें चित्तवृत्तियोंका निरोधरूप योगका प्रतिपादन मिलता है.

४.तपोरूप चतुर्थ विद्यापर्वका निरूपक चतुर्थ अध्याय :

इस अध्यायमें भगवान्‌के अवतारोंके वर्णनके अन्तर्गत तपोनिरत नारायणरूप अवतारमें कामके पराभवकी लीलाका निरूपण और चित्तके कषायोंके शोषणरूप तपका वर्णन है.

५.भक्तिरूप पञ्चम विद्यापर्वका निरूपक पञ्चम अध्याय :

इस अध्यायमें भगवद्‌भजन न करनेवालोंकी निन्दाद्वारा भगवद्‌भजनकी प्रेरणा दी गयी होनेसे भक्तिका निरूपण किया गया है.

ब्रह्मभावरूप मुक्तिके निरूपणके बाद अब जीवमुक्तिके निरूपणार्थ भक्तिके कारण होते सायुज्यप्रकारके प्रतिपादनतया भक्ति सिद्ध हो जानेपर २४ तत्त्वोंका अतिक्रमण शक्य बनता होनेसे २४ अध्यायोंवाला यह प्रकरण है.

१=६.जीवसायुज्यके निरूपणतया प्रथम अध्याय :

इस प्रकरणके प्रथम अध्यायमें, वैसे स्कन्धक्रमसे छट्ठे अध्यायमें, श्रीकृष्णोद्धवसंवादके उपक्रमतया भगवान्‌को स्वधाममें पधारनेकी देवादिगणोंकी प्रार्थनाके प्रसंगमें स्वयं भगवान्‌का भी भूतलपर अवतीर्ण स्वरूप और लीला के उपरम का संकल्प सर्वमूल प्रकृतिरूप भगवान्‌रूपी तत्त्वका निरूपण है.

२=७.जीवसायुज्यके निरूपणतया द्वितीय अध्याय :

इस अध्यायमें उस मूलतत्त्वके बहुभवनके केवल संकल्पवश ही प्रकटे नानात्वको भूल कर जो भेदबुद्धि दृढतया रूढ़ हो जाती है उसे बुद्धिभ्रम माना है. अतः इन्द्रियग्रामको योगयुक्त बना कर अन्तमें चित्तको योगयुक्त करके सर्वात्मरूप भगवान्‌में ही भेदघटित सृष्टिको देखनेका जो ९ वे श्लोकमें उपदेश किया वह उस भेदघटित और भेदघटक चित्तसे उभर कर मुक्त्युपाय विषयक ज्ञानोपदेश का निरूपण है.

३=८.जीवसायुज्यके निरूपणतया तृतीय अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके निरूपणार्थ अहंकाररूप तत्त्वसे उभरनेको कामको संयत करनेका उपदेश है. अतएव उपक्रममें भगवान् कहते हैं कि ऐन्द्रियक सुख-दुःख स्वर्ग-नरक परस्पर संकीर्ण हैं अतः उनका त्याग करना चाहिये. उपसंहारमें भी पिंगला वेश्या जब तक अपने कामपूरक पुरुषकी कामनासे ग्रस्त थी वह सो नहीं पा रही थी परन्तु उस कामनाको छोड़ देनेपर वह सुखसे सो पायी ऐसा विधान है वह यह कामपूर्तिके आग्रहिल अहंकारसे उभरनेके ज्ञानोपदेशकी कथा है.

४=९.जीवसायुज्यके निरूपणतया चतुर्थ अध्याय :

इस अध्यायमें सात्त्विक बुद्धिवाले पुरुषको सात्त्विक कर्मोंसे निरत हो कर गुणातीत होनेके ज्ञानोपदेशकी कथा है.

५=१०.जीवसायुज्यके निरूपणतया पञ्चम अध्याय :

भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया भगवदाश्रित वर्णाश्रमधर्म मोक्षसाधक होता है, अन्यथा देहाभिमानमूलक वर्णाश्रमधर्म भगवद्‌भक्तिवर्धक होनेके बजाय अन्तरायरूप भी बन सकता है. तदर्थ बाह्य त्यागके ज्ञानोपदेशकी कथा है.

६=११.जीवसायुज्यके निरूपणतया षष्ठ अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया आत्मामें नानात्वबुद्धि भ्रान्तिरूपा होनेसे ब्रह्ममें निश्चल मनोधारणोपदेश और वह शक्य न हो तो साधुपुरुषोंके संगसे साधुपुरुषों द्वारा उपदिष्ट मर्यादाभक्तिके उपदेशकी कथा है.

७=१२.जीवसायुज्यके निरूपणतया सप्तम अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया साधुपुरुषोंमें भी मर्यादा अथवा पुष्टि के प्रभेदवश भगवान्‌के अनुग्रहातिशयसे पुष्टिभाववाले

साधुपुरुषके साथ अथवा जैसा भी भगवत्संग प्राप्त हुवा हो इस कारणसे भगवान्में निरतिशय विशुद्ध प्रेमभाव प्रकट हो सका हो तो मर्यादामार्गीय साधनाओंके बिना भी सर्वातिशायी पुष्टिफलप्राप्ति भी संभव होनेके उपदेशकी कथा है.

८=१३.जीवसायुज्यके निरूपणतया अष्टम अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया हंसावतार ले कर ब्रह्माजीको जो उपदेश दिया उसमें प्राकृत त्रिगुणात्मक जगत्का और भगवदात्मक अप्राकृत जगत्का स्वरूपतारतम्य बताया है. प्रकृतिके सत्त्वगुणके अवलम्बनद्वारा पहले प्राकृत जगत्से उभरना आवश्यक होता है. तब भगवदात्मक प्रपञ्चमें भगवदात्मक अवस्थान शक्य हो पाता है. एतदर्थ सत्त्वादि गुणोंका निरूपण करते हुवे सर्वप्रथम इन्द्रियविषयोंको दुःखहेतुतया जान लेनेपर भी अहंकारयुक्त प्रमाद रहनेपर सर्वनाश होता है. परन्तु जो श्रद्धाशील अप्रमत्त हो कर इन्द्रियविषयोंमें दोषरूपता देख पाता है वह अपना मन भगवान्में लगा पाता है. वह लगनेपर सब कुछ सिद्ध हो जाता है. यथा निष्ठापूर्वक भगवद्भजनके कारण ही सारे सन्देह मिट जाते हैं. बुद्धिमें भगवदावेश हो जानेपर अभगवदात्मक नानात्वके भानके बजाय स्वयं नानात्वका ही केवल भगवदात्मकतया भान होने लगता है. तब जा कर पता चलता है कि बन्धका हेतु स्वयंके अहंकारके सिवा अन्य कुछ नहीं होता. यह समझमें आ पाता हो तो जागृत् स्वप्न और सुषुप्ति रूप तीनों अवस्था जीवकी न हो कर आहंकारिक हैं, यों स्वयंका याथार्थ्य तो कोई चतुर्थ प्रकारका होना चाहिये यह भी समझमें आने लगता है. तब चित्तसे अलग चिदंश जीवात्माको पहचाना जा सकता है. तब बुद्धिके शुद्ध और शान्त होनेपर ब्रह्मभाव प्रकट हो पाता है. तब सच्ची भक्ति प्रकट हो कर ब्रह्मसायुज्यद्वारा कृष्णप्राप्ति होती है. ऐसी कथा यहां है.

९=१४.जीवसायुज्यके निरूपणतया नवम अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया यह समझाया गया है कि विद्वान् वेदार्थकी व्याख्या अनेकदृष्टिओंसे करते हैं. पर भगवदुपदेशमें दृढ़ श्रद्धा हो तो वेदका तात्पर्य श्रीकृष्णमें ही है यह समझमें आ पाता है. तब श्रीकृष्ण–ध्यानात्मिका भक्ति सिद्ध हो पाती है. सो उसके साधन यहां समझाये गये हैं.

१०=१५.जीवसायुज्यके निरूपणतया दशम अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया जो श्रीकृष्णध्यान

समझाया गया है उससे मिलती कुछ सिद्धियोंमें ललचाये बिना जो ध्यान कर पाता है वही भगवान्में प्रवेश कर पाता है. ऐसी उपदेशकथा यहां है.

११=१६.जीवसायुज्यके निरूपणतया ग्यारहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया श्रीकृष्णध्यानका जो उपदेश है वह करनेपर जगत्के सारे रूप श्रीकृष्णके ही हैं यह समझ आता है. सो ऐसी समझके कारण जो श्रीकृष्णको मूलरूपेण भजनेके बजाय विभूतिरूपोंके भजनमें फंस जाता है वह यहां पहुंच कर भी भटक जाता है अतः मूलरूपेण भजनोपदेशकी कथा यहां कही गयी है.

१२=१७.जीवसायुज्यके निरूपणतया बारहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया यह समझाना अभिप्रेत है कि वर्णाश्रमधर्मके त्यागार्थ भक्ति करनेवाले तो पाषण्डी भी हो सकते हैं. अतः आरंभिक प्रवृत्ति वर्णाश्रमधर्मानुकूल होनी चाहिये. एतदर्थ ब्रह्मचर्य और गार्हस्थ्य धर्मोंका निरूपण किया गया है.

१३=१८.जीवसायुज्यके निरूपणतया तेरहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया अन्ततः निवृत्तिधर्मके अंगतया उत्तराश्रमके धर्म ज्ञान-वैराग्यके उपदेशकी कथा है.

१४=१९.जीवसायुज्यके निरूपणतया चौदहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया भगवद्भक्तिके लिये उपयोगी इन्द्रियविषयोंमें वितृष्णाके कारण अन्यत्र श्रद्धा मिट कर केवल भगवान्में दृढ़ हो पाती है अतः ऐसी श्रद्धाको दृढ़ करनेवाले यमनियमादि साधनका उपदेश है. ज्ञानाचरणसे सिद्ध होनेवाले ज्ञान-विज्ञानोंकी भक्तिके प्रादुर्भावमें परम्परया कारणता होती है.

१५=२०.जीवसायुज्यके निरूपणतया पंदरहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया भक्तिके हेतुभूत जागतिक विषयवस्तुओंमें अहन्ता-ममतामूलक गुण या दोष की दृष्टि मिटा कर वस्तुको केवल वस्तुदृष्ट्या देख पानेका कौशल्य सच्चा गुण है ऐसा निरूपण है. अतः भगवन्निष्ठ कर्ममार्ग ज्ञानमार्ग और भक्तिमार्ग गुणदोषदृष्टिरूप दोषके निवर्तक होते हैं.

१६=२१.जीवसायुज्यके निरूपणतया सोलहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतयाइन कर्म-ज्ञान-भक्तिमार्ग रूप उपायोंको अपना पानेमें अशक्त होनेपर श्रद्धावाले जघन्य अधिकारीके वास्ते शनैःशनैः त्यागद्वारा सुकर बनानेको वेदादि शास्त्र किसी वस्तुमें कोई गुण और किसी वस्तुमें कोई दोष का निरूपण करते हैं उन्हें वस्तुगत गुणदोष न मान कर साधनासौकर्यार्थ कल्पित गुणदोषकल्पनाके रूपमें लेना चाहिये, अन्यथा वस्तुभेदक हो कर अभेदानुसन्धानमें वे प्रतिबन्धक बन जायेंगे ऐसा निरूपण है.

१७=२२.जीवसायुज्यके निरूपणतया सतरहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया अट्ठाईस तत्त्वोंके पृथक्करणके कारण भेदबुद्धि अधिक दृढ़ होती हो तो सांख्यशास्त्रको मुक्तिप्रापकविद्या कैसे माना जा सकता है? अतः तत्त्व तीन पांच नौ ग्यारह पच्चीस छब्बीस या अट्ठाईस हों इनका याथात्म्य कैसे समझना ? इस शंकाके समाधानार्थ हरेक तत्त्व एक-दूसरेमें अनुप्रविष्ट रहता होनेके कारण जैसे जिसे गणना करनी हो वह यथार्थ लगती है ; मूलतः भगवान् स्वयं प्रकृति-पुरुषात्मना विभक्त हुवे हैं अतः इस तरहके ब्राह्मैक्यसे वक्ताकी विवक्षावश प्रकट होते संख्याप्रभेदकी कोई प्रतिद्वन्द्विता नहीं इस उपदेशकी कथा है.

१८=२३.जीवसायुज्यके निरूपणतया अट्ठारहवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया भिक्षुगीताके निरूपण द्वारा जीवात्माको पूर्वसिद्ध वासनावशात् होते उद्वेजक कष्टोंको सहन करनेसे भक्तिभावौपयिक धैर्य निभ पाता है इस तरहकी अवन्तिकापुरीके द्विजभिक्षुकी कथा भगवान्ने उद्धवजीको सुनाई उसका वर्णन है.

१९=२४.जीवसायुज्यके निरूपणतया उन्नीसवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया शुद्धसांख्य अर्थात् एकमात्र निर्विकल्प तत्त्वके अनेकविध विकल्पोंके रूपमें प्रकट होनेकी कथाद्वारा विकल्पातीत अद्वैततत्त्वके उपदेशकी कथा है.

२०=२५.जीवसायुज्यके निरूपणतया बीसवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया उक्त सांख्यविद्या जब तक अपरोक्षानुभूतिमें नहीं पनपती उससे पहले तो गुणोंकी प्रबलताके कारण गुण

आत्ममोहक बन जाते हों तो अट्ठाईस सगुण तत्त्वोंके बजाय निर्गुण तत्त्वोंका निरूपण उपादेय होता है ऐसा निरूपण है.

२१=२६.जीवसायुज्यके निरूपणतया इक्कीसवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया प्राकृत गुणोंपर विजय पा लेनेके बाद भी अर्थात् मोहरहितको भी कभी दुःसंग लग सकता है अतः सत्संगकी उपादेयता प्रतिपादित की गयी है.

२२=२७.जीवसायुज्यके निरूपणतया बाईसवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया दुःसंगवशात् मोक्षोपायोंका नाश होनेपर भी आगामी जन्ममें जातिस्मर सम्भव होनेसे ऐसे पथभ्रष्टको वैदिक और तान्त्रिक साधनाओंका संमिश्रण करके श्रीहरिकी पूजा आदिमें परायण रहनेके उपदेशकी कथा है.

२३=२८.जीवसायुज्यके निरूपणतया तेवीसवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया उक्त जातिस्मरका सकल साधनोंके साथ सोपपत्तिक निरूपण यहां किया गया है.

२४=२९.जीवसायुज्यके निरूपणतया चौबीसवा अध्याय :

इस अध्यायमें भक्तिद्वारा सायुज्यप्राप्तिके हेतुतया अभी तक उपदिष्ट सारे उपायोंके अनुष्ठानमें कोई अशक्त हो फिरभी दिव्यफलाभिलाषी साधकके लिये सर्वशास्त्रीयोपायोंका संमिश्रित एक सुगम उपायका निरूपण यहां किया गया है.

इस तरह जीवमुक्तिके हेतुभूत ब्रह्मभाव और सायुज्यलाभ प्रकारोंके निरूपणके बाद अब ब्रह्मुक्तिका निरूपण आगामी दो अध्यायोंद्वारा किया जा रहा है. इसमें अहन्ता-ममतोपेत प्राकृतनररूपका त्याग सर्वमुक्तिप्रदायक भगवान्की ब्रह्ममुक्तिरूपतया निरूपित किया गया है.

१=३०.ब्रह्ममुक्तिके वर्णनार्थ प्रथम अध्याय :

निजेच्छासे मुक्तिलीला प्रकट करनेको इस अध्यायमें ममतास्पद यादवोंके कुलनाशद्वारा ममतात्यागरूपा लीला भगवान्की वर्णित हुयी है.

२=३१.ब्रह्ममुक्तिके वर्णनार्थ द्वितीय अध्याय :

ब्रह्ममुक्तिके वर्णनार्थ अहन्तास्पदतया प्रतीत होते अवतीर्णतनुके त्यागकी भगवल्लीला इस अध्यायमें वर्णित हुयी है.

इस तरह एकादशस्कन्धमें प्रतिपाद्य विषय मुक्ति, कि जिसमें प्रथम

जीवके ब्रह्मभाव तथा द्वितीय ब्रह्मसायुज्य और तृतीय ब्रह्ममुक्ति रूपी तीन प्रकरण हैं और इसे इकत्तीस अध्यायोंद्वारा प्रतिपादित किया गया है.

भक्तेर्विरहिता मुक्तिः त्याज्या संसृतिवन्मता।।
संसृतिर्भक्तिसहिता चेन् मुक्तेरप्यधिका मता।।१।।
ज्ञातं तत्त्वं सर्वथेदं मुक्तौ नातो मनःस्पृहा।।
स्पृहावत्त्वेपि भक्तौ हि संसृतौ रमते मनः।।२।।
मुकुन्दरतिवर्धिन्या रतिं प्राप्यापि कामये।।
कच्चित् श्रीवल्लभोद्दिष्टा रतिःप्रादुर्भवेद् हृदि !।।३।।
गोस्वामिना श्याममनोहरेण
श्रीवल्लभोक्तेर्हि विचिन्तनेन।।
सुबोधिनीग्रन्थप्रकाशनेऽभवत्
पूर्णा मदीया खलु भूमिकेयम्।।४।।

श्रीगोपीनाथजन्मोत्सव, वि.सं.२०७२ **गोस्वामी श्याम मनोहर**

मुंबई.

भहाप्रभु श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित तत्वार्थदीपनिबन्धका

।। भागवतार्थ प्रकरण ।।

दशमस्कन्ध–गुणप्रकरण

(अध्याय ८२–८७)

हरिणा केवलेनैव धर्मेणैवाखिलं कृतम्।
इति संशयनाशाय गुणानां प्रक्रियोच्यते।।४१८।।
निर्धर्मको वा भिन्नो वा निरोधं कुरुते यदि।
तदा व्यर्थं समस्तं स्याद् इति षड्गुणवर्णनम्।।४१९।।
येनैतावत् कृतं सर्वं स कृष्णो भगवान् परः।
इति दर्शयितुं षड्भिः अध्यायैः षड्गुणान् जगौ।।४२०।।

यह सर्व निरोध केवल हरिने किया है, अथवा गुण मात्रसे हुआ है ? इस संशयके नाशार्थ गुण प्रकरण कहा जाता है।।४१८।।

यदि निर्धर्मकने अथवा उससे भिन्न किसी दूसरेने निरोध किया है, तो सर्व निरोध लील व्यर्थ होगी, इसलिये षड् (६) गुणोंका वणर्न किया है।।४१९।।

जिसने इतना किया है वह ही श्रीकृष्ण भगवान् 'पर' (उत्तम) हैं यों दिखानेके लिये छः अध्यायोंसे छः गुणोंका वर्णन किया है।।४२०।।

व्याख्याः सात्त्विक प्रकरणको सम्पूर्ण कर ५१ कारिकाओंसे गुण प्रकरणका विचार करते हुए पहले तीन कारिकाओंसे गुण प्रकरणके कहनेका प्रयोजन बताते हैंः धर्मरिहत केवल हरिने यह निरोध किया तो उसमें कौनसा दोष है ? जो ऐसी शमा करे तो गुण प्रकरण कह कर उसका निवारण किया जाता है. इस पर 'निधर्मको...वर्णनं' कारिका कही है, जिसमें कहा है, कि यदि निर्धर्मकने किया है, तो उसका तात्पर्य होगा माया द्वारा हुआ है, यदि माया द्वारा हुआ तो सर्वमायिक होनेसे उनकी व्यर्थता सिद्ध होगी. यदि भिन्न किसी रूपने किया है तो भी मुख्य फल भी प्राप्तिका अभाव होगा जिससे सर्व लीला व्यर्थ होगी, इसलिये इन दोनोंके निरासार्थ षड्गुणोंका वर्णन किया है, यदि यों है तो सधर्मकने किया, यह किस प्रकार कहा जाता है. ऐसी शमा होने पर कहते हैं कि आरम्भमें अर्थात् जब प्रकरण विभाग किया तब अन्तर्यामी आधिदैविक इत्यादिसे जो कहा उसको स्मरण करते हुए उस प्रकारको 'येनतावत्...जगौ' कारिकासे स्पष्ट करते हैं.

जिसने इस निरोध लीलाको किया है वे श्रीकृष्ण ही सबसे पर (उत्कृष्ट) भगवान् हैं. जिससे सब उनके अधीन हैं यों दिखानेके लिये छः अध्यायोंसे छः गुण वर्णन कये हैं, अतः यह ही सिद्धान्त है, कि जिसमें छः ही ऐश्वर्यादि गुण हैं उन सधर्मा श्रीकृष्णने ही निरोध किया है, इसलिये इस प्रकरणमें गुणोंका वर्णन श्रीशुकदेवजीने किया है, यों तीन कारिकाओंसे प्रयोजन कह कर प्रकरणकी आवश्यकता बताई है।।४१८ – ४२०।।

ऐश्वर्येण समग्रेण प्रथमं ज्ञानदो हरिः।
पश्चात् पुत्रप्रदश्चापि बाह्याभ्यन्तरभेदतः।।४२१।।
ज्ञानेनान्तर आनन्दः पुत्रादिभ्यस्तथा बहिः।
पितृमातृविभेदेन वैदिकं लौकिकं तथा।।४२२।।
ऐश्वर्यभक्तिसिद्ध्यर्थं प्रकटीकृतवान् हरिः।
गुरुत्वं देवतात्वं वा न स्वीकृत्य सुतत्वतः।।४२३।।
तदुक्तमेव निखिलं सर्वं ब्रह्मेति बोधितम्।

सकल ऐश्वर्यसे भगवानने भीतर तथा बाहरके भेदसे पहले ज्ञानका उपदेश दिया, पश्चात् पुत्र ला कर दिये।।४२१।।

ज्ञानसे भी भीतरी आनन्द प्राप्त होता है. पुत्रादि प्राप्तिसे बाहरका आनन्द मिलता है. ऐश्वर्यसे ही भक्तिकी सिद्धिके करनेके लिये माता तथा पिताको पृथक्–पृथक् प्रकारसे अर्थात् वैदिक एवं लौकिक प्रकारसे आनन्द दिया.

भगवानने इस समय अपनेमें पुत्रत्व स्वीकार किया है इसलिये गुरुत्व वा देवतात्व स्वीकार न कर वसुदेवने स्तुतिके समय कुछ कहा, वह मान कर सर्व ब्रह्म है यों समझाया है।।४२२,४२३।।

व्याख्या: ऊपरकी कारिकाओंसे प्रयोजन द्वारा प्रकरणकी आवश्यकता बताई, अब प्रथम ८२वें अध्यायका अर्थ ऐश्वर्य है उइका विवेचन 'ऐश्वर्येण' आदि साढे १२ कारिकाओंसे करके बतोत हैं. जिसमें पहले वसुदेवजीने जो स्तुति की है उसके अनन्तर आपने वसुदेवजीको उपदेश दिया उसके बाद देवकीजीने पुत्र लानेके लिये प्राथना की, जिसको स्वीकार कर पुत्र ला कर देना अन्तमें उस प्रसङ्गमें जो बात आई वह कही है, इससे भगवानके ऐश्वर्यका ज्ञान कैसे होगा ? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि, कार्यसे (लीलासे) उत्पन्न फल द्वारा ऐश्वर्यका ज्ञान

होगा (हुआ है) जैसे कि कार्यसे वसुदेवको वैदिक कार्य तथा उपदेशसे भीतरका आनन्द प्राप्त हुआ एवं देवकीको लौकिक कार्य (पुत्र ला कर देनेके कार्य)से बाहरका आनन्द मिला, इससे ऐश्वर्य प्रकट होता है. इस लीलासे अपना गुरुत्व, देवतात्व स्पष्ट कर दिखाया है, जिसमें ऐश्वर्य है; वह ईश्वर है ऐश्वर्य उसको कहा जाता है जिसमें करनेकी, न करनेकी तथा अन्यथा करनेकी शक्ति हो वह शक्ति जिसमें है वह ईश्वर ही है. उसका विशेष स्पष्टीकरण यह है कि बिना साधनके भी फल दे सके, फल प्राप्तिसे योग्य साधन सामग्री होते हुए भी उसको फलमें रुकावट कर दे, अथवा जो साधन फल प्राप्तिके विरुद्ध है, जैसे काम आदि उनसे भी फल प्राप्ति करा दे, ऐसा ऐश्वर्य यहां इस अध्यायमें प्रकट किया है.

इस प्रसङ्ग वा प्रकरणमें श्रीवसुदेवजीने 'यत्रयेन' इत्यादिसे भगवान् (श्रीकृष्ण)का सर्वशक्तिपन, सर्वरूपपन, सर्वकारणपन, सर्वनियामकपन आदि कहे हैं जिनको भगवानने स्वीकार किया है, साथमें अपनेमें सुतपन भी स्थापन कर सबका वैसापन है, यों नानापन होते हुए भी एकपनसे जताया है और वैसे एक साधन बिना नाना नहीं बन सकता है, अथवा नानापनकी सामग्रीकी सत्तामें भी उस रूपके विद्यमान होते हुए भी एक सर्व नहीं होता है, इसी तरह विरुद्ध साधन होने पर सब अविरुद्ध नहीं होता है, इत्यादि साक्षात्कार कराया वह भी फल रूप है जिससे श्रीवसुदेवकी नानात्व बुद्धि नष्ट हो गई, अर्थात् यह सर्व ब्रह्म है ऐसा समझमें आ गया, इससे समग्र ऐश्वर्य ही ज्ञान रूप कार्यसे समझना चाहिये, यों अर्थ (तात्पर्य) है, इसको 'क्वचित' इत्यादि साढे चार कारिकाओंसे विशद् (स्पष्ट) करते हैं।।४२१ – ४२३॥।।

क्वचित्तु ब्रह्मभावो हि खण्डज्ञानम् इहोच्यते।।४२४।।
लोकेऽधुना तदेवास्ते जीवेश्वरविभेदतः।
मायाविनस्तु मन्यन्ते जीवम् आत्मानम् ईदृशम्।।४२५।।
वसुदेवोक्तम् अखिलं वैष्णवाः पुरुषोत्तमम्।
वस्तुतो यादृशं सर्वं तत् कृष्णेन निरूप्यते।।४२६।।

यहां इस कारिकामें कहां – कहां खण्डनज्ञानको ब्रह्मभाव (ब्रह्मवाद) कहा जाता है. अतः लोकमें अब जीव और ईश्वरके भेदसे वे मत ही चल रहे हैं.

मायावादी तो जीवात्माको ब्रह्म मानते हैं, वैष्णव तो वसुदेवजीने जैसे कहा है वैसे सर्वपुरुषोत्तम हैं यों मानते हैं।।४२४ – ४२६।।

व्याख्या: जैमिनीके उपासना सूत्रोंमें अथवा बोधायन वृत्तिमें खण्डज्ञानको ही ब्रह्मवाद माना गया है, वे सूत्र तथा वृत्ति अब प्रसिद्ध नहीं हैं उस प्रकारके मतोंकी सत्ता है अतः तदनुसारमतोंकी प्रसिद्धिको प्रमाणमें लाते हैं, जैसे कि रामानुज एवं मध्वाचार्य आदि जीव तथा ईश्वरमें भेद मानते हैं. रामानुज कहते हैं कि जीव तथा जड़ अर्थात् चित् (जीव) एवं अचित् (जड़) दोनों ईश्वरके शरीर हैं उनकी आत्मा ईश्वर है, मध्वाचार्य तो इससे भी विशेष भेद मातने हैं, उनका कथन है कि, जीव तथा ईश्वर दोनों पृथक् तत्व है.

मायावादी (श्रीशंकरराचार्य) कहते हैं कि, जीव ब्रह्म ही है, वैष्णव शास्त्र पञ्चरात्र मत वही है जो सिद्धान्त इस अध्यायमें वसुदेवजीने भगवानकी स्तुति करते हुए कहा है, अर्थात् यह सर्व – पुरुषोत्तम ही है, वास्तव रूप सर्व (ब्रह्म) है, श्रीकृष्णने भी यों निरूपण किया है।।४२४ – ४२६।।

अतिदेशप्रकारेण स्थापितं चापि वैष्णवम्।
दृष्टान्तार्थं यतः साधुः जीवोऽप्येतेन सिद्ध्यति।।४२७।।

दृष्टान्तके लिये वैष्णवपमतका अन्य मतोंसे भी समन्वय हो, इसी तरह इस मत (वैष्णवमत)की स्थापना की है, अतः जीव भी साधु (शुद्ध) सिद्ध होता है।।४२७।।

व्याख्या: हमसे यो जाना जाता है कि 'उभयव्यपदेश न्याय'से भेदभेद कहा गया है, इस प्रकार वस्तुस्थिति होनेसे ब्रह्मस्वरूप निरूपण किया जाता है. विशेषमें अतिदेशसे ही अर्थात् दूसरोंसे भी समन्वित होनेके कारण प्रकृति तथा विकृति भावके भी सत्वनमें वैष्णवमतका आधिदैविक रूप भी स्थापित हुआ है. उसका प्रयोजन दृष्टान्तकी सिद्धि है, जिसका कारणसे, इस दृष्टान्तसे जीव भी साधु सिद्ध होता है. अर्थात् ईश्वरात्मक (ईश्वरका रूपान्तर) सिद्ध हो जाता है. इससे सर्ववादोंको जिसमें अवसर नहीं होते हुए भी अनेक वादोंके अनुरोधवाला ब्रह्म अखण्ड ही है, यों भगवन्मत (वैष्णवमत)का स्वरूप है, यों तात्पर्य है.

एतेन सर्ववेदानाम् अर्थो ज्ञानाधिकारतः।
प्रच्युतानाम् ईश्वरत्व – बलादेव निरूपितः।।४२८।।
गुरुपुत्र इवात्रापि कालगस्ता विमोचिताः।
षडेते षडगुणत्वाय देवकीसुतदेहिनः।।४२९।।
समानत्वनिवृत्त्यर्थं स्नेहस्तस्यास्तु वर्ण्यते।

नन्दादिवद् इदानीं हि देवक्यपि पुरा स्थिता।।४३०।।
अतः स्नेहदशायां हि स्तन्यं नित्यं हरिः पपौ।
पीतशेषम् अतः प्रोक्तं वैष्णवत्वाय मुक्तये।।४३१।।
प्राकृतत्वदशायां वा सद्यः पीतं विनिर्गमे।

इससे जो ज्ञान प्राप्तिके अधिकारसे गिरे हुए हैं, उनको भी भगवानने अपने ईश्वरत्व बलसे ही सकल वेदोंके अर्थका ज्ञान कराया।।४२८।।

जैसे गुरुपुत्रको ले आये थे वैसे ही यहां भी जिनको कालने ग्रस लिया था, उनको कालसे भी छुड़ा कर लाये. ये देवकीके छः पुत्र षड्गुण रूप थे वे समान नहीं रहे इसलिये उसका (देवकीका) स्नेह वर्णन किया है।।४२९॥।।

देवकी भी इस समय नन्द आदिकी तरह निरोधावस्थावाली थी, इस कारणसे भगवानने स्नेह दशासे ही स्तन्य (दूध)का नित्य पान किया.

देवकीका दूध भगवानके पान करने पर भी शेष रह जाता, क्योंकि उस प्रसादीसे वैष्णवत्वकी सिद्धि तथा मुक्ति प्राप्त होती.

मथुरासे गोकुल पधारते समय जब भगवान् प्राकृतत्व दशामें थे अर्थात् प्राकृत बालरूप धारण किया था उस समय प्रभुने शीघ्र ही दूध पान कर लिया।।४३०,४३१॥।।

व्याख्या: 'एतेन' इत्यादि कारिकाओंसे ऐश्वर्य सिद्धि कहते हैं, ज्ञानके अधिकारी वसुदेवजी नहीं थे, तो भी अपने ऐश्वर्य बलसे, वसुदेवजीको सकल वेदोंके अर्थका ज्ञान कराया जैसे कहा है कि ''तथैव तत्वविज्ञानम् अस्तु ते मदनुग्रहात्'' इस प्रकारसे अर्थ (ज्ञान) सज्ञझाया इससे प्रभुने अपनेमें समग्र ऐश्वर्य सिद्ध कर दिखाया है न केवल वाणीसे, किन्तु क्रियासे, ऐश्वर्य सिद्ध किया करते हैं जैसे गुरुपुत्रकी तरह कालग्रस्त देवकीके छः पुत्रोंको अपने ऐश्वर्य बल द्वारा कालसे ले आये, सब बालकोंके आयुकी तुल्यता निवृत्त कर दी, अपने स्पर्श मात्रसे तथा अपना दर्शन कराके बिना जन्मान्तरके उनकी आसुर योनि छुड़ा दी, एवं जिससे माताको स्नेह उत्पन्न हो, पहले जैसा रूप सम्पादन कर ले आये, इस लीलासे अपना सम्पूर्ण ऐश्वर्य जताया, इन निक्द्य कर्मकर्ताहोंको योग मायाने गुण रूप होनेके लिये ही देवकीके गर्भमें स्थापित किया. अब प्रासङ्गिकका विचार करते हैं, भगवान् एकादश वर्षकी आयु हो जाने पर व्रजसे मथुरा आये इतनी बड़ी आयुमें तथा प्राकृथ बालक अवस्थामें भयदशा होनेसे स्तन – पान असम्भवसा

दीखता है, तो फिर तीत शेषत्वका होना कैसे बनेगा ? इस शमाके परिहारार्थ कहते हैं कि 'नन्दादिवत्' कुरुक्षेत्रमें दर्शन होनेसे जो दशा हुइ, जिससे नन्दादि पूर्ण निरुद्ध हुए थे, वैसे ही देवकी भी उस समय अर्थात् पहले निराधपूर्ण थी जिससे जब भी अर्थात् विरहावस्थामें भी स्मरण करती तब स्नेहाधीन प्रभु स्तन्य पान करते थे, इसी तरह सदैव प्रत्येक आयुमें स्तन्यपानमें रुकावट नहीं होती थी।।४३१॥।।

उच्छिष्टभोजिनो मायां तरन्त्येव न संशयः।।४३२।।
एवम् ऐश्वर्यचरितम् एकेन विनिरूपितम्।
ततो वीर्यकथां प्राह तथैवेकेन सा त्रिधा।।४३३।

भगवानके पानसे जो उच्छिष्ट स्तन्य (दूध) बचा था उसके पानसे देवकीके छः बालक मायाको पार कर गये अर्थात् उनकी पूर्व योनिसे मुक्ति हो गई, इसी तरह भगवानके ऐश्वर्यका चरित्र एक अध्यायसे निरूपण किया।।४३२।।

जन्म समय माताके कहनेसे अपना चतुर्भुज रूप अंतर्हित कर प्राकृत बालरूप धारण कर शीघ्र ही माताके स्तन्यका पान कर लिया पानसे शेष यह भगवदुच्छिष्ट हुआ, अतः कालसे लाये हुए देवकीके छः पुत्रोंने पार कर अपनी आसुर – योनिको त्याग कर मुक्त हुए, उसी तरह भगवानने सम्पूर्ण लीला द्वारा ऐश्वर्य इस अध्यायमें प्रदर्शित किया है, अतः यह ऐश्वर्य गुणाध्याय है।।४३२॥।।

एतेषां सङ्गतिः षण्णां न परस्परम् उच्यते।
गुणत्वाय कथापक्षः पूर्वमेव निवारितः।।४३४।।

इसके (ऐश्वर्यके) अनन्तर उसी तरह वीर्यकी कथा तीन प्रकारसे वर्णन की है, इन छः गुणोंको परस्पर संगति नहीं कही है, गुणोंकी संगत्यर्थ कथा है यह पक्ष पहले ही निवारण किर दिया है।।४३३,४३४।।

व्याख्या: दूसरे वीर्य अध्यायकी १६ कारिकाओंको विचारते हैं, जैसे आगेके (पहलेके) अध्यायमें ऐश्वर्य दो कथाओंसे दो प्रकारका कहा, वैसे इस दूसरे अध्यायमें वीर्यका वर्णन भी दो प्रकारसे कहा है तथा ऐश्वर्यकी तरह यह वीर्य कथा भी तीन तरह की है, इस कथामें गुणोंकी परस्पर संगति नहीं कही है, कारण कि छः गुणोंकी कथा पृथक् – पृथक् कही है, जिससे संगति नहीं है. यहां राजाके प्रश्न करने पर सभुद्रकाका विवाह कहा जाता है इसलिये कथा मात्र कहना ही

उचित है न कि वीर्यबोधकपन भी ? इस शमाके होने पर कहा है कि प्रथम स्कन्धका विचार करते हुए कथा पक्षका पहले ही निवारण कर दिया है. अतः वीर्यबोधकत्व कहनेसे कोई हानि नहीं है, सारांश यह है कि गुण प्रकरणमें गुणोंकी संगति कहनेकी इच्छा न होनेसे केवल गुणोंकी कथा कही है।।४३३,४३४।।

बुद्धिवीर्यं क्रियावीर्यं क्रिया च द्विविधा मता।
सिद्धम् आत्मानमेकं हि द्विरूपं कुरुते यतः।।४३५।।
अतर्क्यभावमापन्नः तथान्येषां च तान् प्रति।

१. बुद्धिका वीर्य (पराक्रम) २. क्रियाका वीर्य, (पराक्रम), फिर वह क्रिया दो प्रकारकी मानी गई है, कारण कि, जो भगवान् अपनी स्थितिको तर्क द्वार नहीं जानते हैं ऐसे वह भगवान् अपनी एक ही सिद्ध बनी हुई आत्कामो दो रूप बताते हैं वैसे अन्योंको भी उनके प्रति वैसा करते हैं.

व्याख्या: तीन प्रकार कैसे हैं ? यह बुद्धिवीर्य...कारिकासे स्पष्ट करते हैं, इस अध्यायमें १. बुद्धि वीर्य, २. क्रिया वीर्यसे भगवानके दो वीर्य (पराक्रम) दिखा ये है इनकें क्रियाका वीर्य दो प्रकारका है यों करनेसे तीन तरहका, यद्यपि भगवानका स्वरूप एक है, तो भी अपना वीर्य प्रदर्शित करनेके लिये दो रूप दिखाते हैं, न मात्र इतना किन्तु मुनियोंके रूप भी मिथिलावासियोंने दो – दो देखे, इस प्रकार लीला कर वीर्यगुण प्रकट किया है।।४३५।।।

मायाविवाहे भगवान् बुद्धिवीर्यं चकार ह।।४३६।।
माया तु त्रिविधा प्रोक्ता शक्तिर्वै वासुदेवगा।

स्फुट है कि भगवानने मायाके विवाहमें बुद्धिवीर्य दिखाया है, वासुदेवमें स्थित शक्ति (माया) तो तीन तरहकी कही गई है।।४२६।।

व्याख्या: वासुदेवमें स्थित इस मायाने विवाहमें अपने तीन रूप प्रकट किये हैं जिनका ज्ञान निम्न कारिकासे बताते हैंः

अधिभूता समस्तानां मोहिकैव स्थिता भुवि।।४३७।।
मायावती तु कामस्य द्वितीया विनिरूपिता।
दैविकी त्वियम् अरख्याता पतिस्तस्याः स्वयं हरिः।।४३८।।

पृथ्वी पर सबको मोह उत्पन्न करती है यह मोहिका माया आधिभौतिक माया है, दूसरी माया कामकी पत्नी मायावती है. तीसरी माया सुभद्रा है जो आधिदैविकी माया है उसका पति हरि ही है।।४३७,४३८।।

व्याख्या: आधिदैविक मायाका स्वामी भगवानके सिवाय अन्य नहीं हो सकता है, सुभद्रा ही आधिदैविकी माया है अतः इसका स्वामी भगवान् हुआ है।।४३७,४३८।।

ईश्वरत्वात्तु दासी सा कन्यैव भवितुं क्षमा।
सा पुनर्देवकीमोहात् तस्यां जाता निजेच्छया।।४३९।।

उसके (सुभद्राके) नाथ भगवानमें ईश्वरत्व था अतः वह उनकी दासी होनेके कारण कन्या रहनेके योग्रय थी, तो भी भगवदिच्छासे देवकीके मोहसे उसमेंसे उत्पन्न हुई।।४३९।।

व्याख्या: जब सुभद्रा आधिदैविकी माया थी तो उसका जन्म कैसे हुआ ? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवानको ऐसी इच्छा थी, कि जिससे देवकीको मोह उत्पन्न हुआ कि मुझे कन्या चाहिये. इस मोहके कारण आधिदैविकी माया कन्या रूपसे देवकीमेंसे प्रकट हुई।।४३९।।

तस्या भोक्ता न वै जीवो भगवान् पुरुषोत्तमः।
सम्बन्धाद् नैव भोक्ता स्याद् लोकदोषाद् न कन्यका।।४४०।।
सर्वदा स्थातुम् उचिता वेदस्तस्या न युज्यते।

उसका भोग करनेवाला जीव नहीं हो सकता है. भगवान् पुरुषोत्तम हो सकते हैं किन्तु सम्बन्ध होनेसे भगवान् भी भोक्ता बन नहीं सकते थे, यदि जीव एवं भगवान् दोनों उसके भोग नहीं हो सकते, वह कुमारी रहे, तो लोकनिन्दा (दोष) हो, अतः सर्वदा कन्या (कुमारी) होके रहे वह भी अनुचित था, वेद भी इसके विपरीत है।।४४०॥।।

व्याख्या: आधिदैविकी मायाका स्वामी पुरुषोत्तम होनेसे जीवसे भोग्या यह हो नहीं सकती, तथा देवकीसे उत्पन्न होनेके नाते भगवानकी बहिन हुई, जिससे इस अवस्थामें भगवान् भी इसके भोक्ता बनें, यह अनुचित है, यदि सर्वदा अपरिणीता रह तो लोकमें निन्दा हो, इस कारणसे सर्वदा कुमारी भी नहीं रह सकती, वेद भी इसके विपरीत हैं, जिससे श्रुतिगीतामें भगवानकी प्रार्थना की गई है इस मायाको नष्ट करो।।४४०॥।।

अतो विवाहः कठिनो लोकोऽप्यत्र न दुष्यति।।४४१।।
अत आवेशिनं कृष्णं नरं प्रवाजिनं तथा।
वेषात् पाषण्डिनं कृत्वा चौर्येणैतां ददौ हरिः।।४४२।।

ऊपर कहे हुए कारणोंसे सुभद्राका विवाह होना कठिन हो गया, यदि विवाह न होवे तो लोक दूषण लगायें, यों भी होना चाहिये इसलिये भगवानने, श्रीकृष्णका आवेश जिसमें है, ऐसे भ्रमण करनेवाले पाषण्ड वेषधारी सन्यासी अर्जुनको छुपी रीतिसे चोरीकी तरह सुभद्रा दी।।४४१,४४२।।

व्याख्या: लोकदूषणसे बचानेके लिये भगवानने अपने आवेशवाले अर्जुनको सुभद्रा दी, अर्जुनने सन्यासीपनका वेष छलसे धारण किया था, जिसको भगवान् तो जानते थे, अतः किसीको भी पता न लगे इसी तरह उसको सुभद्रा हरण कर दिया।।४४१,४४२।।

बलस्तु मूलवार्तां हि गृहे गुप्तांशसंयुतः।
न जानाति ततः क्रुद्धः कृष्णेन च निवारितः।।४४३।।

बलराम कृष्णसे मिले नहीं थे इसलिये सुभद्रा आधिदैविकी माया है, जिसको उसने (बलरामने) पहचाना नहीं, आधिदैविकी माया होनेसे ही श्रीकृष्णने उसको घरमें छिपा कर रखा था, जिससे अर्जुनने सन्यासी वेषसे हरण किया यह देख बलरामको क्रोध हुआ, जिससे अर्जुनको मारनेके लिये तैयार हुए जिसको भगवानने समझा कर यों करनेसे अर्थात् अर्जुनको मारनेसे रोका।।४४३।।

एतद् बुद्धिबलं प्रोक्तं येन लोकेऽपि सम्मतिः।

यह श्रीकृष्णका बुद्धिबल कहा अर्थात् यों करनेसे श्रीकृष्णने अपना बुद्धिबल प्रदर्शित किया है, जिससे लोकमें भी यह विवाह पसन्द हुआ.

व्याख्या: सुभद्रका विवाह इन प्रकार निर्विघ्न कराके भगवानने अपना बुद्धिबल प्रकट किया अतः लोगोंने भी इस विवाहको उचित माना।।४४३॥।।

जनकः श्रुतदेवश्च भगवद्वीर्यबोधकौ।।४४४।।
प्रार्थनां चक्रतुरतो द्विरूपोऽभूत् तदिच्छया।

भगवानके वीर्यबलको प्रकट काराके दिखानेवालेका भगवद्वीर्यको जतानेवाले जनक और श्रुतदेव थे जिन्होंने अपने घर पधारनेकी प्रार्थना की इसलिये उनकी प्रार्थना स्वीकार कर भगवानने अपनी इच्छानुकूल दो रूप धारण किये।।४४४॥।।

व्याख्या: जनक और श्रुतदेव दोनोंने भगवानको अपने घर पधारनेके लिये प्रार्थना की, जिसको स्वीकार कर एक ही समयमें दोनोंके यहां पधारे थे इसलिये अपने दो स्वरूप ऐसे प्रकट किये जैसे उनको उसका ज्ञान न

होवे।।४४४॥।।

मुनीनां च द्विरूपत्वं तेषां स्मृत्या च सम्मतम्।।४४५।।
न च ते द्विविधा जाता नापि कृष्णस्तथाभवत्।

मुनियोंके दो रूपपन उनकी स्मृतिसे सम्मत हैं, वे दो रूपवाले नहीं हुए थे और श्रीकृष्ण भी वैदे नहीं हुए थे।।४४५॥।।

किन्तु कृष्णेच्छया जाताः तेषां चाप्यत्र विस्मयः।।४४६।।
अतः क्रियाबलं प्रोक्तं यथा स्वप्ने तथाभवत्।

किन्तु कृष्णकी इच्छासे हुए थे. उनको भी इस विषयमें आश्चर्य हो रहा था, इसलिये यह क्रियाबल कहा है जैसे स्वप्नमें होता है वैसे यहां भी हुआ।।४४६॥।।

व्याख्याः 'स्मृतिसे सम्मत' गौतम और वृद्ध गौतम इत्यादि नामोंसे प्रसिद्ध हों भासता है, स्वप्नकी तरह हुआ, यों कहा है कि किन्तु इसका भावार्थ यह है कि यह लीला सत्य होते हुए भी स्वप्न जैसी कही है, यह भगवानकी क्रिया वीर्य बोधक लीला जनक, श्रुतदेव तथा मुनि भी समझ न सके, यह लीला भगवानने एक ही रूपसे एक ही समयमें पृथक् – पृथक् स्थानमें की थी, इसलिये वीर्य बोधक है।।४४६॥।।

एकत्रावस्थितः कालम् अन्यत्रैकं दिनं तथा।।४४७।।
अग्रे कालद्वयं तुल्यं तेन सर्वस्य विस्मयः।

एक स्थान पर जैसे बहुत समय रहे, दूसरे स्थान पर वैसे एक दिन रहे, आगे दोनों काल समान हो गये, इससे सबको आश्चर्य होने लगा।।४४७॥।।

व्याख्याः 'कालं' पदका आशय है बहुत दिन बाद काल, जैसे कहते हैं कि 'दिनानि कतिचिद् भ्रमन' इससे जाना जाता है कि भगवान् जननके यहां बहुत दिन रहे, किन्तु श्रुतदेवके यहां केवल एक दिन रह, तो भी ये दिवस समान दीखे जिससे सर्व विस्मित हो गये शेष स्पष्ट है।।४४७॥।।

एतदर्थं तु मुनयः सह नीताः स्वपौरुषम्।।४४८।।
प्रदर्शिता यतः सर्वे तद्वाक्याद् वीर्यवेदिनः।

इस तरहकी लीला करनेके लिये ही भगवानने मुनियोंको अपने साथ लिया था, वहां अपना पौरुष(वीर्य) दिखाया, जिससे सर्व उनके वचनोंसे भगवानके वीर्यको जान सके।।४४८॥।।

व्याख्या: मेरी यह वीर्य लीला देखकर, मुनिगण आ कर सकल जनताको सुनावें मुनियोंको साथमें लेनेका आशय भगवानका यही था।।४४८।।

श्रुतिगीता यशः प्राह सर्वसन्देहवारिका।।४४९।।

सर्व प्रकारके सन्देहोंको मिटानेवाली 'श्रुतिगीता'ने भगवानके यशका वर्णन किया है।।४४९।।

व्याख्या: श्रुतियोंने जिस ग्रन्थ (श्लोकों)में भगवद्विषयक सर्व सन्देहोंका निवारण कर यशका गान किया है उसको 'श्रुतिगीता' कहते हैं. वह भगवानके उत्तराद्धर्ममें है।।४४९।।

लौकिकं चेद् युक्तिसिद्धं कर्तृत्वादि भवेद् हरेः।
अलौकिकस्य करणाद् यशो जातम् अलौकिकम्।।४५०।।

भगवानका कर्तापन आदि यदि लौकिक युक्तियोंसे सिद्ध हो सके, तो वह लौकिकवत् हो जाय किन्तु भगवानका कर्तृत्व आदि अलौकिक है जिससे तर्कसे सिद्ध नहीं है इसलिये आपका अलौकिक यश जगतमें गाया जाता है।।४५०।।

अष्टाविंशतितत्त्वानि यथारूपे हरीच्छया।
तथैव नाम्नि यशसि तावत्यः श्रुतयो मताः।।४५१।।
तस्मात् सन्देहनिर्धारो मनसश्च निवेशनम्।
निर्गुणे भगवद्रूपे वेदैरेवेति निश्चयः।।४५२।।

जैसे भगवानने अपने स्वरूपमें अपनी ही इच्छासे अट्ठाईस तत्व धारण किये हैं उसी तरह नाममें यश वर्णन करनेवाली २८ श्रुतियां मानी गई हैं।।४५१।।

इसी कारणसे भगवानके निर्गुण स्वरूपमें जो सन्देह होता है उसका निर्णय वा निवारण और मनका उसमें प्रवेश भी वेदोंसे ही होता है, यह निश्चय है।।४५२।।

श्रीशक्तेरग्रिमाध्यायः तत्रैवं निर्णयः कृतः।
हरिरेव स्वयं भुङ्क्ते श्रियं नान्यस्तु कश्चनः।।४५३।।
यस्तु मोहात् क्वचिद् भुङ्क्ते तं दुःखे पातयत्यजः।
भक्तस्य तन्न युक्तं हि तस्मात् तां विनिवारयेत्।।४५४।।
अन्ये देवा श्रियं दत्वा तथान्यानपि वै वरान्।

स्वयं संकटम् आयान्ति तस्मात् श्रीर्नैव युज्यते।।४५५।।

इससे आगेका अध्याय 'श्री' शक्ति रूप गुणका है, वहां ही निर्णय किया गया है, कि भगवान् ही स्वयं 'श्री' (लक्ष्मी)का भोग करते हैं अन्य कोई नहीं।।४५३।।

यदि जो कोई दूसरा मोहके कारण उसका उपभोग करता है, तो भगवान् उसको नीचे दुःखमें गिराते है अतः भक्तको 'श्री'का भोग नहीं करना चाहिये इसलिये उसको अपनेसे हटा दे भक्तको भोगसे दूर रहना चाहिये।।४५४,४५५।।

व्याख्या: इसके अनन्दर 'श्री' गुणका अध्याय है जिसका भी विचार 'श्री शक्ते'से ले कर साढे तीन कारिकाओंसे करते हैं. जिनमें कहा है कि 'श्री'का भोग भगवान् स्वयं ही करते हैं अर्थात् 'श्री' भगवानके भोग्य योग्य होनेसे उनके लिये ही है यदि अन्य 'श्री'का भोग मोहसे करता है, तो भगवान् उसका दुःखमें पतन करते हैं अतः दुःखमें पात न हो इसलिये भक्तको 'श्री'के भोगसे दूर रहना चाहिये. यदि दूसरे देव किसीको 'श्री' वा अन्य वर देते हैं तो वे देव भी संकटमें पड़ते हैं, तो लेनेवालेकी क्या दशा होगी ? जिसका विचार करना चाहिये, अतः अन्य देवादिसे 'श्री'का कोई भी वर लेना भक्तको उचित नहीं है।।४५३,४५४।।

शाकुनेयकथा प्रोक्ता तदर्थं हरसंकटे।
ततः परं तु ज्ञानस्य निर्णयो हरिमेधसः।।४५६।।
क्षमा तस्योत्तमं लिङ्गं कृष्ण एव प्रतिष्ठिता।
तस्या निर्णयसिद्ध्यर्थं भृगुपाख्यानम् उच्यते।।४५७।।

इसको समझानेके लिये ही वर दे कर महादेवको संकट भोगना पड़ा जिस कारणसे शकुनिके पुत्रकी कथा यहां कही है. अनन्तर ही भगवानमें मन स्थिर होनेके वास्ते ही ज्ञानका निर्णय कहा है वा किया है, जिसका उत्तम चिह्न 'क्षमा' श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित(स्थित) है उस(क्षमा)की स्थिति श्रीकृष्णमें ही हैं, जिसके निर्णयार्थ भृगुऋषिका चरित्र कहा है।।४५६,४५७।।

तथा ब्राह्मणवार्तापि सर्वयादवसन्निधौ।
क्षमा कृष्णे परा प्रोक्ता समर्थे ज्ञानसम्भवे।।४५८।।
उपदेशेऽपि नान्यस्य ज्ञानम् अस्तीति बोधितम्।
अर्जुनस्य कथा प्रोक्ता सर्वगीतार्थवेदिनः।।४५९।।

समस्त यादवोंकी उपस्थिति (मौजूदगी)में ब्राह्मणकी कही हुई वार्ता भी वैसी ही है, सर्व प्रकार समर्थ और जिसमें पूर्ण ज्ञान विद्यमान (मौजूदा) है, वैसे श्रीकृष्णमें ही पूर्ण क्षमा रहती है यों कहा है।।४५८।।

यदि अन्यको ज्ञानका उपदेश दिया भी जाय, तो भी उसमें ज्ञान नहीं रहता है, यों समझानेके लिये ही सकल गीताके अर्थको जाननेवाले अर्जुनका चरित्र कहा है।।४५९।।

व्याख्या: इन कारिकाओंसे ज्ञानाध्यायका विचार करते हैं, जिसमें 'ज्ञान' गुणका निर्णय किया गया है, क्षमा उसमें रहती है जो पूर्ण ज्ञानवान एवं सर्वप्रकार समर्थ होता है वैसे तो श्रीकृष्ण ही हैं, जिसका प्रमाण (सबूत) बतानेके लिये भृगुकी कथा कही गई है. ब्रह्मा तथा महादेव केवल प्रमाणादि न करनेसे क्रोधित हो गये किन्तु श्रीकृष्ण लत मारने पर भी क्रोधित तो न हुवे किन्तु भृगुसे कहने लगे, कि मेरी कठोर उर (छाती)से आपके कोमल पादको चोट लगी होगी इत्यादि शब्दोंसे अपना क्षमा गुण प्रदर्शित किया जो स्वतः ज्ञानी ही कर सकता है, सहज ज्ञान भगवानमें ही है उपदेशसे वैसा ज्ञान नहीं होता है यह बतानेके लिये गीतोपदेश सुननेवाले अर्जुनको भी ज्ञान सिद्ध न हुआ, जिससे उन्होंने यादव मात्रको 'राजन्य वन्धु असुंभर' आदि अनुचित शब्द कहे, जब ब्राह्मणने पुत्र – मरणकी वार्ता कही. अतः उसकी कथा कही।।४५८,४५९।।

अतः परन्तु वैराग्यं कथाध्याये निरूप्यते।
तेनैव पूर्णतां याति निरोधः सकलोऽपि हि।।४६०।।
कृष्णो विरक्तः किं वाच्यः तत्सम्बन्धात् स्त्रियोऽपि हि।
कामैकरसपूर्णाश्च विरक्ताः सर्वथा मताः।।४६१।।
एतावद् अर्थनिर्धारि कथा यावत्य ईरिताः।
तासां चात्रोपसंहारः क्रीडया विनिरूप्यते।।४६२।।
एवं सर्वान् समुद्धृत्य क्रीडत्यस्माकम् ईश्वरः।
क्रीडायां प्राप्तसंसारः स्त्रीणामपि निर्वायते।।४६३।।

इसके अनन्तर तो कथाध्यायमें वैराग्यका निरूपण किया जाता है, इससे (वैराग्यसे) ही सकल निरोध पूर्ण होता है।।४६०।।

श्रीकृष्ण वैराग्ययुक्त थे इसमें कहना ही क्या है? जब कि उनके

सम्बन्धसे केवल कामरससे ही पूर्ण स्त्रियां भी सर्व प्रकार वैराग्य युक्त बन गई।।४६१।।

इतने अर्थका निर्धार (निर्णय) करनेके लये हमारे ईश्वर क्रीड़ा करते हैं क्रीड़ा करते हुए स्त्रियोंको जो संसार प्राप्त हुआ वह भी उनका मिटा दिया।।४६२,४६३।।

व्याख्या: स्कन्धकी समाप्ति होते हुए वैराग्यका जो निरूपण किया है, उसका प्रयोन 'तेनैव' कारिकासे बताते हैं कि जब तक वैराग्य नहीं है, तब तक निराषधकी पूर्णता नहीं होती है, क्योंकि भगवानमें चित्तकी आसक्ति तब होती है, जब वैराग्य होता है. निरोधके पूर्ण होनेमें वैराग्य बिना दूसरे किसीकी अपेक्षा नहीं है, इसलिये इस कथाध्यायमें वैराग्यका निरूपण है.

भगवानमें वैराग्य है यह कैसे सिद्ध हुआ ? अथवा कैसे जाना गया ? जिसको समझानेके लिये कहा है कि जब आपकी स्त्रियां जो कामरससे पूर्ण थी वे भी आपसे सम्बन्ध होनेके कारण वैराग्यवाली बन गई तो आप (श्रीकृष्ण) वैराग्य गुणयुक्त अर्थात् विरक्त हों, इसमें कहना ही क्या है ?

यहां जब वैराग्यका निरूपण करना है तो क्रीड़ाके निरूपणका कौनसा प्रयोजन था ? इस शमाकी निवृत्तिके लिये 'एतावदर्थ' कारिका कही है जिसका आशय है कि, भगवान् अपने भक्तोंका जो तीन(१. करणात्मक, २. व्यापारत्मक और ३. फलात्मक) प्रकोरका निरोध करते हैं इसलिये जितनी कन्याएं कही हैं वे सर्व क्रीड़ा द्वारा ही कही है. उनका परि कर सहित निर्णय कर विषयका उपसंहार किया जाता है वो किया गया है.

इसी तरह हमारे प्रभु सबोंका उद्धार करनेके लिये अपनेमें चित्त आसक्त करनेके हेतु ही इस प्रकारकी क्रीड़ा करते हैं जिस क्रीड़ासे उनकी स्त्रियोंने कामरस पूर्ण होनेसे संसारको प्राप्त किया, तो भी उनका संसार निवृत्त कर उनको भी वैराग्य युक्त कर दिया है. यह सकल उक्ति निरोधका उपसंहार समझनेके लिये है।।४६० – ४६३।।

कुरर्यादिदशार्थास्तु निर्गुणेन युता गुणाः।
महिषी हृदयापन्नाः सन्देहं वारयन्ति हि।।४६४।।
मनसा तु तिरोधानाद् विह्वलास्ता निरूपिताः।
तेन कृष्णार्थता प्रोक्ता तासां सर्वक्रियासु हि।।४६५।।

स्कन्धार्थस्तु निरोधो हि ततस्तेनोपसंहृतिः।
अग्रेऽपि ये भविष्यन्ति कीर्त्तनात् तेऽपि तादृशाः।।४६६।।

कुररी (टिटहरि) आदि दश पदार्थोका जब भगवानसे सम्बन्ध हुआ तो वे भी वैसे निर्गुण हो गये, महाराणियोंके हृदयमें प्रविष्ट हो कर सन्देहको मिटाते हैं।।४६४।।

महाराणियोंके मनमेंसे भगवान् तिरोहित होते ही वे विह्वल हो गई, जिससे उनकी सर्व क्रियाएं कृष्णके लिये ही होने लगी।।४६५।।

स्कन्थका अर्थ निरोध है, इस कारणसे उस(निरोध)से ही इसकी समाप्ति की गई, आगे भी जो भक्त होंगे वे इसके कीर्तनसे वैसे ही होंगे।।४६६।।

व्याख्या: महाराणियोंके संसारकी निवृत्ति हो गई इसका क्या प्रमाण है ? इस पर कहते हैं कि 'कुर्या हि...संदेहं वारयन्ति हि' कुररी (टिटहरि) आदि दश पदार्थ जिनसे निर्गुण भगवानका सम्बन्ध हुआ वे वैसे (निर्गुण) हो गये, वे पदार्थ महाराणियोंके हृदयमें प्रविष्ट होनेसे उनके निरोध रूप विचार उत्पन्न हुए जिससे सिद्ध होता है कि उनमें अब संसार नहीं रहा है. इसलिये वह (संसार होनेका संशय) मिट जाता है।।४६४।।

इस कारिका द्वारा महराणिएं निरोधकी पूर्णावस्थाको प्राप्त हुई हैं, यह सिद्ध करते हैं भगवान् वहां (मनसे) बिराजते हुए भी, वे समझने लगी आनन्दप्रद भगवान् तिरोहित हो गये हैं, जिससे वे विह्वल हो कर प्रभुके संगकी कामना करता हैं, यह ही आसक्तिका स्वरूप है. यदि उनमें जब भी संसार होता तो भगवानमें आसक्त न होती. इसलिये वे सर्व क्रियाएं भगवदर्थ ही करती हैं।।४६५।।

इस दशम स्कन्धका अर्थ निरोध है इसलिये उससे (निरोधसे ही उपसंहार समाप्ति) करते हैं और कहते हैं कि आगे भी जो भक्त होंगे वे इस विषयके कीर्तनसे ही निरोध सिद्ध कर सकेगें।।४६६।।

।।इति गुणप्रकरणम्।।

प्रकरणम् इह पूर्यतेऽनवद्यं त्रयमपि विश्वजयाय मादृशानाम्।
निजपदसमवाप्तये च नित्यं निजगुरुणा हरिणैव लोकवन्द्यम्।।४६७।।

मेरे जैसोंकि विश्वजयके लिये, लोकोंसे वक्द्य एवं नित्य जो स्थान है उस अपने स्थानको प्राप्त करें इस वास्ते अपने गुरु हरिने ही ये पवित्र तीनों प्रकरण भी पूर्ण किये हैं।।४६७।।

आचार्यश्री आज्ञा कतरे हैं कि ''भूयश्चान्तेविश्वमायानिवृत्तिः'' इस श्रुतिमें कही हुई विश्वमायाकी निवृत्तिके लिये तथा भगवानके धामकी प्राप्तिके लिये ही अपने गुरु (अविद्या अन्धकारको मिटानेवाले) हरिने गुण प्रकरण सहित ये तीन (तामस, राजस एवं सात्त्विक) प्रकरण भी पूर्ण किये हैं।।४६७।।

इति श्रीवल्लभदीक्षितविरचिते तत्त्वदीपनिबन्धे श्रीभागवतार्थप्रकरणे
दशमस्कन्धविवरणं सम्पूर्णम्

।। श्रीपुरुषोत्तमनामसहस्रं स्तोत्रम् ।।

दशम स्कन्ध–गुण प्रकरणके नाम

वसुदेवज्ञानदाता देवकीपुत्रदायकः ।
अर्जुनस्त्रीप्रदाता च बहुलाश्वस्वरूपदः ।।२३१।।

(१००३) वसुदेवज्ञानदाता

द्वैपायनादि मुनियोंके द्वारा वसुदेवजीको अपने माहात्म्य सम्बन्धी ज्ञानको देनेवाले श्रीवासुदेव. भगवान् श्रीकृष्ण पर वसुदेवजीका पुत्र वात्सल्य प्रेम होनेके कारण अपने स्वरूपका यथार्थ ज्ञान होनेमें वह प्रेम बाधक था. अतएव आपने द्वैपायन नारदादिके द्वारा निजरूप सम्बन्धी उत्तम ज्ञान अपने पिता वसुदेवजीको प्रदान किया है.

(१००४) देवकीपुत्रदायकः

देवकीजीके जो पुत्र प्रथम कंस द्वारा मारे गये थे उनको पुनः देनेवाले.

(१००५) अर्जुनस्त्रीप्रदाता

अर्जुनको अपनी बहन सुभद्राका उत्तम प्रकारसे अर्पण करनेवाले.

(१००६) बहुलाश्वस्वरूपदः

मिथिलानगरीके निवासी भक्त बहुलाश्व राजाको निज स्वरूपका दान देनेवाले.

श्रुतदेवैष्टदाता च सर्वश्रुतिनिरूपितः ।
महादेवाद्यतिश्रेष्ठो भक्तितलक्षणनिर्णयः ।।२३२।।

(१००७) श्रुतदेवैष्टदाता

श्रुतदेव नामक ब्राह्मणको अपने दर्शनरूप इष्ट वस्तुको देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

(१००८) सर्वश्रुतिनिरूपितः

समस्त वेदोंके द्वारा जिनका प्रतिपादन किया गया है ऐसे परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण.

"**वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः**" (सारे वेदों द्वारा मैं ही जानने योग्य हूं.) ऐसा आपने अपने श्रीमुखसे अर्जुनको उपदेश दिया है. अर्थात् निखिल निगम–वेदोंमें निरूपण करनेमें आई मुख्य वस्तु तो आप श्रीकृष्ण ही हैं. भगवान्का पार पानेमें

तो स्वयं श्रुतियां भी असमर्थ हैं बाकी तो अन्य कौन हो सकता है. श्रुतिमें वर्णित है कि ''**प्रतत्ते अद्य शिपिविष्ट नामार्य शसामि वयुनानिं विद्वान्. तं त्वा गृणामि तव समतवीयान् क्षयंतमस्य रजसः पराक इति.**'' (हे शिपिविष्ट ! हे विष्णु-लोकमें और वेदोंमें प्रसिद्ध ऐसे आपके नामकी मैं प्रशंसा करता हूं. आप ही मेरे स्वामी हो, ज्ञान प्राप्त करवानेके उपायोंको जाननेवाले हो, विद्वान हो, अतएव मैं आपकी स्तुति करता हूं. मैं तो एक क्षुद्रजीवमात्र ही हूं और आप तो सर्वसे महान् हो. इस लीलात्मक प्रपंचसे पर गूढ़ रूपमें रहे हुये हो. अतएव मैं आपके अगणित गुणगणोंकी महिमाका स्तवन करनेमें प्रवृत्त हुआ हूं.) ''**न ते महित्वमाश्रुवन्ति**'' (आपकी अपार महिमाको कोई भी श्रवण नहीं कर सकता.) ''**उभे ते विघ्नरजसा**'' ''**यतो वाचो निवर्त्तन्ते.**'' ''**मां तु वेद न कश्चन**'' इत्यादि अनेक श्रुति स्मृतियोंमें भगवानकी अपार महिमा-प्रभावका वर्णन किया हुआ है. 'गूढात्मा सर्ववेदेषु' ४७वें नाममें इसकी व्याख्या विस्तृत रीतिसे की हुई है अतएव यहां अधिक वर्णन नहीं करते. इस स्कन्धके ८७वें अध्यायमें ''**जय जय जह्यजामिति**'' श्लोकमें गोपाङ्गनारूप श्रुतिगणोंने भगवानके अगणित गुण गण महिमा स्पष्ट रीतिसे वर्णितकी है. अतएव यहां अपनी सामर्थ्य प्रमाण-स्वशक्त्यानुसार श्रुति गण जिसका निरूपण करती हैं, ऐसे प्रभु कहा गया है.

(१००९) महादेवाद्यतिश्रेष्ठः

महादेवजी जिनमें मुख्य हैं ऐसे ब्रह्मादि देवोंसे भी अत्यन्त श्रेष्ठ प्रभु.

(१०१०) भक्तिलक्षणनिर्णयः

भक्तिके लक्षणोंका निर्णय जिनके द्वारा है ऐसे प्रभु श्रीकृष्ण.

भगवदनुग्रहरूप भक्तिके लक्षणोंका निर्णय-सिद्धान्त आपके द्वारा ही होता है. आप जिसके ऊपर अनुग्रह करनेकी इच्छा करते हैं तो उसकी लौकिक ऊपर रुचि करानेवाले धनादि साधनोंका आप हरण कर लेते हैं. और अपनी ओर उसके अन्तःकरणको आकर्षित करते हैं. जिससे भगवत्कृपापात्र बने भक्तको भक्तिके सम्पूर्ण सम्पूर्ण लक्षण साध्य हैं. भगवानकी पूर्ण कृपा बिना वैसे भक्तिके चिह्न प्राप्त करने अशक्य हैं. अतएव यहां भक्तिके लक्षण-चिह्नोंका निर्णय जिनके द्वारा हो वैसे प्रभु श्रीकृष्णका नाम लिया गया है.

वृकग्रस्तशिवत्राता नानावाक्यविशारदः ।
नरगर्वविनाशार्थहृतब्राह्मणबालकः ।।२३३।।

(१०११) वृकग्रस्तशिवत्राता

शकुनिके पुत्र वृकासुर दैत्य द्वारा दुःखित शिवजीका रक्षण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

(१०१२) नानावाक्यविशारदः

अनेक प्रकारके वचन बोलनेमें चतुर. युक्तिप्रयुक्तिपूर्वक विविध रीतिसे वचनचातुर्यका प्रकाश कर, वाणी बोलनेमें कुशल वाणीपति आप श्रीपुरुषोत्तम सिवाय अन्य कौन समर्थ हो सकता है? ऐसे सुंदर वाक्यचातुर्य द्वारा भस्मासुरको भस्मीभूत करके भस्मधारी शिवजीको आपने गौरव प्रदान किया है. अतएव यह नाम यहां स्फुटित है.

(१०१३) नरगर्वविनाशार्थहृतब्राह्मणबालकः

नर अर्थात् अर्जुनको उत्पन्न होनेवाले गर्वका नाश करनेके लिये ब्राह्मणके बालकोंको हरण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

द्वारिका नगरमें निवास करनेवाले एक ब्राह्मणकी पत्नीकी संतान होते ही मृत्यु हो जाती थी. वह ब्राह्मण उस मरे हुये बालकका शव लाकर राजसभामें भगवान् श्रीकृष्णके पास आकर आपका बहुत ही तिरस्कार करता था. इस प्रकार उसके नौ बालकोंकी मृत्यु हो गई. नौमें बालकको लाकर जब राजसभामें प्रवेश कर श्रीकृष्णका तिरस्कार करने लगा उस समय वहां अपने बलका महान् गर्व धारण करते अर्जुन भी बैठे थे. उसने सर्व यादवोंके सामर्थ्यका तिरस्कार करते हुये ब्राह्मणके बालकका रक्षण करनेके लिये अपने ऊपर जिम्मेदारी ली. और यदि पुनः ऐसा प्रसंग आये तो मुझको जताना. अर्थात् मैं उस बालककी रक्षा करूंगा. यदि मेरेसे ऐसा नहीं हुआ तो मैं अग्निमें प्रवेश करके आत्मदाह करूंगा. ऐसी अर्जुनकी प्रतिज्ञाको जानकर उस पर विश्वास करके ब्राह्मण दसवीं बार जब प्रसवका प्रसंग आया तब अर्जुनको लेकर वह अपने घरमें आया. वहां अर्जुनने प्रसूति ग्रहमें बाणोंका ऐसा पिंजरा बना दिया कि जिसमें वायु भी प्रवेश नहीं कर सके. परन्तु इस बार बालक प्रसव होते ही देह सहित ही उड़ गया. प्रथमतो मात्र जीवही जाता था. ऐसा होनेपर अर्जुनका महान गर्व गलित हो गया. यह इस स्कंधके ८९वें अध्यायमें कथा आती है. उसके अनुसार ही यह नाम प्रकट किया गया है.

लोकालोकपरस्थानस्थितबालकदायकः।
द्वारकास्थमहाभोग–नानास्त्रीरतिवर्द्धनः ।।२३४।।

(१०१४) लोकालोकपरस्थानस्थितबालकदायकः

लोकालोक पर्वतसे भी परे स्थानमें स्थित बालकको ला देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

अनेक प्रयास करनेके बाद भी जब बालककी प्राप्ति नहीं हुई तब अर्जुनने अग्निमें प्रवेश करनेका निश्चय किया. अर्थात् उसका रक्षण करने और ब्राह्मणको शांत करनेके लिये प्रभुने हरण किये हुये ब्राह्मणके शिशुको लोकालोक नामक स्थानपर रहे हुये सर्वोत्तम भगवत्स्थानमेंसे लाकर ब्राह्मणको प्रदान किये. इस प्रकार प्रभुके प्रभावका प्रत्यक्ष दर्शन करके अर्जुनने अपने अन्तःकरणमें निश्चय किया कि सर्वसे विशेष प्रभावशील समर्थ भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं. लोकोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिये दैवीजीवोंका उद्धार करनेके लिये ही आप भूतलपर पधारे हैं. यह तो आप सर्व समर्थ पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी लीलामात्र ही है.

(१०१५) द्वारकास्थमहाभोगनानास्त्रीरतिवर्द्धनः

द्वारका नगरीके महान् वैभवके कारण विविध प्रकारकी वनिताओंमें रति सम्बन्धी प्रीतिको बढ़ानेवाले भगवान् श्रीद्वारकाधीश.

मनस्तिरोधानकृतव्यग्रस्त्रीचित्तभावितः ।

.....॥

(१०१६) मनस्तिरोधानकृतव्यग्रस्त्रीचित्तभावितः

मनोवृत्तिका तिरोधान करनेके लिये व्यग्र निज पत्नियोंके द्वारा अपने अपने अन्तःकरणमें भावना उत्पन्न करानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

भगवान्के प्रेममय मधुर भाषणोंसे, दृढ़ आलिंगनसे जिनकी मनोवृत्तियां भगवन्मय बन गई हैं ऐसे भगवान्की पटरानियां निरन्तर मधुर आलापसे प्रभुमें विविध भावनाओं द्वारा आपके यशोगानमें विह्वल बन उन्मत्तवत्–जडवत् गाया ही करती हैं. इस स्कन्धके ९०वें अध्यायमें ''कुररि! विलपसि त्वं'' से आरम्भ करके ''हंस! स्वागमअस्यताम्'' इत्यादि श्लोकों पर्यन्त स्पष्ट किया गया है. इस आशयसे यह नाम प्रकाशित हुआ है.

॥ इति दशमस्कंधनामानि ॥

।। अथैकादशस्कन्धनामानि ।।

मुक्तिलीलाविहरणो मौसलव्याजसंहृतिः ।।२३५।।

(१०१७) मुक्लिीलाविहरणः

मुक्तिलीला अर्थात् अपने स्वरूपकी स्थितिमें करनेवाले भगवान्.

एकादश स्कन्धमें भगवान्की दशविध लीलाओंमेंकी मुक्तिलीला वर्णनकी गई है. श्रीमद्भागवत द्वितीय स्कन्ध अध्याय १० श्लोक ६में कहा गया है ''मुक्तिर्हित्वाऽन्यथारूपं स्वरूपेणव्यवस्थिति'' (अन्यथा रूपको त्याग करके निजस्वरूपमें स्थिति होनी मुक्ति है.) भगवान्ने महाभारतके युद्ध प्रसंगसे तथा ब्राह्मणोंके शापनिमित्तसे सकल यदुवंशका संहारकरवा कर भूमिके भारको उतारकर अपने अवतारका प्रयोजन सिद्ध किया है. फिर निजस्वरूपमें स्थिति करी है. और उसके लिये उद्धवजी द्वारा किये गये प्रश्नोंका उत्तर दिये हैं. अतएव इस स्कन्धकी मुक्ति प्रवृत्ति है. इसके लिये इसमें मुक्तिलीला है, यह सर्वसिद्ध है. अर्थात् वैसी मुक्तिलीलामें विहार-रमण करनेवाले प्रभु ऐसा कहा गया है.

(१०१८) मौसलव्याजसंहृतिः

ब्राह्मणोंके दिये हुए शापके निमित्तसे साम्बके उदरमेंसे निकले हुए मूसलके योगसे यादवकुलका संहार करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

श्रीभागवतधर्मादिबोधकोभक्तिनीतिकृत् ।
उद्धवज्ञानदाता च पञ्चविंशतिधागुरुः ।।२३६।।

(१०१९) श्रीभागवतधर्मादिबोधकः

श्रीमद्भागवतशास्त्रमें कहे हुये धर्मादिका उपदेश देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण. शोभायुक्त भागवत-भगवान्के भक्त जैसे कि कवि, हरि, अन्तरिक्ष, प्रबुद्ध, पिप्लायन, आविर्होत्र, द्रुमिल, चमस और करभाजन इत्यादि धर्मोंका उपदेश देनेवाले. वसुदेवजीको नारद द्वारा धर्मका बोध करानेवाले, नारदरूपमें जगतमें धर्मोपदेश करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण नारदजी स्वयं भगवान्का ही स्वरूप हैं. गीतामें आप आज्ञा करते हैं कि ''देवर्षीणां च नारदः'' (देवर्षियोंमें मैं नारद हूं.) यह भगवद्वाक्यसे सिद्ध होता है कि नारदजी आपसे पृथक नहीं हैं परन्तु भगवद्रूप ही हैं. अतएव नारदजी रूपमें वसुदेवजीको बोध करानेवाले आप श्रीकृष्ण ही हैं.

(१०२०) भक्तिनीतिकृत्

भक्तिकी नीतिको प्राप्त करानेवाले. नौ योगेश्वरोंके वचनोंसे जनकराजाकी भक्तिमें स्थिति करानेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

(१०२१) उद्धवज्ञानदाता– उद्धवजीको ज्ञान देनेवाले श्रीकृष्ण भगवान्.

(१०२२) पञ्चविंशतिधा गुरुः

पच्चीस प्रकारके गुरु–तत्त्वोंका बोध– उपदेश करनेवाले ऐसे अवधूत वेशधारी श्रीदत्तात्रेय स्वरूपवान् भगवान् श्रीकृष्ण.

तत्त्वज्ञानका उपदेश करनेवालेको गुरु कहा जाता है. पुराणमें भी कहा गया है कि ''गुशब्दस्त्वन्धकारोऽस्ति रुशब्दस्तन्निरोधकृत्। अन्धकारनिरोधत्वाद् गुरुरित्यभिधीयते ।।'' (गु शब्द अंधकारवाची है और रु शब्द उसका निरोध करनेवाला है. अर्थात् अज्ञानरूप अंधकारको तत्त्वरूप दीपक प्रकटाकर नाश करनेवाला गुरु कहा जाता है.) अवधूत दत्तात्रेयने वैसे पच्चीस गुरु करे थे. और उनके द्वारा तत्त्वबोध प्राप्त किया था. वह दत्तात्रेय भगवान् स्वयं श्रीकृष्णका ही स्वरूप हैं. इस कारण यहां पच्चीस प्रकारके जिनके गुरु हैं वैसे प्रभु यह भगवन्नामका प्रतिपादन करता है.

आचारमुक्तिभक्तयादिवक्ता शब्दोद्भवस्थितिः।
हंसोधर्मप्रवक्ता च सनकाद्युपदेशकृत्।।२३७।।

(१०२३) आचारमुक्तिभक्तयादिवक्ता

कामना रहित फलकी अपेक्षा बिना वर्णाश्रम, कुलाचार, मुक्ति और भक्ति इत्यादि उपधर्मोंका निरूपण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

(१०२४) शब्दोद्भवस्थितिः

शब्द अर्थात् वाणीकी उत्पत्ति स्थानमें जिनकी स्थिति है ऐसे भगवान्.

वाणीका उत्पत्ति स्थान विवरादिमें अर्थात् दीखनेमें आता आधारचक्र, मणिपूरकचक्र, और विशुद्धिचक्र इत्यादिमें है. भगवान् उनमें प्रवेश करके वाणीको उत्पन्न करते हैं. प्रथम प्रभु नादवान प्राणके साथ हृदयस्थ आधारचक्रमें प्रवेशकरके मनोमय मध्यमसंज्ञक वाङ्मय सूक्ष्म स्वरूपको निहारते हैं. और वाणीरूपमें मणिपूरकचक्रमें–कंठ स्थानमें तथा विशुद्धिचक्रमें–तालुस्थानमें प्राप्त होकर जिव्हा स्थानमें प्रकट होते हैं अर्थात् ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अकारादि वर्ण इत्यादि वैखरी संज्ञक होकर अत्यन्त स्थूल होते हैं. वेद

शाखामय बनकर विशेष विस्तृत बनते हैं. प्रभुके स्वयं इस प्रकार हृदयादिमें स्थिति करनेसे वाणी वर्णरूपमें विस्तार पाती है. श्रुति भी कहती है कि ''चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणाये मनीषिणः. गुहासुत्राणि निहितानि नेरयंति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति.'' नादब्रह्मके हृदय, कंठ, तालु और जिव्हा ऐसे चार गुप्त स्थान होते हैं जिन्हें केवल विद्वान ही जान सकते हैं. उनमें गुहा हृदयादिमें रहे हुये मध्यम संज्ञक तीन गुप्त स्थानोको मनुष्य स्पर्श नहीं कर सकता. इस कारण जिव्हास्थ चतुर्थ वैखरीवाणी मनुष्य उच्चार करते हैं. इस प्रकार नादब्रह्मका सर्वत्र विस्तार करनेवाले आप हैं. अतएव वाणीके उत्पत्ति स्थानमें स्थिति करनेवाले प्रभु ऐसा कहा गया है.

(१०२५) हंसः

अहंताममतात्मक संसारके हरण करनेवाले अथवा परमात्माके स्वरूपको समझनेवाले हंसरूपधारी भगवान् श्रीकृष्ण.

(१०२६) धर्मप्रवक्ता –भक्तजनोंके धर्मका भलीभांति कथन करनेवाले भगवान्.

(१०२७) सनकाद्युपदेशकृत्

सनकादि चार ब्रह्मचारी मुनियोंको ब्रह्मका उपदेश देनेवाले.

भक्तिसाधनवक्ता च योगसिद्धिप्रदायकः ।
नानाविभूतिवक्ता च शुद्धधर्मावबोधकः ।।२३८।।

(१०२८) भक्तिसाधनवक्ता

भक्तिके विविध साधन कथन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

(१०२९) योगसिद्धिप्रदायकः

योगके द्वारा प्राप्त होनेवाली सिद्धियोंको देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

भगवान्में चित्तकी धारणा करनी इसका नाम योग कहा जाता है. उसके अभ्याससे अणिमा, लघिमादि पूर्वोक्त आठ प्रकारकी मुख्य और उनमें दूसरीभी अनेक सिद्धियां प्राप्त होती हैं. सर्वसिद्धियोंके अधिपति आप श्रीकृष्ण ही हैं. योग–भक्तियोगसे अपनी सेवा करनेवालेको प्रभु वैसी सिद्धियां प्रदान करते हैं. जिसके कारण यहां योगसिद्धियोंको प्रदान करनेवाले परमात्मा श्रीपुरुषोत्तम ऐसे नामका वर्णन किया गया है.

(१०३०) नानाविभूतिवक्ता

विविध प्रकारकी विभूति अर्थात् ऐश्वर्यादि स्थानके कथन करनेवाले

भगवान् श्रीकृष्ण.

(१०३१) शुद्धधर्मावबोधकः –शुद्धधर्मका उद्धवजीके प्रति उपदेश देनेवाले.

प्रभुकी प्राप्ति हो वैसे धर्मोंका तथा वेदोंमें प्रतिपादन किये हुये श्रौत और स्मृतियोंमें दर्शाये स्मार्त धर्मको शुद्धधर्म कहा जाता है. वैसे धर्मका उपदेश आपने भक्तवर्य उद्धवजीको दिया है. वह इस स्कन्धमें स्पष्ट दर्शाया गया है अतएव शुद्ध धर्मका बोध करानेवाले प्रभु ऐसे नामका निर्देश किया गया है.

मार्गत्रयविभेदात्मा नानाशंकानिवारकः।
भिक्षुगीताप्रवक्ता च शुद्धसांख्यप्रवर्तकः ॥२३९॥

(१०३२) मार्गत्रयविभेदात्मा

कर्म, ज्ञान और भक्ति इन तीनों मार्गोंके विशेष भेदोंमें फल भेदसे जिनका अन्तःकरण है ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण.

(१०३३) नानाशङ्कनिवारकः

विविधप्रकारकी शंकाओंका समाधान करनेवाले . यम क्या? नियम क्या? शम किसे कहते हैं? दम किसे कहते हैं? इत्यादि अनेक प्रकारकी उद्धवजीकी शंकाओंका समाधान–उनके प्रश्नोंका उत्तर देकर करनेवाले आप भगवान् ही हैं. अतएव यहां नानाशंकाको दूर करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण ऐसा बताया गया है.

(१०३४) भिक्षुगीता प्रवक्ता

अवन्ती नगरीमें रहनेवाले भिक्षु ब्राह्मणने वैराग्य प्राप्तकर जो भिक्षुगीता कही है उस गीताका तात्पर्य उद्धवजीके प्रति समझानेवाले भगवान्.

(१०३५) शुद्धसांख्यप्रवर्तकः

शुद्ध सांख्यमार्गके प्रवर्तक भगवान श्रीकृष्ण. भगवान् कपिलमुनिके द्वारा किया गया ईश्वरका प्रतिपादन करनेवाला शुद्ध सेश्वर सांख्यवाद उसे आपने उद्धवजीके प्रति इस स्कन्धके २२वें अध्यायमें स्पष्ट दर्शाया है. भगवानकी मायारूप आत्मशक्ति आकाशादि तत्त्वोंकी अनुक्रमसे उत्पत्ति, फिर उन तत्त्वोंका एकमेकमें प्रथमके अनुक्रमानुसार लय इस प्रकार उत्पत्ति स्थिति और लय भगवच्छक्तिरूप प्रकृतिसे प्रतिपादन करके तत्त्वसंख्याका निर्णय किया है. यह आत्मा है, यह अनात्मा है उसका विवेक करना ही सांख्यवाद है. उस सांख्यवादको कहनेवाले उसका प्रवर्तन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण हैं.

मनोगुणविशेषात्मा ज्ञापकोक्तपुरूरवाः ।
पूजाविधिप्रवक्ता च सर्वसिद्धान्तबोधकः ।।२४०।।

(१०३६) मनोगुणविशेषात्मा

मनके द्वारा प्राप्त होनेवाले सत्त्वादि गुणोंसे जिनकी विशेष आत्मा है ऐसे परमात्मा. इस विश्वकी प्रत्येक वस्तु त्रिगुणात्मक है. अधिक सत्वगुण होनेसे देव, ऋषि; विशेष रजोगुण होनेसे असुर, मनुष्य; तथा अधिक तमोगुण होनेसे राक्षस, भूत, प्रेत, पिशाच इत्यादि कहलाते हैं. उनके समयमें उनका प्राधान्य होता है. ऐसा अध्याय २२में कहा गया है. तथा उसी प्रकार शम, दम ये सत्त्वप्रकृति है. शम, मद, तृष्णा, रजो प्रकृति है. और क्रोध, लोभ, मोह ये तमः प्रकृति है. इसी प्रकार कर्म, धर्म, तप, सुख, भक्ति, ध्यान, ज्ञान ये सब त्रिगुणात्मक हैं. वो सब भगवदिच्छासेही प्रवृत्तिमें रहते हैं. इस स्कन्धके २४वें अध्यायमें उत्तम प्रकारसे भगवान्ने उद्धवजीको उस सम्बन्धमें उपदेश किया है, अतएव यहां तीन गुणों द्वारा विशेष आत्मा जिनकी है, ऐसा कहा गया है.

(१०३७) ज्ञापकोक्तपुरूरवाः

पुरूरवा राजाके दृष्टान्तसे उद्धवजीके प्रति यथोचित् ज्ञान देनेवाले. उपर्युक्त नाममें बताये गये त्रिगुणात्मक भावोंमें मनुष्य तन्मय रहता है तथा उसके कारण जन्ममरणके चक्रमें सदा लिप्त रहता है. अतएव उद्धवजीमें उन गुणोंमें आसक्ति नहीं रहे वैसे करनेके लिये ऐलपुत्र पुरुरवा राजाके दृष्टान्तसे भगवान्ने ज्ञान दिया है. यह इस स्कन्धके २६वें अध्यायमें दर्शाया गया है.

(१०३८) पूजाविधिप्रवक्ता

पूजनविधिको कहनेवाले भगवान्. मर्यादामार्गके अनुसार पूजनविधिके तीन प्रकार माननेमें आते हैं. वेदोक्त, तंत्रोक्त एवं मिश्र, ऐसे ये तीन प्रकार हैं. उनमें वेदविधि प्रमाणानुसार केवल पूजन करनेमें आये तो वेदोक्त; तंत्रविधि प्रमाणानुसार करनेमें आता हो तो तंत्रोक्त; और यदि वेदविधि तथा तंत्रविधिका मिश्रण करके जो पूजाविधि करनेमें आये तो उसे मिश्र कहते हैं. इन तीनों प्रकारोंकी पूजाविधि उद्धवजीके प्रति भगवान्ने २७वें अध्यायमें कही है. अतएव पूजाविधिका कथन करनेवाले ऐसे परमात्मा श्रीकृष्ण ऐसा स्फुट किया है.

(१०३९) सर्वसिद्धान्तबोधकः

सर्व सिद्धान्तोंको समझाकर निज सिद्धान्तका बोध करानेवाले.

लघुस्वमार्गवक्ता च स्वस्थानगतिबोधकः ।
यादवाङ्गोपसंहर्ता सर्वाश्चर्यगतिक्रियः ।।२४१।।

(१०४०) लघुस्वमार्गवक्ता

छोटे प्रयत्न द्वारा सिद्ध होनेवाले अपने भक्तिमार्गके वक्ता.

(१०४१) स्वस्थानगतिबोधकः

अपने धाममें पधारनेका उपदेश देकर उद्धवजीको निजस्थान बद्रिकाश्रममें जानेका उपदेश देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

(१०४२) यादवाङ्गोपसंहर्ता

यादवोंके अङ्ग अर्थात् देहोंके उपसंहार-तिरोधान करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण.

ब्राह्मणोंके श्रापके कारण यात्रामें गये हुये सर्व यादव परस्पर मद्यपान करके मदोन्मत्त होके आपसमें युद्ध करके, जैसे बांसोंके घर्षणसे प्रज्वलित हुई अग्नि पूरे वनका नाश कर देती है वैसे, सकल यदुकुलका नाश तिरोभाव हो गया. यह सब कुछ प्रभुकी इच्छासे ही हुआ है. भूमिका भार उतारनेके लिये देवताओंके साथ भगवान् यदुकुलमें प्रकट हुये थे. उस अपने कार्यको पूरा करके आप भी स्वस्थानमें-निजधाममें पधारे.

(१०४३) सर्वाश्चर्यगतिक्रियः

सबको आश्चर्य प्राप्त हो इस प्रकार निजधाममें पधारनेकी जिनकी कृति है ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण. भगवान्ने जब निजधाममें प्रवेश करनेकी क्रिया-लीला करी तब सब देवता जो दर्शनार्थ आये थे, उन्होंने पुष्पवृष्टि करी थी. यह आश्चर्य नहीं तो और क्या है? उस समय सर्व ब्रह्मादि देव प्रभुके सन्निधानमें होते हुये भी आपकी गतिको कोई भी नहीं जान सकनेमें शक्य था. अतएव यहां सर्वाश्चर्य रीतिसे आसुरव्यामोहलीला करनेवाले प्रभु ऐसा श्रीमदाचार्यचरण आज्ञा करते हैं.

।। इति एकादशस्कन्धनामानि ।।

श्रीभागवत सुबोधिनी

दशम स्कन्ध (निरोध लीला)

गुण प्रकरण

(अध्याय ८२–८७)

अध्याय ८२

वसुदेवजीको ब्रह्मज्ञानका उपदेश तथा देवकीजीके छः पुत्रोंका लौटाना

एवं निरोधः सर्वेषां भगवत्कृत ईरितः।
स किं साक्षात् सर्वयुक्त्या भगवान् अन्यथापि वा।।का.१।।

कारिकार्थः इस प्रकार भगवानने जो निरोध किया, वह(निरोध) कहा गया. इसी भांति निरोध करनेवाला श्रीकृष्ण सर्व प्रकारकी युक्तियोंसे जो साक्षात् जैसा भगवान् सिद्ध होता है, वैसा ही है अथवा दूसरे प्रकारका भी है अर्थात् भगवान् नहीं भी है।।१।।

अन्यथा चेत् कृतोऽप्येष निरोधो निष्फलो भवेत्।
तस्मात् कृष्णस्य सर्वोक्त्या भगवत्त्वं तु साध्यते।।का.२।।

कारिकार्थः यदि श्रीकृष्ण भगवानसे पृथक् कोई दूसरा है, तो उसने जो निरोध किया, वह सफल नहीं होगा; क्योंकि भगवान् नहीं है. ऐसी शंकाको निवारण कर सिद्ध करते हैं कि सर्ववचनोंसे श्रीकृष्ण भगवान् ही है, अन्य नहीं है।।२।।

अतोऽग्रे भगवान् व्यासः षडध्यायीं चकार ह।
ऐश्वर्यादि–प्रसिद्ध्यर्थं सङ्गतिस्त्वियमेव हि।।का.३।।

कारिकार्थः अतः व्यासजीने भगवानके ऐश्वर्य आदि छः गुणोंकी प्रसिद्धिकेलिए ये छः अध्याय किये(बनाएं) हैं. ऐश्वर्य आदिकी प्रसिद्धिकेलिए यह (रचना) ही संगति है, जिससे पूर्वापर सम्बन्ध जाना जाता है।।३।।

तत्रादौ भगवद्भाव–सिद्ध्यर्थं युक्तिपूर्वकम्।
ऐश्वर्यादीन् षडर्थान् हि षडध्याय्यां निरूप्यते।।का.४।।

कारिकार्थ: उसमें युक्ति अनुसार भगवद्भावकी सिद्धिकेलिए ही प्रथम, ऐश्वर्य आदि छः धर्म इस गुण प्रकरणके छः अध्यायोंमें निरूपण किये जाते हैं।।४।।

षट्त्रिंशे तु तथाध्याये कृष्णस्यैश्वर्यलक्षणः।
अलौकिको लौकिकश्च क्रियाज्ञानविभेदतः।।का.५।।
निरूप्यते यतः पित्रोः ऐश्वर्यं हृद्गतं भवेत्।

कारिकार्थ: उत्तरार्धके इस ३६वें अध्यायमें श्रीकृष्णके लौकिक तथा अलौकिक ऐश्वर्य(ऐश्वर्यरूप जो भगवद्भाव अथवा धर्म है वह) क्रिया और ज्ञानके भेदसे कहा जाता है, इसलिए कि यह ऐश्वर्य लक्षणवाला भाव माता-पिताके हृदयमें जच जावे।।५।।

अनुभावात् पुरैश्वर्यं तयोर्हृदयसंहितम्।।का.६।।

कारिकार्थ: यद्यपि श्रीकृष्णके प्रभावसे उनके हृदयमें पहले ही ऐश्वर्य स्थित था।।६।।

येन स्तुतिः कृता ताभ्यां कृष्णवाक्यात् तु निर्णयः।
तीर्थयज्ञसदुक्त्या हि शुद्धान्तःकरणो भवेत्।।का.७।।

कारिकार्थ: जिससे ही दोनों(वसुदेव और देवकी)ने भगवानकी स्तुति की, फिर भी, उसका निर्णय श्रीकृष्णके वाक्यसे ही हुआ है; क्योंकि तीर्थ और यज्ञमें जो कोई निर्णय लिया जाता है, वह सत्पुरुषोंके वचनसे ही लिया जाता है; क्योंकि उनके वचनोंसे अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है. शुद्ध अन्तःकरणमें ही सत्यका निश्चय होता है, जिससे भगवद् गुणगानमें रुचि उत्पन्न होती है।।७।।

ततः कृष्णगुणज्ञाने तस्येच्छाभूदितीर्यते।
तथैव देवकी देवी ज्ञात्वा माहात्म्यम् उत्तमम्।।का.८।।
ऐश्वर्यस्य परीक्षार्थं पुत्राहृतिम् उवाच ह।

कारिकार्थ: पश्चात् ही श्रीकृष्णके गुणगानमें उनकी इच्छा हुई, यों कहा है. वैसे ही देवी देवकी श्रीकृष्णका उत्तम माहात्म्य जानकर, ऐश्वर्यकी परीक्षाकेलिए श्रीकृष्णको कहने लगी कि मेरे मरे हुए पुत्रोंको लाकर देओ।।८।।

आभासार्थ: श्रीमद्भागवतके दशम स्कन्धके प्रारंभसे यहां(उत्तरार्धके ३५वें अध्याय) तक जन्म प्रकरण, तामस, राजस और सात्त्विक भक्तोंके निरोधका निरूपण किया. अब ३६ से ४१ अध्यायों तक भगवानके ऐश्वर्यादि छः

गुणोंका क्रमानुसार निरूपण किया जाता है. 'ईश्वर' वे हैं जिनमें ऐश्वर्य आदि छ गुण पूर्णरूपसे रहते हों, जो कर्म, वेदसे भी न हो सके, एवं अलौकिक है, उस कर्मको 'ऐश्वर्य' कहते हैं, वह 'ऐश्वर्य' श्रीकृष्णमें है अतः श्रीकृष्ण 'ईश्वर' हैं. जिनका यहां निरूपण किया जाता है. इस प्रसंगमें श्रीकृष्ण अपने पितामें अपनेलिए पुत्रभावना स्थापित करते हुए भी, ज्ञानका उपदेश पिताको देते हैं. वह भी स्वल्पका नहीं, किन्तु परिपूर्ण ज्ञानका अतः श्रीकृष्ण ईश्वर है, यों सिद्ध होता है. जिस प्रकार वेद और कालका उल्लंघन श्रीकृष्णने किया है, वैसा अन्य कोई भी नहीं कर सकता है. कारण कि दूसरे पुरुषोत्तम स्वरूप नहीं है. पुरुषोत्तम तो, श्रीकृष्ण ही हैं, अतः दोनोंको उल्लंघन करनेकी सामर्थ्य आपमें ही है. फल प्रकरणके पूर्ण होनेके बाद, शीघ्र ही माता-पिताका इच्छित कार्य करते हैं, यह अध्यायकी संगति है.

यहां कथाका क्रम वैसा नहीं है, जो लीलाके समय था, इसलिए ही निम्न श्लोक 'अथैकदात्मजौ' श्रीशुकदेवजी पृथक् रीतिसे प्रारंभ करते हैं.

श्रीशुक उवाच

अथैकदात्मजौ प्राप्तौ कृतपादाभिवन्दनौ।
वसुदेवोऽभिनन्द्याह प्रीत्या सङ्कर्षणाच्युतौ ।।१।।

श्लोकार्थः श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि, फिर एकदिन निकट आकर प्रणाम करते हुए अपने पुत्रों राम और कृष्णका प्रेमपूर्वक सत्कार कर वसुदेवजी कहने लगे।।१।।

व्याख्यार्थः जब श्रीकृष्ण और संकर्षण आनन्दमें थे और लालनका समय भी था, तब दोनोंने बिना बुलाए पिताके चरणोंमें प्रणाम किया. पिताने इस कार्यसे सन्तुष्ट होकर उनका अभिनन्दन किया और कहा कि ज्ञानका उपदेश करिए. यह ज्ञान प्राप्तिकी प्रक्रिया वेदविरुद्ध है; क्योंकि वेदानुसार शिष्य गुरुके पास जाकर प्रणाम कर ज्ञानकी याचना करता है, अनन्तर गुरु अभिनन्दन कर उसको ज्ञानोपदेश करता है. यहां ज्ञानोपदेष्टा गुरु श्रीकृष्ण, अपने उपदेश्य शिष्य वसुदेवजीके पास आते हैं और शिष्यको प्रणाम करते हैं. शिष्य, गुरु श्रीकृष्णका अभिनन्दन करता है, यह परिपाटी वेदविरुद्ध है, यह मर्यादा नहीं है।।१।।

आभासार्थः वसुदेवने ज्ञानप्राप्ति करनेकी इच्छासे स्वयं प्रवृत्ति नहीं की थी, किन्तु अचानक ऋषियोंकी वाणीका स्मरण होनेसे उसने जो कुछ ज्ञान

प्राप्तिकेलिए किया, उसका वर्णन 'मुनीनां' श्लोकमें करते हैं.

मुनीनां तद्वचः स्मृत्वा पुत्रयोर्धामसूचकम्।
तद्वीर्यैर्जातविश्रम्भः परिभाष्याभ्यभाषत ।।२।।

श्लोकार्थः मुनियोंके कहे हुए पुत्रोंके प्रभावसूचक वचन स्मरणकर, पुत्रोंके प्रभावोंसे विश्वासवाले वसुदेवजीने सम्बोधितकर, यों कहा।।२।।

व्याख्यार्थः मुनियोंके वे वाक्य स्मरणमें आ गए, जिनमें उन्होंने कहा था कि श्रीकृष्णका अनुभव अर्थात् ज्ञान, काल आदि अथवा किसी प्रकारसे कभी भी नाश नहीं होता है, एवं उनके वीर्यों(पराक्रमों)से भी विश्वास हो गया था कि ये दोनों धाम स्वरूप हैं, केवल स्मृतिसे ज्ञान उत्पन्न हो, तो भी, कुछ चिन्ता नहीं, किन्तु यहां तो संवादसे जाना गया है, अतः सत्य है. इस प्रकार निश्चय हुआ. गोवर्द्धनको उठाना आदि कार्य श्रीकृष्णके वीर्य(पराक्रम)को सूचित करते हैं, इन कार्योंसे ही ऋषि वाक्योंमें विश्वास उत्पन्न हुआ है. इस प्रकार विश्वास होने पर वसुदेवजी 'हे कृष्ण'! 'हे राम'! सम्बोधनसे बुलाकर निम्न प्रकारसे स्तुति करने लगे।।२।।

स्तोत्रं चक्रेऽष्टादशभिः सर्वविद्यानिरूपकैः।।का.९।।
शरणागतिपर्यन्तम् उभयोरात्मनस्तथा।
स्वरूपमाह सर्वासां विद्यानाम् अभिवाञ्छितम्।।का.१०।।

कारिकार्थः सर्व विद्याओंके निरूपक अठारह श्लोकोंसे शरणागति पर्यन्त स्तुति करते हैं. उन श्लोकोंमें सकल विद्याओंके इच्छित श्रीकृष्ण और बलरामजीका तथा अपना स्वरूप कहते हैं।।९-१०।।

प्रारंभमें निम्न श्लोकोंमें भगवान् जगतके कारण हैं, यों कहते हैं.

श्रीवसुदेव उवाच

कृष्ण! कृष्ण! महायोगिन्! सङ्कर्षण! सनातन!।
जाने वामस्य यत् साक्षात् प्रधान-पुरुषौ परौ ।।३।।

हे कृष्ण! हे कृष्ण! हे महान् योगी! हे संकर्षण! हे सनातन! आप दोनों इस समग्र जगतके मुख्य प्रधान और पुरुष हो, यों मैं जानता हूं।।३।।

'हे कृष्ण' 'हे कृष्ण' यों दो बार आदरार्थ कहा है. भगवान् बड़े हैं, तो भी जाननेमें नहीं आते हैं. इसलिए भगवानको 'हे महायोगी' कहा है. बलदेवजीको केवल 'संकर्षण' नाम न देकर 'सनातन' भी कहा है, जिसका तात्पर्य यह है कि 'संकर्षण' पदके अर्थका ज्ञान न होनेसे 'सनातन' पदसे बताया है कि वे नित्य

खेंचनेके कार्यके कर्ता हैं, पूर्णरीतिसे खेंचनेका कार्य प्रकृतिका है, जिससे वसुदेवजी संकर्षणको प्रकृतिका देवता मानते हैं, इसलिए ही श्लोकके उत्तरार्धमें कहते हैं कि इस साक्षात् सम्पूर्ण जगतके कार्य–कारणका अभेदसे उपचारका तथापन निवारण करता है और दोनों प्रधान पुरुष हैं. 'परौ' शब्दसे उपचारसे अंगीकारका निवारण करता है. अक्षरसे उत्पन्न मूलभूतरूप हैं, यों तात्पर्य है।।३।।

वे जगतके कारण हैं, यों कहकर निम्न 'यत्र येन' श्लोकमें कहते हैं कि वे जगत् रूप हैं.

यत्र येन यतो यस्य यस्मै यद् यद् यथा यदा।
स्याद् इदं भगवान् साक्षात् प्रधान–पुरुषेश्वरः ।।४।।

जिसमें, जिस साधनसे, जिससे, जिसका, जिसकेलिए, जो, जिसको जिस प्रकार, जब होता है; वे प्रधान पुरुष और ईश्वर भी साक्षात् भगवान् आप ही हैं।।४।।

व्याकरणानुसार सात विभक्तियां हैं, जिनमेंसे छठी विभक्ति सम्बन्ध वाचक है, जिससे उसके सिवाय शेष ६ विभक्तियां कारक कही जाती हैं अर्थात् वे विभक्तियां नाम और क्रियापदका परस्पर सम्बन्ध अथवा नामका अन्य नामसे सम्बन्ध बताती हैं. अतः ये विभक्तियां कारक कही जाती हैं. इसी प्रकार आप भी विभक्तियोंकी तरह, सब तरह सब पदार्थोंसे सम्बन्ध धरानेसे सब कुछ आप ही हैं, अत: प्रधान(प्रकृति) और पुरुष आप ही हैं. उनका ईश्वर जो कालरूप है, वह भी आप ही हैं. तात्पर्य, विशेषमें प्रधान, पुरुष और कालको भी वशमें करनेवाले जो पुरुषोत्तम स्वरूप हैं, वह भी आप श्रीकृष्ण ही हैं. सारांश यह हुआ कि श्रीकृष्ण, बलरामजी दोनोंको एक समझ दोनों ही मूलकारण हुए. इस प्रकार दो रूप धारण करनेवाले आप ही भगवान् श्रीकृष्ण हैं, कहनेका यही अर्थ(तात्पर्य) है।।४।।

इस प्रकार तीसरे श्लोकमें स्वरूप और कारण कहकर और चौथेमें उत्पत्ति बताकर निम्न 'एतन्नानाविधं' श्लोकमें स्थितिका निरूपण करते हैं.

एतद् नानाविधं विश्वम् आत्मसृष्टम् अधोक्षज।
आत्मनानुप्रविश्यात्मा प्राणो जीवो बिभर्ष्यजः ।।५।।

हे अधोक्षज! आपके बनाए हुए इस नानाविध जगतमें स्वयं प्रविष्ट होकर, जन्मरहित होते हुए भी आप आत्म स्वरूप, प्राण और जीवरूप होकर, उसको धारण करते हो।।५।।

ब्रह्म माया आदि विविध प्रकारका जगत् आपने ही रचा है. सर्व प्रकारमें कर्त्ता वे भगवान् ही हैं. आपको वेद अधोक्षज कहते हैं, जिसका तात्पर्य है कि इन्द्रियोंसे आपका ज्ञान नहीं हो सकता है, जिससे बहिर्मुख यह नहीं जान सकते हैं कि आप भगवान् इस विश्वके कर्ता हैं. जगत् रचनेके बाद उसमें आप प्रविष्ट हो गए, प्रवेश कर विश्वमें अनेक रूपोंसे प्रकट होकर क्रीडा करने लगे, पहले आत्मा बने, उस रूपसे सर्वमें व्याप्त होकर रहे, फिर जीवनरूप और प्राणरूप होकर कार्य करने लगे. 'प्राण' शब्दसे इन्द्रियां भी कही हैं. तैत्तिरीय उपनिषद्२-६-१में इसको 'सत् तथा त्यत्' हुए, यों कहा है, पश्चात् यों बनकर शरीर आदि सम्पूर्ण जगतको धारण करते हो, धारण करनेकी जो शक्ति है, उसको भी वहां ही नियुक्त करते हैं और धारण करनेके कार्यार्थ अन्तर्यामीरूपसे भी प्रविष्ट हुए. श्रुतिने जो सृष्टिके प्रकार कहे हैं, वे सर्व यहां लिए हैं।।५।।

इसी प्रकार स्थिति कहकर अब 'प्राणादीनां' श्लोकमें उसके आधिदैविक रूपका वर्णन करते हैं.

प्राणादीनां विश्वसृजां शक्तयो याः परस्य ताः।
पारतन्त्र्याद् वैसादृश्याद् द्वयोश्चेष्टैव चेष्टताम्।।६।।

विश्वके सृजक अर्थात् कार्य करनेवाले जो प्राण आदि हैं, उनमें जो शक्तियां हैं, वे सब शक्तियां आप जो 'पर' हैं, उनकी हैं, इन प्राणादिकी नहीं है; क्योंकि चेष्टा करनेवाले ये परतन्त्र व जड हैं, ये केवल चेष्टावाले हैं, शक्तिवाले नहीं है. जिस प्रकार तिनके आदि पदार्थोंमें जो चलने आदि की चेष्टा देखनेमें आती है, वह वायुकी शक्तिसे होती है, उनकी स्वयंकी शक्तिसे नहीं होती है।।६।।

प्राण आदिमें कियाशक्ति मात्र है, उससे विश्वकी रचना करते हैं, सब कर्म इन्द्रियोंसे ही बनाते हैं, इसलिए ही केवल प्राणादिको विश्वसृष्टा कहा जाता है, जिस प्रकार शरीर और इन्द्रियोंका प्रयत्न आत्माका ही प्रयत्न है, वैसे ही प्राणादिककी जो शक्तियां दीखती हैं वे 'पर'की ही है अर्थात् उनमें रहे हुए आधिदैविककी ही हैं. न कि आध्यात्मिक व आधिभौतिक की है.

प्राणादिकी शक्तियोंको सहज(कुदरती) शक्तियां क्यों नहीं माना जाता है? आधिदैविककी विशेष कल्पना क्यों की जाती है? जिसका उत्तर देते हैं कि वे प्राणादि आध्यात्मिक परतन्त्र हैं. जो परतन्त्र है वह स्वतन्त्रतासे काम नहीं कर सकेगा. यदि स्वतन्त्र हो तो सदैव क्यों नहीं कार्य करे? अतः जब आधिदैविक

शक्ति उनमें शक्ति डालती है तब कार्य करते हैं नहीं तो नहीं कर सकते हैं, इससे सिद्ध है कि सब वस्तुओंमें वस्तुका स्वरूप रहता है, जिसको 'आधिदैविक' कहा जाता है, जिसका तात्पर्य है कि श्रुतिमें जो भगवानका स्वरूप वर्णन करते हुए कहा है कि वह, चक्षुका चक्षु, कानका कान, मनका मन है, अतः वह भगवान् ही सबका आधिदैविक शक्ति स्वरूप है, उसकी शक्ति द्वारा ही प्राण आदि कार्य कर सकते हैं अन्यथा नहीं.

यदि यह शंका की जावे कि जब जीव और अन्तर्यामी माने जाते हैं तो वे प्राण आदिको शक्ति दे देवें, व्यर्थ दूसरे रूपकी कल्पनाकी कौनसी आवश्यकता है? इस प्रकारकी शंका होने पर उत्तर देते हैं कि पृथक प्रकारके होनेसे आत्मा सर्व वस्तुओंसे अन्य प्रकारकी है, कारण कि वह चैतन्य है और दूसरे पदार्थ जड़ हैं, अतः जो जीव तथा अन्तर्यामी शक्ति दे सकनेमें समर्थ हों. तो नेत्रोंमें देखनेकी शक्ति क्यों नहीं प्रकट करते? तथा कर्ण आदि इन्द्रियोंमें देखनेकी शक्ति डाल देते, किन्तु इतना सामर्थ्य न होनेसे यों शक्ति प्रकट नहीं कर सकते हैं? तात्पर्य यह है कि प्रत्येक पदार्थ शुद्ध स्वरूपमें स्थित रहे, इसलिए हरेक वस्तुमें पृथक्-पृथक् स्वभाववाला स्वरूप अन्य-अन्य है, यों ही सिद्ध होता है, जैसे तिनके आदिमें केवल चेष्टा है किन्तु वह चेष्टा वायु द्वारा दी हुई शक्तिसे प्रकट होती है, इसी प्रकार आध्यात्मिक तथा आधिभौतिकमें केवल चेष्टा है, प्रेरकत्वका कर्तृत्व नहीं है, अतः उसका प्रेरकता अन्य आधिदैविक स्वरूप है, जिसकी स्वीकृति आवश्यक है, इस विषयको ही देहलीदीपकन्यायवत् समझना चाहिए।।६।।

कर्ता सर्वप्रविष्टात्मा नानारूपस्तथा परः।
चतुर्धा वेदरक्षार्थं चतूरूपो निरूपितः।।का.११।।

कारिकार्थः १.कर्त्ता, २.सर्वमें प्रविष्ट आत्मरूप, ३.पृथक्-पृथक् रूप, ४.पर अर्थात् आधिदैविकरूप, इसी प्रकार चार रूप चार वेदोंकी रक्षार्थ निरूपण किये हैं।।११।।

'कान्तिस्तेजः' श्लोकमें विभूतिरूप भगवानका निरूपण करते हैं.

कान्तिस्तेजः प्रभा सत्ता चन्द्राग्न्यर्कर्क्षविद्युताम्।
यत्स्थैर्यं भूभृतां भूमेर्वृत्तिर्गन्धोऽर्थतो भवान्।।७।।

चन्द्र, अग्नि, सूर्य और नक्षत्र, एवं बिजलीकी कान्ति, तेज, प्रभा और सत्ता, इसी प्रकार पर्वतोकी स्थिरता, भूमिका कार्य गन्ध ये सब आप ही है।।७।।

पदार्थ मात्रमें जो सुन्दरता और प्रकाश है, मणि आदिमें जो अन्यको प्रकाशित करनेवाली प्रभा है, और पदार्थ मात्रमें जो सत्ता है, वह सब आप ही हैं. यद्यपि सर्व पदार्थोंमें वे चार आप ही हैं, तो भी जिस पदार्थमें जिस प्रसिद्धरूप विभूतिसे आप विराजते हैं वह पृथक्-पृथक् कहकर समझाते हैं. (१)कान्ति अर्थात् सुन्दरता चन्द्रमामें, (२)तेज सूर्यमें, (३)प्रभा अग्नि और नक्षत्रोंमें, (४)बिजुलीमें सत्ता, भगवानके सिवाय, जैसे बिजलीकी कहीं भी स्थिति नहीं रहती है वैसे ही चन्द्रमा आादिमें भी कान्ति आदि भगवानसे ही है, भगवानके सिवाय, नहीं है. यह भगवानके धर्मरूपका निरूपरण हुआ, भगवानके छः धर्म हैं चार ऊपर कहे; शेष दो धर्म, पर्वतोंकी स्थिरता तथा भूमिकी गन्ध कही है वे 'वस्तुतः' पदसे सर्व पदार्थोंमें जो ये धर्म हैं वे भगवानके ही रूप हैं, अतः परिणाममें ये सुख उत्पन्न करते हैं, धर्मीमें जब सुख उत्पन्न करनेका गुण होता है, तब ही धर्मोंमें भी सुख उत्पन्न करनेका गुण आता है, कारण कि, गुण ही कार्योंमें वे गुण उत्पन्न करते हैं. यदि धर्मीमें कदाचित् सामर्थ्य प्रकट न भी देखनेमें आवे, किन्तु वह सामर्थ्य धर्मोंमें है, यों मानना तर्कसे विरूद्ध होते हुए भी जो वह सामर्थ्य धर्मोंमें देखनेमें आजावे तो समझना चाहिए कि यह सामर्थ्य भगवान् ही है इसी प्रकार इस श्लोकमें यह सिद्ध किया है कि तेज और भूमिके धर्म भगवद्रूप हैं।।७।।

प्रसंगवश महाभूतोंके धर्म भी भगवद्रूप हैं, यह सिद्ध करनेकेलिए 'तर्पणं' श्लोकमें प्रथम जलके धर्म भी भगवद्रूप हैं, कहते हैं.

तर्पणं प्राणनमपां देवत्वं ताश्च तद्रसः।
ओजः सहो बलं चेष्टा गतिर्वायोस्तवेश्वर।।८।।

हे ईश्वर! प्यास मिटाकर तृप्ति करनी, जिलाना, देवत्व, पृथक्-पृथक् प्रकारके हैं और रस; ये जलके धर्म कहे जाते हैं. इसी प्रकार ओज, सह, बल, क्रिया और गति; ये वायुके धर्म हैं, यों कहा जाता है।।८।।

जल जब पीनेमें आता है, तब उससे कुछ तृप्ति होती है. इससे इस तृप्तिको जलका धर्म समझा जाता है, किन्तु वास्तवमें यह जलका धर्म नहीं है, क्योंकि यदि यह जलका धर्म होवे, तो जल स्वयं सूखे नहीं, इसी तरह जिलाना जलका धर्म माना जाता है, वास्तवमें वह जलका धर्म नहीं, यदि जलका धर्म जिलाना हो तो जलमें डूबा हुआ मनुष्य मरे नहीं, किन्तु वह मर जाता है, इससे सिद्ध है कि जिलाना जलका धर्म नहीं है, किन्तु भगवानका धर्म है, जलको देव

माना जाता है और जल सर्व देवता हैं. यों श्रुति कहती है, देव होनेसे ही पाप क्षय कर सकता है. वह कूप आदिसे जुदा-जुदा प्रकारका होता है उनसे उत्पन्न फलोंके भेद भी अनेक हैं, इसी प्रकार अनेक भेद आदि, भगवानके ही हो सकते हैं, और जलके रस भी जुदे-जुदे प्रकारके होते हैं, यदि जल एक हो तो अनेक रस कैसे बने, पृथ्वीमें भी उस जलसे ही रस आता है, जिससे भूमिमें रहे हुए रसोंमें भी वह दूषण आता है.

श्लोकके उत्तरार्धमें वायुके जो धर्म दीखते हैं वे भी भगवद्धर्म हैं, 'ओज' अर्थात् इन्द्रियोंकी सामर्थ्य, 'सह' अन्तःकरणकी समर्थता, 'बल' शरीरकी सामर्थ्य इनको लोक वायुके धर्म कहते हैं, यदि ये वायुके धर्म होते तो तूफानमें घिरे हुए जनोंमें ये धर्म बहुत होने चाहिए किन्तु यों होता नहीं है. अतः ये धर्म वायुके प्रसिद्ध होते हुए भी वायुके नहीं हैं. किन्तु भगवानके धर्म हैं, अर्थात् धर्मरूप भगवान् ही हैं. इसी प्रकार तिनकोंमें जो क्रिया दीखती है, जंगमोंमें जो गति देखनेमें आती है यह भी भगवान् ही है, वायु भी भगवानका ही रूप है, वायुके अनेक भेद हैं, ईश्वर शब्दसे यह कहा है कि वायुमें सूत्रत्वका जो अभाव है, वह भी आप हैं, सूत्रत्वका अभाव होनेसे ही वायु सदैव एक प्रकारसे नहीं चलती है।।८।।

आकाश भगवानका रूप है, यों 'दिशां त्वमव' श्लोकमें कहते हैं.

दिशां त्वमवकाशोऽसि दिशः खं स्फोट आश्रयः।
नादो वर्णस्त्वमोङ्कार आकृतीनां पृथक् कृतिः ।।९।।

दिशाओंके मध्यमें जो खाली है, दिशाओंकी पोल, उसका स्फोट तथा आश्रय, शब्द ओंकार एवं वर्णोंकी आकृतिकी अलग-अलग कृति आप ही है।।९।।

अपने पूर्वभागमें जो आकाश दीखता है, उसमें भी मध्यमें बड़ी पोल देखनेमें आता है. इसी तरह दिशाओंमें भी जो पोल है उसको आकाश शब्दसे कहा है. ब्रह्मवाद सिद्धान्तके अनुसार दिशा जिसका धर्म अर्थात् गुण है वह आकाश है. यो इसलिए कहा है कि दिशाएं चारों तरफ पृथक्-पृथक् हैं, अतः सर्व पदार्थ सर्व तरफसे जुदे-जुदे हैं, कारण कि ये सर्व भगवानसे ही प्रकट हुए हैं. इसलिए दिशाएं भी आप हैं. दिशाओंमें जो स्फोट है वह भी आप ही हैं यदि यों न होवे तो शब्दमें जो अर्थ स्फुरता है. वह न स्फुरे 'स्फुरति' स्फुरता है क्रियाके अर्थसे भी यही सिद्ध होता है, पूर्वभाग और उत्तरभागमें आकाश है, यों श्रुतिमें आकाश और दिशाओंको

शब्दका आश्रय कहा है, अतः आश्रय भी आप हैं, इसी प्रकार आकाशके बाहरके धर्मोंका वर्णन कर नाद, वर्ण तथा ओंकार आप हो, इन शब्दोंसे ही भीतरके धर्म कहते हैं, जो नाद भीतरका रणकार स्वरूप है, वह ही नाद आकारवाला हो जाता है तब उसको वर्ण कहा जाता है, अंतःकरण प्रविष्ट वह वर्ण ही ओंकार है, उसमेंसे वाणीके प्रकारसे पचास वर्ण उद्भूत हुए हैं, उनके आकार पृथक्-पृथक् हैं और उनके निकलनेके कंठ तालु आदि स्थान भी अलग अलग हैं, एक ही कारणसे उत्पन्न और जिनके केवल निकलनेके स्थान जुदे-जुदे हैं, वे अनेक प्रकारके वर्ण पृथक्-पृथक् कैसे हो? इसलिए सिद्ध है कि वर्णोंकी जुदी-जुदी आकृति एवं पृथक्-पृथक् क्रिया भी आप ही हैं, यही अर्थ है।।९।।

महाभूतोंको भगवद्रूप कहकर अब 'इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां' श्लोकमें इन्द्रियां भी भगवद्रूप हैं, यह सिद्ध करते हैं.

इन्द्रियं त्विन्द्रियाणां त्वं देवाश्च तदनुग्रहः।
अवबोधोभवान् बुद्धेर्जीवस्यानुस्मृतिः सती।।१०।।

इन्द्रियोंकी इन्द्रिय(देखने, ज्ञान कराने आदिकी शक्ति) आप हैं, इन्द्रियोंके देव भी आप हैं, उनका अनुग्रह भी आप हैं, अन्तःकरण तथा जड बुद्धिमें ज्ञान भी आप हैं और जीवकी स्मृति भी आप हैं, कदाचित् कोई उल्टी स्मृति जो होती है, जैसे सीपमें चांदी; ऐसी स्मृति भगवद्रूप नहीं है, वह विषयतारूपा होनेसे भासरूप है, अतः 'सती' शब्दसे जो स्मृति कही है, वह भगवद्रूप है।।१०।।

समझना चाहिए कि सर्व इन्द्रियोंमें जो इन्द्रिय रहती है वह एक ही है, उस एक इन्द्रियके सम्बन्धसे ही शरीरके अवयव इन्द्रियरूप बनते हैं, यों जान लेने पर ही इन्द्रिय वीर्य पृथ्वीके पीछे गए यह श्रुति चरितार्थ होती है अतएव सर्व इन्द्रिय आप हैं यों सिद्ध हो जाता है, इससे ही लता और औषधिरूप हो जाना, उनमें पृथकता होनी भी घट सकती है, इन्द्रियोंके अधिष्ठाता देव भी आप है 'च' पदसे यह बताया है कि उनका सम्बन्ध भी आप है, इन्द्रियों पर अनुग्रहरूप भी आप हैं, आप बुद्धिके अवबोध हैं इस पदसे यह कहा है कि अन्तःकरण भी भगवद्रूप है, यद्यपि बुद्धि जड़ है तो भी पदार्थको प्रकट करनेवाला जो अवबोध उसमें है, वह आप ही हैं, जीवमें जो पूर्वापर विचारशक्ति है वह आप ही हैं, ब्रह्मका अनुभव ही स्मृति है, जीवको इन्द्रियों द्वारा जो अनुभव होता है वह तो मिथ्या है. किन्तु यदि

इन्द्रियां भी ऐसा अनुभव करावे, जिससे जीव ब्रह्मको स्मरण करने लगे तो वह स्मरण करानेवाला अनुभव भी भगवद्रूप है, शेष जैसे सीपमें चांदी भासती है, वैसे अज्ञानके कारण वह स्मृति अन्य प्रकारकी हो, तो वह भगवद्रूप नहीं है किन्तु मिथ्या है वह विषयतारूपा भासमात्र है।।१०।।

उपर्युक्त प्रकारसे महाभूत आदि कार्यके सर्व धर्म भगवान् हैं यों सिद्ध कर अब 'भूतानामसि' श्लोकमें इस कार्यका कारणरूप भी भगवान् ही हैं यह कहते हैं.

भूतानामसि भूतादिरिन्द्रियाणां च तैजसः।
वैकारिको विकल्पानां प्रधानम् अनुशायिनाम् ।।११।।

आप भूतोंके तामस अहंकार हैं, इन्द्रियोंके तैजस अहंकार हैं, मनके वैकारिक अहंकार हैं और जीवोंकी प्रकृति हैं।।११।।

आप पांच महाभूतोंका कारण तामस अहंकार हैं, इन्द्रियोंके भी आप राजस अहंकार हैं, इसी प्रकार संकल्प-विकल्परूप मनका सात्त्विक अहंकार आप महत्तत्त्व जिनकी आदि है, वैसे जीवोंकी आप प्रकृति हैं।।११।।

इसी तरह कारणोंका कारणरूप भगवान् हैं, यों कहकर अब 'नश्वरेष्विह' श्लोकमें बताते हैं कि कार्यका कार्यत्व भी आप ही हैं.

नश्वरेष्विह भावेषु तदसि त्वम् अनश्वरः।
यथा द्रव्यविकारेषु ह्यन्यदा व्यावहारिकः।।१२।।

इस लोकमें जो नाशवान् पदार्थ हैं, उनमें अविनाशी आप हैं, जैसे द्रव्यके विकारोंमें अर्थात् द्रव्यसे बने हुए पदार्थोंमें द्रव्य है. पदार्थोंके नाश हो जाने पर भी द्रव्य अविनाशी होनेसे सदैव मोजूद है, अतएव अन्य समझमें वा अन्यत्र व्यवहारमें आता ही है।।१२।।

कार्यनाशका प्रतियोगी[४] है, कार्यके नाश होने पर कार्यता बन नहीं सकती है, जिससे कोई भी पदार्थ है यों मानना ही चाहिए, जो पदार्थ, कार्यरूप होते हुए भी कार्यमें स्थिर रहता है, जिसका नाश होना धर्म है, और कार्यके साथ उसका सम्बन्ध हो, वह कभी नाश न हो, सदेव स्थिर रहता हो, ऐसा एक पदार्थ सर्व कार्योंमें संमिलित है यों मानना ही चाहिए, उसी पदार्थका ही आश्रय कर किसीने कहा है कि 'न ह्यसन् घटादि र्न घटादिः' घट देखनेमें नहीं आता है इसलिए घट नहीं है ऐसा मानना अनुचित है.

नाशवन्त पदार्थोंमें कोई अविनाशी पदार्थ, दीखता नहीं है, तो फिर भगवान् कौन होगा? यदि यों कहे तो, इसका उत्तर यह है, कि जिस तरह द्रव्यसे बने हुए पदार्थोंमें द्रव्य है और उस द्रव्यमें अन्य घट-पट आदि न दीखते हुए भी विद्यमान हैं, यों माना जाता है, उसी तरह सर्व पदार्थ मात्रमें कार्यरूपसे भगवान् भी विद्यमान हैं वह ही नहीं है तो दृष्टान्त मात्रसे वह कैसे सिद्ध करते हो? इस पर कहते हैं 'अन्यदा व्यावहारिकः' अन्य समयमें व्यवहाररूप होते हैं, जैसा कि जिस समय घट नहीं है, उस समय भी घटका व्यवहार होता ही है जो यों न होता होवे तो सत् व्यवहार बाधित अर्थका विषय बन जावे अर्थात् व्यवहार हो ही न सके वह घड़ा टूट गया पृथ्वी पर घड़ा नहीं है, पांच घड़े फोड़े गए इत्यादि इस प्रकार धर्म और धर्मीका व्यवहार सद्का विषय ही है, इसलिए इस प्रकार वह है यों अवश्य अंगीकार करना चाहिए, यों 'हि' शब्दका अर्थ है।।१२।।

१.जैसे घटका प्रतियोगी घटका अभाव है, वैसे ही कार्यका अभाव कार्यका प्रतियोगी है. इसी तरह अमुक कार्यके नाशका प्रतियोगी वह कार्य है.

इस प्रकार कार्य और कारणरूप भगवान् ही हैं यों निरूपण कर अब भगवान् सर्वके आधार हैं यों निरूपण करते हुए कहते हैं कि आधार होते हुए भी उन पदार्थोंके गुण वा दोष उनको स्पर्श नहीं करते हैं, यह 'सत्वं रजः' श्लोकमें प्रतिपादन किया है.

सत्त्वं रजस्तम इति गुणास्तद्वृत्तयश्च याः।
त्वय्यद्धा ब्रह्मणि परे कल्पिता योगमायया।।१३।।

सत्त्व, रज और तमोगुण और जो उनकी वृत्तियां हैं, वे आप परब्रह्ममें आपकी योगमायासे ही कल्पित है।।१३।।

सत्त्व आदि गुण और एकादश स्कन्धमें कही हुई उनकी अहिंसा आदि वृत्तियां वे सब, आप, जो शब्दब्रह्म वाच्य हो उन आपमें, आपकी योगमायाने ही कल्पित की है, अतः उनके आधार होते हुए भी, उनके दोषोंका सम्बन्ध आपसे नहीं है, क्योंकि आप ब्रह्म होनेसे आप 'हतपाप्मा' हो.'पर' होनेसे सबके नियामक होनेसे वे सब आपकी आज्ञामें चलते हैं अतः उनके गुण दोष आपको स्पर्श नहीं कर सकते हैं कारण कि आपकी योगमाया वैसी प्रबल है जो उनको आपका स्पर्श करने नहीं देती है जैसे योग बलसे योगी अपने आधार पृथ्वीसे स्पृश नहीं होते हैं।।१३।।

जो भगवानमें विद्यमान हैं अथवा जिनमें भगवान् विद्यमान है वे भगवानको कैसे स्पर्श नहीं करते हैं ? इसका उत्तर 'तस्मान्न' श्लोकमें देते हैं.

तस्माद् न सन्त्यमी भावा यर्हि त्वयि विकल्पिताः ।
त्वं चामीषु विकारेषु येऽन्यदा व्यावहारिकाः ।।१४।।

यदि इन पदार्थोंको आपसे पृथक् गिना जावे, तो सिद्ध होगा कि ये पदार्थ है ही नहीं और जिन पदार्थोंका दूसरे समयमें व्यवहार हो रहा है, उन पदार्थोंमें आप नहीं है।।१४।।

यदि आपमें नहीं हैं अर्थात् आपसे जुदे हैं यों गिने जावे तो आपसे जुदा किसीका भी अस्तित्व नहीं होनेसे ये पदार्थ भी नहीं है यों सिद्ध होगा. जो आपसे पृथक् न गिने जावे तब ही उनका अस्तित्व सिद्ध होगा अर्थात् वे हैं यों माना जायगा, यों स्थिति है. अतः दोषके अभावकेलिए, उनका भगवानसे पृथकत्व और योगमायासे उनमें कल्पित हुए हैं यों कहा है. मायासे काटा हुआ वस्त्र काटा हुआ नहीं होता है, मायासे बनाए हुए वस्त्रोंके गुण उनके सम्बन्धवालोंमें कभी आते हैं? यदि उनका अभाव माना जाय तो भगवान् सर्वके आश्रय हैं? यों कैसे सिद्ध होगा? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि ''त्व चामीषु विकारेषु न वर्तसे'' आप भी इन विकारोंमें नहीं हो, विकारीपन ही हेतु है; यदि यों है तो असत् पदार्थोंसे व्यवहार कैसे? जिसके उत्तरमें कहते है कि 'येऽन्यदा व्यावहारिकाः' जैसे ये पदार्थ दूसरे कालमें व्यवहारिक हैं, वैसे विद्यमान दशामें भी व्यवहारिक होंगे, इसमें क्या दोष है? यों तात्पर्य है।।१४।।

इसी भांति भगवानके निर्दोषपूर्णगुणत्वका निरूपण कर इस सिद्धान्तको जो नहीं जानते हैं उनकी निन्दा करते हैं, क्योंकि यह ज्ञान मोक्षका साधक होगा इस आशयसे 'गुणप्रवाह' श्लोक कहते हैं.

गुणप्रवाह एतस्मिन् अबुधास्त्वखिलात्मनः ।
गतिं सूक्ष्मां न जानन्ति संसरन्तीह कर्मभिः ।।१५।।

इन गुणोंके प्रवाहरूप संसारमें सर्वकी आत्मा आपकी सूक्ष्म गतिको न जाननेवाले लोग कर्मोंके कारण भ्रमित होते रहते हैं।।१५।।

यह गुणोंका प्रवाह है, यों कहनेसे उस मतका निराकरण हो जाता है, जो मत कहता है कि यह मायासे बना हुआ है, अतः मिथ्या है, भगवानसे पृथक होते हुए भी सत्य है यों जो लोग मानते हैं वे मूर्ख हैं, 'तु' शब्दसे कहते हैं कि अन्य

सिद्धान्तानुसार वे ज्ञानी हैं, यह मत असत्य है अर्थात् इस प्रकार माननेवाले वे वास्तवमें ज्ञानी नहीं है, विषयोंके असत्य होने पर दूसरा कोई पदार्थ श्रेष्ठ होवे तो उसको आत्मा माना जाय, ऐसा कोई नहीं हो तो दूसरी गति न होने पर विषयोंमें ही रहना पड़ेगा. इस प्रकारकी शंका उत्तरमें कहते हैं कि अखिलोंकी आत्माकी सुक्ष्म गतिको वे नहीं जानते हैं. भगवान् सबकी आत्मा हैं वह पूर्ण और अनन्त गुणवाले हैं यह पहले ही कहा है. अतः आत्मा भगवान् हैं, यों सिद्ध होने पर, उनसे ही कृतार्थता हो जाती है फिर विषयोंसे क्या? और विशेष, उनकी भक्ति मार्गानुसारिणी सूक्ष्म गति है, अथवा उसको जानना चाहिए, दोनोंका ज्ञान प्राप्त न किया तो इस संसारमें कर्मोसे भ्रमते रहते हैं, अखिलोंकी आत्मा भगवानके अज्ञानसे जन्म-मरणके चक्करमें भटकते रहते हैं यो योजना करनी. तात्पर्य यह है कि भगवानको अपनी आत्मा जानना एक यह उपाय है. दूसरा उपाय है उनकी भक्ति करनी, यों करनेसे ही जन्म-मरणरूप संसार चक्करको काटा जाता है विषयोंसे नहीं।।१५।।

भगवानकी सूक्ष्म गतिका ज्ञान और भक्ति करनी चाहिए इन दोनोंका यदि ज्ञान नहीं है तो दोष लगता है जिसका वर्णन ''यदृच्छया नृतां प्राप्य'' श्लोकमें करते हैं.

यदृच्छया नृतां प्राप्य सुकल्पामिह दुर्लभाम्।
स्वार्थे प्रमत्तस्य वयो गतं त्वन्माययेश्वर।।१६।।

हे ईश्वर! सुष्ठु शक्तिशाली तथा दुर्लभ ऐसी मनुष्य देह दैवगतिसे प्राप्त करके भी जो मनुष्य अपना स्वार्थ, जो भक्ति व ज्ञान है, उसको सिद्ध नहीं करता है, उसने अपनी आयु व्यर्थ गंवाई है।।१६।।

मनुष्य अज्ञानसे घिरे हुए होनेसे, अनेक कर्म करते हैं जिससे अनेक प्रकारके भी संसारमें प्रवाह न्यायानुसार कदाचित् दैवगतिसे मनुष्य देहको प्राप्त करते हैं, उसमें भी ऐसी देह मिली हो जो देह भगवानके भजन आदि करनेमें समर्थ हो. यद्यपि ऐसी देह इस निःसार संसारमें मिलनी दुर्लभ है. इस प्रकार दैवगतिसे पुरुषार्थ करनेकी साधनभूत सुष्ठु शक्तिशाली दुर्लभ देहको प्राप्त कर जो मनुष्य अपने सच्चे स्वार्थ ज्ञान तथा भक्तिको अपनाता नहीं है अर्थात ज्ञान और भक्तियुक्त आवरण नहीं करता है केवल विघ्नोंसे आक्रान्त होने पर अपना कर्त्तव्य पालन नहीं करता है, और संसारासक्त हो जाता है, इसी प्रकार उसी

कर्त्तव्य करनेमें अपनी समर्थ वयको व्यर्थ गवां देता है, तो फिर वृद्धावस्था क्या कर सकेगी, ज्ञान भक्ति करनेके योग्य वय आपको मायाके प्रभावसे भोगोंकी आशामें ही चली गई, हे ईश्वर! यह सम्बोधन ज्ञान व भक्ति देनेमें आप समर्थ हैं यों जतानेकेलिए ही दिया है।।१६।।

केवल भोगकी इच्छारूप दोष नहीं है किन्तु अन्य दोष भी लगे हुए हैं यह 'असावहं' श्लोकमें कहते हैं.

असावहं ममैवैते देहे चास्यान्वयादिषु।
स्नेहपाशैर्निबध्नाति भवान् सर्वम् इदं जगत् ।।१७।।

आपने इस समय जगतको स्नेहरूप पाशोंसे बान्ध रखा है जैसा कि इस देहमें यह मैं हूं, यह सब पुत्र आदि मेरे हैं, यह अहन्ता–ममता आदि दोष ही बंधनकारक दोष हैं।।१७।।

यह देह वसुदेव कहलाती है, इस देहमें जो अहं बुद्धि है अर्थात् यह देह मैं हूं, ये पुत्र, वित्त आदि सब मेरे ही हैं, ओर नहीं, मैं इनका भी हूं, इस प्रकार अहन्ता और ममता करके व्याप्त हूं, यह एक दोष है. दूसरा दोष कहते हैं, 'देहेचास्यान्वयादिषु' इस देहका जो सम्बन्धी, वंश पुत्र आदि है, आदि शब्दसे स्त्री, श्वशुर, मामे, नाने आदि सब समझने चाहिए, न केवल इनमें ही किन्तु देहमें 'च'से उसके सम्बन्धी पिता आदिमें भी स्नेह पाशोंसे बान्धते हो, न केवल मुझे ही किन्तु समस्त जगतको बन्धनमें डालते हो।।१७।।

यहां एक विषय संशयग्रस्त है, मैं(भगवान्) तुझे(वसुदेवको) विषय द्वारा बंधनमें डालता हूं अथवा ईश्वरपनसे बांधता हूं, इसी तरह जगतको भी बांधता हूं, यह 'युवां न नः' श्लोकमें कहते हैं.

युवां न नः सुतौ साक्षात् प्रधान–पुरुषेश्वरौ।
भूभारक्षत्रक्षपण अवतीर्णौ तथात्थ ह ।।१८।।

आप मेरे पुत्र नहीं है किन्तु साक्षात् प्रधान पुरुषके ईश्वर हैं, पृथ्वीके भाररूप क्षत्रियोंका संहार करनेकेलिए आपने अवतार धारण किया है. अहो! आपने ही यों कहा है।।१८।।

यदि आप विषयके तरीकेसे हमको बान्धते हो तो वस्तुस्वभावसे उपकार भी होना चाहिए, किन्तु विषयता ही नहीं है, कारण कि आप दोनों हमारे पुत्र हो नहीं हैं, क्योंकि प्रधान और पुरुषके ईश्वर होनेसे काल और पुरुषोत्तम स्वरूप हो.

यदि हम ऐसे हैं (काल और पुरुषोत्तम हैं) तो यहां आना कैसे हुआ? जिसके उत्तरमें कहते है कि 'भूमार क्षत्त्रक्षपणे अवतीरणौ' पृथ्वी पर जो दुष्ट क्षत्रियोंका भार बढ गया था उनका नाश करनेकेलिए प्रादुर्भूत हुए हो, यदि कहो कि इसमें प्रमाण क्या है? इस पर कहते हैं कि 'तथाऽत्थ ह' आपने ही यों कहा है, जैसा कि 'ततश्चशौरिर्भगवत्प्रचोदितः' इस वाक्यमें प्रेरणा नहीं की है, तो भी इस वाक्य 'मां गोकुलं नय'में भगवानने प्रेरणा की है इस प्रकार यहां भी भूमिके भाररूप क्षत्रियोंके नाशार्थ अवतार लिया है, भगवानने ही कभी वसुदेवको कहा है यो समझना चाहिए 'ह' पद आश्चर्यजनक है, इससे बताया कि यह कल्पना नहीं है, किन्तु जो वसुदेवने भूभार क्षत्रियोंके नाशार्थ प्रकटे हो, कहा है वह सत्य है।।१८।।

तो आज(अब) क्या कहना चाहते हो? इन शंकाके उत्तरमें यह श्लोक 'तत्ते गतोऽस्मय' कहते हैं.

तत्ते गतोऽस्म्यरणम् अद्य पदारविन्दम् आपन्नसंसृतिभयापहम् आर्तबन्धो ।
एतावतालमलमिन्द्रियलालसेनमर्त्यात्मदृक् त्वयि परे यदपत्यबुद्धिः।।१९।।

हे दीनबन्धु! इसलिए शरणागतोंके संसारके भयकी निवृत्ति करनेवाले आपके चरणारविन्दकी शरण मैंने ली है. बस विषय लालसा इतनी ही बहुत है, जिससे शरीरमें आत्म बुद्धि और आपमें पुत्र बुद्धि हुई है।।१९।।

मैंने आपके चरणारविन्दकी शरण ली है यों कहकर यह बताया है कि पहले जो कहा कि आप बन्धनमें डालकर अनिष्ट करते हो, उस अनिष्टकी निवृत्ति इस शरण भावनासे की है, चरणारविन्दकी शरणागतिमें कोनसी विशेषता है? विशेषता यह है कि जो शरण आते हैं उनका सांसारिक भय मिट जाता है, आप उस भयको मिटानेमें विलम्ब भी करो, किन्तु चरणारविन्द भय मिटाकर कृतार्थ करेगा, इसलिए चरणोंका आश्रय लिया है, चरणारविन्दका आश्रय लिया है तो भी आपके स्नेहकी भी आवश्यकता है, अतः जैसे भगवान् स्नेहदान करे वैसा सम्बोधन 'आर्तबन्धो' दिया है, आप आर्तजनोंके बन्धु हैं, मैं आर्त हूं, यह पहले ही कहा है यों जाना जाता है.

विषयोंका भोग करो वैराग्यसे क्या लाभ होगा? इस पर कहते हैं कि इतनी इन्द्रिय लालसा जो हुई उससे ही बस(काफी) है, अर्थात् इससे ही मेरी तृप्ति हो गई है, इसके बाद यह अवस्था न हो ऐसी कृपा कीजिए.

नाशवान् देहमें आत्म बुद्धि हुई, यह दूसरा दोष हुआ, परब्रह्म जो आप हैं उसमें पुत्रकी बुद्धि हुई यह तीसरा दोष हुआ, इसीतरह १.भोगकी इच्छा २.देहका अभिमान और ३.भगवान्में अन्यथा(पुत्रकी) बुद्धि त्रिदोषसे युक्त होनेसे मेरे लिए कोई औषधि नहीं रही है सिवाय आपकी कृपाके, अतः इस त्रिदोषसे मुक्त करो, यही प्रार्थनाका सारांश है।।१९।।

यह सब आपने कहांसे जान लिया? यदि यों कहो तो इसका उत्तर इस प्रकारके ज्ञानके दाता गुरु आप ही है. यह 'सूतीगृहे ननु' श्लोकसे सिद्ध करते हैं.

सूतीगृहे ननु जगाद भवानजो नौ सञ्जज्ञ इत्यनुयुगं निजधर्मगुप्त्यै ।
नानातनूर्गगनवद्विदधज्जहासि को वेद भूम्न उरुगाय विभूतिमायाम्।।२०।।

आपने सूतिकागृहमें ही कहा था कि मैं अज होते हुए भी अपने धर्मकी रक्षार्थ आपसे मेरा यह तीसरा प्राकट्य है, आप आकाशके समान अनेक शरीर धारण करते हो, फिर उनको तिरोभाव भी कर देते हो. हे उरुगाय! आप भूमाकी विभूतिरूप मायाको कौन जान सकता है?।।२०।।

मैंने आपको क्या कहा? जिसके उत्तरमें वसुदेवजी कहते हैं कि आपने कहा कि मैं अजन्मा होते हुए भी, आपके यहां प्रकट हुआ हूं. मैं नवीन प्रकट नहीं हुआ हूं किन्तु आपका पूर्वजन्ममें देखा हुआ ही अब पुनः प्रकट हुआ हूं, इस विषयमें मुझे संदेह है कि भगवान् क्या हमारे लिए ही प्रकट हुए, अथवा जैसे प्रत्येक युगमें धर्म रक्षार्थ प्रकट होते हैं वैसे ही प्रकट हुए हैं? इसका प्रत्युत्तर भगवान् देते हैं कि नहीं, मैं तो आपकेलिए ही प्रकट हुआ हूं. यदि धर्मार्थ ही प्रकट होता तो कहीं भी प्रकट हो जाता, तीन-तीन बार आपके यहां क्यों? अतः आपके हितार्थ आपके यहां ही प्रकट हुआ हूं यों कहनेमें शंका उत्पन्न होवे तो उसका निराकरण दृष्टान्तसे करते हैं, कि जैसे आकाश सर्व वस्तुओंमें अपना आकार बना लेता है, घटाकाश, पटाकाश आदि, वैसे आप भी बनाकर फिर तिरोहित करते हो, उस स्थानसे उस वस्तुके जाने पर दूसरी वस्तुके आने पर वह आकार धारण कर पूर्वका त्याग करता है वैसे ही आप विकारी होकर ही देवकीके गृहमें वहांकी मायाको हटाकर निश्चल स्वरूप ही प्रकट हुए हैं, पश्चात् वहांसे दूसरे स्थान पर जाने पर पहले स्थानकी मायाका संवरण कर लेते हो और दूसरे स्थलसे दूर हो गई, यो प्रतिक्षण आप(भगवान्)के अनेक रूप होते हैं इस प्रकार भगवान् भी आकाशकी भांति रूप ग्रहण करते हैं और छोड़ते हैं किन्तु इसमें इतनी

विशेषता है कि आकाश उपाधिसे देहका ग्रहण और त्याग करता है, किन्तु भगवान् तो मायाके पड़देको हटाकर यों करते हैं.

अतएव प्रभु हमारे लिए प्रादुर्भूत हुए वा अन्यकेलिए, यो प्रतिक्षण लिए हुए रूपोंका प्रयोजन भी समझना कठिन है, किस प्रयोजनकेलिए प्रकट होते हैं, यह वार्ता समझनी तो दूर रही, तो इस विषयमें सिद्धान्त तो जानना चाहिए, इस पर कहते हैं 'उरुगाय' सब आपका गुणगान करते हैं, भक्तजन गुणगान करे इसलिए ही आप आविर्भाव-तिरोभावलीला आदि करते हैं, इससे विशेष कहा नहीं जा सकता है क्योंकि आपकी विभूतिरूप मायाको कौन जान सकता है?।।२०।।

इस प्रकार वसुदेवकृत स्तुति और शरणागतिपूर्वक भगवानका अचिन्त्य रूपत्वका वर्णन सुन भगवान् प्रसन्न हुए और जान गए कि वसुदेवजीको मेरे स्वरूपका अभी तक खण्ड ज्ञान हुआ है, इसलिए उनको अखण्ड ज्ञान देनेकेलिए भगवान् प्रवृत्त हुए, जिसका वर्णन श्रीशुकदेवजी 'आकर्ण्येत्थं' श्लोकमें करते हैं.

श्रीशुक उवाच

आकर्ण्येत्थं पितुर्वाक्यं भगवान् सात्वतर्षभः।

प्रत्याह प्रश्रया नम्रः प्रहसन् श्लक्ष्णया गिरा।।२१।।

श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि पिताजीका इस प्रकारका वाक्य सुनकर वैष्णवोंके पति भगवान् विनयसे नम्र होकर हंसते हुए मोहको उत्पन्न कर उत्तर देने लगे।।२१।।

ये वाक्य पिताश्रीके हैं, इसलिए भगवानने स्वामीके समान लीला दिखाना अनुचित जाना, अतः विनयपूर्वक आप नम्र होकर आगे भी मोह पैदा करनेकेलिए हंसने लगे, बादमें चित्तके सन्तोषार्थ मधुर वाणीसे बोलने लगे, आप वैष्णवोंके पति हैं, यदि शरणागति कहने पर भी मौन धारण करें तो वैष्णवोंको दुःख होगा, इसलिए भगवानने उत्तर दिया कि 'युवां मां पुत्र भावेन' इस श्लोकमें निर्णय दिया हुआ है, ज्ञान देनेका कोई प्रयोजन नहीं है, उपर्युक्त वाक्यसे ज्ञानका बोध और हास्यसे मोह उत्पन्न करते हुए, भगवानने उत्तर दिया यों अर्थ है।।२१।।

प्रथम 'वचो वः' श्लोकसे उनके कहे हुएका अभिनन्दन करते हैं.

श्रीभगवानुवाच

वचो वः समवेतार्थं तातैतद् उपमन्महे।

यन् नः पुत्रान् समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः।।२२।।

श्रीभगवानने कहा कि हे तात! आपके यह वाक्य हम सत्य यथा अर्थवाले मानते हैं; क्योंकि आपने पूत्रोंका लक्ष्य करके भी तत्त्वोंके समूहका भलीभांति वर्णन किया है।।२२।।

आपके इस वाक्यमें अर्थ परिपूर्ण मिला हुआ है. हम इस वाक्यको वैसा ही मानते हैं; वह कौनसा अर्थ है? इस पर कहते हैं कि ''यन्नः पुत्रान् समुद्दिश्य तत्त्वग्राम उदाहृतः'' यह वाक्य स्तुति नहीं है किन्तु उपदेश है, जैसे तत्त्वमस्यादि वाक्य है, वैसे यह भी ब्रह्मात्म भाववाला है, यदि इसको[१] स्तुतिरूपसे माना जावे तो दोष लगता है, अथवा उस वाक्यको[२] न माना जाय तो भी दोष लगता है, इसलिए इस(वाकय)को स्तुतिरूप न मानकर उपदेशरूप मानकर वर्णन किया है।।२२।।

१.वसुदेवको पिता समझना. २.वसुदेवजी पिता तो हैं.

वसुदेवजीके कहे हुएका प्रकार कहकर, अब उनका सर्व प्रकारका दुःख मिट जावे इसलिए 'अहं यूयमसावार्य' श्लोकसे पूर्ण ज्ञानोपदेश करते हैं.

अहं यूयमसावार्य इमे च द्वारकौकसः।
सर्वेऽप्येवं यदुश्रेष्ठ विमृश्याः सचराचरम्।।२३।।

हे यदुश्रेष्ठ! जैसा मुझे जानते हो, वैसा ही आप, बड़े भाई, द्वारकावासी तथा स्थावर-जंगम जो कुछ हैं, उनको जानो अर्थात् सब एक ही ब्रह्मरूप है ।।२३।।

जैसा मुझे जानते हो वैसा सबको ही जानो ''अखण्डं कृष्णवत्सर्वं यथा तत्तु निरूपितम्'' सर्व कृष्णकी(तत्त्वार्थदीपनि.१०२कारिका) तरह अखण्ड हैं वह तो निरूपण किया है, जब इसी प्रकार ज्ञान हो जावे फिर कुछ भी जानना नहीं रहता है. यों भगवान्, वह ही उपदेश देते हैं कि यह समुदाय अन्य नहीं, एक ही ब्रह्म है. स्पष्ट समझानेकेलिए प्रत्येकका नाम लेकर बताते हैं कि 'अहम्' पदसे दृष्टान्तका अनुवाद है, 'यूयम्' बहुवचन पिताके नातेसे दिया है, यह आर्य बड़ा भाई बलभद्र, ये द्वारकावासी, और दूसरे ब्रह्माण्डमें रहनेवाले सबका ही यों विचार करना कि ये सब साक्षात् भगवान् ही है, स्थावर और जंगममें भी वैसे ही मेरे समान बुद्धि करनी चाहिए यों अर्थ है।।२३।।

यथेच्छां भगवान् विष्णु पुरस्कृत्याभवत् स्वयम्।
एवं सर्वत्र तत्-तत् स्याम् इति जातः स्वयं हरिः।।का.१२।।

कारिकार्थः भगवान् विष्णु अपनी इच्छाको आगेकर तदनूकुल आप

स्वयं प्रकट हुए, इसी प्रकार सर्वत्र वह पदार्थ मैं बन जाउं, इस प्रकारकी इच्छासे स्वयं सब आप ही बने।।१२।।

आभासार्थ: यदि यों माना जाएगा तो ब्रह्मका अनेकपन होगा, जो ब्रह्म नहीं है उसमें ब्रह्मबुद्धि करनी प्रतीकज्ञान है जिसका फल अनित्य होता है यह 'अप्रतीकालम्बनान्नयति' इस सूत्रमें निरूपण किया है, इस शंकाको दूर करनेकेलिए और आधार-आधेयभावको दूर करनेकेलिए, सर्वत्र आत्माकी प्रतीति हो इस सिद्धिके वास्ते अखण्डात्मत्व 'आत्माह्येकः' श्लोकमें समझाते हैं.

आत्माह्येकः स्वयञ्ज्योतिः नित्योऽन्यो निर्गुणो गुणैः।
आत्मसृष्टैस्तत्कृतेषु भूतेषु बहुधेयते।।२४।।

आत्मा एक है और स्वयं प्रकाश स्वरूप, नित्य और कालसे अन्य (पृथक्) निर्गुण है, स्वरचित गुणोंसे प्राणियोंमें विविधता दिखती है।।२४।।

जो सबमें फैला हुआ है अर्थात् सबमें मौजूद है वह आत्मा है, वह यदि परिच्छेदवाला[१] होवे तो वह आत्मा ही न रहे, एक ही आत्मासे जब कार्य सिद्ध हो सकता है तो दूसरेकी कल्पना करनी व्यर्थ है, आत्मा अनेक हैं यह व्यवस्था भोग नहीं करा सकता है, कारण कि ईश्वरकी इच्छासे व्यवस्था हो रही है, जो किया जिसके पृथक् आधारके गुणसे उत्पन्न होती है, उस क्रियाका असमवायिकारण[२] उसका संयोग है. यह व्याप्ति यहां नहीं बनती है क्योंकि सर्वत्र ईश्वरकी इच्छा ही विषयोंका कारण है, और जीवात्माओंके साथ उसका सम्बन्ध हो नहीं सकता है, हेतु यह है कि जो अजन्मा और नित्य है उसका संयोग नहीं माना गया है. इस कारणसे भोगकी दूसरे प्रकारसे भी उपपत्ति हो सकती है अतः आत्मा एक ही है यह अर्थ ही उचित है, क्योंकि 'एकमेवाद्वितीयम्' (ब्रह्म एक ही अद्वितीय अर्थात् उत्तम है) ''अहमात्मा गुड़ाकेश सर्व भूताशयस्थितः'' (हे गुड़ाकेश! सर्व प्राणियोंके अन्तःकरणमें स्थित आत्मा मैं ही हूं, 'नित्यः सर्वगतः' (नित्य सर्वमें गया हुआमें ही एक हूं) इत्यादि अनेक वाक्योंसे आत्माका एकत्व सिद्ध किया गया है, 'नानात्मानो व्यवस्थातः' इस सूत्रमें अकारका सन्धिसे छिपना मानकर अर्थ करनेसे आत्मा एक है यही सिद्ध होगा, यदि आत्मा अनेक माने जाएंगे तो व्यवस्था न रहेगी वह सिद्धान्त अविचारवाला है यो समझना चाहिए, यदि जीवोंका नानात्व असत् माना जावे तो भी ब्रह्म और जीवका भेद तो स्वीकार करना चाहिए यदि जीव और ब्रह्ममें भेद न माना जायगा तो, जीवको उपदेशका

अभाव होगा जिससे मोक्ष प्राप्ति न हो सकेगी, इस कारणसे कहते हैं कि 'स्वयं ज्योतिः' स्वतः प्रकाशरूप है जिससे उसको प्रकाश करानेवालेकी आवश्यकता नहीं है तथा मोक्षार्थ भी अन्यकी अपेक्षा नहीं है, ब्रह्मसे जीवका अन्यत्व वैलक्षण्य नहीं है, यों ईश्वर और पुरुषमें यहां स्वल्प[३] भी भेद नहीं है, पृथक्ता और अज्ञान कैसे होता है यह शुक द्वारा आगे कहनेमें आएगा, वास्तव अर्थ तो यह ही है कि जीवोंका नानापन और अज्ञान उपाधिकृत हैं, समय पाकर स्वप्रकाशकी निवृत्ति हो जाएगी. ऐसी शंकाका उत्तर देते हैं कि नहीं होगी क्योंकि 'नित्य' है अर्थात् सदा एकरूप, तब तो काल ही यह हो, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि नहीं. कालसे आत्मा अन्य है, काल तो आत्माकी चेष्टा मात्र है, जैसा कि कहा है 'चेष्टामाहुः' कालको आत्माकी चेष्टा कहते हैं, यों है, तो भी ऐसी आत्मा पुरुषोत्तम है, न कि जीव, यदि यों कहते हो तो उत्तर है कि 'निर्गुणः' यह ही जीव गुणातीत परब्रह्म है न कि उसके सिवाय दूसरी कोई वस्तु है यदि यों है तो नानात्व और उच्च नीचत्व कैसे बन सकते हैं? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'आत्मसृष्टैर्गुणैः' अपनेसे उत्पन्न गुणों द्वारा देव, तिर्यङ् और मनुष्य आदि देहोंमें जो भूत शब्दवाच्य है, वे आधारवश अग्निके समान नाना प्रकारके जाने जाते हैं।।२४।।

१.केवल एक हृदयमें ही माना जावे तो उसका आत्मत्व ही नष्ट हो जावे.

२.कार्य तथा कारणके साथ एक ही पदार्थमें समवायी सम्बन्धसे रहकर जो कारण बने, वह असमवायि कारण है, जैसे कि कार्यरूप वस्त्रमें, तन्तुत्रोंका जो सम्बन्ध है वह समवाय सम्बन्ध है, और वह सम्बन्ध ही वस्त्रका कारण है, उस कारणको असमवाय कारण कहा जाता है.

३.सांख्य सिद्धान्त ब्रह्मवादसे विरोधी न होनेसे ही यहां कहा है, अग्नि विस्फुलिंगवत् चिणगारियां अनेक होते हुए भी अग्निरूप है वैसे ही जीव भी आत्मरूप है.

इसी भांति एक आत्मा अनेक कैसे भासती है वह भानका प्रकार कहकर नानात्व भी व्यवस्थासे होता है, यह 'खं वायुः' श्लोकमें कहते हैं.

खं वायुर्ज्योतिरापो भूस्तत्कृतेषु यथाशयम्।
आविस्तिरोऽल्पभूर्येको नानात्वं यात्यसावपि।।२५।।

जैसे आकाश, वायु, तेज, जल और पृथ्वी आपसे प्रकटे हुए ये पांच महाभूत घटादिक पदार्थोंमें अनेक प्रकारके प्रतीत होते हैं, तथा उपाधिधर्मोंसे आविर्भाव तिरोभावादि द्वारा अल्प एवं अधिक प्रतीयमान होते हैं, वैसे ही आत्मा

भी अनेक प्रतीत होती है।।२५।।

पांच महाभूत अपनेसे बने हुए घटादि पदार्थोंमें स्थित हो उस स्थितिका उल्लंघन जैसे न हो वैसे विस्तारवाले, बहुत स्वल्प वा एक, इस प्रकार येही भूत. क्वचित् हस्ती आदिके शरीरोंमें विस्तारको प्राप्त होते हैं, मशक(मच्छर) आदिमें छोटे, भांति-भांतिके रंगीन वस्त्र तथा मयूरादि पक्षियोंमें अनेक रंगवाले बन जाते हैं, किसी समय कोयल आदिमें अथवा धातु आदिमें एक रंगवाले होते हैं, इस प्रकार परिमाण कद वा डील एवं रंग आदि भेदसे पृथ्वी आदिमें नानात्व देखनेमें आता है. इसी प्रकार आत्मा भी उस-उस उपादानके पृथकत्वके कारण नानात्व को प्राप्त हुआ दीखता, उच्चनीचत्व देहका किया हुआ है, अनेकत्व परिणाम कर्मने किया है. वास्तवमें स्वरूप एक ही है, जैसे सर्वत्र भौतिक पदार्थ पृथिवी आदि एक ही है न कि कार्यकी विलक्षणतासे कारणभूत पृथिवीमें नानात्व वा वैलक्षण्यकी कल्पना की जा सकती है उसकी पृथ्वी गुणत्वसे ही सिद्धि होती है, इसी प्रकार सत्, चित् और आनन्द धर्मके तारतम्यसे, ऐश्वर्य आदिके तारतम्यसे अथवा श्री आदिके तारतम्यसे आत्माका नानात्व बन सकती है. किन्तु इसके अनुरोधसे स्वरूप भेदकी कल्पना नहीं करनी चाहिए, उपाधिकृत वैलक्षण्य है यों माननेसे सर्व सुस्थ(ठीक) होगा. यह आत्मा भी 'अपि' शब्दसे भूत लिए जाते हैं, अतः अपनी इच्छासे वह ही सर्वरूपसे रहता है, इस प्रकारके विचारमें चित्तको प्रवण(पिरो)कर जैसा मुझे जानते हो वैसे ही सब कुछ मुझे ही जानो यह उपदेश है, यह ही अखण्डाद्वैतवाद है।।२५।।

वसुदेवजीको जो पहले पांच प्रकारकी भेदबुद्धिरूप भेद था कि मैं, तुम, आर्य द्वारकावासी और चराचर सब पृथक्-पृथक् हैं इस प्रकारका भेद, भगवान के उपदेशसे ऐश्वर्यभाव प्रकट होनेसे नष्ट हो गया और भगवानके उपदेशको ग्रहण किया, यह 'एवं भगवता' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता राजन् वसुदेव उदाहृतम्।

श्रुत्वा विनष्टनानाधीः तूष्णीं प्रीतमना अभूत्।।२६।।

श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन्! इस प्रकार भगवानका कहा हुआ उपदेश सुनकर वसुदेवजी भेदबुद्धि नष्ट हो जानेसे शांत हो, प्रसन्न चित्तवाले हुए।।२६।।

जो भगवानने उपदेश दिया, वह सिद्ध अर्थात् फलीभूत हुआ जिससे वसुदेवजीकी पांच प्रकारकी भेदबुद्धि नष्ट हो गई, फिर शेष कुछ कहनेकी गुंजाइश नहीं रही, और अपनेमें भी वैसे ही अभेद बुद्धिकी स्फूर्ति हो जानेसे अर्थात् सर्व ब्रह्म ही है ऐसा अखण्डाद्वैत ज्ञान उत्पन्न होनेसे चुप हो गए।।२६।।

इस प्रकार भगवानने एकको अर्थात् वसुदेवजीको अपनी ज्ञानशक्ति प्रकट कर ज्ञानका उपदेश किया, क्रियाशक्तिके प्राकट्यकेलिए दूसरा उपाख्यान 'अथ तत्र' श्लोकसे प्रारंभ करते हैं.

अथ तत्र कुरुश्रेष्ठ! देवकी सर्वदेवता।
श्रुत्वानीतं गुरोः पुत्रम् आत्मजाभ्यां सुविस्मिता।।२७।।

हे कुरुओंमें श्रेष्ठ! देवकीने सुना कि मेरे पुत्र(श्रीकृष्ण) गुरुपुत्रोंको ले आए, जिससे विस्मयको प्राप्त हुई।।२७।।

परीक्षितको कुरुश्रेष्ठ! यह सम्बोधन देनेका भावार्थ यह है कि इसके हृदयमें भगवानकी क्रियाका आधिक्य प्राप्त होगा, वसुदेवजी कृतार्थ हुए जिससे भगवानने देवकीके हृदयमें भी कृतार्थता प्राप्त कराई है, तो भी पहले उत्पन्न दुःखकी वासनाके निवृत्त न होनेसे, उसकी निवृत्तिकेलिए देवकी भगवानको प्रार्थना करती है. केवल वाक्य द्वारा तो वह वासना दुःख मिटेगा नहीं यदि भगवान् नाट्य(माया)से पुत्रोंको लाकर दिखा दें तो भी जब देवकीजीको ज्ञान होनेके बाद सर्वज्ञता सिद्ध होगी तब वह समझेगी कि भगवानने मुझसे वंचना(कपटता) की है, और फिर उनके(मरे हुए पुत्रोंके) उद्धारकी चिन्ता भी रहे. अतः जब वे मरे हुए पुत्र आकर मिलें तब दुःख नष्ट होगा, अन्यथा नहीं, यों निश्चयकर, इसकेलिए भगवान् शक्तिमान हैं, जिससे मेरे पुत्रोंको स्वरूपकी प्राप्ति हो ऐसी निश्चित संभावना है, यह देवकीजीने गुरुपुत्र लाए, इस दृष्टान्तसे जान लिया है, जिसको 'श्रुत्वाऽऽनीतं गुरोः पुत्र'में कहा है, मेरे ही पुत्र रामकृष्ण उसको स्वरूपकी प्राप्ति कराके लाये हैं, यों सुन सुविस्मित हुई है।।२७।।

पश्चात् वस्तुका निर्णय जानकर भगवानसे याचना करने लगी यह 'कृष्णरामौ' श्लोकमें कहते हैं.

कृष्णरामौ समाश्राव्य पुत्रान् कंसविहिंसितान्।
स्मरन्ती कृपणं प्राह वैक्लव्यादश्रुलोचना।।२८।।

श्रीकृष्ण और बलरामजीका ध्यान इस तरफ खेंचकर उनको सावधान

किया, फिर कंसके मारे हुए पुत्रोंका स्मरण आनेसे आंखोंमें आंसू भर आए, तब दीनतापूर्वक कहने लगी।।२८।।

देवकीने श्रीकृष्ण और बलरामको कहा कि जो मैं कहती हूं वह सावधान होकर सुनिए. कंसने जो पुत्र मारे थे वो याद आ गए. जिससे नेत्र अश्रुपूर्ण हो गए, और देवकी दीनतायुक्त हो कहने लगीं।।२८।।

इस प्रकार देवकीजीके मन, काया और वाणीकी विकलता कही, उनके निराकरणार्थ प्रथम 'राम रामाऽप्रमेय' श्लोकसे तीन श्लोकोंमें देवकीजी भगवानकी स्तुति करती है.

देवक्युवाच

राम! रामाप्रमेयात्मन्! कृष्ण! योगेश्वरेश्वर!।
वेदाहं वां विश्वसृजाम् ईश्वरावादिपूरुषौ।।२९।।

देवकी कहने लगी कि हे अप्रमेय स्वरूपवाले राम! हे राम! योगेश्वरोंके ईश्वर हे कृष्ण! मैं आप दोनोंको जानती हूं कि आप दोनों विश्वके रचनेवालोंके ईश्वर एवं आदिपुरुष हो।।२९।।

देवकी यह जानती है कि भगवान् शरणागतोंका दुःख दूर करते हैं अतः पहले मुझे भी शरण जाना चाहिए. शरण जाते हुए यदि जिस कामनाकेलिए जाती है उसको न कहूंगी तो मेरी शरणागति मोक्षकेलिए हो जाएगी, उसके निवारण करनेमें भगवान् समर्थ न होवे अथवा इसको वह(देवकी) न जानती हो कि भगवानमें सामर्थ्य है वा नहीं तो भी सर्व निष्फल हो जाएगा इसलिए पहले भगवानका सामर्थ्य और अपना ज्ञान कहती है, देवकीको श्रीकृष्ण और रामके स्वरूपमें कौनसा अन्तर है, यह ज्ञान नहीं है, अतः बड़ेके क्रमानुसार स्तुति करती है. हे राम! हे राम! यों दो बार आदरार्थ कहा है. हे राम आप सर्व समर्थ हैं तो भी इस तत्त्वको लोक नहीं जानते हैं इसलिए आपकी शरण न लेकर अन्य साधन करनेमें प्रयत्न करते हैं, कोई भी सुज्ञ चिन्तामणि प्राप्तकर फिर दूसरे साधनका अंगीकार नहीं करता है. भगवानका वैसा ज्ञान नहीं होता है जिसका कारण भगवानके धर्मका स्वरूप ही है, जैसे परमाणुके स्वरूपका धर्म है प्रत्यक्ष न होना, इसी प्रकार भगवानका स्वरूप और सामर्थ्य भी ऐसी है जिसका ज्ञान स्वतः हो नहीं सकता है जब तककी कृपाकर आप न जनावे, निकट स्थित श्रीकृष्णको सावधान जानकर एकबार ही हे कृष्ण! सम्बोधन किया है, योगेश्वरेश्वर विशेषण

देकर सर्व प्रकारकी साधन सम्पत्ति श्रीकृष्णशरण ही है यह जताया है, इस प्रकार दोनोंका माहात्म्य कहकर अध्यारोप और अपवादके निराकरण करनेकेलिए कहती है कि मुझे आपका वास्तविक ज्ञान है, 'वेदाहं वां विश्वसृजं' आप दोनोंको मैं जानती हूं आप कैसे हैं? उसको बताती है कि ब्रह्मादिके भी नियन्ता है, कालको हटा सकते हो क्योंकि पुरुषोत्तम भी आप हैं यह भी मैं जानती हूं।।२९।।

वैसे स्वरूपोंका पृथ्वी पर प्राकट्य कैसे हो? यह शंका मिटानेकेलिए ''काल विध्वस्तसत्त्वानां'' श्लोक कहती है.

कालविध्वस्तसत्त्वानां राज्ञामुच्छास्त्रवर्तिनाम्।
भूमेर्भारायमाणानाम् अवतीर्णो किलाद्य मे ।।३०।।

कालके प्रभावसे जिनका सतोगुण नष्ट हो गया है, वैसे राजा लोग शास्त्र विरुद्ध आचरण करनेसे पृथ्वी पर भाररूप हो गए हैं, उनके नाशार्थ अब मुझसे प्रकट हुए हो।।३०।।

पृथ्वी पर भाररूप राजाओंके नाशार्थ भगवान् प्रकट हुए हैं यह अर्थ है, राजा तो सात्त्विक होते हैं वे भाररूप कैसे? इस पर कहते हैं कि, काल कदाचित् सत्पदार्थोंको दूर कर देता है, कभी असत् पदार्थोंको जैसे पुरुष, श्रेष्ठ पुरुष अथवा नीच पुरुष आता है उसको देखकर तदनुकूल आचरण करता है, वैसे ही कालने भी सबके सत्वगुण और विवेक आदिका हरण कर लिया है, इसलिए ही शास्त्र विरुद्ध आचरण करने लगे हैं, राजापनसे सामर्थ्य है किन्तु सतोगुणके अभावसे वह सामर्थ्य दुःखदाई बन गई है, जिससे वे राजा पृथ्वी पर भाररूप हो गए हैं, मशकों (मच्छरों)को धूम्रसे नाश किया जाता है वैसे ही उनके नाशार्थं भगवान् प्रकट हुए हैं यह निश्चय है, वह प्राकट्य भी मुझसे हुआ है।।३०।।

आपका कहना ठीक है तो हम पृथ्वीके भारके उतारनेके वास्ते ही अवतरे हैं न कि अन्य कार्यकेलिए, उसमें ही मेरी सामर्थ्य है, यदि यों कहो तो इसका उत्तर 'यस्यांशांशांशभागेन' श्लोकमें देती हूं.

यस्यांशांशांशभागेन विश्वोत्पत्तिलयोदयाः।
भवन्ति किल विश्वात्मंस्तं त्वाद्याहं गतिं गता ।।३१।।

हे विश्वात्मा! जिस आपके अंशरूप अक्षरकी अंशरूप प्रकृतिके गुण, उनके विभागसे विश्वकी उत्पत्ति आदि होते हैं, उन आपकी शरणमें आई हूं ।।३१।।

जिस पुरुषोत्तमका अंश अक्षर है, उस अक्षरकी अंश प्रकृति है, उस(प्रकृति)के अंश सत्वादि गुण हैं, उनके विभागसे विश्वकी उत्पत्ति, लय और पालन होता है. 'किल' यह वास्तव रीतिसे प्रसिद्ध ही है, यों कहकर भगवानकी सामर्थ्य प्रकट की है, साधनकी आवश्यकतार्थ 'विश्वात्मन्' विशेषणसे अपने कार्यकी आवश्यकता बताई है, वह कार्य आपसे ही पूर्ण होगा, वैसे आप हैं, अतः अपने कार्यकी सिद्धिकेलिए मैं आपकी शरण आई हूं।।३१।।

मैं जैसा कार्य करवाना चाहती हूं वैसा कार्य आपने प्रथम किया ही है 'चिरात्' दो श्लोकोंसे वह कार्य कहती है.

चिरान्मृतसुतादाने गुरुणा किल नोदितौ।
आनिन्यथुः पितृस्थानाद्गुरवे गुरुदक्षिणाम्।।३२।।

बहुत समयसे मरे हुए गुरुपुत्रको लानेकेलिए गुरुकी आज्ञा पाकर यमराजके लोकमें जाकर वहांसे पुत्र लाकर गुरुजीको गुरु दक्षिणा दी।।३२।।

जैसे गुरुका वाक्य पालन करना चाहिए वैसे ही मेरा(माताका) वचन भी पालना उचित है, जैसे गुरुका पुत्र वंशहीन होकर गया था वैसा मेरे भी. जैसे गुरुको दक्षिणा अवश्य देनी चाहिए, वैसे मेरी कामना भी अवश्य पूर्ण करनी चाहिए. इसलिए दृष्टान्त दिया है कि गुरुजीने बहुत समयसे मरा हुआ पुत्र लाकर गुरु दक्षिणामें मांगा था, 'किल' शब्द यहां प्रमाणवाचक है, तब आप पितृलोकमें गए, जहां जीवित पुरुषोंका जाना आना नहीं हो सकता है. ऐसे स्थानसे भी गुरुकेलिए धर्म पालन करनेकेलिए दोनोंने गुरु दक्षिणा लाकर दी है।।३२।।

तथा मे कुरुतं कामं युवां योगेश्वरेश्वरौ।
भोजराजहतान् पुत्रान् कामये द्रष्टुम् आगतान्।।३३।।

जैसे गुरुजीको दक्षिणामें पुत्र लाकर दिया, वैसे ही मेरी कामना भी पूर्ण करो, मैं कंससे मारे गए पुत्रोंको देखना चाहती हूं।।३३।।

वैसी मेरी भी कामना पूर्ण करो, मेरे पुत्र अपमृत्युसे मरे हैं अतः बहुत करके वहां ही गए हुए हैं. भगवानकी सामर्थ्य बताती है कि आप दोनों योगेश्वरोंके भी ईश्वर हैं, जब केवल योग ही कामना पूर्ण कर सकता है तो उसके ईश्वरकेलिए कहना ही क्या? भगवान् तो उससे भी आगे अर्थात् बड़े हैं, योग तो कदाचित् यों भी कह दे, कि मेरा प्रवर्तक मुझे आज्ञा नहीं देता है, अतः कहा कि आप भगवान्, योग ही नहीं है, किन्तु योगेश्वर हो. इस पर यदि कहो कि योग

प्रवर्तक अथवा योगेश्वर होने पर भी मेरा अन्तर्यामी मुझे पुत्रोंके लानेकी प्रेरणा नहीं करता है, इन सब हेतुओंको निरास करनेकेलिए ही 'योगेश्वरेश्वरः' इतना समग्र विशेषण दिया है, अब अपनी कामना स्पष्ट कहती है कि मैं, कंससे जो मारे गए उन पुत्रोंको, उसी अवस्थामें यहां देखना चाहती हूं जिस अवस्थामें वे मेरे पास थे।।३३।।

'एवं संचोदितौ' श्लोकमें भगवान् कार्य कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

एवं सञ्चोदितौ मात्रा रामः कृष्णश्च भारत।
सुतलं संविविशतुर्योगमायामुपाश्रितौ ।।३४।।

श्रीशुकदेवजीने कहा कि हे भारत! इस प्रकार माताकी प्रेरणा होने पर राम और श्रीकृष्ण योगमायाको साथ ले, निर्विघ्न सुतलमें जाकर प्रकटे।।३४।।

गुरुके पुत्रकेलिए जब पधारे तब भी ढूंढनेकी आवश्यकता नहीं थी, वैसे ही अब भी क्योंकि आप जानते हैं कि वे कहां हैं! इसलिए सुतलमें ही जाकर प्रकट हुए, सुतलमें जानेका प्रकार कहते हैं कि 'योगमायामुपाश्रितौ' योगमायाको साथमें लिया, अठ्ठावीश तत्त्वोंके नीचे योगमाया है, उसमें प्रविष्ट हुए अर्थात् अपने गृह देशके[१] मध्यमें प्रविष्ट हुए. मध्यमें कोई प्रतिबन्धक न होनेसे सुतलमें जाकर प्रकटे।।३४।।

१.भगवान् बलिके द्वारपाल बनकर वहां रहते हैं अतः वह अपना घर है.

कदाचित् दैत्य(बलि) आज्ञाका पालन न करे, इस शंकाको मिटानेकेलिए चार श्लोकोंमें बलिकी की हुई पूजाका वर्णन करते हैं.

तस्मिन् प्रविष्टावुपलभ्य दैत्यराड्विश्वात्मदैवं सुतरां तथात्मनः।
तद्दर्शनाह्लादपरिप्लुताशयः सद्यः समुत्थाय ननाम सान्वयः ।।३५।।

जगतके आत्मा और दैव तथा अपने भी अत्यन्त इष्ट देव आत्मा एवं दैव; ऐसे दोनों भ्राताओंको सुतलमें प्रविष्ट पाकर उनके दर्शनसे बलि राजाका अन्तःकरण आनन्दसे भर गया, जिससे शीघ्र ही उठकर अपने परिवार सहित इनको प्रणाम किया।।३५।।

जिस सुतलमें बलि राजा भगवानकी आज्ञासे राज्य करते थे उस सुतलमें भगवानके प्रविष्ट होते ही दैत्योंके स्वामीने शीघ्र समाचार पहुंचानेवाले अपने सेवकोंसे जान लिया कि प्रभु पधारे है अतः सपरिवार आकर प्रणाम करने लगा,

इस प्रकार अन्वय(वाक्योंका सम्बन्ध) है, भगवानने बलिको पहले बान्धा था, इससे कदाचित् द्वेष अथवा भयसे सम्मुख सत्कारार्थ न आवे? इस शंकाके होने पर कहते हैं कि 'विश्वात्मदैवं' भगवान् विश्वकी आत्मा और देव हैं, इसलिए जो अपनी आत्मा है उससे भय नहीं होता है, और जो दैव है वह पूजाके योग्य है जिससे उसके साथ द्वेष नहीं किया जाता है, जहां भगवान् जगतको ही ऐसे हैं अर्थात् साधारणको भी डराते नहीं और न द्वेष करते हैं अथवा साधारण भी भगवानसे स्वयं न डरते हैं और न उनसे द्वेष करते हैं क्योंकि वे साधारणकी भी आत्मा और दैव है, जब यों है तो महान्(दैत्योंके स्वामी) और अपनेसे कैसे वैसे होंगे, यों तात्पर्य है, और भगवान् तो विश्वमें किसीका भी अपकार नहीं करते हैं, यों नहीं कहना चाहिए, क्योंकि सबकी उत्पत्ति और प्रलय वे ही करते हैं. वैसा ज्ञान सबको नहीं है यदि यों कहो तो ज्ञान, गुण हो गया. इसलिए जिनको ज्ञान है उनको तो अधिक ही उनकी पूजा करनी चाहिए, अतः कहा है कि 'सुतरां तथात्मनः' बहुत ही वे अपने हैं प्रथम संसारकी व्यावृत्तिसे बलि दुःखी रहता था, अब स्वर्गसे अधिक सुन्दर सुतलमें भगवत्कृपासे उनकी भावनासे सुखपूर्वक रहता है, इस प्रकारकी स्मृति हो आनेसे उत्पन्न भक्तिसे अन्तःकरण भर गया और उनके दर्शनसे उत्पन्न आनन्दकी अधिकतासे हृदय परिपूर्ण हो गया इस कारणसे आलस्यादि धर्म लोप हो गए जिससे शीघ्र उठकर नमस्कार करने लगा. उसके पुत्र बाणका भगवानने बाहु छेद किया इस कारण कदाचित् नमन पूर्णरीतिसे न करे इस शंकाको मिटानेकेलिए कहा है कि 'सान्वयः' समग्र परिवार सहित आकर प्रणाम किया न कि केवल बलिने ही।।३५।।

पश्चात् 'तयोः समानीय' श्लोकसे बलि कृत पूजा (३५वें श्लोकमें मानसी कही है, ३६वें-३७वेंसे कायिकी और ३८वेंसे वाणीकी यों इन श्लोकोंके अनुसार पूजा कही है) कहते हैं.

तयोः समानीय वरासनं मुदा निविष्टयोस्तत्र महात्मनोस्तयोः।
दधार पादाववनिज्य तज्जलं सवृन्द आब्रह्म पुनद्यदम्बु ह।।३६।।

उन दोनोंकेलिए सुंदर आसन प्रेमसे ले आए. वे दोनों जब विराजमान हो गए, अनन्तर उनके पाद प्रक्षालन किये, वह जल ब्रह्मा तकको पवित्र करनेवाला था, अतः बलि राजाने तथा उसके परिवारने अपने-अपने सिर पर चढाया।।३६।।

'मुदा' इस पदका दोनोंसे सम्बन्ध है, अर्थात् इन दोनोंके पधारने पर बलि

निर्भय हो प्रसन्नतासे आसन ले आया और भगवानने भी आसन ले लिए उन पर बिराजमान हो गए जिससे अपनी निर्भयता और प्रसन्नता प्रकट की, जिसको बन्धनमें डाला उसके गृहमें प्रविष्ट हो और निःशंक हो आसन पर बिराजकर अपना माहात्म्यपन तथा प्रेम व आनन्द प्रकट किया, अन्यथा प्रमुद्ध बद्धके गृहमें आने पर शंकाशील होने चाहिए, वैसे न हुए, तब बलिने पाद प्रक्षालन किया, वह चरणजल कुटुम्ब सहित शिर पर धारण किया, उस जलका माहात्म्य कहते हैं कि जो जल गंगारूप है ब्रह्मलोकसे लेकर पाताललोक तक पवित्र करनेवाला है 'ह' पद आश्चर्य अर्थमें दिया है कारण कि पाद प्रक्षालनका शेष जल तो हलका अर्थात् घटिया होता है वह अन्यको पवित्र करनेवाला कैसे हुआ? यह आश्चर्य है इसको प्रदर्शित करनेकेलिए 'ह' पद दिया है।।३६।।

समर्हयामास स तौ विभूतिभिः महार्हवस्त्राभरणानुलेपनैः।
स्रग्धूपदीपामृतभक्षणादिभिः स्वगोत्रवित्तात्मसमर्पणेन च ।।३७।।

बलिने उनकी उत्तम वस्त्र, आभूषण, लेपन ताम्बूल, दीप और अमृतसम भोजन आदि अनेक वैभवसे पूजा की और अपना तन, धन और कुटुम्ब सब अर्पण किया।।३७।।

अनन्तर पुष्पादिसे पूजन किया, बहुत कीमतवाले वस्त्र, आभूषण, केसर, कस्तूरी, चन्दन और अगरु मिश्रित चन्दन एवं धूप-दीप आदिसे पूजन किया, अमृतमय भोजन कराया. 'आदि' शब्दसे ताम्बूल आदि मुखवास भी दिए, ऐसे साधारण धर्मसे भगवान् प्रसन्न नहीं होते हैं, इसलिए अपना कुटुम्ब, धन और देह भी अर्पण की, इन तीनोंसे सर्व सम्पत्ति आ गई समझनी चाहिए।।३७।।

यह दैत्य भगवद्भक्त कैसे हुआ? इसका उत्तर 'स इन्द्रसेनो' श्लोकमें देते हैं.

स इन्द्रसेनो भगवत्पदाम्बुजं बिभ्रन्मुहुः प्रेमविभिन्नया धिया।
उवाच आनन्दकलाकुलेक्षणः प्रहृष्टरोमा नृप गद्गदाक्षरः ।।३८।।

हे नृप! प्रेमसे द्रवीभूत बुद्धिवाला वह बलि बार-बार भगवानके चरणकमलको अन्तःकरणमें धारण करता हुआ, आनन्दके आंसुओंसे व्याकुल नेत्र हो तथा पुलकित गात्र हो गद्-गद् कण्ठसे कहने लगा।।३८।।

बलिको इन्द्रसेन कहा है. जिसका भावार्थ समझाते हैं कि इन्द्र उत्तम सत्त्वके अंशवाला है, इसलिए इसकी इन्द्रियां आदि अत्यन्त भगवत्परायण हैं, उसी तरह बलिकी भी इन्द्रियां आदि भगवानके परायण हैं, बाहरकी सेवा भी

भगवत्परायण है, यों समझना चाहिए, जिससे महत्त्वका भी सूचन होता है, वैसा इन्द्रसेन है तो भी भगवानके चरण कमलको दो हस्तोंसे धारण करते हुए, फिर बार-बार प्रेमसे विह्वल बुद्धिसे कहने लगा, वाणीकी अन्य इन्द्रियां सहायक हुई, जैसा कि आनन्दके अंश (आंसूओं)से व्याकुल नेत्र हो गए, रोम(रुवांटे) खड़े हो गए, मुखसे गद्-गद् हो अक्षर निकलने लगे, इसी तरह इन्द्रियोंकी, देहकी और वाणीकी व्याकुलता निरूपण की है।।३८।।

इसी भांति परम भक्तिसे युक्त बलि राजा, भगवान् और भगवद्गुणोंके प्रतिपादन करनेवाले सात श्लोकोंसे स्तुति कर 'नमोऽनन्ताय'से लेकर आठ श्लोकोंसे प्रार्थना करता है, पहले भगवानके ऐश्वर्यकी स्मृतिसे 'नमोऽनन्ताय' श्लोक द्वारा प्रणाम करता है.

बलिरुवाच

नमोऽनन्ताय बृहते नमः कृष्णाय वेधसे।
साङ्ख्ययोगवितानाय ब्रह्मणे परमात्मने ।।३९।।

बलि कहने लगा कि फणके एकदेशमें विश्वको धारण करनेवाले महान् अनन्त(शेष)रूप आपको मैं नमस्कार करता हूं. जगतके विधाता, साङ्ख्य योग विस्तारक परमात्मा कृष्ण स्वरूप परब्रह्म आपको मैं प्रणाम करता हूं।।३९।।

ईश्वर, वह ही है, जिसको कोई भी अपनी सीमामें न ला सकता है, यह तो देश और कालसे परिच्छिन्न(सीमित) नहीं है और विशेष, वह ही समर्थ है, जो महान होता है, इसलिए 'बृहते' कहा है अथवा यह नमस्कार बलभद्र स्वरूपको की है, यह अनन्त है अर्थात् शेष इस रूपसे प्रकटे हैं, वह ही बृहत् अर्थात् ब्रह्म है, वह ही ईश्वर है जो नित्य आनन्द स्वरूप है वह श्रीकृष्ण है, और जो जगत्कर्ता होता है वह ही ईश्वर है, इसलिए 'वेधसे' कहा है. जगत्कर्ता मुख्य ब्रह्म, इसलिए यह भगवानका विशेषण है, ब्रह्मका अन्य लक्षण शास्त्रयोनित्व है, विशेष सिद्धान्त प्रतिपादकत्वसे स्पष्ट माहात्म्य कहते हैं कि, सांख्य और योग शास्त्रोंके विस्तारकेलिए अर्थात् इनका विस्तार करनेवाले होनेसे आप ही ब्रह्म हैं, इस विषयमें हेतु प्रकार कहते हुए अन्य सिद्धान्तोंका कर्तृत्व भी कहते हैं, ब्रह्मणे, परमात्मने, ब्रह्म होनेसे वेद और उसके अर्थरूप आप हैं, परमात्मा होनेसे वैष्णव और शैव सिद्धान्तके प्रवर्तक तथा उनके अर्थके प्रतिपादक भी आप ही हैं, सांख्य ज्ञान प्रधान होनेसे ब्रह्म 'पर' हैं, योगी तो परमात्माके ध्यान परायण है, इसलिए

उसका वितान कर्तृत्व सिद्ध होता है, इससे शास्त्र दृष्टिसे, ज्ञान और ध्यानसे भगवानका ज्ञान होता है।।३९।।

भगवान्का साक्षात् दर्शन तो किसीको नहीं होता है वह मुझे हुआ है, यों दर्शन केवल भगवानके ऐश्वर्य प्रताप बलसे ही कृपासे होता है, इसलिए भगवानके ऐश्वर्यका समर्थन 'दर्शनं वां' श्लोकमें करता है.

दर्शनं वां हि भूतानां दुःप्रापं चापि दुर्लभम्।
रजस्तमःस्वभावानां यन्नः प्राप्तौ यदृच्छया।।४०।।

आपके दर्शन प्राणियोंको दुर्लभ हैं, किन्तु जिन पर आप कृपा करते हो, उनको स्वतः हो जाते हैं जैसा कि रज और तम स्वभाववाले हमको आप दोनोंके अकस्मात् दर्शन हुए हैं।।४०।।

जो लोग प्रवाहमें उत्पन्न होते हैं, उनको भगवानका साक्षात् दर्शन उत्पत्तिके विरोध होनेसे दुर्लभ है, आप दोनों ब्रह्म और परब्रह्म स्वरूपके दर्शन दुःखसे की हुई अपनी कठिन क्रियासे भी जो कठिनाईसे मिलते हैं, देव आदिके वरोंसे भी जो नहीं मिलता है अतः दुर्लभ है, 'च' पदसे यह सूचित किया है कि सर्व प्रकारके साधन करने पर भी नहीं मिल सकते हैं, यों निरूपण किया है. ऐसे दुर्लभ एवं दुःप्राप्य होनेमें क्या हेतु है? वह कहते हैं कि प्राणि रज और तम स्वभाववाले हैं, राजसोंको दुःप्राप्य है, तामसोंको दुर्लभ हैं. 'च' पदसे यह सूचित किया है कि किन्हीं राजसोंको भी दुर्लभ है, ऐसे दुःप्राप्य और दुर्लभ होते हुए भी आपने जो रज-तम स्वभाववाले हमको अकस्मात् दर्शन दिए हैं, उसमें कारण आपकी कृपा युक्त इच्छा ही है।।४०।।

राजस-तामसोंको दर्शन दुर्लभ कैसे हैं? जिसमें हेतु 'दैत्यदानवगन्धर्वाः' आदि दो श्लोकोंसे देता हैं.

दैत्यदानवगन्धर्वाः सिद्धविद्याध्रचारणाः।
यक्षरक्षःपिशाचाश्च भूतप्रमथनायकाः।।४१।।

दैत्य, दानव, गन्धर्व, सिद्ध, विद्याधर, चारण, यक्ष, राक्षस, पिशाच, भूत, प्रमथ और उनके नायक।।४१।।

दैत्य, दानव और गन्धर्व इनमें राजसगुणका न्यूनाधिक्य है; सिद्ध, विद्याधर तथा चारण ये राजस-तामस गुणवाले हैं और यक्ष, राक्षस तथा पिशाच तामस है; भूत, प्रमथ और इनके नायक तामस-तामस है; प्रमथ महादेवके गण

हैं; 'नायक' भूत तथा प्रमथ दोनोंके नायक हैं।।४१।।

इसी प्रकार सबकी गणना कर उनका स्वरूप 'विशुद्ध सत्त्वधाम्नि' श्लोकमें कहता है.

विशुद्धसत्त्वधाम्न्यद्धा त्वयि शास्त्रशरीरिणि।
नित्यं निबद्धवैरास्ते वयं चान्ये च तादृशाः ।।४२।।

वे हम और अन्य विशुद्ध सत्त्वके धाम स्वरूप और शास्त्रसे प्राप्य शरीरवाले आपसे सदैव वैर करते हैं।।४२।।

भगवान् सबकी आत्मा हैं तो भी उपाधि गुणके कारण ही विरोध है और विशेषमें भगवानने वेदादि शास्त्र बनाए हैं, वे लोक प्रधान हैं, अतः दोनोंका विरोध है, वह उचित नहीं है. इसलिए कहा है कि 'शास्त्र शरीरिणि' अर्थात् केवल शास्त्रसे ही जिसके शरीरकी प्राप्ति हो सकती है, इस कारणसे ही पहले कहे हुए और हम लोगोंका नित्य वैर रहता है, यद्यपि हमारा इन्द्रियवर्ग सात्त्विक है, तो भी देह राजस ही है, इसलिए पृथक् गिनाता है और अन्य वैसे ही ब्राह्मण, 'च' पदसे उनके सम्बन्धी भी समझने चाहिए।।४२।।

यदि यों है अर्थात् द्वेषी है तो नरकमें पात होगा, 'आसुरी योनिमापन्नाः' इस वाक्यानुसार सदैव नरकमें ही पड़े रहेंगे, यों है तो भगवान् सबकी आत्मा कैसे? जिसके उत्तरमें मुख्य सिद्धान्त 'केचन' श्लोकसे कहता है.

केचनोद्धद्धवैरेण भक्त्या केचन कामतः।
न तथा सत्त्वसंरब्धाः सन्निकृष्टाः सुरादयः ।।४३।।

जिस तरह कितने एक तो वैरसे, कितने एक भक्तिसे और कितने एक कामनासे आपके स्वरूपको प्राप्त हुए, उसी तरह सत्त्व गुणवाले देवता आपके स्वरूपको प्राप्त नहीं होते हैं।।४३।।

लौकिक मनुष्य तामस, सात्विक और राजस यों तीनों प्रकारके होते हैं. जिसमें तामस घोर(जबर्दस्त) वैरकर, सात्विक भक्तिसे और राजस कामसे आपको पाते हैं वा जानते हैं तथा सत्त्वके कारण, व्याकुल वैदिक सात्विक पुरुष अहंकार सहित सतोगुणसे कर्मोंमें आसक्त चित्तवाले देव आदि भी आपको नहीं पा सकते हैं।।४३।।

'इदमित्थमिति' श्लोकसे कहते हैं.

इदम् इत्थम् इति प्रायस्तव योगेश्वरेश्वर।

न विदन्त्यपि योगेशा योगमायां कुतो वयम् ।।४४।।

हे योगेश्वरोंके ईश्वर! आपकी योगमाया यह है और इस प्रकारकी है, वैसे प्रायः योगेश भी नहीं जान सकते हैं, तो हम कैसे जान सकें।।४४।।

हे योगेश्वरोंके ईश्वर! बहुत करके आपकी योगमायाको वे योगेश नहीं जान सकते हैं तो हम जो न लौकिक और वैदिक रहे हैं, वेदादि शास्त्रोंमें निषिद्ध किए हुए कर्मोंसे आसक्त होनेसे अधःपातको प्राप्त हुए हैं वे कैसे जान सकेंगे, 'योगेश्वरेश्वर' विशेषणसे भोगमें प्रविष्ट देव भले न जान सके किन्तु योगेश तो जान सकेंगे, उनका भी निषेध करते हैं 'योगेशामपि न जानन्ति' योगेश भी नहीं जान सकते हैं।।४४।।

इस प्रकार भगवानका माहात्म्य और अपने अधिकारका निरूपणकर, अनाधिकारी, भगवदाज्ञाके बिना पूर्ण योग कर नहीं सकता है, इसलिए 'तन्नः प्रसीद' श्लोकमें भगवदाज्ञाकेलिए प्रार्थना करता है.

तन्नः प्रसीद निरपेक्षविमृग्ययुष्मत् पादारविन्दधिषणान्यगृहान्धकूपात् ।
निष्क्रम्य विश्वशरणाङ्घ्रयुपलब्धवृत्तिः शान्तो यथैक उत सर्वसखश्चरामि।।४५

इसलिए इस पर ऐसी कृपा करो कि जिस कृपा बलसे निष्काम पुरुषोंके ढूंढने योग्य आपके चरणारविन्दका आश्रय जिस गृहमें नहीं है, वैसे गृहरूप अन्धकूपमेंसे बाहर निकल, विश्वका शरण (भगवान् विश्वरक्षक) है, आश्रय जिनका ऐसे सन्तपुरुषोंसे मैं आजीविका प्राप्त करुं, जिससे शांत चित्त हो एकाकी भ्रमण करते हुए सबका हितकारी बन जाउं।।४५।।

इस प्रकार परित्यागकी प्रार्थना क्यों करता है? इस पर कहता है कि जिसको निष्काम ही ढूंढते हैं वैसे आपके चरणारविन्दरहित जो गृह हैं वे अन्धकूपके समान हैं, क्योंकि वहां चरणारविन्द स्मृतिका प्रकाश नहीं है. कारणकि उस अप्रकाशित गृहमें जैसे गृह स्थित शुद्रको वेद पढना निषिद्ध है वैसे ही इस अन्धकूप सम गृहमें भगवानका ढूंढना निषिद्ध है. हमारा गृह दैत्याक्रान्त होनेसे वैसा ही अन्धकूप है. जिससे निकलना ही हितकर है, उससे निकल कर आपको ढूंढके प्राप्त कर सकूंगा, भोजनका प्रबन्ध न होनेसे चरणोंको कैसे प्राप्त कर सकोगे? जिसके उत्तरमें कहता है कि, भगवानके आश्रित भक्त पुरुषोंके आश्रयसे आजीविकाका स्वतः प्रबन्ध होता रहेगा ''ता ये पिबन्त्यवितृषो नृप गाढ कर्णैः''[१] इस प्रकारसे अपनी तृप्ति कर लेनेसे दुःख दूर होते हैं, अन्तःकरणके दोष

नष्ट हो शान्ति प्राप्त होती है जिससे भीतर और बाहरके सर्व दोष नष्ट हो जाते हैं पश्चात् जैसे एकाकी परमहंस निश्चिन्त घूमते हैं वैसे फिरूंगा तो सर्व सरवा होजाऊंगा, यह सब गृहत्यागके सिवाय नहीं हो सकता है, इसलिए गृहमें उद्विग्न होनेके कारण भगवानको प्रार्थना करते हैं।।४५।।

१.हे नृप! तृष्णाको न छिपाकर गाढ कर्ण द्वारा वांगमृत पान करते हैं.

उपर्युक्त प्रार्थना अन्य कालकेलिए है, अब क्या करना चाहिए इसको जाननेकेलिए 'शाध्यस्मानी' श्लोकसे प्रार्थना करता है.

शाध्यस्मान् ईशितव्येश! निष्पापान् कुरु नः प्रभो।
पुमान् यच्छ्रद्धयातिष्ठन् चोदनाया विमुच्यते।।४६।।

हे प्रभु! आज्ञाके योग्योंके(जीवोंके) स्वामी! हमको निष्पाप करो; क्योंकि आपकी आज्ञानुसार श्रद्धापूर्वक चलनेवाला विधि बंधनसे छूट जाता है।।४६।।

ज्यों शास्त्रमें आज्ञा है, त्योंही करना चाहिए हम अभ्यागत क्या आज्ञा करें? यदि यों कहते हो तो, इनका उत्तर यह है कि, आज्ञा पाने योग्य ही हम सब जीव हैं, उनके आप ही स्वामी हैं अतः आपको आज्ञा करनी चाहिए. हम आज्ञा पानेके ही योग्य हैं, इस तरह विशेष प्रकारसे आज्ञा क्यों मांगी जाती है? इस पर कहा है कि (जिसका कारण कहा जाता है) जो मनुष्य आपकी आज्ञानुसार श्रद्धापूर्वक आचरण करता है वह शास्त्रकी विधिके बन्धनसे मुक्त हो जाता है।।४६।।

पहली प्रार्थना(त्यागकी आज्ञा)का मानो भगवान् अंगीकार न कर, अन्यका उत्तर देनेकेलिए, प्रसंग 'आसन् मरीचेः' श्लोकसे कहते हैं.

श्रीभगवानुवाच

आसन् मरीचेः षट् पुत्रा ऊर्णायां प्रथमेऽन्तरे।
देवाः कं जहसुर्वीक्ष्य सुतां यभितुम् उद्यतम्।।४७।।

श्रीभगवानने कहा कि पहले कल्पमें मरीचिको ऊर्णा स्त्रीसे छः पुत्र हुए थे, वे देव पुत्रीसे भोगकेलिए उद्यत ब्रह्माको देखकर हंसे थे।।४७।।

मरीचिको जैसे इस कल्पमें कला नाम पत्नी है, वैसे आगे हुए ब्रह्मकल्पमें ऊर्णा नाम पत्नी थी. जिससे इन्द्रियोंके देववत् छ पुत्र प्रथम कल्पमें जो मन्वन्तर था, उसमें उत्पन्न हुए. ये जो यहां बैठे हैं वे ही थे, उनका अपराध क्या

था ? वह निरूपण करते हैं, वे देव ब्रह्माको देखकर हंसे ? क्यों हंसे ? जिसमें प्रमाण 'वाच दुहितरं तन्वीम्' देकर सिद्ध करते हैं कि अपनी वाणीरूप सरस्वती पुत्रीको देखकर उससे भोग करनेकेलिए ब्रह्मा उद्यत हुए थे।।४७।।

भगवानने कामरूपसे प्रेरणा की थी, अतः भगवत्सेवाकेलिए प्रवृत्त होनेसे ब्रह्मा निष्कपट शुद्ध ही है, किन्तु जो इस सिद्धान्तको नहीं समझते हैं, वे उस पर हंसते हैं, भक्त पर उपहास करनेवाले जैसे आसुरीयोनिको प्राप्त होते हैं वैसे ये भी हुए जिसका वर्णन 'तेनासुरी' श्लोकमें करते हैं.

तेनासुरीम् इमां योनिम् अधुनावद्यकर्मणा।
हिरण्यकशिपोर्जाता नीतास्ते योगमायया ।।४८।।
देवक्या उदरे जाता राजन् कंसविहिंसिताः।
सा तान् शोचत्यात्मजान् स्वांस्त इमेऽध्यासतेऽन्तिके ।।४९।।

इस अपराधसे वे आसुरी योनिको प्राप्त हुए, वहां भी निन्द्य कर्म करनेसे हिरण्यकशिपुके यहां जन्म लिया, वहांसे योगमायाने लाकर देवकीके गर्भमें स्थापित किये, जो कंसके हाथसे मारे गए, अभी देवकी अपने पुत्रोंका शोक कर रही है और वे आपके पास बैठे हैं।।४८-४९।।

उस अपराधसे वे छ ही आसुरी योनिको प्राप्त हुए, तो भी भगवानका अपराध शान्त न हुआ. उस आसुरयोनिमें भी वे निन्द्यकर्म करने लगे, उस निन्द्य कर्मोंके फल स्वरूप इनका जन्म भगवद्विमुख हिरण्यकशिपुके यहां किसीमेंसे हुआ, अनन्तर योगमायाने देवकीके उदरमें रहे हुए छ शत्रुओंको दूर करनेकेलिए उनको[१] लाकर देवकीके गर्भमें स्थापित किया क्योंकि दोषसे[२] ही दोष नष्ट होते हैं, हे राजन्! संबोधनसे यह बताया है कि इसका आपको अज्ञान है वह दोष नहीं है, क्योंकि आप राजस गुणवाले हैं. पश्चात् उनका कंसने वध किया, भगवान् 'त्रिसत्य' है, इसलिए इनको तीन बार दण्ड मिले तब ये निरपराध हुए हैं, इस समय हमारी माता इन निर्दोष अपने पुत्रोंका शोक कर रही है क्योंकि समझती है कि मेरे पुत्र हैं, वे हिरण्यकशिपुके वंशमें होनेसे तुम्हारे यहां ही बैठे हैं।।४८-४९।।

१.हिरण्यकशिपुसे उत्पन्नोंको. २.विषसे ही विष नाश किया जाता है.

इसी तरह उनका वृत्तान्त कहकर 'इत एतान् प्रणेष्यामो' श्लोकसे उनकेलिए जो कर्तव्य हैं वह कहते हैं.

इत एतान् प्रणेष्यामो मातृशोकापनुत्तये।

ततः शापविनिर्मुक्ता लोकं यास्यन्ति विज्वराः ।।५०।।

माताका शोक दूर करनेकेलिए हम इनको यहांसे ले जाएंगे, पश्चात् शापसे छूटकर दुःखरहित होकर ऋषि लोकको प्राप्त होंगे।।५०।।

इनको ले जानेका कारण माताके शोकको मिटाना है और साथमें प्रसंगसे इनका भी उद्धार करना है. इनके मिलनेसे माताका शोक नाश होगा जिससे इनका शाप भी उतर जायगा अर्थात् शापसे छूटकर शुद्ध हो जाएंगे, एवं इनके दुःख दूर हो जायेंगे पश्चात् शुद्ध एवं प्रसन्न हो ऋषि लोकमें जाएंगे।।५०।।

'स्मरोद्गीथः' श्लोकमें उनके नाम कहते हैं.

स्मरोद्गीथः परिष्वङ्गः पतङ्गः क्षुद्रभृद् घृणीः ।
षडिमे मत्प्रसादेन पुनर्यास्यन्ति सद्गतिम् ।।५१।।

स्मर, उद्गीथ, परिष्वंग, पतंग, क्षुद्रभृत और घृणी; ये छः मेरी कृपासे फिर सद्गतिको प्राप्त होंगे।।५१।।

स्मर और उद्गीथ दोनों एकीभावको प्राप्त हुए हैं, इनमें स्मर मनका देव है और उद्गीथ घ्राणेन्द्रियका देव है, परिष्वंग कानका देव है. पतंग नेत्रका देव है, क्षुद्रभृत जिह्वाका देव है, घृणी स्पर्शका देव है, जिसका हेतु यह है कि स्पर्शसे घृणी उत्पन्न होता है अथवा घृणी और पतंगका परस्पर विनिमय करना अर्थात् घृणी नेत्रका और पतंग स्पर्शका देव है, ये छः अपने कर्मोंसे नष्ट हुए भी मेरे अनुग्रहसे पुनः सद्गतिको पाएंगे।।५१।।

अनन्तर भगवान् बलिको हमको ये बालक दे, यों न कहकर स्वयं उनको ले आए और लाकर माताको दिए, बलिसे न कहा, जिसका कारण यह है कि बलि मेरा दृढ़ सेवक है इसको सिद्ध करना था, दृढ़ न होते तो लेते समय रोक लेते, न रोकनेसे दृढ़ सेवकत्व सिद्ध हो गया.

श्रीशुक उवाच

इत्युक्त्वा तान् समादाय इन्द्रसेनेन पूजितौ ।
पुनर्द्वारवतीमेत्य मातुः पुत्रानयच्छताम् ।।५२।।

यों कथा कहनेके अनन्तर दोनोंका इन्द्रसेनने पूजन किया, फिर उन बालकोंको बिना पूछे आप लेकर रवाने हुए, द्वारकामें आकर वे पुत्र माताको अर्पण किये।।५२।।

इन्द्रसेन होनेसे बलिने पूजा की, जिस मार्गसे गए उसी मार्गसे द्वारका

आकर माताके वे पुत्र माताको दिए।।५२।।

तान् दृष्ट्वा बालकान् देवी पुत्रस्नेहस्नुतस्तनी।
परिष्वज्याङ्कमारोप्य मूर्ध्न्यजिघ्रदभीक्ष्णशः ।।५३।।

उन बालकोंके देखते ही देवकीके पुत्र स्नेहसे स्तनोंसे दूध चूने लगा, तब उनसे मिल, गोदमें बिठाकर बार-बार मस्तकको सूंघने लगी।।५३।।

गुरुपुत्रके समान इनकी भी पहले जैसी स्थिति कराकर ले आए जिससे उन बालकोंको देख, पुत्र स्नेहके कारण देवी देवकीके स्तनोंसे दूध चूने(टपकने) लगा, पश्चात् पुत्रोंसे मिलकर उनको गोदमें बिठाया और बार-बार मस्तक सूंघने लगी, जिससे अत्यन्त स्नेह प्रकट किया और बार-बार सूंघनेसे विह्वलताको सूचित किया।।५३।।

अपापयत्स्तनं प्रीता सुतस्पर्शपरिस्रुतम्।
मोहिता मायया विष्णोर्यया सृष्टिः प्रवर्तते ।।५४।।

जिससे सृष्टि चलती है, उस विष्णुकी मायासे मोहित उस देवकीने प्रसन्न हो, पुत्र स्नेहसे चूते हुए स्तनोंसे उनको दूध पिलाया।।५४।।

पश्चात् स्तन पिलाया, बाल भावको दृढ करती हुई दुःख रहित हुई, केवल इससे दुःख नाश न हुआ किन्तु आनन्दकी भी प्राप्ति हुई सुतोंके स्पर्शसे सर्व अंगोंसे आनन्द प्रकट हो आया, जिसका पुत्र भगवान् है उसका दूसरोंमें वैसा प्रेम कैसे हुआ? जिसके उत्तरमें कहा है कि 'मोहिता मायया विष्णोः' विष्णुकी मायासे मोहित हो गई है, यदि मायासे मोह न होता हो तो सृष्टिका कार्य कैसे चले? कोई कहते हैं कि यह देवकी ही पहले ऊर्णा थी, इसलिए पूर्वकी रही हुई वासनासे उन बालकोंमें अधिक स्नेह हुआ।।५४।।

उन बालकोंको स्तन्यपानके अनन्तर विवेक आदि ज्ञान प्राप्त हुआ, जिससे वे अपने लोकको गए, यह 'पीत्वाऽमृतमयं' श्लोकसे स्पष्ट करते हैं.

पीत्वामृतमयं तस्याः पीतशेषं गदाभृतः।
नारायणाङ्गसंस्पर्शप्रतिलब्धात्मदर्शनाः ।।५५।।

भगवानने पानकर जो शेष छोड़ा, उस देवकीके स्तन्यका पानकर, वे बालक भगवानके अंग स्पर्श होनेसे आत्मदर्शनको प्राप्त हुए।।५५।।

देवकीके स्तनोंमें भगवानके पानार्थ अमृत धरा था, जिससे देवकीका स्तन्य अमृतमय हो गया था, वैसे अमृतमय स्तन्यको भगवानने पान किया,

अनन्तर जो शेष बचा, उसको उन बालकोंने पान किया, जब देवकीजी भगवानको स्तन्यपान करानेकेलिए याद करती, तब भगवान् पधारकर अमृतका पान कर लेते थे अथवा जब भगवान् प्रथम गोकुलसे मथुरा पधारे, तब उसका पान करने लगे थे. ये बालक अपने स्थानको प्राप्त करें, जिसकेलिए इनको ज्ञानकी आवश्यकता थी. उस ज्ञान प्राप्तिकेलिए तीन हेतु हैं, (१)भगवानका उच्छिष्ट पान करना, (२)अमृतपान और (३)नारायणके अंगका स्पर्श. यहां 'नारायण' पदसे धर्मावतार नारायणांश अनिरुद्धका चरित्र प्रकट करते हैं. उपर्युक्त इन तीन कारणोंसे वे बालक अपने स्वरूपको प्राप्त हो गए।।५५।।

अनन्तर ज्ञानशक्तिकी तरह उनमें क्रियाशक्तिका भी आविर्भाव हुआ, जिसका वर्णन 'ते नमस्कृत्य' श्लोकसे करते हैं.

ते नमस्कृत्य गोविन्दं देवकीं पितरं बलम्।
मिषतां सर्वभूतानां ययुर्धाम विहायसा ।।५६।।

वे गोविन्द श्रीकृष्णको, फिर पिता तथा माता देवकीको, बलदेवजीको नमस्कार कर सर्व प्राणियोंके देखते हुए शीघ्र अपने धामको गए।।५६।।

प्रथम स्वामीको पीछे माता-पिताको उसके बाद भगवानके साधनभूत बलभद्रको इस प्रकार चतुर्मूर्तिकी भांति भगवानको नमस्कर कर शीघ्र अपने धामको गए, यों जाना स्वतः हुआ।।५६।।

भगवान् देवकीजीकी कामना पूर्ण करनेकेलिए उनको लाए, वह कामना क्षणमात्र रहनेसे तो पूरी न हुई होगी? इसलिए ही उनका इतने शीघ्र जानेमें कौनसा हेतु था? इस पर 'तं दृष्ट्वा' श्लोक कहकर समझाते हैं.

तं दृष्ट्वा देवकी देवी मृतागमननिर्गमम्।
मेने सुविस्मिता मायां कृष्णस्य चरितं नृप ।।५७।।

हे नृप ! देवी देवकी मृत पुत्रोंका आना देखकर बहुत आश्चर्यमें मग्न हो समझने लगी कि यह सब कृष्णकी रचित माया है।।५७।।

उन मरे हुए पुत्रोंका आना पीछे फिर चला जाना देखकर अचंभेमें पड़ गई और इस सबको कृष्णकी लीला समझने लगी, इस प्रकारके ज्ञानकी सिद्धिकेलिए ही पुत्रोंको लाए थे, न कि पुत्रपनसे स्थापित करनेकेलिए. यदि यों न करते तो भगवानने जो कंसका वध किया वह व्यर्थ हो जाता, भगवच्चरित्रके ज्ञानसे ही कामनाकी पूर्ति होती है फिर देवकीको मोह उत्पन्न न हुआ क्योंकि देवी है, यों

होते हुए भी समझने लगी कि यह 'माया' है उससे पदार्थोंकी असत्यता भी जान गई. हे नृप! सम्बोधन इसलिए दिया है कि इनका आश्चर्यमें अभिनिविष्ट हो जाय।।५७।।

इस प्रकार दोनों(वसुदेवजीको ज्ञान और देवकीजीके पुत्र लाकर देना) चरित्र कहकर ऐश्वर्यमें ये ही दो हैं, यों कदाचित् शंका उत्पन्न होवे, उसकेलिए इस प्रकारके दूसरे भी बहुत चरित्र हैं वे 'एवं विधानि' श्लोकमें कहते हैं.

एवं विधान्यद्भुतानि कृष्णस्य परमात्मनः।
वीर्याण्यनन्तवीर्यस्य सन्त्यनन्तानि भारत।।५८।।

हे भारत! अनन्त वीर्यवाले परमात्मा श्रीकृष्णके इस प्रकारके अनन्त अद्भुत चरित्र हैं।।५८।।

अद्भुत विशेषण, भगवच्चरित्रका जतानेवाला है, जो-जो चरित्र अद्भुत हैं वे भगवानके ही चरित्र हैं, भगवच्चरित्रके विना अन्य चरित्रमें अद्भुतता होती ही नहीं है, भगवान् भी यों अपने चरित्रोंमें इतनी अद्भुतता क्यों करते हैं जिसके उत्तरमें कहते हैं कि भूमि पर प्रकट होनेसे करते हैं, जिनसे लोगोंको ज्ञान हो कि यह श्रीकृष्ण पूर्णब्रह्म है. दूसरा विशेषण परमात्मा देकर इस सिद्धान्तको दृढ स्पष्ट करते हैं कि सब आत्माओंकी मूल आत्मा यही है उसके संग्रहकेलिए यों अद्भुतता करते हैं. अतएव अनन्तवीर्य हैं, यों करनेमें सामर्थ्य है यों बतानेकेलिए 'अनन्तवीर्यस्य' विशेषण दिया है. जब अनन्तवीर्य है तो फिर सर्वसंग्रह कैसे? जिसका उत्तर देते हैं कि 'सन्ति' अर्थात् वे वीर्य सदैव हैं क्योंकि नित्य और सत्य ही हैं. भारत! यह सम्बोधन विश्वासकेलिए है।।५८।।

यों भगवच्चरित्र की नित्यता स्थापित करनेकेलिए उनके श्रवणादिका फल 'य इदमनुशृणोति' श्लोकमें सूतजी कहते हैं.

सूत उवाच

य इदम् अनुशृणोति श्रावयेद् वा मुरारेः चरितम् अमृतकीर्तेर्वर्णितं व्यासपुत्रैः।
जगदघभिदलं तद्भक्तसत्कर्णपूरं भगवति कृतचित्तो याति तत् क्षेमधाम।।५९।।

सूतजी कहते हैं कि जो मनुष्य अमृतकीर्ति मुरारी भगवानके व्यासपुत्रके वर्णित चरित्रोंको सुनता है अथवा सुनाता है, वह भगवानमें प्रवण चित्त हो, उनके कल्याणकारी धाममें जाता है, यह भगवच्चरित्र जगतके पापोंका नाश करनेवाले तथा भगवद्भक्तोंके कर्णोंका सत्य आभरणरूप है।।५९।।

जो भक्त गुरुके उच्चारणके अनन्तर यह चरित्र श्रद्धासे सुनता है वा सुनाता है, क्यों सुनता है और क्यों सुनाता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'मुरारेः' यह चरित्र मुरारिका है, मुर दैत्य विघ्नात्मक और दोषात्मक है जिसका भगवान् नाशकर्ता हैं अर्थात् इनके चरित्र सुनने सुनानेसे विघ्न और सब दोष नष्ट होते हैं. फिर यह चरित्र अमृतरूप कीर्तिवाले कृष्णके हैं, इसलिए श्रवणमें भी सुख उत्पन्न करनेवाले हैं विशेषता यह है कि ये चरित्र व्यासपुत्र शुकने अनन्तरूप होकर वर्णन किए है इसलिए व्यासपुत्रैः यो बहुवचन दिया है. अथवा सर्व व्यास शिष्योंको वा पुत्रोंको (शिष्य भी पुत्ररूप हैं) सबको भगवच्चरित्र सुनने चाहिए, इसलिए श्रवणके फल बहुत हैं यों वर्णन करते हैं. जगतमें जितने पाप हैं उन सबको यह श्रवण नाश करता है और सत्पुरुष भक्तजनोंकेलिए यह कर्णका उत्तम आभरण है जिससे यह बताया है कि सत्पुरुषोंको निरन्तर इनका सेवन करना चाहिए अतः जो इसको नित्य कर्णमें धारण करता है वही, सत्पुरुष है, दूसरा प्रयोजन भी बताते हैं कि, जो इस चरित्रको श्रवण करते व कराते हुए हृदयमें धारण करता है उसका चित्त भगवानमें स्थिर हो जाता है इस प्रकार लौकिक फल कहकर अलौकिक कहते हैं कि 'याति तत् क्षेमधाम' वह श्रोता–श्रावयिता भगवानके धाममें जाता है. 'क्षेम' पद धाम(स्वरूप)की स्तुतिकेलिए दिया है, इस प्रकार विघ्न निवृत्तिसे लेकर भगवानके स्वरूप प्राप्ति तक भगवानके वीर्य(पराक्रम) ऐश्वर्यके श्रवणके फल कहे हैं. ये भगवानके ऐश्वर्यको स्थापित करते हैं, अतः भगवान् श्रीकृष्ण सर्वेश्वर हैं यह सिद्ध हुआ।।५९।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशमस्कंधके ८२वे अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृतटीका)के गुणप्रकरणके
प्रथम अध्याय हिन्दी अनुवाद सहित सम्पूर्ण।

अध्याय ८३

सुभद्राहरण और राजा जनक व श्रुतदेवके घर एक ही साथ जाना

सप्तत्रिंशे हरेर्वीर्यं त्रेधा प्राह सुनिश्चितम्।
सर्वेषां सर्वकार्याणि कृतवान् इत्युदीर्यते।।का.१।।

कारिकार्थः इस ३७वें अध्यायमें भगवानके वीर्यगुणको तीन प्रकारसे कहते हैं. वह वीर्यगुण अच्छी तरह निश्चय किया हुआ है, जिस गुणसे ही सबके सर्व कार्य सिद्ध किये हैं, यों वर्णन करते हैं।।१।।

तदेव भगवद्वीर्यं यन्न शक्यं हि लौकिकैः।
नह्यन्यो भगिनीं दातुम् एवं शक्तो हरिं विना।।का.२।।

कारिकार्थः भगवानका वीर्यगुण जो कार्य कर सकता है, वह लौकिक पुरुषका वीर्य नहीं कर सकता है. भगवानके सिवाय कोई भी इस प्रकार अपनी भगिनीको नहीं दे सकता है।।२।।

नापि स्वयं यस्य कस्य गृहे स्थातुं विभूतये।
नापि धर्मं स्वहीनार्थम् अन्यः कथयितुं प्रभुः।।का.३।।

कारिकार्थः भगवानके सिवाय अन्य कोई भी साधारण व्यक्तिके घरमें रहनेकेलिए समर्थ नहीं है अर्थात् अपनेसे हीनके घरमें रह नहीं सकता है और अपनी हीनता द्योतक धर्म भी अपनी विभूति(ब्राह्मण)को[१] प्रभुके सिवाय कोई नहीं कह सकता है।।३।।

१.इस अध्यायके ५४वें श्लोकसे श्रुतदेव ब्राह्मणको ऐसे वाक्य कहे.

अनाहूतः स्वयं क्वापि गच्छतीत्यपि नो मतम्।
यथा ग्रन्थानुसारेण प्रसंगोऽत्र विचारितः।।का.४।।
क्रमपाठादिभेदेषु तथा व्याख्यानम् इष्यते।

कारिकार्थः बिना बुलाए आप कहीं पर भी पधारते हैं, यों भी मानना उचित नहीं है जिस प्रकार कि व्यासजीने विचार कर कहा है, वैसे ही ग्रन्थके अनुसार यहां प्रसंग कहा है. जहां क्रम और पाठ आदि भेद हो, वहां उसी तरहका व्याख्यान करना उचित है, जैसे वेदका व्याख्यान प्रथम क्रमानुसार ही हुआ है।।४।।

उदासीनो हरिर्व्यासः फलसिद्धेरशक्यतः।।का.५।।
ग्रन्थारम्भे तथैवास्मान् बोधयामास माधवः।

कारिकार्थः व्यासजी फलकी सिद्धि करनेमें असमर्थ होनेके कारण उदासीन[१] थे. ग्रन्थके आरंभमें माधवने इस प्रकारका ही बोध करवाया[२] है।।५।।

१. फलकी प्राप्ति भगवानके आधीन होनेसे उस विषयमें व्यासजी उदासीन थे, श्रुति तो केवल साधन और फल क्या है यह स्पष्ट करके बता देती है, किन्तु किसीकी प्रवृत्ति नहीं करा सकती है. इसी प्रकार व्यासजीने भी लीलाके स्वरूपका विचार कर कथा कही है. यदि उनको फलप्राप्ति करानेका आग्रह होता, तो जिस प्रकारकी लीला हुई, उस क्रमसे कहते हैं, यहां यह तात्पर्य है.

२. राजा परीक्षितके बिना पूछे श्रीशुकदेवजी, राजा जनक तथा श्रुतदेवका प्रसंग कहेंगे.

कारिकार्थ समाप्त.

आभासार्थः ३६वें अध्यायके अंतमें भगवानके वीर्योंका उपसंहार हो जानेसे परीक्षितको जिन विषयोंमें संदेह रह गया था उन सन्देहोंको, निवारणार्थ पूछता है, उस प्रसंगमें शुकदेवजी, जनक तथा श्रुतदेवका प्रसंग भी कहेंगे, जहां भगवद्वीर्यके व्यवहारमें निमल्यिता देखनेमें आवे, वह तथा वैदिक विरोध देखनेमें आवे वह और जहां भजनीय विरोध देखनेमें आवे वह भी पूछना चाहिए, इस क्रमसे तीन अध्यायमें पूछना उचित है, जैसा प्रसंग शुकके कहनेमें हेतु होगा वह वहां-वहां कहा जाएगा, कथापक्षमें तो यह संगति है, विचार करने पर तो पहले(इस अध्यायकी पांचवी कारिकामें) कहा गया है. क्षत्रिय बलपूर्वक विवाह करते हैं जिसमें 'गान्धर्वो राक्षसश्च' यह वाक्य प्रमाण है और भगवानको कोई जीत नहीं सकता है, इसमें अर्जुन बलसे विवाह करे, यह व्यवहारमें भगवानके वीर्य(पराक्रम)के विरुद्ध होनेसे परीक्षित 'ब्रह्मन् वेदितु' श्लोकसे सुभद्राके विवाहके विषयका प्रश्न करता है.

राजोवाच

ब्रह्मन् वेदितुम् इच्छामः स्वसारं रामकृष्णयोः।
यथोपयेमे विजयो या ममासीत् पितामही ।।१।।

श्लोकार्थः राजाने कहा कि हे ब्रह्मन्! राम और कृष्णकी बहिन जो मेरी दादी थी, उसका अर्जुनके साथ जैसे विवाह हुआ, वह जानना चाहता हूं।।१।।

व्याख्यार्थः अर्जुन बलसे, सुभद्राको विवाहार्थ हरण कर सके ऐसी वह न थी, क्योंकि अजेय राम और श्रीकृष्णकी बहन थी, अतः जैसे शस्त्रोक्त प्रकारसे विवाह हुआ वह कहिए 'विजय' शब्दसे कहा है कि दीनतासे विवाह नहीं किया

अर्थात् बलपूर्वक हरण किया है, जो मेरी दादी थी, वह ही वंशको बढानेवाली हुई, ऐसीका विवाह, अन्यथा शास्त्र विरुद्ध हो नहीं सकता है, यों भाव है।।१।।

आभासार्थ: क्षत्रिय, शास्त्रानुसार बलसे विवाह कर सकता है अतः अर्जुनने बलपूर्वक विवाह किया, वहां राम-कृष्ण सुभद्राके भ्राता अजेय हैं इन दोनोंमें विरोध न आवें इस प्रकार कथा कहते हैं, इसलिए 'अर्जुनस्तीर्थयात्रायां' श्लोकसे लेकर शुकदेवजी सुभद्राका अर्जुनके साथ जिस प्रकार विवाह हुआ वह कथा कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

अर्जुनस्तीर्थयात्रायां पर्यटन् अवनीं प्रभुः।
गतः प्रभासमशृणोन् मातुलेयीं स आत्मनः ।।२।।
दुर्योधनाय रामस्तां दास्यतीति न चापरे।
तल्लिप्सुः स यतिर्भूत्वा त्रिदण्डी द्वारकाम् अगात् ।।३।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि प्रभु! अर्जुन तीर्थयात्राके निमित्त पृथ्वीमें फिरते हुए प्रभासमें पहुंचे. वहां सुना कि अपने मामाकी कन्या(सुभद्रा) राम, दुर्योधनको देंगे, किन्तु दूसरे इस सम्बन्धको नहीं चाहते हैं, अतः उसको प्राप्त करनेके अभिलाषी अर्जुन त्रिदण्डी संन्यासी बनकर द्वारका गए।।२-३।।

व्याख्यार्थ: वास्तवमें अर्जुन, जीवकी कलारूप 'नर' था, और वह सुभद्रा मायाशक्ति यशोदाके यहां प्रकट होके देवकीके यहां गई और देवकीजीने स्नेहसे ग्रहण की थी, उस समय कंसके हस्तसे छूटकर जैसे आठ स्थानोंमें प्राप्त हुई वैसे ही देवकीको भी प्राप्त हुई, सुभद्रा नामसे प्रसिद्ध हुई. स्त्रीभावसे ही मोह उत्पन्न होता है, वह अर्जुनकी ही स्त्री होनेके योग्य थी, इस कारणसे उस पर अर्जुन मोहित हुआ. कलियुगमें उस 'माया'का ही वंश रहेगा, इसलिए सन्यासी वेष धारण कर वंचनासे कन्याका हरण कर गया. चोरी करना और पाखण्डसे धर्मवाला वेश धारण करना क्षत्रियकेलिए निषिद्ध है; तो भी, वैसा वेष धारण कर कन्याका हरण किया और माता-पिताने भी दी, इससे और तीर्थ यात्रामें कृत्रिम(बनावटी) वेष धारण करनेका निषेध नहीं है, इन कारणोंसे दोनोंरूप[१] होनेसे दोनोंका[२] समर्थन किया है, अतः विरोध नहीं है यह तीर्थयात्राके प्रसंगका भारतमें इस प्रकार वर्णन है. एक स्त्री और पांच पति होवे तो उसका परिणाम दुःख होता है. द्रौपदीके पांच पति थे, वे प्रचेतसोंकी तरह एकरूप नहीं थे, कामको रोकना अशक्य है, क्षणमात्र

भी विलम्बसे नाश होता है, इससे नारदजीने सुंद उपसुंदकी कथा कहकर उनकेलिए नियम बना दिया कि एक वर्ष एक पति भोग करे उस समय दूसरा वहां न जावे, जाएगा तो उसको प्रायश्चित करना होगा, वह प्रायश्चित एक वर्ष तीर्थयात्रा करनी होगो. इस नियमानुसार वे चलते थे किसी समय, ब्राह्मणकी गौओंको चोर ले गए. ब्राह्मणने अर्जुनको कहा कि मेरी गौओंको उनसे लेकर दो. विलम्ब करनेसे गौओंकी रक्षा न होगी और शस्त्र शस्त्रागारमें पड़े है, वहां युधिष्ठिर द्रौपदीके साथ विहार कर रहे हैं, किन्तु गौओंकी रक्षाकेलिए, अर्जुन शस्त्रागारमें जाकर शस्त्र ले आया और गौओंको लेकर ब्राह्मणको दे दी, और वहां युधिष्ठिर और द्रोपदीको विहार करते देखा, अतः अर्जुन, युधिष्ठिरके रोकने पर भी, तीर्थयात्रा करने चला गया, कारणकि, सत्यनिष्ठ थे. इसलिए, भगवदिच्छा जान तीर्थयात्रा करनेमें प्रवृत हुआ, तीर्थयात्रा करते हुए पृथ्वी पर घूमने-फिरने लगा, अर्जुन समर्थ था, इसलिए अकेला भी घूमनेमें हिचकिचाया नहीं तथा कन्याहरणमें भी समर्थ था. घूमते-घूमते प्रभास गया, वहां मामाकी कन्याके विषयमें कुछ सुना, अर्थात् राम दुर्योधनको देगा, किन्तु मामाकी कन्या तेरा भाग है, इस श्रुति अनुसार मेरा भाग दूसरा ले जायगा, और दुर्योधन कलिकारूप है, जिससे यह विवाह अधर्मका कारण होनेसे लौकिक ही होगा, अतः यों न हो इसलिए बलपूर्वक इसका हरण करना शुद्ध धर्म होगा, यों विचार पूर्वक निश्चय कर भोगकेलिए ही उसको लानेकी इच्छावाले उस(अर्जुन)ने सन्यास धारण किया, जिससे किसीको भी यह शंका न हो कि यह काम वासनावाला है, अतः पर्वके दिन मस्तकका मुंडन कराके आसन आदि बत्तीस पदार्थको ले त्रिदंडी बन द्वारका गया।।२-३।।

१.नर ऋषिरूप है और भगवानके अंशको धारण करते हैं वह ऋषिरूप होनेसे, माता-पिता(वसुदेव-देवकी)की सम्मतिसे विवाह करता है और भगवानका अंशावतार होनेसे बलपूर्वक हरण करता है तो भी दोष नहीं क्योंकि भगवानको शास्त्र निषेध व आज्ञाका प्रतिबन्धक नहीं.

२.चोरी(बलसे कन्या ले जाना) शास्त्रनिषिद्ध है और माता-पिताने दी यह शास्त्र सिद्ध है.

तत्र वै वार्षिकान् मासान् अवात्सीत् स्वार्थसाधकः।
पौरैः सभाजितोऽभीक्ष्णं रामेणाजानता च सः ।।४।।

स्वार्थको सिद्ध करनेवाला वह वहां चातुर्मास्य करने लगा. अर्जुनके इस

छलको वहांके निवासियोंने और रामने समझा नहीं, अतः नगरवासियोंने तथा रामने उसका बारंबार सत्कार किया।।४।।

वर्षाकालमें सन्यासीको घूमनेका शास्त्रने निषेध किया है, इसलिए वर्षाके चार मास वहां रहने लगे, कपटवेषसे धर्म करनेसे कोनसा लाभ? जिसके उत्तरमें कहा है 'स्वार्थसाधकः' अर्जुनको अपना कार्य 'सुभद्राका हरण' ही सिद्ध करना था, जिसकेलिए ही यह कपटवेष धारण किया था. इस(अर्जुन)के इस आशय(सुभद्रा हरण)को न जाननेवाले नागरिकोंने बहुत समादर किया, एक-एक नागरिकने कई बार भिक्षाकेलिए निमन्त्रण दिए, लौकिकमें प्रथम 'चक्षुकी प्रीति होती है' नर(अर्जुन)की मायासे मोहित और भगवदिच्छासे भी मोहित रामका भी इस विषय 'प्रथम चक्षुकी प्रीति'से परिचय होगा फिर हरण किया जाएगा, वो न समझ सका, अतः बलभद्र(राम)ने भी इसको परमहंस जानकर तर्कसे विचार नहीं किया, केवल शास्त्रका ही आश्रय कर शान्त हो बैठे इसलिए अधर्मकी जिज्ञासा उत्पन्न न हुई. अधर्म जैसा भान होते हुए भी धर्मज्ञान बलिष्ठ होनेसे, उस भानने अधर्मका ज्ञान कराने नहीं दिया।।४।।

इस कारणसे ही बलरामजीने भक्तिसे उनका आदर किया यह 'एकदा' श्लोकमें कहते हैं.

एकदा गृहमानीय आतिथ्येन निमन्त्र्य तम्।
श्रद्धयोपहृतं भैक्ष्यं बलेन बुभुजे किल ।।५।।

एकदिन आतिथ्यका निमंत्रण देकर उसको घर लाकर बलरामने श्रद्धासे भिक्षा दी, जिसको उसने ग्रहण किया।।५।।

बलराम सन्यास वेषधारी अर्जुनके पास जाते रहते थे, एक दिन प्रसंग ऐसा आया जिससे उसको घर ले आए, वहां आतिथ्य भाववाला निमन्त्रण देकर जब तक पाकसिद्ध हो तबतक बिठाया, पाकसिद्धमें तो विशेष समय लगेगा, ऐसे अवसरमें ही कन्याका दर्शन गुप्तरोतिसे हो जाएगा यों जान अर्जुन वहां ठहर गया, पश्चात् बलभद्रने भोज्य पदार्थ लाकर श्रद्धासे सन्यासीके आगे धरे, जिनको उसने पाया, 'किल' पद देकर यह सूचित किया है कि महापुरुषोंके सम्बन्धमें यह अर्थ(विषय) स्पष्ट कहना उचित नहीं है।।५।।

पश्चात् अर्जुनको भी कन्याका दर्शन हुआ जिसका वर्णन 'सोऽपश्यत्' श्लोकमें करते हैं.

सोऽपश्यत् तत्र महतीं कन्यां वीरमनोहराम् ।
प्रीत्युत्फुल्लेक्षणस्तस्यां भावक्षुब्धं मनो दधे ।।६।।

वहां उसने वीर पुरुषोंके मनको हरण करनेवाली बड़ी कन्या देखी, जिस पर दृष्टि पड़ते ही उसके नेत्र प्रीतिसे प्रफुल्लित हो गए और रतिकी इच्छासे क्षोभयुक्त मन उसमें लग गया।।६।।

वह कन्या स्थूल देहवाली थी और अर्जुनसे एक वर्ष छोटी थी, वह ऐसी रूपवती थी जिसकेलिए वीरपुरुष प्राण भी देनेकेलिए तैयार होते हैं, इसलिए 'वीरमनोहरा' विशेषण दिया है, इसलिए ऐसी कन्याको देखनेसे प्रेम उत्पन्न हुआ, जिससे उसके नेत्र प्रफुल्लित हो गए, तावता कामके आधीन हो गया, इसलिए रतिकी इच्छासे भरा हुआ मन उस कन्यामें लगा दिया।।६।।

जिस कन्याका प्रेम न हो, उसको ग्रहण करना सम्भव नहीं. इसलिए 'सापि' श्लोकमें कहते हैं कि उसका भी इसमें रतिका भाव(रतिकी इच्छा) था.

सापि तं चकमे वीक्ष्य नारीणां हृदयङ्गमम् ।
हसन्ती व्रीडितापाङ्गी तन्न्यस्तहृदयेक्षणा ।।७।।

स्त्रियोंके हृदयको हरनेवाले उस(अर्जुन)को देखकर सुभद्राने भी उसी तरह उसको चाहा और मुस्कराती हुई वह उससे मन तथा नेत्र लगाकर लज्जायुक्त कटाक्षसे तिरछा देखने लगी।।७।।

अर्जुनकी सुन्दरता देख उसके मनको भी अर्जुनने हर लिया. पहले मुस्कुराई, अनन्तर व लज्जायुक्त नेत्रोंवाली हुई बादमें मन तथा नेत्र उसमें ही आसक्त हो गए, इसी प्रकार उसने अर्जुनको पतिरूपमें वरण किया।।७।।

तां परं समनुध्यायन्नन्तरं प्रेप्सुरर्जुनः ।
न लेभे सम्भ्रमच्चित्तः कामेनातिबलीयसा ।।८।।
महत्यां देवयात्रायां रथस्थां दुर्गनिर्गताम् ।
जहारानुमतः पित्रोः कृष्णस्य च महारथः ।।९।।

उसका ही ध्यान करते हुए, उसके हरणका अवसर देखते हुए अति बलवान कामदेवने जिसका चित्त भ्रान्त कर दिया है. वैसे अर्जुनको चैन नहीं पड़ता था, फिर भी जब देव यात्राकेलिए रथमें बैठ सुभद्रा दुर्गसे बाहर निकली, तब महारथी अर्जुनने माता-पिता और श्रीकृष्णकी सम्मति लेकर उसका हरण किया।।८-९।।

बादमें अजुन भिक्षाको तो भूल गया केवल उसका ध्यान करते हुए उसके हरण करनेका अवसर देखने लगा कि कब वह अवसर आएगा जोमें इसको हरण करूंगा, कुशल पुरुष उसकी रखवाली करते थे, जिससे हरणका अवसर नहीं देखनेमें आता, यहां भारतमें जो विशेष कहा है. उसका भी अनुसन्धान करना आवश्यक है, वह यह है कि भगवान् अर्जुनको वसुदेव देवकीके पास ले गये वहां उन्होंने वह कन्या (सुभद्रा) अर्जुनको अर्पण की, अनन्तर अर्जुन बलवान् कामके कारण भ्रमित चित्त हो गया पश्चात् दयालु भगवानने देवयात्राकी कल्पना की जिससे वह नगरसे बहार निकाली गई बादमें उस बड़ी यात्राके उत्सवमें सब तल्लीन होनेसे अर्जुनको हरण करनेका अवसर मिला. अतः माता-पिता और श्रीकृष्णकी सम्मतिसे महारथी[१] अर्जुन ने, दुर्गसे बाहर आई हुई रथमें स्थित सुभद्राका हरण किया।।८-९।।

१.अज्ञोंके निराकरण करनेमें समर्थ थे वह बतानेकेलिए (महारथी) विशेषण दिया है.

'रथस्तो' श्लोकमें कहते हैं, कि अर्जुनमें हरण करनेका पराक्रम है.

रथस्थो धनुरादाय शूरांश्चारुन्धतो भटान्।
विद्राव्याक्रोशतां स्वानां स्वभागं मृगराडिव ।।१०।।

रथमें विराजमान अर्जुन धनुष लेकर जो शूरवीर आपको रोकनेकेलिए आए, उनको भगाकर, सिंह जैसे अपना भाग ले जावे, वैसे सम्बन्धियोंके कोलाहल करते हुए सुभद्राको ले गए।।१०।।

चारों तरफसे रोकनेवाले सर्व सैनिकोंको भगाकर, साथमें आए हुए बान्धव आक्रोश करते थे, उनकी भी उपेक्षा की, क्योंकि वे अज्ञ हैं अतः अज्ञानसे यों कर रहे हैं, इसके सिवाय यह कन्या तो मेरा भाग है, अत: इनका आक्रोश मूर्खतासे है, इस पर ध्यान देना उचित नहीं है, अपने भागको छोड़ना शास्त्रमें निषिद्ध है. इस विचारसे अर्जुनने जैसे सिंह अपना भाग ले लेता है वैसे ही उसका हरण किया. यों पहलेसे सम्बन्ध है।।१०।।

बलभद्रने सुभद्राके हरणका वृत्तान्त सुना, दहेज भेजनेकेलिए जो उद्यम किया गया उसका 'तच्छ्रुत्वा' श्लोकमें वर्णन करते हैं.

तच्छ्रुत्वा क्षुभितो रामः पर्वणीव महार्णवः।
गृहीतपादः कृष्णेन सुहृद्भिश्चान्वशाम्यत ।।११।।

वह(सुभद्राका हरण) सुनकर पूनमकी रात्रिमें जैसे समुद्र क्षोभयुक्त होता

है, वैसे ही बलदेवजी बहुत क्षोभ करने लगे, किन्तु श्रीकृष्ण और अन्य बांधव पांवोंमें पड़े, जिससे शांत हो गए।।११।।

व्याख्यार्थ: पश्चाात् राम-अर्जुनकी यह वंचना(छल)से हरण करनेकी कथा सुन बहुत आवेश(जोश)में आ गए और उनको मारनेकेलिए तैयार हुए समुद्रके दृष्टान्तसे उन(बलरामजी)की महत्ता तथा वैसा समय था यों बताते हैं, बादमें भगवानने अनेक प्रकारके वचन कहकर उनको शान्त किया. ये वचन कारिका द्वारा आचार्यश्री प्रकट करते हैं.

अस्माकं सर्वथा देया हृता नान्यैश्च गृह्यते।
वधे भर्तृविहीना स्यात् योग्यश्चायं विशेषतः।।का.१।।

कारिकार्थ: हमको तो यह देने योग्य ही है अर्थात् इसका विवाह करना ही है, अब हरण की हुई दूसरा लेगा नहीं, यदि इसका(अर्जुनका) वध करोगे, तो यह कन्या विधवा होगी. दुर्योधनसे यह अर्जुन विशेष योग्य है।।१।।

कार्यार्थं वञ्चनं तस्य न दोषायेति मे मतिः।
अज्ञानं स्वस्य दोषो हि कृत्रिमो न हि बाधकः।।का.२।।
ततो गृहीतपादश्च तेनैवाभूद् बलः स्वयम्।

कारिकार्थ: अपने कार्यको सिद्ध करनेकेलिए ठगाई करने(स्वकार्य साधनेमें बुद्धिमान)को मैं दोष नहीं मानता हूं. अर्जुनको पहिचाना नहीं, यह अपना दोष हैं. त्रिदण्डी होकर हरण किया, यह इसलिए दोष नहीं है कि वह सच्चा संन्यास नहीं था, कार्य सिद्धिकेलिए किया हुआ बनावटी था।।२।।

पश्चात् भगवानने बलभद्रके चरण पकड़ लिए, इसलिए कि इसका वध न करो और भगिनीको अब दहेज आदि हम भेजें, आप शांत होईये.

व्याख्यार्थ: इसी तरह मित्रोंने भी चरण पकड़े जिससे वे(बलरामजी) शान्त हो गए।।११।।

शांत हो जानेके अनन्तर भगिनीको जो दहेज भेजा उसका वर्णन 'प्राहिणोत' श्लोकमें करते हैं.

प्राहिणोत् पारिबर्हाणि वरवध्वोर्मुदा बलः।
महाधनोपस्करेभरथाश्वनरयोषितः ।।१२।।

फिर बलदेवजीने आनन्दसे दहेजमें उन वरवधुको अमूल्य सामान (असबाब), हाथी, रथ, दास और दासियां दी।।१२।।

घरमें जो कुछ सामान बर्तन आदि चाहिए वे सर्व पदार्थ तथा चतुरंगिणी सेना, हाथी, अश्व, रथ और प्यादे सैनिक और दास-दासियां दहेजमें भेजे।।१२।।

भक्ताय भगवान् कृष्णो भगिनीं दत्तवानिति।
किमाश्चर्यं यतः कर्मज्ञाननिष्ठामवाप्तयोः।।का.१।।
स्वयं गत्वातिमहता समाजेन समावृतः।
विप्रक्षत्रिययोः प्रीत्या स्वात्मानं दत्तवान् स्वयम।।का.२।।
यथाभिलषितं ताभ्यां सुखं प्राप्तं हरेर्महत्।
कृतार्थावपि संजातौ पुनरागमनं ततः।।का.३।।

कारिकार्थ: भगवानने अपनी बहिन भक्तको दी, इससे इसमें कोई आश्चर्य नहीं है, जबकि भगवान् कर्मनिष्ठ राजा और ज्ञाननिष्ठ श्रुतदेवके यहां स्वयं पधारे, मुनियोंके समाजको भी साथमें ले, दोनोंको अपनी आत्मा देकर उनका हित करते हैं, जो भक्तका हित करे, इसमें आश्चर्य कैसा? जैसी जिसकी इच्छा थी, वैसा सुख दोनोंको दिया. जब वे कृतार्थ हुए, तब भगवान् लौट आए।।३।।१२।।

भगवानका अपमान हुआ उस प्रसंगमें भी यह समझना चाहिए कि आपका प्राकट्य भक्तहितार्थ ही हुआ है अतः अपना अपमान सहन करके भी भक्तोंको मान देते हैं. अपना इसमें मान नहीं हैं, यों जानकर भी, सब कुछ भक्तोंकेलिए करते हैं इसलिए कैमुत्यन्यायसे कर्म-ज्ञाननिष्ठ भक्तोंका अपना अपमान होते हुए भी हित ही करते हैं, तो फिर विशिष्ट भक्तकेलिए अपमान सहन कर उसका हित करें, तो उसमें कौनसा आश्चर्य है? यों 'कृष्णस्यासीत्' श्लोकसे वर्णन करते हैं.

श्रीशुक उवाच
कृष्णस्यासीद् द्विजश्रेष्ठः श्रुतदेव इति श्रुतः।
कृष्णैकभक्त्या पूर्णार्थः शान्तः कविरलम्पटः।।१३।।

श्रीशुकदेवजीने कहा कि श्रीकृष्णका एक भक्त श्रुतदेव नामवाला ब्राह्मण था, जो भगवानकी भक्तिसे ही कृतकृत्य, शान्त विद्वान् और विषय वासनाओंसे रहित हो भगवद्भक्ति करता था।।१३।।

यह, 'श्रुतदेव' ब्राह्मण था अतः इसका ही यह प्रकरण है, क्षत्रियका

प्रकरण तो प्रसंग होने पर कहा गया है. इससे बीचमें उसका निरूपण किया गया है, इसलिए उपक्रम[१] (प्रारम्भमें कहे हुए)का विरोध नहीं हैं. यह ब्राह्मण कृष्णका सम्बन्धी अर्थात् भगवदीय था, ऐसा होनेमें उसके साधन कहते हैं, ब्राह्मणोंमें उत्तम था इसको श्रेष्ठतम प्रतिपादन करते हैं, कि श्रवणमें जिसकी बुद्धि, देव जैसी थी, सेवा होनेके कारण ही प्रसिद्ध हुआ था, कृष्णमें ही एकान्तिक भक्ति होनेसे जिसके सर्व अर्थपूर्ण हो गए थे, यों कहनेका भावार्थ है कि उसमें दरिद्र्य दोष नहीं रहा है क्योंकि 'शान्त' था किसी प्रकारकी कामना नहीं थी. यदि कामना हो तो भक्ति द्वारा यह पूर्ण नहीं हो सके यह उचित नहीं, यह शान्ति, भीतरका गुण है, और 'कवि' था अर्थात् तत्वज्ञान सम्बन्धी विषयोंका विचार कर निर्णय करनेवाला था, स्वभावसे भी इसको इन्द्रियां भगवानसे बहिर्मुख नहीं थीं किन्तु विषयोंसे बहिर्मुख थी. जिससे 'अलम्पट' विशेषण दिया. भगवानके साथ सम्बन्ध होनेसे छः गुण कहे हैं १.द्विजश्रेष्ठ कहकर ऐश्वर्य गुण प्रकट किया है, २.नामसे कीर्ति गुण सिद्ध किया है, ३.भक्तिसे श्री गुण दिखाया है, ४.शान्तिसे ज्ञान गुण कहा है. ५.कविसे बल वर्णन किया है, ६.अलम्पट विशेषण वैराग्य गुण प्रकट करता है. इस प्रकार सिद्ध किया है कि भगवदीय भगवानके समान होता है।।१३।।

१.इस अध्यायके प्रारम्भमें कहा है कि जहां वीर्य(पराक्रम)से विरुद्ध भावकी प्रतीति होगी वह ही कहा जाएगा, भगवान् ब्राह्मणके घर पधारे यह भगवद् वीर्यसे विरुद्ध है किन्तु राजाके गृहमें पधारे यह वीर्यके विरुद्ध नहीं है, यहां राजाके यहां पधारना तो प्रासंगिक है. प्रकरण तो ब्राह्मणके घर पधारनेका है अतः उपक्रमका विरोध नहीं है.

ऐसे पुरुषका निवास सात्त्विक देशमें होना चाहिए इसलिए 'स उवास' श्लोकमें उसका वास मिथिलामें कहते हैं.

स उवास विदेहेषु मिथिलायां गृहाश्रमी।
अनीहयाऽऽगताहार्यनिवर्तितनिजक्रियः ।।१४।।

वह गृहस्थी विदेह देशकी मिथिला नगरीमें रहता था, परिश्रम बिना स्वतः प्राप्त अन्नादिसे अपना निर्वाह संतोषपूर्वक करता था।।१४।।

वे देश विदेह नामसे इसलिए प्रसिद्ध थे जो वहां रहते थे उनको देहाभिमान नहीं होता था, उनमें भी वह उस नगरीमें रहता था, जिसको देहाभिमान रहित ज्ञानी पुरुषोंने बनाया था. वह नगरी इसलिए मिथिला नामसे प्रसिद्ध थी,

अभिमान न होने पर अन्य आश्रमोंसे गृहस्थाश्रम ही मुख्य है क्योंकि अभिमान न होनेसे वहां कोई दोष उत्पन्न नहीं होता है, अतः वह गृहाश्रमी होकर रहता था, आजीविकाके अभावमें धर्म फलीभूत नहीं होता है अर्थात् धर्म सिद्ध नहीं होता है, इसलिए उसकी मुख्यवृत्ति (आजीविका) कहते हैं कि बिना प्रयास किए स्वतः भोज्य आदि सर्व पदार्थ आ जाते थे, उनसे ही वह अपना निर्वाह कर लेता था, अर्थात् अपने सर्वकर्म पूर्ण करता था. दूसरोंका धर्म नहीं करता था इसलिए ही वह कर्ममार्गी भक्त है।।१४।।

प्रयत्न न करने पर भी कभी अन्नादि न मिलनेसे क्रियामें रुकावट पड़ जाती होगी? इस शंकाको मिटानेकेलिए 'यात्रामात्रं' श्लोकमें कहते हैं.

यात्रामात्रं त्वहरहः दैवादुपनम् अत्युत।
नाधिकं तावता तुष्टः क्रियाश्चक्रे यथोचिताः ।।१५।।

कुटुम्बका निर्वाह जितनेसे पूर्ण हो जावे, उतना प्रतिदिन प्राप्त हो जाता था, अधिक नहीं, उतनेसे प्रसन्न होकर यथोचित सर्व क्रियाएं करता था।।१५।।

'यात्रा' पदका अर्थ है कुटुम्ब और अपने शरीरका पूर्ण निर्वाह हो जावे, उतना पदार्थ नित्य प्रति ईश्वरेच्छासे प्राप्त हो जाता था, 'उत' पदका भाव यह है कि शरीरमें उपवास करनेकी शक्ति अथवा एकादशी आदि उपवासके दिन होते तो भक्ष्यादि न भी मिलते, विशेष तो कभी भी न मिलता था, उससे वह संतोष कर लेता था, सन्तोष न करे तो दोष हो, अतः सन्तोष धारण कर यथायोग्य सर्वक्रिया पूर्ण करता था।।१५।।

इस प्रकार ब्राह्मणका निरूपण कर तथा 'तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग' श्लोकमें क्षत्रियका वर्णन करते हैं.

तथा तद्राष्ट्रपालोऽङ्ग! बहुलाश्व इति श्रुतः।
मैथिलो निरहम्मान उभावप्यच्युतप्रियौ ।।१६।।

हे राजन्! उस देशका राजा जनकके वंशमें उत्पन्न बहुलाश्व वैसा ही निरहंकारी था एवं भगवानका भक्त था. ये दोनों भगवानके प्यारे थे।।१६।।

वहां भगवद्भक्तके रहनेसे वह(राजा) भी भक्तिके अंगमें प्रविष्ट हुआ अर्थात् भक्त बन गया इसलिए यों कहा है, क्योंकि वह उस विदेह राज्यका पालनेवाला था, 'हे अंग' इस संबोधनसे यह सूचित किया कि यह कथा आपको छलनेकेलिए बनावटी नहीं कही जाती है किन्तु वास्तविक यों है 'बहुलाश्व'

नामसे यह सिद्ध किया है कि वह बहुत घोड़े अपने पास रखता था जिससे उसकी क्रियाशक्ति प्रकट होती थी, वह मिथिल वंशमें उत्पन्न होनेसे मैथिल था, श्रुतदेवमें छ गुण थे किन्तु इस राजामें एक ही 'निरभिमान' गुण था. जैसे कर्मनिष्ठ प्यारा है, वैसे ही ज्ञाननिष्ठ भी भगवानको प्यारा है, इसलिए कहा है कि दोनों भगवानके प्यारे थे जैसे धर्मनिष्ठा वैसे ज्ञाननिष्ठा भी प्रिय है, इतना वर्णन किया जिससे यह सिद्ध हुआ कि वैसे उन दोनोंको भगवानने स्मरण किया अर्थात् भगवानने उनको मनसे अपनाकर उनका हित किया, यह चरित्र भगवानके मानसक्रियाका विषय होनेसे भगवानका चरित्र है यों निरूपण किया है।।१६।।

इस कारणसे ही उनके गुणोंका स्मरणकर भगवान् उनको इच्छित फलदानार्थ उनके घर पधारे यह चरित्र 'तयोः प्रसन्नो' श्लोकमें कहते हैं.

तयोः प्रसन्नो भगवान् दारुकेणाहृतं रथम्।
आरुह्य साकं मुनिभिर्विदेहान् प्रययौ प्रभुः ।।१७।।

उन दोनों पर प्रसन्न हुए प्रभु भगवान् दारुकके लाए हुए रथमें मुनियोंके साथ बैठकर विदेह देशमें पधारे।।१७।।

नारदो वामदेवोऽत्रिः कृष्णो रामोऽसितोऽरुणिः।
अहं बृहस्पतिः कण्वो मैत्रेयश्च्यवनादयः ।।१८।।

साथमें जो मुनि थे उनके नाम कहते हैं: १.नारद २.वामदेव ३.अत्रि ४.कृष्ण ५.राम ६.असित ७.अरुणि ८.मैं(शुकदेव) ९.बृहस्पति १०.कण्व ११.मैत्रय १२.च्यवन आदि।।१८।।

प्रथम मुझे कहां जानेका है, यों बोध नहीं कराया था. लौकिक कार्य भी नहीं था और कोई उत्सव भी नहीं था, इससे किसी समय उनका मिलाप हो, उसकेलिए दारुकके लाए हुए रथमें विराजमान होकर भगवान् विदेह पधारे, सबको बताये बिना अकेले विदेह कैसे पधारे? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'प्रभु' आप समर्थ हैं मुनियोंके साथ रथमें बैठकर विदेह पधारे, मुनियोंको साथ इसलिए लिया कि वे दोनों सदैव मुनियोंके साथ भगवद्विषयक चर्चा करते थे, दोनोंमेंसे राजा तो मुनियोंको भी भगवद्रूप जानता था, ब्राह्मण तो उनको मुनिरूप ही जानता था. इस कारणसे राजाके गृहमें आप भी मुनिरूप धारण कर पधारेंगे. ब्राह्मणके घर मुनियोंके साथ भगवद्रूपसे पधारेंगे, वे दोनों भगवानको कालसे पररूप जानते हैं और मुनियोंको कालके अवयव स्वरूप जानते हैं, इसलिए ही १२ मुनियोंको

नामसे गिने हैं, आदि पदसे ऐसे अन्य भी थे यों कहा है, 'कृष्ण' नामसे वेदव्यास कहा है 'राम' नामसे परशुराम 'मैं'से शुकदेवने अपनेको कहा है, 'आदि' पदसे गौतम वगैरों अन्योंको कहा है।।१७-१८।।

भगवान् विदेह पधारते समय अलौकिक रीतिसे अर्थात् गुप्त रीतिसे नहीं पधार रहे थे, किन्तु सर्वको अनुभव कराते हुए प्रकट दर्शन देते थे, जिससे मार्गमें भगवानकी पूजा हुई, यों 'तत्र तत्र' श्लोकमें कहते हैं.

तत्र तत्र तमायान्तं पौरा जानपदा नृप।
उपतस्थुः सार्घ्यहस्ता ग्रहैः सूर्यमिवोदितम्।।१९।।

हे नृप! विदेह पधारते समय भगवान् जहां-जहां आए, वहां-वहां छोटे-छोटे गांवोंके तथा बड़े-बड़े नगरोंके निवासी हाथोंमें अर्घ ले सम्मुख आकर, जैसे ग्रहोंके उदय हुए सूर्यका लोक पूजन आदि करते हैं, वैसे मुनि सहित पधारे हुए भगवानकी पूजा की।।१९।।

हाथोंमें अर्घ लेकर निकट आकर भगवानकी पूजा की, एक-एककी पूजा करनेमें बहुत समय लगे, सबका पूजन न हो सके तो दोष हो, इससे दोनों प्रकार दोष न लगे, इसलिए दृष्टान्त देकर कहते हैं, कि जैसे सूर्यको अर्घ देनेसे सब ग्रहोंको अर्घ मिल जाता है, वैसे ही यहां भगवानकी पूजासे सब मुनियोंकी पूजा हो गई. मुनि ग्रहोंके स्थान पर समझने चाहिए, जैसे सूर्य सबकी पूजा ग्रहण नहीं करता है. केवल ईक्षण दृष्टिसे ही ग्रहण करता है, वैसे ही भगवान् भी दृष्टि द्वारा सबकी पूजा ग्रहण करते हैं, यों अर्थ है।।१९।।

मार्गमें आए हुए देशोंके बारह नामसे निरूपण करते हैं.

आनर्त-धन्व-कुरुजाङ्गल-कङ्क-मत्स्य-
पाञ्चाल-कुन्ति-मधु-केकय-कोसलार्णाः।
अन्ये च तन्मुख-सरोजम् उदारहास-स्निग्धेक्षणं नृप पपुर्दृशिभिर्नृनार्यः।।२०।।

महाराज! आनर्त, धन्व, कुरु, जांगल, कंक, मत्स्य, पाञ्चा, कुन्ति, मधु, केकय, कोसल और अर्ण देशके रहनेवाले और दूसरे देशोंके भी स्त्री और पुरुष उदारहास व स्नेहभरी दृष्टिवाले भगवानके मुखारविन्दका नैत्रोंसे रसपान करने लगे।।२०।।

ऊपर कहे हुए देशोंके सिवाय अन्य देश जो प्रसिद्ध नहीं थे, वा प्रसिद्ध उन देशोंके भी स्त्री-पुरुष भगवानके मुखकमलके रसका पान करने लगे, यों

कहकर यह बताया कि यह फल उन्होंकी की हुई उपासनाका है, भगवानका है, भगवानका मुख, कमलरूप है, जिससे उनको अमृतके पानकी प्राप्ति हुई, वह देखा हुआ प्रत्यक्ष प्रयोजन है इसलिए मुखकी विशेषता विशेषतासे बताते हैं कि 'उदारहास स्निग्धेक्षण' उदार हास्य और स्निग्ध दृष्टिवाला मुख है. उदार पदसे बताया है कि सब प्रकारके पुरुषार्थोंको वे देनेवाला हास है और दृष्टि स्निग्ध है. हास मायारूप होनेसे बहिमुर्खता करते भी सर्व पुरुषार्थोंको सिद्ध करता है ज्ञान तो भगवानसे सम्बन्ध कराता है, भगवानका मुख दो गुणोंवाला है अतः अदृष्ट फल भी देता है. यों निरूपण किया है भगवानके ऐसे मुखारविन्दका दर्शन कर यहांके सब स्त्री-पुरुष अधिकारी हुए जिससे उसका रसपान करने लगे।।२०।।

पश्चात् फलरूपसे भी भजन किया जावे तो भी भगवान् कृपाकर अन्य फल देनेकी इच्छासे उसके भी आगेके फलकी परंपराकी सिद्धि करनेकेलिए उपाय करने लगे यह 'तेभ्यः' श्लोकमें कहते हैं.

तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिस्रदृग्भ्यः क्षेमं त्रिलोकगुरुरर्थदृशं च यच्छन् ।
शृण्वन् दिगन्तधवलं स्वयशोऽशुभघ्नं गीतं सुरैर्नृभिरगाच्छनकैर्विदेहान्।।२१।।

भगवानके दर्शनसे उन लोगोंकी अज्ञान दृष्टि नष्ट हो गई और त्रैलोक्य गुरु भगवानने अपने दर्शन करनेवाले नर-नारियोंको अपनी दृष्टिसे ही ऐसा वरदान दिया, जिससे वे सदा भगवानको अपने पास ही स्थित देखते रहें और सब वस्तुओंमें भगवानको ही देखते रहें, ऐसा भी वर देते चल रहे थे.

स्मस्त दिशाओंको उज्जवल बनानेवाली और समस्त अशुभका विनाश करनेवाली कीर्तिका मनुष्यों और देवताओं द्वारा किया गान सुनते हुए धीरे-धीरे विदेह देशमें पहुंचे।।२१।।

भगवानकी दृष्टि पड़नेसे जिनकी आखोंसे अज्ञानके पर्दे नाश हो गए हैं, ऐसे ज्ञान युक्त बनी हुई दृष्टिवालोंकी वस्तुकी[१] सामर्थ्यसे ही दोष निवृत्त हो जानेसे आप स्वयंने विशेष क्षेमका दान दिया. प्राप्त हुए पदार्थकी रक्षा करनेको क्षेम कहा जाता है, जैसे यह मूर्ति[२] सदैव नेत्रोंमें विराजी रहे, वैसा वरदान दिया, कहनेका यह भाव है, इस प्रकार होवे तो अब प्राप्त भगवद्दर्शन स्थिर रहे, शंका होती है कि यदि मध्यमें अन्य विषयोंका दर्शन आवश्यक होनसे, भगवद्दर्शनकी स्थिरता कैसे रहेगी? इस शंकाके निवारणार्थ 'त्रिलोक गुरु' विशेषण दिया है, जिसका आशय यह है कि आप तीन लोकके गुरु[३] हैं, जहां अन्तर्यामीकी प्रेरणासे सद् बुद्धि उत्पन्न

होती है, बाहरका उपदेश वाक्य निरर्थक है, क्योंकि वह स्वल्प समय रहता है उस उपदेशका प्रभाव स्थिर नहीं होता है, अतः जब ही अन्य विषयका दर्शन होने लगता है तब आप उस दर्शनका निषेध करते हैं अर्थात् ऐसी प्रेरणा करते हैं, जिससे दूसरे विषयका दर्शन नहीं किया जाता है, इसलिए वह भगवत्स्वरूप सदैव नेत्रोंमें विराजते रहते हैं, ऐसी अर्थदृष्टि देते हैं, जिससे वह सर्व पदार्थोंको भगवत्स्वरूपसे देखता रहता है, भगवत्स्वरूप ही ये सर्व पदार्थ हैं, अन्य कुछ नहीं है, अतः प्रथम दिन हुए क्षेमका अभाव कदापि नहीं होता है 'च' पदसे यह सूचित किया है, कि वस्तुमें विराजमान भगवानको देखनेकी सामर्थ्य भी दी है, शंका होती है, कि अचानक ऐसा फल कैसे देते हैं? इस शंका निवारणकेलिए कहते हैं कि 'शृण्वत् दिगन्तधवलं स्वयशः' उनके मुखोंसे अपना सर्वत्र धवल यश सुनते थे, इससे निश्चय हो जाता है कि भगवानका दिया हुआ फल सदैव स्थिर रहेगा यह भी जताया है मध्यकाल आदिके वशमें अधर्म हो जानेसे प्रतिबन्ध हो जाएगा, इस शंकाको मिटानेकेलिए 'अशुभघ्नं' विशेषण दिया, अर्थात् वह यश अशुभका नाश करनेवाला है, जिससे मध्यमें काल आदि वश होकर उनसे अधर्म होगा ही नहीं, जो दर्शनसे प्रतिबन्ध हो, कदाचित् यश, जो दर्शनका साधन है, वह उसका विस्मरण हो जावे तो दर्शनमें प्रतिबन्ध हो सकता है, इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए कहते हैं, कि 'गीतं सुरैर्नृभिः' जो देवरूप मनुष्य हैं, वे सदैव गुणगान करते ही रहते हैं अथवा देवता और मनुष्य दोनों गुणगान करते रहते हैं, जिससे विस्मरण होनेकी शंका ही नहीं उठती है, इससे कीर्तिका अक्षयत्व निरूपण किया है मध्यमें आए हुए देशोंमें रहनेवालोंको इतना देत हैं, तो जिनकेलिए पधार रहे हैं, उनको कितना देंगे? इस शंकाको उत्पन्न करते हुए ही इच्छित देश 'विदेह'को धीरे-धीरे पधारे, धीरे-धीरे पधारनेसे उन पर अपना स्नेह व्यक्त किया है।।२१।।

१.भगवानकी दृष्टि की. २.भगवत्स्वरूप. ३.उपदेश देकर अज्ञानान्धकार मिटानेवाले हैं.

जिस देशमें आप पधारनेवाले थे उस देशवासियोंका भगवानमें कितना स्नेह आदि था. जिसका वर्णन 'तेऽच्युतं' श्लोकसे कहते हैं.

तेऽच्युतं प्राप्तम् आकर्ण्य पौरा जानपदा नृप!।
आभीयुर्मुदितास्तस्मै गृहीतार्हणपाणयः ।।२२।।

हे महाराज! भगवानका पधारना सुनकर प्रसन्न हुए नगर और देशवासी

हाथोंमें पूजाकी सामग्री लेकर उनके सामने आए।।२२।।

नगर और देशवासी भगवानके स्वागतार्थ सामने आए. 'नृपा' यो पाठ लिया जावे तो उसका भावार्थ यों समझना चाहिये कि राजा लोग भी, भगवान् पधार रहे हैं, यों सुनकर, भगवानके दर्शनार्थ अन्य नगर एवं देशवासियोंकी तरह सामने आए, इससे वे भी भगवानके यहां नगरवासियोंके समान हुए, इस प्रकार तीनों तरहके १.नगरके २.देशके और ३.नृपगण निरूपण किए हैं उनका कायिक आदि भाव प्रकट करते हैं, सामने स्वागतार्थ आए, इससे कायिकभाव दिखाया 'मुदिता' प्रसन्न चित्त थे, इससे मानसभाव प्रगट किया, हाथोंमें पूजा सामग्री ले आए, इसमें यह बताया कि ममताका स्थान जो धन है उससे ममता निकाल भगवदर्शन कर भक्ति प्रकट की, अर्थात् तनमनधनसे भगवानका स्वागत कर स्नेहका प्रदर्शन किया।।२२।।

भगवानके पधारनेके समय उनकी इन्द्रियोंकी कैसी दशा थी, वह 'दृष्ट्वा तम् उत्तम' श्लोकमें करते हैं.

दृष्ट्वा तम् उत्तमश्लोकं प्रीत्युत्फुल्लाननाशयाः।
कैर्धृताञ्जलिभिर्नेमुः श्रुतपूर्वांस्तथा मुनीन्।।२३।।

उत्तमश्लोक भगवानका एवं जिन मुनियोंके प्रथम नाम ही सुने थे, उनका दर्शन करनेसे उनका मुख और अन्तःकरण प्रेमसे प्रफुल्लित हो गए, अतः हाथ जोड़ मस्तकोंसे भगवान् और मुनियोंको नमस्कार करने लगे।।२३।।

प्रेमसे उनके मुखरूप कमल[१] खिल गए, भगवानके दर्शनका यह प्रभाव है, कि वे दर्शन देते हुए अन्दर प्रवेश करते हैं, भीतर पधार कर प्रीति उत्पन्न करते हैं, जिससे बाहिर मुख आदि प्रफुल्लित होते हैं और भीतर अन्तःकरण भी प्रफुल्लित हो जाता है, अनन्तर हाथ जोड़ कर सर्व अपराधोंकी क्षमा याचना करते हुए मस्तकोंसे भगवान् और मुनियोंको प्रणाम करने लगे, जब मुनियोंकी पहिचान नहीं, तो इस प्रकार नमन कैसे किया? इस शंकाको निवृत्त करनेकेलिए कहते हैं कि 'श्रुतपूर्वान्' उनके दर्शन नहीं किए थे किन्तु उनके गुण आदि तो सुनते ही थे इसलिए प्रणाम किया।।२३।।

१.आचार्यश्रीने 'प्रीत्युत्फुल्लमुखाम्बुजाः' पाठ लेकर अर्थ किया है.

साधारण पुरुषोंने जो स्वागत आदिसे शरण भावना दिखाई वह कहकर अब 'स्वानुग्रहाय' श्लोकमें मुख्य दो भक्तोंकी प्रतिपत्ति कहते हैं.

स्वानुग्रहाय सम्प्राप्तं मन्वानौ तं जगद्गुरुम् ।
मैथिलः श्रुतदेवश्च पादयोः पेततुः प्रभोः ।।२४।।

अपने-अपने अनुग्रह करनेकेलिए जगत् गुरु भगवान् पधारे हैं, यों जानकर बहुलाश्व और श्रुतदेव दोनों प्रभुके पादों(चरणों) पर गिर गए।।२४।।

जबकि सदैव भगवानके दर्शन किए जाते हैं और सेवा भी की जाती है, फिर इस समय कौनसी विशेषता है इस शंकाको मिटानेकेलिए 'जगद् गुरु' विशेषण दिया है, कि प्रभु जगतके गुरु हैं अर्थात् जगतके जीवोंके अज्ञानान्धकार को मिटाकर उनको प्रकाश देनेवाले है, अतः आप स्वयं पधारकर देखना चाहते हैं कि हम जो कर रहे हैं यों ही करना चाहिए या और कुछ भी करना रह गया है. यदि रह गया है तो वह भी बता दूं, यह कार्य तो भगवान् ही कर सकते हैं, इसलिए आप विशेषरूपसे पधारे हैं, इसी कारणसे पावोंमें पड़े इससे यह सूचित किया है, कि भगवानके पावोंमें पड़ना ब्राह्मणकेलिए भी निषिद्ध नहीं है, क्योंकि 'प्रभु' सर्वसमर्थ हैं केवल चरणोंमें प्रणाम करनेसे ही सर्व प्रकारसे हित करेंगे अपनेलिए, वा फल दानकेलिए, प्रणामके सिवाय अधिक कुछ नहीं चाहते, इससे यह सूचित हुआ।।२४।।

पश्चात् दोनोंने 'न्यमन्त्रयेतां' श्लोकमें अपने-अपने घरमें पधारनेकेलिए निमंत्रण दिया.

न्यमन्त्रयेतां दाशार्हम् आतिथ्येन सह द्विजैः ।
मैथिलः श्रुतदेवश्च युगपत् संहताञ्जली ।।२५।।

बहुलाश्व और श्रुतदेवने हाथ जोड़, मुनियोंके साथ भगवानका आतिथ्य करनेकेलिए एक साथ निमंत्रण दिया।।२५।।

अपने गृहमें पधरानेका कारण यह है कि प्रभु दाशार्ह[१] हैं, 'सहद्विजैः' पदसे यह सूचित किया है कि विभाग कर मत पधारना अर्थात् मुनि सहित आप पधारें, दोनोंका तो (हित) करना ही है, लोकमें तो अशक्तिके कारण कालभेदसे वा विभागभेदसे लौकिक पुरुष कार्य पूर्ण करते हैं अर्थात् एक ही समयमें दोनों स्थानों पर सब नहीं जा सकते हैं, अतः या तो जुदे-जुदे समय पर जाते हैं वा आधे वहां आधे वहां ऐसा विभाग कर जाते हैं क्योंकि उनमें सब मिला कर एक समय दोनों स्थानों पर जानेकी शक्ति नहीं है. भगवान् तो प्रभु सर्वसमर्थ हैं, जो चाहे वह सब सम्पादन कर सकते हैं 'मैथिल' पहले कहनेका कारण है कि वह राजा थे 'च'

पदसे यह सूचित किया है कि श्रुतदेव भी राजाके समान है, हमारे गृहमें पृथक्-पृथक् समयमें नहीं पधारें इसलिए दोनोंने साथमें हाथ जोड़ निमन्त्रण दिया है।।२५।।

१.दशार्ह वंशमें उत्पन्न दाशार्ह यादव कहे जाते हैं.

भगवांस्तदभिप्रेत्य द्वयोः प्रियचिकीर्षया।
उभयोराविशद् गेहम् उभाभ्यां तदलक्षितः ।।२६।।

दोनोंके निमंत्रणको स्वीकारकर, दोनोंको प्रसन्न करनेकेलिए उनके यहां एक ही समय पधारे, उस समय भगवानने दो रूप धारण किये, जिनको उन्होंने पहचाना नहीं।।२६।।

इस प्रकार हाथ जोड़नेसे भगवान् उनका अभिप्राय जान गए, कि ये हमारे वैभवको जानना चाहते हैं, भगवानकेलिए अशक्य कुछ नहीं है, इसलिए कार्य उस तरह ही करना चाहिये जिससे मेरे वैभवका ज्ञान इनको हो जावे अतः प्रभु भगवान् एक ही समयमें सबके साथ दोनोंके घर पधारे, किन्तु वे यह नहीं जान सके कि भगवानने दो रूप धारण किए हैं, यदि जान जाए तो रसकी उत्पत्ति न हो अतः अलक्षित हो कर पधारे, प्रभु सर्व शक्तिमान् समर्थ होनेसे राजाके घर तो मुनि स्वरूप लेकर पधारे, कोई कहते हैं कि मुनि भी दो रूप धारण कर दोनोंके घर गए कारणकि राजा ज्ञाननिष्ठ था अतः उसको मुनि और भगवानमें किसी प्रकारका भेद नहीं था, सर्वत्र भगवद् बुद्धि समान होनेसे 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' इस गीताके वचनानुसार श्रुतदेवके घर मुनिओंके साथ स्वयं भी पधारे, राजाके यहां मुनिरूप धारण कर पधारे यह निर्णय है।।२६।।

पश्चात् 'श्रोतुमप्यसतां' श्लोकमें उस देशके मुख्यपुरुष राजाका वृत्तान्त कहा जाता है किन्तु वह प्रासांगिक(आदि और अन्तके वाक्य विषयके निर्णायक होते हैं अतः उन वाक्योंको प्रकरण कहते हैं, मध्यमें अन्य कुछ आ जावे, उसको प्रासंगिक कहा जाता है, अर्थात् प्रसंग आने पर कह दिया जाता है) है.

श्रोतुमप्यसतां दूराद् जनकः स्वगृहागतान्।
आनीतेष्वासनाग्र्येषु सुखासीनान् महामनाः ।।२७।।
प्रवृद्धभक्त्या उद्धर्षहृदयास्राविलेक्षणः।
नत्वा तदङ्घ्रीन् प्रक्षाल्य तदपो लोकपावनीः ।।२८।।
सकुटुम्बोऽवहन् मूर्ध्ना पूजयाञ्चक्र ईश्वरान्।

गन्धमाल्याम्बराकल्प–धूपदीपार्घगोवृषैः ।।२९।।
वाचा मधुरया प्रीणन् इदम् आहान्नतर्पितान् ।
पादावङ्कगतौ विष्णोः संस्पृशन् शनकैर्मुदा ।।३०।।

बढ़ी हुई भक्तिके कारण, अतिप्रसन्न चित्त आंसुओंसे व्याकुल नेत्र, उदारमना जनकराजाने जिनका नाम भी असत् पुरुष सुन नहीं सकते हैं; ऐसे अपने घरमें पधारे हुए भगवद्रूप मुनियोंको अपने हाथोंसे लाए हुए उत्तम आसनों पर विराजमान किया, सुखपूर्वक विराजमान हो जानेके अनन्तर उन्हें प्रणाम कर चरण धोए, वह जल गंगारूप होनेसे, सकुटुम्ब राजाने अपने सिर पर धारण किया. गन्ध, पुष्प, वस्त्र, धूप–दीप, अलंकार अर्घ, गौ और बैल अर्पण कर पूर्णरूपेण पूजा की, फिर भोजन कर तृप्त हुए उन मुनियोंको मधुरवाणीसे प्रसन्न करते हुए, भगवानके चरण गोदमें लेकर, प्रेमसे धीरे–धीरे स्पर्श करते हुए, राजा यों कहने लगे।।२७–३०।।

जो भगवद्रूप मुनि राजाके घरमें पधारे उनका नाम मात्र भी असत् पुरुष सुन नहीं सकते हैं, ये मुनिस्वरूप भगवद्रूप थे, वैसे अपने घर आए यह महान् अन्तर[१] है, असतपन तो देहाभिमान होनेसे जीव मात्रमें समान है ऐसे भगवद्रूप मुनियोंको स्वगृहमें पधारते देख अपने सिंहासनके समान सिंहासन अपने मित्रोंसे लाए, पश्चात् उन आसनों पर सुखपूर्वक उनको विराजमान किया, और ऐसे स्वरूपोंकी पूजा मैं कैसे कर सकूगा इस चिन्ताका त्याग किया. फिर महामना होनेसे उन(मुनियों)में वृद्धिगत भक्तिके कारण अत्यन्त हर्षयुक्त हृदयवाला हुआ जिससे नेत्रोंमें आंसू भर गए, इस प्रकार देहकी पूजा की, पश्चात् बाह्य पदार्थोंसे जो पूजा की उसका वर्णन करते हैं, प्रथम नमस्कार की अनन्तर पांव पखारे, 'नत्वा' पदका देहसे की हुई पूजासे सम्बन्ध है, उससे भीतरके पदार्थोंसे की हुई पूजाकी समाप्ति बताई है. बाह्य पदार्थोंसे पूजा करनेकी आज्ञा प्राप्त करनेकेलिए प्रार्थना करता है,

पहले पाद प्रक्षालन किया वह जल लोकको पवित्र करनेवाली गंगारूप होनेसे, कुटुम्ब सहित राजाने मस्तक पर धारण किया, पश्चात् पूजा योग्य होनेसे, सबने ईश्वरोंकी पूजा[२] की, न की जीव और ईश्वरकी पूजा की है, सुगन्धवाले पदार्थ और पुष्प आदि पूजाकी सामग्री और गौ तथा बैल भी शास्त्रके अर्थकी सिद्धिकेलिए लाए थे कारणकि राजाकी पूजनमें प्रवृति मर्यादानुसारी थी, किन्तु

भक्तिपूर्वक नहीं थी. अतः शास्त्र वचनानुसार सर्व पूजा करना था, शास्त्रमें गौका दान मुख्य है अनन्तर मधुरवाणीसे वह कहा जो अब कहा जाता है, जब वे अन्नसे तृप्त हो ताम्बुल आदि ले विश्राम कर स्वस्थ हो बैठे, तब स्तुति करने लगे, अन्नसे पूर्ण तृप्ति होकर आनन्द तब आता है, जब भोजनान्तर ताम्बूल लेकर फिर विश्राम आदि किया जाता है, इसी प्रकारकी क्रिया करनेसे अन्न उद्वेगवाला नहीं होता उनमें भी विशेष कहते हैं कि राजा भगवानके चरणोंको गोदमें विराजमान कर धीरे धीरे स्पर्श करने लगा, धीरे धीरे कहनेका भाव यह है कि प्रभुसे आज्ञा प्राप्त की, विष्णुके चरणोंको गोदमें विराजमान किया, यों कहनेका भावार्थ है कि राजाकी सर्वत्र विष्णु बुद्धि थी और ऐक्य बुद्धि थी, अतः उन स्वरूपोंमें किसी प्रकार भेददृष्टि नहीं थी, चरणस्पर्श करते ही संतोषका आविर्भाव हुआ अर्थात् राजाको पूर्ण संतोष हो गया।।२७-३०।।

१.भगवान् मुनिरूपसे राजाके गृहमें पधारे हैं, राजा तो देहाभिमानी होनेसे असत् है, वहां कैसे पधारे? यह अन्तर है किन्तु जड देहका आत्मापनसे अंगीकार कर लेनेके कारण जीव मात्र असत् है, यों तो राजा ज्ञानिष्ठ होनेसे सत् है.

२.राजाके गृहमें जीवरूप मुनि पधारे ही नहीं थे, सब भगवद्रूप मुनि थे.

राजा जनक श्रीकृष्णको जैसा भगवत्स्वरूप जानता है वैसे ही निम्न छ श्लोकोंमें उनकी स्तुति करता है.

राजोवाच

भवान् हि सर्वभूतानाम् आत्मा साक्षी स्वदृग्विभो।
अद्य नस्त्वत्पदाम्भोजं स्मरतां दर्शनं गतः ।।३१।।

राजा कहने लगा कि हे विभो! आप सर्व प्राणियोंकी आत्मा है तथा साक्षी एवं स्वयं प्रकाश हो, आपके स्मरण करते हुए अब आपने दर्शन दिए हैं।।३१।।

वह(राजा) यह सर्व भगवानके ही कार्य हैं तथा सर्व भगवद्रूप हैं, यो मानता है, इस प्रकार माननेवाला अब कैसे उससे विपरीत कहेगा, विरुद्ध तो कहना ही नहीं चाहिए, यद्यपि राजाको पहले भगवानके सर्वरूप आत्मारूपसे दर्शन हुए थे तो भी भक्तिमार्गानुसारी दर्शन जैसा चाहिए वैसा तो अब हुआ है, अतः पूर्वास्था बताकर इसका भेद समझाते हैं, यह अर्थ उचित ही है, सर्वभूतोंकी आत्मा होनेसे सब भगवान् ही हैं. साक्षी होनेसे अपनी आत्मा हैं, अथवा साक्षी

चैतन्य है, इतना होने पर भी स्वयं प्रकाश है, यों कहकर यह सूचित किया कि उनको प्रकाशकेलिए दूसरेकी अपेक्षा नहीं है, 'विभो!' यह सम्बोधन सूचित करता है, कि आप सर्व सामर्थ्यवान हैं, इससे हमारे हृदयमें वैसी प्रीति उत्पन्न करते हैं न कि दूसरोंके हृदयमें, इस प्रकार करना आपमें बन सकता हैं, तो भी भक्तिमार्गानुसार आपके चरणकमलोंका स्मरण करते हुएको आज ही दर्शन दिए हैं।।३१।।

इस प्रकारके(भक्तिमार्गीय प्रकारके) हुए दर्शनका उपयोग कहां होगा? राजा ज्ञानिष्ठ है, ज्ञानी तो दर्शनकेलिए भगवानका चिंतन नहीं करते हैं, किन्तु चिंतन स्वतः पुरुषार्थरूप है यों जानकर चिंतन करते हैं, इस तरहकी शंकाके निवारणार्थ 'स्ववचस्तदृतं' श्लोक कहते हैं.

स्ववचस्तदृतं कर्तुम् अस्मद्दृग्गोचरो भवान्।
यदात्थैकान्तभक्तान् मे नानन्तः श्रीरजः प्रियः ।।३२।।
को नु त्वच्चरणाम्भोजम् एवंविद्विसृजेत् पुमान्।
निष्किञ्चनानां शान्तानां मुनीनां यस्त्वम् आत्मदः ।।३३।।

मेरे अनन्य भक्तसे बढ़कर, मुझे शेषजी और लक्ष्मी एवं ब्रह्मा तथा शिव भी प्रिय नहीं है, ऐसे अपने वचनोंको सत्य करनेकेलिए आपने हमें दर्शन दिया है, कौनसा पुरुष है जो इस बातको जानकर भी आपके चरणकमलोंका चिंतन त्यागेगा, आप निःकिंचन् शांत मुनियोंको अपनी आत्मा देनेवाले हैं।।३२-३३।।

भगवानका वह प्रसिद्ध वचन सत्य करनेकेलिए आपने हम लोगोंको दर्शन दिए हैं, वह कौनसा वचन है? इस पर कहते हैं कि भगवानने कहा है कि मुझे ब्रह्मा शंकर, संकर्षण, लक्ष्मी और आत्मा भी वैसा प्रियत्तम नहीं है जैसेकि आप हैं, यहां कहा है कि जैसा एकान्त भक्त मुझे प्रिय है, यों कहनेको पुष्टिमें दृष्टान्त दिया है कि जैसे आप श्लोकमें दिए हुए 'अज' शब्दसे शंकरका भी ग्रहण किया है, गुणावतार होनेसे वे भी 'अज' हैं, आत्मा भी 'अज' शब्दसे ग्रहण किया है, अतः यह बन सकता है कि एकान्त भक्तसे ये मुझे प्रिय नहीं हैं, प्रियपन तब सिद्ध होता है जब भगवान् स्वयं पधारकर दर्शन दे इसके बिना प्रियत्वकी सिद्धि न होनेसे भगवानने स्वतः स्वयं पधारकर दर्शन दिए हैं, इस प्रकार भगवद् गुणोंको जानकर कि भगवान् आत्मा तथा साक्षी हैं, तो भी भगवानको अनन्यभक्त विशेष प्रिय हैं, जिस कारणसे भक्तकेलिए विशेष करते हैं, अतः स्वयं पधारकर दर्शन

दिए हैं, यों भक्तिमार्ग सुगम है तथा उत्तम है, यों जाननेवाला ऐसा कोन है, जो आपका त्याग करेगा? जिसने आत्मामें स्थिति प्राप्त कि है, वह भक्तिसे सर्व प्राप्त कर लेता है, किन्तु जिसने आत्मा स्थिति प्राप्त नहीं की है वह तो आत्मा स्थितिकेलिए मेरा त्याग करेगा यदि यों कहो तो इसका समाधान करते हैं, 'निःकिंचनानां शान्तानां' आत्माकी ब्रह्मरूप स्थिति करनेके तीन साधन हैं, प्रथम निःकिंचनपन अर्थात् सर्व परित्याग, उसके बाद शान्ति, इस प्रकार भीतर बाहरके विक्षेपको नष्ट कर फिर मनन करना चाहिए, उसके बाद ब्रह्मभाव होता है. इसलिए कहा है कि जो ऐसे निःकिंचन शान्त मुनि हैं उनको आप आत्माका दान करते हैं, तात्पर्य यह है कि ज्ञानमार्गमें उपर्युक्त साधनान्तर ब्रह्मभाव प्राप्त हो सकता है किन्तु भक्तिमार्गमें तो भक्तवत्सल भगवान् कृपा कर स्वयं पधारकर दर्शन देते हैं ज्ञानमार्गसे भक्तिमार्गकी यह ही विशेषता है।।३२-३३।।

वैसे जो भगवान् है वह मैं नहीं हूं, इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए 'योऽवतीर्य' श्लोक कहा है.

योऽवतीर्य यदोर्वंशे नृणां संसरताम् इह।
यशो वितेने तच्छान्त्यै त्रैलोक्यवृजिनापहम् ।।३४।।

जिनने यहां यदुराजाके वंशमें अवतार लेकर, संसारी जीवोंके दुःखोंको देख, दयाकर उनकी निवृत्ति की, जिससे त्रिलोकीके पापोंको हरनेवाला अपना यश सर्वत्र फैलाया।।३४।।

उस ही भगवानने सबको मोक्ष देनेकेलिए ही यदुके वंशमें अवतार लेकर मनुष्योंको जन्म-मरणादि दुःखोंमें चक्कर काटकर दुःख भोगते हुए देख दयार्द्र हृदय होनेसे, उनके दुःखोंको नाश कर अपना यश विस्तारा है, वह यश कैसे संसारको नष्ट करेगा? इस शंकाकी निवृत्तिकेलिए स्पष्टिकरण करते हुए, कहते हैं कि 'त्रैलोक्य वृजिनापहम्' वह यश तीन लोकोंके पापोंको नष्ट करनेवाला है. अतः पापके कारण बहिर्मुखता आदि दोष अथवा संसर्गिदोषाद् वा बहिर्मुख है तो उसके संसर्गसे जो दोष आ जाते हैं वे दोष, इन सबको, भगवानका यश नष्ट करता है, अतः भगवानका यश स्पष्ट ही संसारका नाश करनेवाला है।।३४।।

इस प्रकार आप यद्यपि जगतको कृतार्थ करनेकेलिए पधारे हैं, तो भी मुझे कृतार्थ करनेके वास्ते यहां पधारे हैं, यों निरूपण कर दूसरा कोई कार्य न होनेसे 'नमस्तुभ्यं' श्लोकसे राजा नमस्कार करता है.

नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे ।
नारायणाय ऋषये संशान्ततपईयुषे ।।३५।।

अकुण्ठ बुद्धिवाले और अतिशान्त तप करनेवाले, ऋषि स्वरूप नारायण स्वरूप आप भगवान् श्रीकृष्णको मैं प्रणाम करता हूं।।३५।।

'तुभ्यं' पदसे यह सूचित किया है कि आप जो सामने अब प्रत्यक्ष दर्शन दे रहे हो वे ही श्रीकृष्ण भगवान् हैं, इसी कारणसे ही 'कृष्णाय' पद दिया है जिससे भगवान् कोई दूसरा होगा यह शंका मिट जावे, ये ही साक्षात् भगवान् हैं, यह सिद्ध करनेकेलिए 'अकुण्ठमेधसे' विशेषण दिया है, जिसका अर्थ है, जिसकी बुद्धि किसी भी समय वा काममें रुकती नहीं है, अर्थात ऐसी तीक्ष्ण बुद्धि है जो सर्व कार्य करनेमें पार चली जाती है, ऐसी बुद्धि भगवान् श्रीकृष्णके सिवाय दूसरे किसीकी नहीं है, यद्यपि अन्योंको भी भगवान् कहा जाता है किन्तु, उनसे कृष्णमें यह विलक्षणता है, अब जिसरूपसे यहां पधारे हैं, वह दिखाता है 'नारायणाय ऋषय' यह नारायण ही है जो तीसरी 'स्थानलीला' करते हैं वह ही ऋषि हैं यों कहनेसे यह बताया है कि ब्रह्माण्ड विग्रह नारायण अथवा उसका अंश नारायण यह(श्रीकृष्ण) नहीं है, इस विशेषरूपको प्रकट कर दिखानेमें जो उत्तमपन है उसका हेतु कहता है कि 'संशान्त तप ईयुवेषे' सशान्त तप करनेवाला यह स्वरूप है जो तप, सर्वप्राणियोंको सुख देनेवाला और अपनेको भी क्षोभ न देनेवाला है, ऐसा वह तप नारायण ही करते हैं।।३५।।

इस प्रकार भगवत्स्वरूपका वर्णन कर अपना कर्तव्य भी पूर्ण कर अब 'दिनानि कतिचित्' श्लोकमें राजा कुछ प्रार्थना करता है.

दिनानि कतिचिद् भूमन् गृहान् नो निवसद् द्विजैः ।
समेतः पादरजसा पुनीहीदं निमेः कुलम् ।।३६।।

हे भूमन्! कितनेक दिन हमारे गृहमें विराजो, द्विजों सहित आपकी चरणरजसे इस निमिके कुलको पवित्र किजिये।।३६।।

इन द्विजों सहित आप चरणरजसे निमिके कुलको पवित्र कीजिए, यद्यपि कुछ भी कार्य करनेका परिश्रम न होगा, केवल यहां बिराजमान होनेसे आपकी चरणरज निमिके कुलके परिभ्रमणके स्थानमें पड़ेगी जिससे सर्वकुल पवित्र होजाएगा इसलिए ही यह प्रार्थना है, इससे इस कुलमें उत्पन्न सब पवित्र होकर कृतार्थ होंगे, आपको यहां विराजनेकी प्रार्थना इसलिए की है कि, उस वंशके

सम्बन्धसे जो मुझ पर ऋण है वह उतर जावे यों सूचित किया है।।३६।।

भगवानने वैसा ही किया, अर्थात् वहां कुछ समय विराजे जिसका वर्णन 'इत्युपामंत्रितो' श्लोकमें करते हैं.

श्रीशुक उवाच

इत्युपामन्त्रितो राज्ञा भगवान् लोकभावनः।
उवास कुर्वन् कल्याणं मिथिलानरयोषिताम् ।।३७।।

इसप्रकार राजाके आमंत्रण मिलनेसे, लोकको अपना अनुभव करानेकेलिए तथा मिथिलाके स्त्री-पुरुषोंका कल्याण करते हुए भगवान् वहां विराजे।।३७।।

भगवान् वहां निमन्त्रण मिलने पर विराजे, जिसका हेतु है कि आप लोकको अनुभव करानेवाले हैं, अर्थात् वहांके लोगोंको भी अनुभव करानेकेलिये विराजे, जहां आप लोकको अनुभव कराते हैं. वहां निमिके कुलको अनुभव करानेमें कौनसा प्रयास है, यों तात्पर्य है, भगवान् स्वयं स्थित होकर अपना धर्म लोकमें डालते हैं, जिससे उसको(लोकको) भगवानका अनुभव हो जाता है, इसलिए यहां भी बिराजे, दूसरा प्रयोजन भी प्रकट करते हैं कि मिथिलाके नर और नारियोंका कल्याण करते हुए बिराजे, वे ज्ञानी हैं इसलिए उत्सवको विशेष नहीं जानते हैं, अतः उनको उत्सवका ज्ञान हो इसलिए कुछ काल वहां ठहरे।।३७।।

प्रासंगिक राजाकी कथाका निरूपण कर चालू विषयका निरूपण 'श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं' श्लोकसे करते हैं.

श्रुतदेवोऽच्युतं प्राप्तं स्वगृहाज्जनको यथा।
नत्वा मुनीन् सुसंहृष्टो धुन्वन् वासो ननर्त ह ।।३८।।

अपने घरमें पधारे हुए भगवानको और मुनियोंको श्रुतदेवने वैसे प्रणाम किया जैसे जनकने किया, जिससे वह अत्यन्त प्रसन्न होकर वस्त्रोंको घूमाते हुए नाचने लगा।।३८।।

मैं दरिद्री(गरीब) भगवानको किस प्रकार अपने घरमें पधरा सकूंगा ऐसा विचार श्रुतदेवने किया ही नहीं किन्तु जनकके समान बन गया बल्कि उससे भी अधिक हो गया. इसलिए कहा है कि ''मुनीन् नत्वा मुनींश्च प्राप्तान् दृष्ट्वा वासो धुन्वन् ननर्त आनन्दात्'' मुनियोंको प्रणाम कर और मुनियोंको पधारे हुए देख, वस्त्रोंको घुमाते हुए नाचने लगा, मुनि पधारे हैं, यह मुझ पर बहुत उपकार हुआ

है, यों जतानेकेलिए उपकार करनेवाले मुनियोंको प्रणाम किया है, उनके पधारनेसे ही भीतर परमानन्द प्रवृत्त हो गया है, नृत्य वे भक्त करते हैं, जो भक्त शास्त्रोंका अनुसरण करते हैं, अर्थात् शास्त्रमर्यादा पालते हैं।।३८।।

पश्चात् जितनी हो सकी उतनी पूजा की 'तृणपीठ' श्लोकमें कहते हैं.

तृणपीठवृषीष्वेतान् आनीतान् उपवेश्य सः।
स्वागतेनाभिनन्द्याङ्घ्रीन् सभार्योऽवनिजे मुदा ।।३९।।

तृण, पीठ, और चटाईयां ला उन पर उनको विराजमान कर पश्चात् सर्व प्रकार स्वागत कर स्त्रीके साथ उस ब्राह्मणने प्रसन्नतासे चरण धोए।।३९।।

भगवानको विराजमान करनेकेलिए अपने हृदयको ही सिंहासन बनाया, मुनियोंको तो सिंहासनसे विशेष प्रिय तृणासन पीढे और चटाई हैं, सिंहासन जो ग्राम्य है वे तपस्वियोंको प्रिय नहीं है, किसीको तृणासन दिए किसीको पीढे और किसीको चटाईयां दी, ऋषियोंका आसन इसी प्रकारका होता है, कोमल कुशोंसे चतुरस्र बनाया हुआ(जिसके पीठमें नृत्य करते मोरकी पुच्छके समान गोलाकार आकृति होती है,) वैसा आसन ही मुनियोंको उचित है, उन पर बिराजमान कर पश्चात् स्वागतसे अभिनन्दन कर, बादमें स्त्री सहित ही उनके चरण धोए।।३९।।

ब्राह्मण होनेसे कदाचित् राजाके समान स्वागत किया हो, अतः निम्न श्लोकमें वह विधि बताते हैं.

तदम्भसा महाभाग आत्मानं स गृहान्वयम्।
स्नापयाञ्चक्र उद्धर्षो लब्धसर्वमनोरथः ।।४०।।

जिसके सर्व मनोरथ सिद्ध हो गए हैं, ऐसे उस महाभाग ब्राह्मणने, बहुत ही प्रसन्न हो चरणोंके जलसे घर व कुटुम्ब सहित अपने शरीरको स्नान कराया ।।४०।।

स्त्री पुत्रों सहित अपनेको उस चरण जलसे स्नान कराया, इससे केवल धर्म होनेसे सन्तोष न हुआ होगा, इस शंकाको मिटानेकेलिए कहा है, कि 'उद्धर्षः' विशेषण दिया है, जिसका भावार्थ है कि चरणजलके स्नानसे कुटुम्ब सहित उस ब्राह्मणके हृदयमें हर्ष उत्पन्न हो गया, अर्थात् वे सब इस स्नानसे अपनेको पवित्र एवं भाग्यवान् समझनेसे प्रसन्न हुए, यदि कहो कि फलकेलिए यों करता है तो कहते हैं कि नहीं क्योंकि चरणोदक प्राप्तिसे ही उनके सर्व मनोरथ पूर्ण हो गए थे, अर्थात् फल प्राप्ति तो हो गई थी।।४०।।

पश्चात् 'फलार्हण' श्लोकसे पूजा करनेका वर्णन करते हैं.

फलार्हणोशीरशिवामृताम्बुभिः मृदा सुरभ्या तुलसीकुशाम्बुजैः ।
आराधयामास यथोपपन्नया सपर्यया सत्त्वविवर्धनान्धसा ।।४१।।

फल, पूजाकी सामग्री, खससे सुगन्धित अमृतसम सुख देनेवाला मिष्ट जल, सुगन्धवाली मिट्टी, तुलसी, दर्भ, कमल, सत्वगुणको बढ़ानेवाला अन्न आदि और जो बन सकी ऐसी पूजासे उनका सत्कार आदि किया।।४१।।

'फलार्हणानि' पदका आशय है कि जो उत्तम सुन्दर फल पूजाके साधन 'उशीराणि' सुगन्धवाले पदार्थों, उनसे युक्त 'शिवामृताम्बु' अन्तमें सुखदायी मिष्टजल, अनन्तर हस्तपाद प्रक्षालनार्थ सुगन्धीवाली मृत्तिका, उसके बाद पूजाकेलिए तुलसी, कुश और कमल, इनसे शास्त्रानुसार उनकी पूजा की, ये साधन भी बिना ही श्रम जैसे मिले वैसे लाए गए थे, पूजा करनेके पश्चात् वैसे अन्नसे भोजन कराया, जिससे सत्त्वगुण बढता है, वह अन्न बताते है कि शिलोंच्छवृत्तिसे लाए हुए चावल आदि थे, अतः शुद्ध होनेसे सात्त्विक भोजन था।।४१।।

इस प्रकार पूजाकर, फिर विचार करने लगा कि, भगवानका दर्शन तो दुर्लभ है, वह मुझे कैसे हुआ? इसी तरह मानसिक पूजाकेलिए आलोचना निम्न श्लोकमें करने लगा.

स तर्कयामास कुतो ममान्वभूत् गृहान्धकुपे पतितस्य सङ्गमः ।
यः सर्वतीर्थास्पदपादरेणुभिः कृष्णेन चास्यात्मनिकेतभूसुरैः ।।४२।।

उसने विचार किया कि श्रीकृष्ण और उनके अपने आश्रयरूप भूदेव, जिनके चरणरजोंमें सर्व तीर्थ रहते हैं, उनसे, गृहके अन्धेरे कूपमें रहनेवाली मेरा जो मिलाप हुआ, उसका क्या कारण है?।।४२।।

साधन होता है तब साध्यकी प्राप्ति होती है, मेरा साधन तो गृहके अन्धकूपमें पड़ना है, अर्थात् गृहरूप अन्धकारके कूपमें पड़ा हूं यही साधन है, यदि गृह सात्विक हो तो भी अन्धकूप होनेसे वह सोनेकी शृंखलाकी तरह बन्धन ही करता है, क्योंकि अपना और पराया ऐसा असत् आग्रह रहता ही है, वह ही संसारसे निकालनेमें समर्थ है, जो भेद बुद्धिको मिटा दे, वह गृह तो भेद बुद्धि बढाता ही है. उसमें आसक्त मेरा श्रीकृष्णसे और मुनिओंसे संगम कैसे हुआ? कृष्णसे संगम दुर्लभ है, यों तो सर्ववादी मानते हैं, और मुनियोंका भी संगम उसी

तरह दुर्लभ है, क्योंकि उनके चरणोंकी रजमें सर्व तीर्थ रहते हैं, मुनियोंका केवल इतना ही उत्कर्ष नहीं है, किन्तु इससे भी विशेष यह है, कि वे भगवानके निकेतन हैं अर्थात् भगवान् उनमें विराजते हैं, जिससे वे पृथ्वीके देव कहे जाते हैं, यों फल है अतः मुनियोंमें साधन और साध्य दोनोंका उत्कर्ष है, भगवानके वासस्थानसे साध्यरूपसे उत्कर्ष है और तीर्थरूप होनेसे साधनोत्कर्ष है।।४२।।

पश्चात् भगवानकी स्तुति करनेका उपक्रम 'सूपविष्टान्' श्लोकमें करने लगे.

सूपविष्टान् कृतातिथ्यान् श्रुतदेव उपस्थितः।
सभार्यस्वजनापत्य उवाचाङ्घ्रयवमर्षणः ।।४३।।

आतिथ्य हो जानेके अनन्तर सुखसे विराजमान हुए मुनियोंके पास, स्त्री कुटुम्ब और पुत्र सहित उपस्थित होकर, भगवानके चरणोंको पकड़के श्रुतदेव यों कहने लगा।।४३।।

श्रुतदेवका अन्न सत्व गुणको सिद्ध करनेवाला होनेसे कभी भी दुःखका जनक नहीं होगा, भोजनके अनन्तर अच्छे प्रकार विराजमान करनेसे पूजाकी समाप्तिकी सूचना की है, इसलिए ही कहा है कि 'कृतातिथ्यान्' जिनका आतिथ्य किया गया है, उनके पास श्रुतदेव आकर खड़ा रहा, साथमें स्त्री, स्वजन और पुत्र भी थे, वे भी वहां खड़े हो गए, स्त्री आदिको भगवानसे छुपाके नहीं रखे थे पश्चात् भगवानके चरणोंको छूते हुए वाणीसे निम्न प्रकार स्तुति करने लगा।।४३।।

यह ब्राह्मण भी राजाकी तरह छः निम्न श्लोकोंसे भगवानकी स्तुति करता है.

श्रुतदेव उवाच

अद्य नो दर्शनं प्राप्तः परं परमपूरुषः।
यर्हीदं शक्तिभिः सृष्ट्वा प्रविष्टो ह्यात्मसत्तया ।।४४।।

श्रुतदेवने कहा कि आप परम पुरुष हैं, आप अपनी शक्तियोंसे इस जगतको रचकर अपनी ही सत्तासे इसमें प्रविष्ट हुए हैं, उस स्वरूपके तो आपने आज ही हमको प्रत्यक्ष दर्शन दिए हैं।।४४।।

जैसे राजाने प्रथम निरूपण किया वैसे ही, यह भी निरूपण करता है दर्शन तो आज ही आपने दिए हैं, किसी पुस्तकमें यों 'नाद्य नो दर्शन प्राप्त' पाठ है

जिसका पदार्थ होता है कि आपने आज हमको दर्शन नहीं दिए हैं, किन्तु जब ही यह सृष्टि रचकर अपनी सत्तासे सबमें प्रविष्ट हुए थे, तब ही सर्व वस्तुरूप आपका दर्शन हो गया था. 'हि' शब्दसे कहते हैं कि यह अर्थ उचित है वैसे ही आपको सर्वत्र देख रहा हूं, अथवा नेत्रोंसे उस स्वरूपका दर्शन तो आज ही हुआ है, आगे तो शास्त्रसे सुना था कि आप परम पुरुष अपनी शक्तियोंसे इस अनेक नाम-रूपवाले जगतको रचकर अपनी आत्मसत्तासे उसमें प्रविष्ट हुए हो, वह आप कैसे हैं? अर्थात् आपका मूल आनन्द स्वरूप कैसा है? वह मनोरथमें ही स्थित था, कभी भी देखा नहीं था अब आपने कृपा कर उस स्वरूपके दर्शन कराए है।।४४।।

एकका अनेकरूप बन जानेके बाद सर्वत्र सर्वमें कैसे प्रवेश बन सकता है? यदि कहो कि सूर्यकी किरणोंकी भांति प्रवेश हुआ है तो परस्पर एक दूसरेका अनुसंधान क्यों न रहे? अर्थात् प्रत्येक यों क्यों नहीं जानता है कि जो भगवद्रूप मुझमें है वह ही सामनेवाले दूसरोंमें भी है, ऐसा प्रवेश सत्य कैसे माना जावे? ऐसी शंकाको मिटानेकेलिए 'यथा शयानः पुरुषः' श्लोक कहा है.

यथा शयानः पुरुषो मनसैवात्ममायया।
सृष्ट्वा लोकं परं स्वाप्नम् अनुविश्यावभासते।।४५।।

जैसे सोया(सोता) हुआ पुरुष, अपनी माया मनसे ही स्वप्नमें अन्य लोककी रचनाकर उसमें प्रविष्ट हो प्रकाश पाता है।।४५।।

एक पुरुष ही एक स्वप्नको देखता है, जिन जीवित प्राणियोंको स्वप्नमें देखता है, उनका भी उसको अनुसन्धान नहीं रहता है, स्वप्न मायिक है. तो भी उस समय देखनेमें आनेवाले जीवोंमें एक ही चैतन्य है, जो स्वप्न देखनेवालेमें है, स्वप्नमें जितने भी गज, अश्व आदि दिखते हैं उनमें भी दूसरा कोई चैतन्य नहीं है, क्योंकि श्रुतिमें भगवच्चैतन्य ही कहा गया है, इस चालू प्रसंगमें जीव और ब्रह्मके भेदका निरूपण नहीं किया गया है, पदार्थोंका जब निरूपण किया जाता है तब जीव और ब्रह्मका भेदवाद वहां नहीं रहता है, जब दोषोंका निरास और गुणोंका आधान करनेमें आता है तब दोनों मतोंका समर्थन किया जाता है, अतः जीव स्वयं ही स्वप्नसृष्टि रचकर उसमें प्रविष्ट होकर भी अपनी आत्माको एकदेशमें स्थित मानता है, परस्पर अनजान रहता है, किन्तु इतना भेद है कि वह जीवकी सृष्टि अज्ञानकृत है और यह भगवत्सृष्टि ज्ञानकृत है, अतः भगवान् इस कृतिको

समझते हैं, जीव नहीं जानता है, शेष रचना और प्रवेशका प्रकार समान ही है, वह दृष्टान्त देकर समझाते है, जैसे सोया हुआ पुरुष अपनी मायारूप सामग्रीसे, मनरूप करण द्वारा इसलोक और परलोककी रचनाकर, अर्थात् इसलोकसे अन्य स्वाप्निक लोकको बनाके बादमें उसमें प्रवेशकर देव और तिर्यग् आदि रूपसे प्रकाशता है, वैसे एक ही भगवान्, जो सर्वत्र प्रकाशते हैं, उनके प्रत्यक्ष दर्शन आज ही हुए हैं।।४५।।

यदि कहो, कि दर्शनके साधन अनेक हैं उनमें कौनसा साधन विशेष हैं? इस शंकाको मिटानेकेलिए 'श्रुण्वतां गृणतां' श्लोकमें कहा है.

शृण्वतां गृणतां शश्वद् अर्चतां त्वाऽभिवन्दताम्।
नृणां संवदताम् अन्तर्हृदि भास्यमलात्मनाम्।।४६।।

जो पुरुष निरंतर आपके गुणादिका श्रवण करे, कीर्तन करे, आपकी ही पूजा करे, आपको ही प्रणाम करे, आप सम्बन्धी ही मनुष्योंके साथ चर्चा करे, उस शुद्ध अन्तःकरणवालोंके हृदयमें, आप प्रकाशित होते हैं।।४६।।

जो पांच प्रकारसे भगवानकी भक्ति करते हैं, उनके हृदयमें भगवान् भीतर ही प्रकाशते हैं, बाहर दर्शन नहीं देते हैं, मुझे तो बाहर ही दर्शन दे रहे हैं यह विशेषता है, 'संवदताम्' पदसे स्मरण और इसका दूसरा अर्थ कीर्तन भी है, अथवा स्मरण और कीर्तन भक्ति करनेवाले तथा भगवानके नामोंका सर्वदा उच्चारण करनेवाले निरन्तर पद कहकर यह बताया है कि इस प्रकार यह भक्ति नाम और रूप दोनोंसे सम्बन्ध रखती है, ऐसे भक्तोंके हृदयमें आप सूक्ष्मतासे प्रकाशते हैं, इसमें क्या विशेषता है? जबकि आप सर्वत्र हैं, तो भी उनके ही हृदयमें प्रकाशते हैं जिसके उत्तरमें कहते हैं कि वे निर्मल(मलरहित शुद्ध) अन्तःकरणवाले होते हैं जिनका हृदय मलवाला है, उनके हृदयमें विराजते हुए भी प्रकाशते नहीं अर्थात् दर्शन नहीं देते हैं, जैसे मलीन दर्पणमें बिम्बका दर्शन नहीं होता है, श्रवणादि भक्ति नेत्र और चित्त आदिको निर्मल करती है, जैसे कितने गुण दपर्णको साफ करते हैं, कितने नेत्रके शोधक हैं, वे दोनों यहां कहे हैं, रूप दृष्टिके शोधक हैंनाम अन्तःकरणके शोधक हैं, इस प्रकार निर्णय है।।४६।।

अन्योंके हृदयमें विराजते हुए भी प्रकाशते(दर्शन नहीं देते हो अर्थात् उनसे दूर हो) नहीं हो यह निम्न श्लोकमें कहते हैं.

हृदिस्थोऽप्यतिदूरस्थः कर्मविक्षिप्तचेतसाम्।

आत्मशक्तिभिरग्राह्योऽप्यभ्युपेतगुणात्मनाम् ।।४७।।

यद्यपि आप हृदयमें विराजते हैं, तो भी विक्षिप्त मनवाले पुरुषोंकेलिए बहुत दूर हो, अपने अन्तःकरणकी शक्तियोंसे आपको कोई ग्रहण नहीं कर सकता है और जिन पुरुषोंने गुणोंको ही आत्मा समझ लिया वे भी आपको ग्रहण नहीं कर सकते हैं।।४७।।

कर्मसे जिनका चित्त विक्षेपवाला हो गया है वैसे पुरुषोंको आपके दर्शन नहीं होते हैं. जैसे जिस समय जल चलायमान होता है, उस समय जलमें पड़ी हुई परछाई(प्रतिबिम्ब) दीखती नहीं है, जैसे बहुत दूर स्थित पुरुष देखनेमें नहीं आता है, वैसे ही भगवानके भी दर्शन नहीं होते हैं, धर्मकी समानताकेलिए दूर होना कहा है यदि धर्मकी समानता न होवे तो दूरस्थ भी देखनेमें आजावे, यदि यों कहो तो कहते हैं कि 'आत्मशक्तिभिरग्राह्यः' अन्तःकरणादिमें जो भगवानकी शक्तियां है वे भगवानका ग्रहण करती है अर्थात् दर्शन कर सकती है वे तब ग्रहण कर सकती है जब वे स्थिर होती हैं, यदि वे कर्मसे विक्षिप्त होके भगवद् अतिरिक्त पदार्थोंमें आसक्त हो जाती हैं, तब भगवद् दर्शनमें रुकावट हो जाती है अर्थात् तब उनकी अपनी अन्तःकरणकी शक्तियोंसे भगवद् दर्शन नहीं हो सकता है शुद्ध होते हुए भी यदि कर्मसे विक्षेषवाला हो जाय तो भगवद् दर्शन नहीं कर सकता है तब तो जो जड़ हैं, जिनको कर्मसे विक्षेप होता ही नहीं है, उनको भगवानका दर्शन होना चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'अभ्युपेतगुणात्मनां' जिन्होंने गुणोंको आत्मारूपसे ग्रहण किया है, उनको भी भगवानके दर्शन नहीं होते हैं, जड़ोंने गुणोंको आत्म स्वरूपसे ग्रहण किया है अतः उनको दर्शन हो नहीं सकता, तात्पर्य यह है कि जो जीव सत्वादिगुणोंको आत्म स्वरूप मानते हैं वे जड़ हो जाते हैं. भगवानको आत्मरूप जाननेवाले चेतन होते हैं, अतः जिनने जड़ात्मत्व स्वीकार किया है उनको भी आप अप्राप्त हैं।।४७।।

इस प्रकार भगवानके दर्शन दुर्लभ है यों समर्थनकर, उस दुर्लभ दर्शनकी प्राप्ति हुई, जिसका बदला चुकानेकेलिए बहुत कर्तव्य है, यों विचारकर अन्य करनेकी शक्ति नहीं होनेसे 'नमोस्तु' श्लोकसे नमस्कार करता है.

नमोऽस्तु तेऽध्यात्मविदां परात्मने अनात्मने स्वात्मविभक्तमृत्यवे ।
सकारणाकारणलिङ्गमीयुषे स्वमाययासंवृतरुद्धदृष्टये ।।४८।।

जो अध्यात्म जाननेवाले हैं, उनकी आप परमात्मा है, अर्थात् जो

ब्रह्मकी एकात्मता जानते हैं, उनकी आप परम आत्मा हैं, जिनकी दूसरी आत्मा नहीं है, अर्थात् जो स्वयं आत्ममानी ज्ञानी है उनकी आप ही आत्मा हैं, और जो आत्मामें भेद मानते हैं उनकेलिए आप मृत्युरूप हैं, आप भगवान् नित्य स्वरूप है तो भी अनित्य जो काल आदि जगत् है उसको भी धारण करते हैं, फिर भी अपनी मायासे आत्मस्वरूपको प्रच्छिन्न कर रखा है।।४८।।

नमन करने योग्य भगवान् किस प्रकारके हैं? जिसका निर्णय करते हैं, ब्रह्म और जीवकी एकात्मता जाननेवालोंकी अर्थात् जो आत्माका अनुभवी है उनकी आप उत्कृष्ट आत्मा हैं अर्थात् आत्माओंकी मूलआत्मा भगवान् आप हैं. यदि बह्मवेत्ताओंकी आत्माकी आत्मा भगवान् हैं तो भगवानकी भी आत्मा कोई अन्य होनी चाहिए, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'अनात्मनः' जिस भगवानकी अन्य आत्मा नहीं है, इस प्रकार जो ज्ञाननिष्ठ हैं उनको आत्मत्वेन प्रकाशमान कहकर कर अब कहते हैं कि जो ज्ञानी नहीं हैं, उनकेलिए यह ही कालरूपसे मृत्यु देते हैं, 'स्वात्म विभक्त मृत्यव इति' अपनी आत्मामें ही जो विभक्त हैं, अर्थात् आत्मामें भेद करते हैं उनकेलिए मृत्यु हैं, जिसमें प्रमाण 'ब्रह्म तं परादात्' आदि श्रुतियोंके अनुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि रूप आत्मा है इस प्रकार भेद दृष्टिवाले आत्माकी हत्या करनेवाले दण्डके योग्य हैं, इस कारणसे भगवान् ऐसे पुरुषोंका वध करते हैं. यह उचित ही है, ज्ञान होनेके अनन्तर ज्ञानिओंके पूर्व दोष नष्ट हो जाते हैं. भक्तिमें भी भगवत्स्मरणसे पहले किये हुए दोष मिट जाते हैं, भेद तो प्रत्यक्ष दिख रहा है, इस भेदको जिसने मान लिया उसने कौनसा दोष किया जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'सकारणा कारणलिङ्ग मीयुष इति' एक ही भगवान् नित्य हैं, वह ही अनित्य जगत् रूप शरीर धारण करते हैं, काल आदि रूप नित्य हैं और घट आदि अनित्य हैं, दोनों शरीर भगवानके हैं यदि यों है तो सब क्यों नहीं इस प्रकार जानते हैं? जिसका समाधान करते हैं कि उभय शक्तिरूप अपनी मायासे आत्माका आच्छादन कर दिया है और दृष्टिको रोक रखी है, इस प्रकार ज्ञानशक्ति तिरोहित कर दी है, जिससे इन्द्रियको बन्द कर दिया है, और घटको ढक दिया है, नहीं तो अतिपुष्ट आत्म प्रकाशसे ही, ज्ञान तिरोहित होते हुए भी प्रकाश हो जाए अर्थात् आत्मा देखी जाए अथवा ज्ञानदृष्टि रुकी हुई न हो आच्छादित भी आत्मा दृष्टि गोचर हो सके, अतः यह दोनों कार्य मायाके हैं।।४८।।

इसी तरह भगवतस्वरूपका वर्णनकर, ऐसे भगवानको नमनकर 'स त्वं

शाधि' श्लोकमें प्रार्थना करता है.

स त्वं शाधि स्वभृत्यान्नः किं देव! करवाम ते।
एतदन्तो नृणां क्लेशो यद् भवान् अक्षगोचरः ।।४९।।

हे देव! हम सेवक आपकी क्या सेवा करें? वह आज्ञा दीजिए, आपके दर्शन होनेसे मनुष्योंके क्लेश कट जाते हैं।।४९।।

हम आपके दास है इसलिए सेवाकेलिए आज्ञा देनी आपको आवश्यक है, यदि कहो कि शास्त्र द्वारा कर्तव्यका उपदेश दे दिया है, इस पर मेरा कहना यह है, कि सत्य है, किन्तु वहां तो हमारे अपने स्वार्थ सिद्धिकेलिए कर्त्तव्योंका उपदेश दिया है, यदि कहो कि अपनेलिए ही करो, तो इसका उत्तर यह है कि वे कर्तव्य हमारे क्लेशोंके नाशार्थ हैं, जबकि आपके आनन्दमय स्वरूपके साक्षात् दर्शन हुए हैं तब सर्व प्रकारके क्लेश कट गए, फिर उन कर्त्तव्योंकी आवश्यकता नहीं, अब तो हम सेवकोंको जो कुछ करना चाहिए वह आपकेलिए और आपकी आज्ञानुसार करना चाहिए, अतः आज्ञा दीजिए क्या करें।।४९।।

भगवानके सेवककी जो इच्छा है वह पूर्ण न होगी, तो उसको दुःख होगा यों जानकर उस दुःखके नाशार्थ अपनी(अपनेरूप मुनियोंकी) सेवाका निरूपण किस प्रकार किया है वह 'तदुक्तमित्युपाकर्ण्य' श्लोकमें शुक कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

तदुक्तम् इत्युपाकर्ण्य भगवान् प्रणतार्तिहा।
गृहीत्वा पाणिना पाणिं प्रहसंस्तमुवाच ह ।।५०।।

श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि श्रुतदेवके ऐसे वचन सुनकर शरणागत भक्तोंके दुःखहर्ता, भगवान् हंसते हुए अपने हाथसे उसके हाथको पकड़ उसको कहने लगे।।५०।।

भगवानने अपने हाथसे उसके हाथको पकड़कर यह दिखाया है कि यह भक्त मेरे समान है यों करनेका गूढ भावार्थ यह दिखता है कि अब भगवान् उसको, जो अपना कर्त्तव्य है, वही कहेंगे. न कि सेवकका कर्त्तव्य. भगवान् हंसने लगे, जिसका भाव यह है, कि अब तूं कृतकृत्य हो गया है, अतः तेरेलिए कोई कर्त्तव्य शेष नहीं है, फिर यदि करता है, तो जिससे यह फल प्राप्त हुआ वह ही कर्तव्य है, वह फल भगवानका दर्शन है. फिर भी यदि श्रुतदेव पूछ रहा है तो जैसे मैं लोक संग्रहार्थ अथवा उनको मोहित करनेकेलिए कर्म कर रहा हूं, वैसे यह भी

करे, वैसा भाव है 'ह' पद आश्चर्य अर्थमें दिया है, जिसका भाव है कि आश्चर्य है कि प्रभु श्रुतदेव जैसे भक्तको भी अपनी सेवाका उपदेश नहीं देते है, जिससे जाना जाता है कि 'सेवा[१]' दुर्लभ है।।५०।।

१.सेवाधर्मः परम गहनो योगिनामप्यगम्यः अर्थात् सेवाधर्म अतिगहन है जो कि योगियोंको भी अगम्य है.

यहां भगवानको यह विचार हुआ कि मेरे साथ आए हुए इन ब्राह्मणोंको श्रुतदेव अपने समान समझ इनकी पूजा न करेगा तो इनको दुःख होगा, वह दुःख इनको न होवे, इसलिए प्रभु श्रुतदेवको इन ब्राह्मणोंका स्वरूप बताते हैं, इस(श्रुतदेव)की अपने साथ जो समानता भगवानने की है वह गुप्त रखी है, इस वास्ते 'ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय' श्लोकसे लेकर सात श्लोकोंमें उपदेश देते हैं कि हे श्रुतदेव! मैं विशेष पूजा योग्य वैसा नहीं हूं, जैसेकि, ये ब्राह्मण पूजाके योग्य है.

श्रीभगवानुवाच

ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय सम्प्राप्तान् विद्धीमान् मुनीन्।
सञ्चरन्ति मया लोकान् पुनन्तः पादरेणुभिः ।।५१।।

भगवानने कहा कि हे ब्रह्मन्! इन मुनियोंको अपने पर अनुग्रह करनेकेलिए आया हुआ जान, ये मुनि अपने चरणरजोंसे लोगोंको पवित्र करते हुए मेरे साथ विचरण कर रहे हैं।।५१।।

श्रुतियोंने जितने गुण भगवानके वर्णन किए हैं, उतने धर्म ब्राह्मणोंमें हैं यों भगवान् निरूपण करते हैं, यों कहनेसे मुनिरूप भी भगवान् ही हैं इस विषयमें रुकावट नहीं आती है, इन मुनियोंको अपने पर अनुग्रह करनेकेलिए आए हुए जान, न की यों ही किसी प्रसंगसे आए हैं, यो मत जान अथवा दूसरोंकेलिए आए होंगे यों भी न जान दोनोंका मुख्यपनसे आना कैसे माना जाए? जबकि कार्य एक ही है, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि ये मेरे साथ लोकोंमें सबको पवित्र करनेकेलिए भ्रमण कर रहे हैं, अतः मुख्यता इनकी है, मेरा तो मात्र साथ है, कैसे पवित्र करते हैं? जिसकेलिए कहते हैं कि 'पादरेणुभिः' चरणोंकी रजोंसे पवित्र करते हैं।।५१।।

लोकमें अनुग्रह करनेवाले तो दूसरे भी हैं, ये ही अनुग्रह करते हैं वैसा आग्रह क्यों? यदि यों कहो तो निम्न श्लोकमें कहते हैं.

देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया ।।५२।।

देव, क्षेत्र और तीर्थ शनैः शनैः(धीरे-धीरे) दर्शन स्पर्शन और पूजनसे बहुत समय पाकर पवित्र करते हैं; वह भी महत्तम पुरुषोंकी दृष्टि पड़नेसे होता है।।५२।।

लोकमें देव, क्षेत्र और तीर्थ, ये तीन पवित्र करनेमें हेतु हैं अर्थात् पवित्र करनेवाले हैं, काल भी इनके शेषरूपसे ही पवित्र करनेवाला है, सूतक आदिमें स्नानान्तर ही शुद्धि होती है, द्रव्योंका देशमें ही अन्तर्भाव है, कर्ताओंकी शुद्धिका यहां विचार किया जाता है अतः उनकी गणना शुद्धि करनेवालोंमें नहीं की जा सकती है, मन्त्र और कर्मके देवतामें अन्तर्भाव है, क्योंकि उनकेलिए ही ये कहे वा किए जाते है, इस प्रकार शुद्धि करनेवाले ६का इनमें अन्तर्भाव हो जाता है अतः तीन ही कहे हैं, वे तीन दर्शन, स्पर्श और पूजनसे पवित्र करते हैं, उनका प्रकार कहते हैं, दर्शन पवित्र करता है, तीर्थका दर्शन और स्पर्श करनेसे पवित्रता सबको होती है, देवताके दर्शन, स्पर्श और पूजन ये तीन ही पवित्र करते हैं, इस प्रकार करते हुए भी ये धीरे-धीरे पवित्र करते हैं, जिसका कारण 'काल' कहा है काल भी पृथक् शुद्धि करनेवाला है, यदि काल अलग स्वयं शुद्धि करनेवाला न होवे तो आशौचमें तीर्थ स्नान करनेसे शुद्धि हो जावे वह नहीं होती है, जिससे यह निश्चित सिद्धान्त है, कि काल भी शुद्धि करनेवाला है आशौचके १०दिन पूर्ण हो जानेके बाद तीर्थस्नान पवित्र करता है, सारांश यह है कि जितने कालसे शुद्धि होनेवाली है, उतने समयसे ही तीर्थादिसे लोक शुद्ध हो सकता है, ब्राह्मण तो शीघ्र ही शुद्ध करनेवाला है. उनके वचन मात्रसे बहुत नीच भी शुद्ध हो जाता है, 'खानमें रहा हुआ पदार्थ शुद्ध है' 'घृतसे पकाया हुआ अन्न छुवा जाता नहीं' 'संयमवाला शुद्र भोजन ले आवे तो वह खाया जा सकता है' आदि वाक्य बिना संशयके शुद्धि प्रतिपादक हैं, इसी कारणसे क्षेत्र आदिसे ब्राह्मण उत्तम है, और तीर्थ आदि भी जो पवित्र करते हैं उनमें भी महापुरुषोंकी दृष्टि ही हेतु है सर्वत्र ब्राह्मणकी दृष्टि पड़नेसे शुद्धि हो जाती है, जैसे कि कहा है,

''अभ्यनुज्ञाविहीनं हि ब्राह्मणानां विशेषतः।
सर्वं निष्फलतां याति व्रतदानार्चनादिकम्।।''

सम्मतिके बिना विशेष कर ब्राह्मणोंकी सम्मति बिना किया व्रत, दान और पूजन आदि सर्व निष्फल होता।।५२।।

जो हेतु ब्राह्मणोंकी उत्कर्षता बताता है वह अन्यत्र भी हो तो फिर

ब्राह्मणोंको विशेष क्यों माना जावे? इस शंकाका उत्तर 'ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान्' श्लोकमें देते हैं.

ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान् सर्वेषां प्राणिनाम् इह।
तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः ।।५३।।

इस जगतमें सर्व प्राणियोंमें ब्राह्मण जन्मसे उत्तम है, फिर यदि तपस्या, विद्या और संतोष तथा मेरी कलासे युक्त हो तो क्या कहना? सुवर्णमें सुगंध हो जावे।।५३।।

ब्राह्मण जन्मते ही सर्व वर्णोंसे उत्तम हो जाता है, अर्थात् सर्व प्राणियोंको उसकी पूजा करनी पड़ती है उसमें भी यदि तप विद्या और सन्तोषवाला हो जाये तो विशेष महत्ववाला बन जाता है. तपस्यासे देहका माहात्म्य(महत्व), विद्यासे इन्द्रियोंकी महानता, संतोषसे अन्तःकरणकी उत्तमता प्राप्त करता है, इस प्रकार तप विद्या और सन्तोषवान् होनेसे तीन गुणों(सत्त्व, रज और तमोगुण)का प्रभाव उस पर नहीं पड़ता है, ब्राह्मणकी उत्तमताका सबसे उत्कृष्ट दूसरा हेतु देते हैं, 'मत्कलया' मेरी कला, भगवदीयपन वा भक्तिसे वह युक्त हो, इन गुणोंसे युक्त ब्राह्मण हो तो कहना ही क्या।।५३।।

जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पतिकी ही सेवा करती है वह उत्तम हो वा अधम हो वैसे आपके भक्त आपकी ही सेवा करना चाहते हैं, उत्कृष्ट वा अपकृष्ट देखते ही नहीं हैं ऐसी परिस्थितिमें भक्तोंको ब्राह्मणकी सेवा करनी चाहिए यह कैसे बन सकता है, इस पर निम्न श्लोक कहते हैं.

न ब्राह्मणान् मे दयितं रूपम् एतत् तुर्भुजम्।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ।।५४।।

वह चतुर्भुज स्वरूप भी मुझे ब्राह्मणोंसे विशेष प्यारा नहीं है क्योंकि सर्ववेदरूप ब्राह्मण है और मैं सर्वदेवरूप हूं।।५४।।

मेरे सेवकोंको मेरा हित[१] करना चाहिए, मेरा प्रेम तो अपनेसे भी ब्राह्मणमें विशेष है, जिसमें कारण यह है कि 'सर्वदेवमयो विष्णु' भगवान् सर्वदेवरूप है. 'सववेदमयोविप्रः[२]' सर्ववेद ब्राह्मणमें रहते हैं, देव मुझमें रहते हैं, प्रमेयसे[३] प्रमाण अधिक है, क्योंकि प्रमेयकी[४] सिद्धि प्रमाणके अधीन है यों कहकर भगवानने अपने हृदयका भाव प्रकट किया है, कि मैं प्रमेयबल कहां-कहां प्रकट करता रहूंगा, अतः ये ही प्रमाणरूप हैं, जिससे इनकी ही सेवाका अनुरोध किया है यह

ही अर्थ उचित है।।५४।।

१.सेवा. २.ब्राह्मण सर्ववेदरूप है. ३.प्रमेयरूप मुझसे प्रमाणरूप ब्राह्मण अधिक है. ४.मेरी प्राप्ति ब्राह्मणोंके आधीन है अर्थात उनके द्वारा होती है.

जो पुरुष ब्राह्मणोंका अनादर कर उन पूज्योंके उपदेश लेनेके सिवाय अपनी मनमानी पूजा करते हैं वे दुष्ट हैं, यों 'दुःप्रज्ञा' श्लोकमें कहते हैं.

दुःप्रज्ञा अविदित्वैवमवजानन्त्यसूयवः।
गुरुं मां विप्रमात्मानमर्चादाविज्यदृष्टयः।।५५।।

जो ब्राह्मणके इस प्रकारके स्वरूपको न जानकर उनसे ईर्ष्या करते हैं वे दुष्ट बुद्धिवाले हैं, अतः वे गुरुरूप, मेरेरूप और आत्मरूप ब्राह्मणकी सेवा न कर केवल मूर्तिमें ही पूज्य बुद्धि रखते हैं।।५५।।

इसी तरह मेरी सम्मतिवाले सिद्धान्तको[१] न समझकर ब्राह्मणोंके वचनोंमें ईर्ष्यासे श्रद्धा नहीं करते हैं अर्थात् उनका तिरस्कार करते हैं उनका तिरस्कार करनेसे पूजा फलीभूत नहीं होती है, कारणकि वे मुख्य गुरु हैं, क्योंकि वे ब्राह्मण मैं ही हूं, फिर विशेषमें पूजा करनेवालेका भी आत्मस्वरूप मैं हूं, इसलिए उसने आत्माका ही तिरस्कार किया है. सर्व अपनेलिए[२] किया जाता हैं अतः आत्माकी अवज्ञा करनेवाले उत्तम कैसे बनेंगे? वे तो तीर्थक्षेत्र आदिमें पूज्य बुद्धिवाले हैं. उनकी पूजा तो व्यवस्था पूर्वक करनी चाहिए, न कि ज्यों मनमें आवे त्यों की जा सकती है, जैसे कि प्रथम स्नान अनन्तर अलंकार आदि धराने आदि व्यवस्थासे पूजा की जा सकती है, वह व्यवस्था गुरुओंसे ही जानी जा सकती है अन्यथा निष्फल होती है।।५५।।

१.मेरे कहे हुए प्रकारके, ब्राह्मण स्वरूपको. २.आत्माकेलिए.

ब्राह्मणकी पूजासे, मूर्ति, क्षेत्र आदिकी पूजा विशेष है क्योंकि अर्चादिमें भगवानकी सन्निधि गुण है अन्य जीवके साथ सम्बन्ध होनेसे जो अभिमान आदि होता है, वह अर्चादिमें नहीं है, इसका उत्तर 'चराचरमिदं' श्लोकमें देते हैं.

चराचरामिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः।
मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया।।५६।।

चर और अचर यह विश्व और इसके जो भाव तथा कारण है वे सब मेरे (भगवानके)रूप हैं, यों मेरे दर्शनसे, ब्राह्मण अपने चित्तमें धारण कर लेते हैं।।५६।।

ब्राह्मणमें सर्व हैं, क्योंकि वह ज्ञान द्वारा यों जानता है कि यह सर्व विश्व मेरी आत्मामें है. यह सर्व जगत् मुझमेंसे ही उत्पन्न हुआ है, मुझमें इसकी स्थिति है और मुझमें ही लीन होता है, ऐसी ब्राह्मी स्थितिवाला ही अविनाशी अक्षरब्रह्म है. 'अणोरणीयानहमेव विष्णुः इत्यादि श्रुतेः' अणुसे अणुतर भी विष्णु मैं ही हूं और, 'यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणेवसन्ति' जितने भी देवता हैं, वे सर्व वेद जाननेवाले ब्राह्मणोंमें रहते हैं, वे समझाते हैं कि, यह जंगम और स्थावर जितना भी जगत् है, तथा इसके कार्य और उसके कारणरूप तत्त्व हैं यह सर्व ही भगवद्रूप हैं यो जानकर अपने चित्तमें इनको इस रूपसे ही धारण करता है, इसलिए अर्थात् विशेष प्रकारसे अपनेको पूर्ण करनेसे ब्राह्मणको 'विप्र' कहा जाता है, हृदयमें मेरे साक्षात्कार करनेसे ही इस प्रकार सर्व जगतको भगवद्रूपसे धारण कर सकता है, क्योंकि अन्तःकरणमें भगवानके विराजमान हो जानेसे उस स्वरूपमें स्थित सर्व विश्वको देखता है, इसलिए कहा जाता है कि ब्राह्मणमें स्थावर-जंगम सर्व जगत् रहता है।।५६।।

इस प्रकारका ब्राह्मणका उत्कर्ष कहकर 'तस्माद्' श्लोकमें कर्त्तव्य कहते हैं.

तस्माद् ब्रह्मऋषीनेतान् ब्रह्मन् मच्छ्रद्धयार्चय।
एवं चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः ।।५७।।

इस कारणसे, हे श्रुतदेव ब्रह्मन्! तुम्हारी जैसी श्रद्धा मुझमें है, वैसी श्रद्धासे इन ब्रह्मर्षियोंकी पूजाकर जो तूं इस प्रकार इनकी पूजा करेगा तो मैं मानूंगा कि तुमने बहुत वैभवोंसे मेरी पूजा की है, अन्यथा ''यदि इनकी इस तरह श्रद्धासे अर्चना आदि न करोगे तो'' मैं अपनेको पूजित नहीं समझूंगा।।५७।।

इन आए हुए ब्राह्मणोंको भगवानने 'ब्रह्मर्षि' विशेषण देकर यह बताया है कि वे वेदके दोनों काण्डोंको पूर्णरीतिसे जाननेवाले हैं, श्रुतदेवको 'ब्रह्मन्' विशेषण देकर यह जताया है कि आप भी वैसे ही हैं, अतः जो तुम मेरी आज्ञाका पालन न करोगे तो दूसरे भी न करेंगे, यों भी समझाया है कि एक ब्राह्मण भी तुमने जैसे-तैसे पूजा, तो मैं समझगा कि तुमने मेरा बड़े वैभवसे पूजन किया।।५७।।

भगवानने जैसा उपदेश दिया तदनुसार ब्राह्मणोंकी पूजा की, यह 'स इत्थं' श्लोकसे श्रीशुकदेवजी कहते हैं.

श्रीशुक उवाच
स इत्थं प्रभुणादिष्टः सह कृष्णान् द्विजोत्तमान्।

आराध्यैकान्तभावेन मैथिलश्चाप सद्गतिम् ।।५८।।

श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि प्रभुसे इस प्रकार आज्ञप्त श्रुतदेवने श्रीकृष्ण सहित ब्रह्मणोत्तमोकी अनन्यभावसे पूजा की जिससे ब्राह्मण और मैथिल दोनोंने सद्गति पाई।।५८।।

श्रीकृष्ण प्रभु हैं अतः उनकी आज्ञाको कोई अन्यथा नहीं कर सकता है. अनन्तर श्रीकृष्ण सहित उन ब्राह्मणोत्तमोंकी अनन्यभावसे पूजा की, वे ब्राह्मण एक तो स्वभावसे उत्तम फिर विशेषता यह कि भगवानके अधिष्ठानरूप थे ऐसोंकी पूजा करनेसे सद्गति प्राप्त की. उस समय वा बादमें मैथिलने देह त्यागनेके बाद वैसी ही गति पाई, 'च' पदसे यह सूचन किया कि उनके सम्बन्धी भी उसी प्रकार अनन्य भक्तिमें प्रवृत्त होकर भगवत्सायुज्य पाने लगे।।५८।।

इस प्रकार भगवानके चरित्रका वर्णनकर अन्य चरित्र कहनेकेलिए फिर भगवान् द्वारका पधारे, यों 'एवं स्वभक्तयो' श्लोकमें कहते हैं.

एवं स्वभक्तयो राजन् भगवान् भक्तभक्तिमान् ।
उषित्वादिश्य सन्मार्गं पुनर्द्वारवतीमगात् ।।५९।।

हे राजन्! भक्तोंके भक्त भगवान् इस प्रकार भक्तोंके पास रहकर और उनको सन्मार्गकी शिक्षा देकर फिर द्वारका लौट आए।।५९।।

हे राजन्! यह सम्बोधन इसलिए दिया है कि परीक्षितकी कथामें विश्वास रहे, भक्तोंके भक्त कहनेमें कारण कहते हैं कि श्रुतदेव और मैथिल राजाके पास बिना बुलाए स्वयं पधारे मिथिलाके राजाके कहने पर उनके घरमें विराजमान हुए, और श्रुतदेवके घर विराजे वहां उसके प्रार्थना करने पर उसको सन्मार्गका उपदेश दिया सत्पुरुषोंकी गति भगवान् हैं, जिसमें मार्गदर्शक ब्राह्मण हैं, इसलिए उनके भजन करनेकी आज्ञा देकर फिर अपने स्थान द्वारका पधारे ऐसा अर्थ है।।५९।।

इति श्रीमद्भागवत् महापुराण दशम स्कन्धके ८३वें अध्यायकी
श्रीमद्वल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनीके गुण प्रकरणके
द्वितीय अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण.

अध्याय ८४

वेद स्तुति

शब्दार्थयोरुत्तमयोः सम्बन्धो यादृशो मतः।
तं विवेचयितुं कृष्णः श्रुतिगीतं चकार ह।।का.१।।

कारिकार्थः वेदरूप शब्द और ब्रह्मरूप अर्थका वाच्य[१] वाचक[२] सम्बन्ध जैसा महापुरुषोंने माना है, उस प्रकारके सम्बन्धका अन्य प्रकारके सम्बन्धोंसे[३] पृथक् करनेकेलिए व्यासजीने यह श्रुतिगीत कहा है।।१।।

१. जिसका विधान किया जाता है.

२. जो विधान करता है ऐसा रूप सम्बन्ध.

३. सम्बन्ध तीन(शक्ति, गौणी और तात्पर्यरूप सम्बन्ध) प्रकारका होता है, अ. शब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार, ब. समानता अर्थरूप सम्बन्ध, क. तात्पर्य बतानेवाला अर्थरूप सम्बन्ध. भगवानने श्रुतियोंसे रमण किया उसके अन्तमें आप(व्यासजी)को भी वैसे आनन्द स्वरूपके दर्शन हुए जिससे आनन्द विभोर होकर यह श्रुतिगीत प्रकट किया, इस श्रुतिगीतके प्रकट करनेका आशय यह है कि हम भी उसका ज्ञान प्राप्तकर आनन्दका अनुभव करें, इस श्रुतिगीत अध्यायसे व्यासजीने ब्रह्मसुत्रके 'ईक्षत्य अधिकरण'का समर्थन किया है.

प्रमाणं ब्राह्मणः प्रोक्तः प्रमेयमपि वै बृहत्।
स एव भगवान् कृष्णस्ततो भजनमीरितम्।।का.२।।

कारिकार्थः ब्राह्मणको[१] प्रमाण और प्रमेय भी कहा है, प्रमेय ब्रह्म है. वह 'प्रमेय' भगवान् कृष्ण ही है, इसलिए इनका ही भजन करना चाहिए, यों कहा है।।२।।

१. उत्तरार्धके ३७वें अध्यायमें श्रुतदेव ब्राह्मण प्रमाण प्रधान होनेसे ''एवं सर्व वेद मयो विप्र'' श्रुत्यानुसार ब्राह्मण प्रमाण है एवं उसको मानाधीना प्रमेय सिद्धि, कहकर प्रमेय भी माना है, वहां ५०वें श्लोकमें भजनका उपदेश दिया है.

तत्रोपपत्तिः प्रष्टव्या वाच्यवाचकनिर्णये।
अतो राजा श्रुतीनां वै निर्णयार्थमपृच्छत।।का.३।।

कारिकार्थः वाच्य(प्रमेय ब्रह्मके विषयमें) वाचकके निर्णणका युक्ति सहित हेतु पूछना चाहिए, अतः राजा प्रमाण कह इस विषयमें(प्रमाण, प्रमेय और भजनमें) जो शंका है उसका निर्णय पूछते हैं।।३।।

सगुणं चेद् वेदवाक्यं ब्राह्मणास्तत्र च स्थिताः।
ततोऽत्र भगवानेव पूज्यो नान्यः कथञ्चन।।का.४।।

कारिकार्थः इस कारिकामें निर्णय करनेका प्रयोजन कहते हैं, वेदोंके वाक्य यदि यों प्रतिपादन करते हैं, कि ब्रह्म अनन्त गुणवाला है और ब्राह्मण उसमें ही स्थित है, अर्थात् सर्व प्रकारसे उसका ही ध्यान आदि करते हैं, तो वह भगवान् ही पूज्य है अन्य कोई नहीं।।४।।

मतान्तरोक्तिरेषा हि सिद्धान्ते वैदिके तथा।
अनन्तगुणपूर्णो हि हरिर्ब्रह्म श्रुतिस्तथा।।का.५।।
त्रयमेकं स्वशक्तिं हि त्रेधा स्वस्मिन्निधाय हि।
फलप्रमेयमानत्वं सच्चिदानन्दतां गतम्।।का.६।।

कारिकार्थः यह अन्यमतानुसार[१] उक्ति है, किन्तु वैदिक सिद्धान्तमें भी यह मान्य की गई है, जैसेकि अनन्त गुणोंसे पूर्ण हरि[२] ब्रह्म[३] और श्रुति ये तीनों एक ही है. वास्तवमें अपनी शक्तिके तीन प्रकारकर, फिर उनको अपने भीतर ही धारणकर प्रभु फल प्रमेय और प्रमाण तथा आनन्द[४] चित्[५] तथा सत्[६] रूप बनते हैं।।५-६।।

१.सनन्दके मतानुसार. २.श्रीकृष्ण. ३.अक्षर.

४.आनन्दरूपको प्रधानतया स्वीकार करनेसे फलरूप श्रीकृष्ण स्वरूप है.

५.चिदंश शक्तिको प्राधान्यरूपसे स्वीकारकर अक्षरब्रह्म कहा है.

६.सदंशकी जब प्रधानता स्वीकार करते हैं. तब शब्दब्रह्म श्रुति कहलाते हैं. सत् चित् और आनन्द ये तीन स्वरूप धर्मपनसे युक्त होनेसे उनको शक्ति कहना उचित है, स्वरूपधर्म होनेसे उसका स्वीकार करना भी संगत है वे दोनों 'ही' शब्दसे तात्पर्य है.

तथापि सांख्यसिद्धान्ते तथा तदुपजीवके।
वैष्णवेऽन्यत्र वा वाच्यं श्रुतिसंग्रहणं यथा।।का.७।।

कारिकार्थः यों होते हुए भी[१] सांख्यसिद्धान्तानुसार एवं उनके उपर आधार रखनेवाले वैष्णव[२] सिद्धान्तानुसार अथवा अन्यत्र मुख्य[३] भक्ति सिद्धान्तानुसार श्रुतियोंका अर्थ वैसा ही किया जाता है।।७।।

१.यदि श्रुति ब्रह्म और श्रीकृष्ण एक ही है तो श्रुतियोंको भाटके दृष्टान्त सम कहना उचित नहीं है तो भी.

२.सगुण भक्ति सिद्धान्त.

३.मुख्य भक्ति सिद्धान्तमें 'आनन्दादय प्रधानस्य' इस सूत्रानुसार आनन्दादिकी भगवानमें ही स्थापना है, इसीसे ही श्रुतियां गोपीयांरूप है, ज्ञानमार्गमें ही तुल्यताका व्यवहार हैं, अतः बुद्धि दृष्टान्त उचित है.

अष्टत्रिंशे श्रुतीनां हि यथा वाच्यं बृहद् भवेत्।
तदर्थं पूर्वपक्षादिसिद्धान्तफलमीर्यते।।का.८।।

कारिकार्थ: उत्तरार्धके इस अध्यायमें श्रुतियों द्वारा जैसे ब्रह्मका विधान हो सके तदर्थ इसके प्रारंभमें पूर्वपक्ष आदि सिद्धान्त कहा है एवं फल भी कहनेमें आया है।।८।।

कारिकार्थ समाप्त.

आभासार्थ: भगवानके गुणोंका विरोध पूर्वाध्यायमें हुआ था जिसको वहां ही मिटा दिया, तब उस अलौकिक ब्रह्ममें राजा प्रमाणके विरोधकी शंका[१] करते हैं.

१.भगवानमें वीर्य गुण होते हुए भी उनकी बहिनको अर्जुन कैसे ले गया जिसके उत्तरमें कहा है कि आपके गुण लौकिक नहीं है अलौकिक हैं जिससे सिद्ध है कि भगवान् अलौकिक हैं तो सगुण श्रुतियां उस अलौकिक ब्रह्मका वर्णन कैसे करती है, यह शंका है.

परीक्षिदुवाच

ब्रह्मन् ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणे गुणवृत्तयः।
कथं चरन्ति श्रुतयः साक्षात्सदसतः परे ?।।१।।

श्लोकार्थ: परीक्षितने कहा कि हे ब्रह्मन्! गुणोमें जिनकी वृत्तियां रहती है, वैसी सगुण श्रुतियां जिसका निर्देशन न हो सके, वैसे गुणरहित और सत्-असत्से उपर ब्रह्मका साक्षात् वर्णन कैसे करती है?।।१।।

व्याख्यार्थ: सगुण श्रुतियां ब्रह्मका साक्षात् प्रतिपादन कैसे कर सकती हैं? राजा, यहां, श्रुतियोंकी एकवाक्यता मानकर प्रश्न करता है, एकवाक्यताका तात्पर्य है कि सर्व श्रुतियां जब एकका ही वर्णन करे परन्तु ये तो, यों नहीं करती हैं, ये तो पृथक्-पृथक् गुणोंका वर्णन करती हैं. एक ही अर्थ हो तो एकवाक्य होवे वहां सम्पूर्ण वेदोंका तात्पर्यार्थ यह है, कि वाक्यार्थ ब्रह्म ही वेदार्थ है, इस मतको राजा नहीं जानता है, अतः पूछता है कारणताको प्राप्त पदार्थ अपने संसर्गवाले वाक्योंके अर्थको जानते हैं यों राजा मानता है, अर्थात् राजा सखण्ड ज्ञानको ही

मानता है, अखण्ड वाक्यार्थ ज्ञानको नहीं जाननेसे ही प्रश्न करता है 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' 'सर्ववेदायत्पदमानन्ति' समग्र वेदोंसे, मैं ही जानने योग्य हूं 'सर्ववेदा यत्पदमाममनन्ति' 'समस्त वेद जिसके पदोंमें प्रणाम करते हैं'. आदि श्रुति–स्मृति द्वारा वेद एक ही अर्थको प्रतिपादन करते हैं, यों सुना जाता है और श्रुतियां भगवानकी अनेक प्रकारकी ज्ञानशक्ति तथा क्रियाशक्तिका प्रतिपादन कर रही हैं. शक्तिको गुणवाली माना है, अतः श्रुतियां सगुण हैं. शब्दोंसे लौकिक पदार्थोंका ही संकेत हो सकता है, न कि अलौकिकका, इसलिए भगवत्सम्बन्धी पदार्थ जो अलौकिक हैं, उनको ये प्राकृत श्रुतियां लौकिक शब्दोंमें कैसे बता सकेगी? यदि कहो कि भगवत्सम्बन्धी पदार्थ लौकिक हैं, तो उनके सम्बन्धसे भगवान् भी लौकिक हो जाएंगे इससे पूर्वपक्षमें वेद भी साधन परायण ही है, जिससे यह सिद्ध होता है, कि ब्रह्म स्वप्रकाश ही होनेसे वेदोंसे नहीं जाने जा सकते हैं तथा अपने अनुभवसे ही जाने जा सकते हैं, जब वह स्वयं प्रसन्न होंगे तब कृतार्थ करेंगे, इस प्रकार प्रमेयके बलसे ही कार्यकी सिद्धि होती है, न की प्रमाणबलसे, यो पूर्वपक्षसे कहा है.

ब्रह्म अलौकिक है, जिसको सिद्ध करनेकेलिए हेतु देते हैं 'अनिर्देश्य'. जिसका निर्देश न हो सके, वैसा ब्रह्म है, कारणकि, निर्देश लौकिक बुद्धिका विषय है, जैसेकि 'यह घड़ा हैं' 'यह वस्त्र हैं, इसी तरह यदि 'ब्रह्म' शब्दका लौकिक बुद्धिसे विचार किए जाने पर जाना जाता है कि सबको अपनेमें समा लेवें ऐसे सबसे बड़े गुणवाले ब्रह्म हैं, जिसमें भी ब्रह्ममें अलौकिकपन ही फलित अर्थात् सिद्ध होता है, इससे ब्रह्म पद भी युक्ति सहित हेतुओंसे अलौकिक होनेसे उसमें किसी प्रकार अनुपपत्ति नहीं है.

अवाच्यः सर्वशब्दानां बुद्ध्या वाच्यो निगद्यते।
ततः समानधर्मेण व्यवहारो निरूप्यते।।का.९।।

कारिकार्थः सर्व शब्द द्वारा जिसका निरूपण नहीं किया जा सकता है उसका बुद्धिसे निरूपण होता है, इससे समानधर्मसे उसका व्यवहार होता है, यों निरूपण किया जाता है।।९।।

व्याख्यार्थः श्रुतियां पदशः गुणवृत्तिवाली हैं, क्योंकि निर्गुण ब्रह्ममें गुणोंका प्रतिपादन करनेवाली हैं, यदि गुण बतानेवाली न होवें, तो सर्वत्र एक ही अर्थ बतानेसे, शब्दका अर्थके साथ सम्बन्ध न बता सकें, जिससे ब्रह्ममें गुणोंका

स्वीकार होनेसे 'अद्वैत'की हानि होती है, इससे सगुण श्रुतिया गुणरहित ब्रह्मका साक्षात् वर्णन कैसे कर सकेगी? इस पर कहते हैं, कि कार्य-कारणभावको प्राप्त भगवान् ही हैं, अतः उसके प्रतिपादन द्वारा उन कार्य-कारणमें परिणाम प्राप्त श्रुतियां उसके द्वारा धर्मीमें परिणाम पाती हैं, अर्थात् इसी प्रकार लक्षणा, गौणी वा तात्पर्यवृत्तिसे उस ब्रह्मका साक्षात् वर्णन कर सकती हैं, इस पक्षका निरास करनेकेलिए 'सदसतः पर' यह ब्रह्मका विशेषण दिया है, कार्य और कारणसे उत्तम होनेसे ब्रह्म, कार्य-कारणकी वार्ताको जानता नहीं है, कारणकि जो ब्रह्म स्वानन्दसे पूर्ण है उनका कार्य-कारणसे कौनसा सम्बन्ध वा प्रयोजन? अतः सम्बन्ध न होनेसे, गुणभाव होनेसे और कार्य तथा कारणके अज्ञानके तात्पर्यका भी अभाव होनेसे यों सिद्ध होता है कि ब्रह्म किसी प्रकार भी श्रुतिपाद्य नहीं है, इस प्रकार पूर्वपक्ष कहा है।।१।।

आभासार्थः 'बुद्धीन्द्रिय' श्लोकमें श्रीशुकदेवजी सिद्धान्त कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

बुद्धीन्द्रियमनःप्राणान् जनानाम् असृजत् प्रभुः।
मात्रार्थं च भवार्थं च आत्मनेऽकल्पनाय च ।।२।।

श्लोकार्थः श्रीशुकदेवजीने कहा कि जगतकेलिए, उत्पन्न होनेकेलिए, आत्माकेलिए, कल्पना होने अथवा न होनेकेलिए, प्रभुने मनुष्योंको बुद्धि, इन्द्रियां, मन और प्राण दिए हैं।।२।।

व्याख्यार्थः इस विषयमें पूर्वपक्ष करनेवालेसे पूछना चाहिए कि 'ब्रह्म' श्रुति सिद्ध है. उसका श्रुति द्वारा विचार करनेकेलिए कहते हो अथवा जिसकी अपनी बुद्धिसे कल्पना की है उसका विचार करना चाहते हो? श्रुति सिद्धके प्रतिपादनमें तो किसी प्रकार संशय नहीं है, केवल उसका प्रकार[१] विचारा जा सकेगा, और दूसरापक्ष जिसमें ब्रह्मकी बुद्धिसे कल्पना की जाती है वह प्रमाणरूप नहीं है, जिससे सत्पुरुष उसकी उपेक्षा करते हैं, ब्रह्म तो जैसा वेदान्तोंमें कहा गया है, वैसा ही मानना चाहिए.

वेदान्तोंमें वेद यों कहते हैं कि ब्रह्म सर्व व्यवहारोंसे परे हैं, जिसमें किसीका व्यवहार नहीं हो सकता है जिसका निरास करते हुए कहते हैं कि, वैसा मूलरूप ब्रह्म सर्व व्यवहारोंसे अतीत होते हुए भी, स्वयं ही अपनी शक्तिरूपसे[२] अपने गुणरूपसे और अपने कार्यरूपोंसे प्रकट हुए हैं, अर्थात् वैसे रूप धारण किए

हैं यों श्रुति प्रतिपादन करती है और स्वयं कहते हैं, अतः समग्र ब्रह्म श्रुतिसे ही जाना जा सकता है न कि तर्कसंगत मात्रसे ब्रह्मका सत्यज्ञान होता है, और लौकिक गुणोंकी समानतासे समीप वा दूरको वैदिक परम्परासे ही 'संकेत' होता है, इससे समग्र वेद खण्डशः भगवानके धर्मोंको जताते हुए सिद्ध कर बताते हैं कि ब्रह्म नानाविध धर्मोंवाला अनन्त है. इसी तरह वेदके समग्र वाक्य ब्रह्मके ही प्रतिपादक हैं, वह वेदवाक्य अपूर्व अर्थात् अलौकिक प्रकारका है लौकिककी भांति नहीं जैसे[३] लोकमें जो अर्थ पहले लौकिक पुरुषोंकी बुद्धिमें रहता है, पश्चात् उसकी वाणीमें वाक्यरूप बन जाननेकी इच्छावालेको ज्ञान कराता है वैसे ही ईश्वरकी बुद्धिमें रहा हुआ अलौकिक अर्थ भी, उनकी वाणी(वेदवाक्य)में आकर फिर आपके ज्ञानकी इच्छावालेको अपना ज्ञान कराते हैं, इस प्रकार शुकदेवजी सिद्धान्तका[४] निश्चयकर भगवानकी बनाई हुई चार प्रकारकी सृष्टिका प्रतिपादन करते हैं, भगवानने प्रथम बुद्धि अनन्तर इन्द्रियां, बादमें मन अन्तमें प्राण पैदा किए. इस प्रकार समस्त मनुष्य जातिकेलिए करण बताए, नहीं तो जीव न कुछ समझ सकते और न कर ही सकते जीव सम्बन्धी चार ही करण है इन जीव सम्बन्धी करणोंमें जो सामर्थ्य है वह प्रभु है, अर्थात् इनमें सामर्थ्य प्रभुरूप है इन चारोंमेंसे प्रत्येकके उत्पादनका प्रयोजन कहते हैं इनमें पहले बुद्धि, मात्राकेलिए बनाई हैं, 'मात्रा'का अर्थ है, जिसका माप किया जा सके वे 'मां' और जिसकी रक्षा की जावे वे 'त्राः' अर्थात् ज्ञान और क्रियोपयोगी विषय याने सर्व जगत्, वे टुकड़े-टुकड़े किए होनेसे अर्थात् जुदे-जुदे अनेक किए होनेसे शब्दसे समझाने पर भी पुरुषोंके ज्ञान और क्रियाके विषयमें उपयोगी नहीं बन सकते थे क्योंकि उसमें बुद्धिका अभाव था, अतः बुद्धिको उत्पन्न किया. वह बुद्धि सबका संग्रहकर सकती है जैसे चित्रमें(नक्शेमें) सर्व पदार्थोंकी स्फूति होती है, वैसे ही बुद्धिमें सर्व जगतकी स्फूर्ति होती है, उस बुद्धिसे जो कुछ ज्ञेय है वा कार्य है, वह सब किया जा सकता है, अतः जगतकेलिए बुद्धिका निर्माण किया है, इससे खण्ड-खण्ड अर्थके प्रतिपादक वेदोंका भी बुद्धिसे महावाक्यके अर्थका ज्ञान होता है, साराश यह है कि इसीसे ही वेदोंका ब्रह्म प्रतिपादकपन सिद्ध होगा.

आगे जो तीन फलरूप प्रतिपादन किए गए हैं, उनकेलिए बुद्धिका निर्माण किया गया है. यह 'च' पदका आशय है, 'भवः' उद्भव सर्व प्राणि बुद्धिसे उन्नतिको प्राप्त करते हैं, वैसे ही आत्माकेलिए भी बुद्धिकी रचना की है, बुद्धिसे

ही भगवानमें निष्ठावाले और आत्मस्वरूपमें निष्ठावाले होते हैं और भगवत्सेवा करते हैं, कल्पना न होवे, इसलिए भी बुद्धि रची है. बुद्धिसे ही ज्ञानमें निष्ठावाले होते हैं, अनेक प्रकारके पदार्थोंके ध्यानकेलिए कल्पना भी करते हैं, उससे जैसे सर्व सिद्ध होगा, वैसे सर्व प्रकारकी सबकी अनुपपत्तिका भी नाश होगा, तदर्थ बुद्धि पैदा की है, इससे यह सूचन किया है कि पूर्वपक्षका भी बुद्धिसे ही निरस नहीं करना चाहिए, वैसा ही 'भावार्थ' अर्थात् जन्मान्तर सिद्धिकेलिए 'इन्द्रियां' बनाई है, किन्तु केवल जन्मान्तर सिद्धिकेलिए, ही इन्द्रियोंकी सृष्टि है, यों कहना अप्रयोजक होगा, अतः इन्द्रियोंकी सृष्टि अन्योंकेलिए भी है, जैसे कि बुद्धि विचारकर सके इसलिए भी इन्द्रिय सृष्टि है, ज्ञानेन्द्रिय द्वारा ही बुद्धिकी उत्पत्ति होती है, इन्द्रियां भी मनमें संयोगसे कार्य करनेमें समर्थ होती है, अतः मनकी सृष्टि की है मनःसंयोगसे जब इन्द्रियां कर्म करती हैं, तब उन कर्मोंसे जन्मान्तरकी प्राप्ति होती है, 'च' शब्दसे यह सूचित किया है कि इन्द्रियोंकी उत्पत्तिके अन्य भी प्रयोजन हैं, उनसे ही विषयोंका ज्ञान होता है और विषयोंके कार्य 'भोग' किए जा सकते हैं, इन्द्रियोंसे ही भगवत्सेवा हो सकती है, और इन्द्रियोंसे ही अनेक प्रकारकी कल्पना की जाती है, और मोक्ष भी इन्द्रियों द्वारा क्रिया करनेसे प्राप्त किया जा सकता है वैसे आत्माकेलिए भी मनकी रचना की है, जैसाकि श्रुति भगवती कहती है कि 'मनुसैवानुद्रष्टव्यं नैव नानाऽस्ति किञ्चन्' अर्थ–मनसे ही देखना चाहिए, जगतमें जो अनेक दीखता है वह आत्माके सिवाय अन्य कुछ नहीं है, और इन्द्रियोंकी प्रवृतिकेलिए, मनकी सृष्टि की है. प्राणोंके उत्पन्न करनेका प्रयोजन कहते हैं कि, कल्पना न हो इसलिए प्राण रचे, क्योंकि प्राण कल्पनाको दूर करते हैं अर्थात् कल्पना करने नहीं देते हैं, सबकी एकता कराते हैं, अर्थात् सबको आत्माकी तरफ ले जाते हैं. यदि प्राण न होवे तो जब जगतकी प्रलय हो तब यदि अन्न आदिके परिणाम पृथक्–पृथक् होवे तो उस समय भी एकताकी बुद्धि न होवे. प्राणोंसे ही क्रियाशक्ति उत्पन्न होती है, और प्राण ही सर्वत्र कारणरूप है जैसेकि कहा है 'अन्नेन प्राणाप्राणैर्बलम्' अन्नसे प्राण, प्राणोंसे बल उत्पन्न होता है, फिर ''प्राणेर्मनो मनसश्चविज्ञान विज्ञानादानन्वोब्रह्म योनि इति निरूपितम् सक्रमोनापिग्राह्यः'' अर्थात् प्राणोंसे मन, मनसे विज्ञान विज्ञानसे आनन्द वह की योनि[५] है, यों निरूपण किया है, वह क्रम यहां भी लेना चाहिए. इसी तरह भगवानने सबके उपयोगकेलिए ये चार बनाए. इस सृष्टि[६] द्वारा सर्व

प्रकारकी शंकाओंको मिटाना चाहिए यह श्रीशुकदेवजीका हृदय है.

यही बात निबन्धमें कही है, कि यदि भगवानका कर्तृत्व आदि गुण लौकिक होवे तो लौकिक युक्तिसे सिद्ध होवे और उनको लोक बता सके. किन्तु वे सब अलौकिक हैं, क्योंकि इन सबको भगवानने स्वरूपमेंसे उत्पन्न किया है अतः इनको अलौकिक वेद ही बता सकता है, अन्यमें कहनेकी सामर्थ्य नहीं है. इसमें भगवानकी अलौकिक कथाका वर्णन है, सब अलौकिक किया है, जिससे यश भी अलौकिक हुआ है 'अलौकिकस्यकरणात् यशोजातमलौकिकम्' उस अलौकिक यशका निरूपण इस अध्यायमें श्रुतियोंने १४वें श्लोकसे २८वें श्लोकमें किया है।।२।।

१.खण्ड, खण्ड वाक्य, तात्पर्यवृत्तिसे ब्रह्मके प्रतिपादक है, और अभिधावृतिसे अर्थात् व्युत्पत्ति कर अक्षरार्थ करनेवाली वृत्तिसे भगवानके धर्म कहे हैं, इसी तरह समग्र महावाक्य भगवानका प्रतिपादन करता है.

२.पूर्वपक्षमें जो अनिर्देश्य निर्गुण और सत्-असत्से उत्तम ब्रह्म है, ऐसे जो तीन विशेषण दिए है, सिद्धान्ती उनका निरास करनेकेलिए कहता है कि ब्रह्मने जाना कि मेरा व्यवहार हो नहीं सकता है, अतः उसने स्वयं अपनी अलौकिक शक्तिरूपसे अपनेको प्रकट किया वह ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिरूप शक्ति है इसलिए वैदिक शब्दोंमें भी आप अलौकिक ज्ञान और क्रियाशक्तिसे विराजमान हैं, अतः वैदिक शब्दोंसे ब्रह्मका निर्देश हो सकता है, जिससे सिद्ध है कि ब्रह्म अनिर्देश्य नहीं है.

'पूर्ववद्धा' इस न्यायसे कहा है कि ब्रह्म अपने धर्म(गुण)रूपसे स्वयं प्रकट हुवा है, जिससे सिद्ध हुआ कि ब्रह्म 'निर्गुण' नहीं है, यदि पूर्वपक्षानुसार ब्रह्म निर्गुण न होगा तो द्वैत हो जाएगा, यह दोष भी निर्मूल है, क्योंकि ब्रह्मसूत्रके(उभय व्यपदेशादहि कुण्डलवत्, इत्यादि) अनुसार ब्रह्म स्वयं ही धर्मरूप है अतः धर्म (गुण) भी ब्रह्मरूप है, अतः 'द्वैत' नही होगा.

में व्यवहारमें भी आ सकू इस इच्छासे ब्रह्म स्वयं कार्यरूपसे जगत् रूपसे प्रकट हुवे हैं, जिससे वे कार्य-कारणसे अनभिज्ञ नहीं है, अतः सत्-असत्से अतीत भी नहीं कहा जा सकता है.

तीनों पदोंमें 'स्व' कहनेसे यह सिद्ध किया है कि ब्रह्मकी ज्ञान और क्रिया शक्ति ब्रह्मरूप ही है और वह अलौकिक है न कि जीवोंकी शक्तिकी तरह जन्य और व्यवहार करनेवाली लौकिक है, ब्रह्मके धर्म ही ब्रह्मरूप होते हैं, न कि जीवके अनीशत्व आदि धर्म ब्रह्मरूप हो सकते हैं, ब्रह्मका कार्य जगत् आादि ब्रह्मरूप है, न कि अविद्याका कार्य मरुमरीचिका, स्वप्न आदि ब्रह्मरूप हैं, इस प्रकार स्वरूप

विचारसे तीनोंका निराकरणकर श्रुति स्वरूप विचारसे निराकरण करते हुए कहते हैं कि 'स्वयमेव च वक्ति' स्वयं भगवान् कहते हैं कि जो श्रुतिसे ही सर्व जाना जाता है, श्रुति लौकिक गुणोंको नहीं कहती है. जैसाकि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति वेदैश्च सर्वेरहमेव वेद्य' इत्यादि वाक्योंसे स्वयं भगवान् ही कहते हैं, कि श्रुतियां ब्रह्मका प्रतिपादन करनेवाली हैं. अतः श्रुतियां गुणोंकी वृत्तिवाली नहीं है.

३.जब वाक्यार्थ अपूर्व है तो उसका ज्ञान कैसे होगा? इस शंकाका निरास दृष्टान्त देकर करते है–जैसे चैत्र घड़ा बनाता है, इस वाक्यका भाव कहनेवालेके हृदयमें रहता है, पश्चात् उसकी वाणीमें आता है, जिससे घटकर्ताके जाननेकी इच्छावालेको चैत्रका ज्ञान कराता है वैसे ही जगत् कृतिरूप वेदका वाक्यार्थ प्रलय समयमें ईश्वरकी बुद्धिमें रहता है, पश्चाात् वह ईश्वरकी वाणी(वेद)में आता है, अनन्तर जिसको जगत्कर्ताके जाननेकी इच्छा होती है, उसको वह वेदवाणी ईश्वरका ज्ञान कराती है.

४.यही सिद्धान्त स्वसृष्टमिदमापीय' इस अध्यायके १२वें श्लोकमें सनन्दन कहेंगे कि प्रलयमें अन्य कुछ न होनेसे भगवान् सर्व व्यवहारातीतका विषय होनेसे 'अनिर्देश्य' रूप थे, किन्तु पश्चात् सब कुछ हो जानेकी स्वशक्ति आदि तीनरूप होनेसे इच्छासे निर्देश्य, सधर्मक और सदसद्रूप हुए तब ज्ञान कराने लगे.

५.कारण. ६.सर्ग, इन्द्रियां, मन और प्राण इस चतुर्विध सृष्टि.

आभासार्थ: इस अर्थका स्वयंने ही परिहार किया है, ऐसी शंकाको मिटानेकेलिए 'सैषा' श्लोकमें कहते हैं.

सैषा ह्युपनिषद् ब्राह्मी पूर्वेषां पूर्वजैर्धृता।
श्रद्धया धारयेद्यस्तां क्षेमं गच्छेदकिञ्चनः ।।३।।

श्लोकार्थ: यह श्रुति ब्रह्मने ही प्रतिपादन की है, अतः ब्राह्मी कही जाती है. वह पूर्वजोंके भी पूर्वजोंने धारण की है. श्रुति उपनिषद भी कहलाती है, उपनिषदका अर्थ ब्रह्मविद्या है, जिसको जो पुरुष श्रद्धासे धारण करता है, वह अकिञ्चन होकर क्षेमको प्राप्त करता है।।३।।

व्याख्यार्थ: यह 'उपनिषद' ब्रह्मविद्याकी प्रतिपादिका श्रुति है, 'ब्राह्मी है' अर्थात् इसको ब्रह्मने ही प्रतिपादन किया है. ब्रह्मने इसको प्रतिपादन किया है, जिसमें प्रमाण है 'सा प्रसिद्धा' वह प्रसिद्ध है यदि ब्रह्मने इसका परिपादन न किया होता तो यह इतनी प्रसिद्ध नहीं हो सकती थी, ब्रह्म प्रतिपादक अर्थ उचित ही है, इसमें यह हेतु है कि ब्रह्मके सिवाय दूसरा कोई भी परब्रह्मके इस अर्थका विवेचन करनेमें शक्तिमान नहीं है, 'उपनिषद्' शब्दसे ब्रह्मविद्याका निरूपण किया है,

उपनिषद् पदमें 'उप' उपसर्ग है जिसका भाव है कि जीवको प्रत्यंगात्माके पास पहुंचा देना. 'नि' षद्का विशेषण है 'षद्' पद 'षद्लृ' धातुसे बना है, जिसके तीन अर्थ है, १.विशरण, २.गति ३.पहुंचाना अर्थात् उसमें अवसान करा देना, सारांश यह है कि यह ब्रह्मविद्या जीवात्माको परब्रह्मके पास ले जानेकेलिए पूर्वभावको अर्थात् जीवभावकी स्थितिको नाशकर पश्चात् संघातसे केवल जीवको निकाल ब्रह्म स्वरूपकी प्राप्ति कराके उसमें ही उसका अवसान कराती है, जैसे अन्य सर्व अंश विशीर्ण हो जाते हैं, जिस प्रकार सर्वभावसे उसको प्राप्त हो जाता है, फिर जैसे वह कभी भी उसमेंसे लौटकर नहीं आता है, यह 'नि' पदका स्वारस्य है, इस प्रकारकी विद्या ब्रह्मविद्या ही हो सकती है, वैसे ही यहां भी शुकदेवजीके वाक्यमें रही हुई ब्रह्मविद्या, सर्व अयोग्यताको दूरकर वेदोंको ब्रह्म बतानेवाला बनाके ब्रह्मके साथ मिलाकर ब्रह्ममें ही लीन करती है, अर्थात् उपनिषद् जैसा ही अर्थ बतानेवाली होके अयोग्यता दूरकर सिद्धान्तका स्थापन करती है, जिससे ब्रह्मविद्या(उपनिषद)का प्रतिपादक होनेसे 'उपनिषद्' है, यों है, तो मेरे अन्तःकरणमें स्थित जो यह अनुपपत्ति है वह कैसे नष्ट होगी इसके उत्तरमें कहा है कि 'पूर्वेषां पूर्व जघृता' पूर्वजोंके भी पूर्वजोंने इसको धारण किया है, यों कहकर यह राय बताई है कि तूं भी इसको धारण करेगा तो तेरी अनुपपत्ति नष्ट हो जाएगी, ब्रह्मासे अन्योंने प्राप्तकर धारण की वैसे ही तूं धारणकर, ऐसी ब्रह्मविद्याको जो श्रद्धासे धारण करे वह तो अकिंचन हो तो भी क्षेम पाता है, अर्थात् सर्वसन्देह निवृति हो जानेसे भगवानको पाता है अतः सर्वसन्देह उपनिषदके अर्थका विचार करनेसे ही मिटाना चाहिए. यो सिद्धान्त कहा।।३।।

आभासार्थः यह विचार करनेमें राजा समर्थ नहीं है, क्योंकि सर्व श्रुतियोंका मथनकर निर्णय करना महान् पुरुषोंकेलिए भी कठिन है, इसलिए कृपाकर स्वयं शुकदेवजी पहले निर्णय(सनन्दन आदिने जो निर्णयकर दिया है) किये हुए श्रुतियोंके अर्थको कहनेकी 'अत्रते' श्लोकमें प्रतिज्ञा करते हैं.

अत्र ते वर्णयिष्यामि गाथां नारायणान्विताम्।
नारदस्य च संवादम् ऋषेर्नारायणस्य च ।।४।।

श्लोकार्थः इस विषयको समझानेकेलिए नारायणके सम्बन्धवाली गाथा आपको वर्णनकर बताउंगा, जिसमें नारद और ऋषि नारायणका संवाद है।।४।।

व्याख्यार्थः 'गाथा' पदका आशय है कि पहले जो वृतान्त हो गया है,

उसको वाक्योंमें कहकर बताना, वह श्रुतिगीता(वेदस्तुति) रूपा है, इसमें प्रमाण देते हैं कि 'नारायणान्विताम्' वह नारायण सम्बन्धी है, अर्थात् जिसमें भगवानको जगानेका ही वृत्तान्त है जैसाकि लक्ष्मीजीकी भुजाओंमें आए हुए, उदार गुणोंके समुद्र और समग्र जगतको उदरमें समाकर जो पोढे हुए हैं, उनको जगानेकेलिए श्रुतियां प्रवृत्त हुई हैं, अतः यह 'गाथा' 'श्रुतिगीता' कही गई है. आपने यों कैसे जाना इस पर उत्तर देते है कि ''नारदस्य च संवादमृषेर्नारायणस्य च'' इसी प्रकार ऋषिनारायण और नारदजीका परस्पर संवाद हुआ है, यहां आपको वह वर्णन बताऊंगा महत्पुरुषोंके किए हुए निर्णय और कहे हुए वचनोंको सब मानते हैं, जिनसे उनके सर्व सन्देह मिट जाते हैं, यदि ऐसा वैसा साधारण मनुष्य कहे तो संदेह नहीं मिटते हैं, अतः उसकेलिए संवाद कहूंगा 'च' पदका तात्पर्य प्रकट करते हैं कि नारायणजीका कहा हुआ जनलोकका संवाद कहूंगा।।४।।

संवाद कहनेकेलिए पहले कथाकी प्रस्तावना 'एकदा' श्लोकसे कहते हैं.

एकदा नारदो लोकान् पर्यटन् भगवत्प्रियः।
नारायणम् ऋषिं द्रष्टुं ययौ नारायणाश्रमम् ।।५।।

श्लोकार्थः किसी कालमें भगवान् जिसको प्यारे हैं अथवा भगवानके प्यारे, वैसे नारदजी लोकोंमें विचरण करते हुए सनातन ऋषिके दर्शनार्थ उनके आश्रममें पधारे।।५।।

व्याख्यार्थः नारदजी पर्यटन क्यों करते हैं? जिसका आशय प्रकट करते हैं कि पर्यटनसे 'श्रवण'का अधिकार प्राप्त होता है, और श्रवणमें बाधक दोष नष्ट होनेसे शुद्ध होता है, इसलिए पर्यटन करते है 'एकदा' किसी कालमें यों कहकर सूचित किया कि इस विषयमें काल रूकावट करनेवाला नहीं है, नारदजीके पर्यटनमें अन्य हेतु है कि भगवत्प्रिय हैं, अर्थात् नारदजीको भगवानके सिवाय अन्य कुछ प्रिय नहीं है, अतः घूमनेसे उस प्रियके माहात्म्यका ज्ञान प्राप्त होता है, और भगवान् कहां मिलेगें? इसलिए उनको ढूंढनेकेलिए घूम रहे हैं, और उसी प्रकार भ्रमण करना चाहिए जिस भांति कौण्डिन्योंने किया था, पश्चात् भगवद्रूप और भगवानके प्रतिपादक एवं उन्हे दिखानेवाले ऐसे ऋषि बदरीनाथके दर्शनार्थ नारायणाश्रमको गए।।५।।

आभासार्थः स्थानका भी उत्कर्ष 'यो वै भारतवर्षे' श्लोकमें कहते हैं.

यो वै भारतवर्षेऽस्मिन् क्षेमाय स्वस्तये नृणाम् ।
धर्मज्ञानशमोपेतम् आकल्पाद् आस्थितस्तपः ।।६।।

श्लोकार्थः जो(नारायण ऋषि) इस भारतवर्षमें मनुष्योंके क्षेम और कल्याणकेलिए कल्पमें प्रारंभसे धर्म, ज्ञान और शमसे युक्त तप कर रहे हैं।।६।।

व्याख्यार्थः यह भारतभूमि कर्मभूमि है, यदि एक भी ऐसा कर्म करे जिसमें जगतका प्रलय हो जावे अतः उसकी रक्षा मनुष्यसे कठिन समझ स्वयं उसके (जगतके) उत्तरोत्तर कल्याण और वृद्धिकेलिए कल्पके प्रारम्भसे धर्म, ज्ञान, और शम युक्त तप कर रहे है।।६।।

आभासार्थः उस उत्तम स्थानमें भी अन्य कार्यमें रुके हुए एकान्तमें स्थित ऋषि नारायण 'बदरीनाथ'से पूछनेमें नारद असमर्थ थे. इसलिए 'तत्रोपविष्टमृषिभिः' श्लोकमें सुगमावस्थाका निरूपण करते हैं.

तत्रोपविष्टम् ऋषिभिः कलापग्रामवासिभिः ।
परीतं प्रणतोऽपृच्छद् इदमेव कुरूद्वह! ।।७।।

श्लोकार्थः हे कुरु वंशोद्भव! सर्व विद्यावाले ऋषियोंसे वेष्टित ऐसे विराजमानको प्रणामकर नारदजीने यह ही प्रश्न किया।।७।।

व्याख्यार्थः 'विराजमान थे' यों कहनेसे बताया कि 'व्यग्रता' नही थी 'कलापग्राम' पदका अर्थ है, सर्व कलाओंकी पालना(रक्षा) करनेवालोंका समुह अर्थात् वहां जो ऋषि थे वे सर्व विद्याओके भंडार थे, ऐसे ऋषियोंसे वेष्टित थे. जिससे बताया है कि वहां सत्वावस्था थी, पश्चात् नारदजीने स्वयं प्रणामकर वह प्रश्न किया कि जो तुमने पहले श्लोकमें प्रश्न किया है, परीक्षितका इस कथामें विश्वास हो तदर्थ, हे कुरूद्वहः यह सम्बोधन देके विश्वासकेलिए उसका माहात्म्य कहा है।।७।।

तस्मै ह्यवोचद् भगवान् ऋषीणां शृण्वताम् इदम् ।
यो ब्रह्मवादः पूर्वेषां जनलोकनिवासिनाम् ।।८।।

श्लोकार्थः ऋषियोंके सुनते हुए जो ब्रह्मवाद जनलोक निवासियोंको पहले कहा हुआ था, वह ब्रह्मवाद भगवानने नारदजीको कहा।।८।।

व्याख्यार्थः अतएव विश्वास दुर्लभ होनेसे नारदजीको, नारायणने वृत्तान्त कहा. भगवानने जो कुछ नारदजीको कहा वह सब ऋषि सुन रहे थे, इस प्रकार स्पष्ट कहनेसे यह सूचित कराया है कि मैं जो बात बता रहा हूं उसमें किसी

प्रकारका सन्देह नहीं है, यदि संदिग्ध होता तो यों सबके आगे न कहा जाता, यह ब्रह्मवाद जनलोकवासियोंको जो कहा था वह नारदजीको पहले संक्षिप्तमें कहनेसे उनका सन्देह मिटा नहीं था, अतः प्रभु फिर नारदजीको वही ब्रह्मवाद अब स्पष्ट एवं विस्तृतरूपसे समझाकर कहते हैं।।८।।

आभासार्थ: पश्चात् वह ब्रह्मवाद संक्षिप्तमें कहे जानेसे जब नारदजीका संशय नहीं मिटा, तब नारायण, पहले कहे हुएको फिर 'स्वायंभुव' श्लोकमें कहने लगे.

श्रीभगवानुवाच

स्वायम्भुव ब्रह्मसत्रं जनलोकेऽभवत् पुरा।
तत्रस्थानां मानसानां मुनीनाम् ऊर्ध्वरितसाम् ।।९।।

श्लोकार्थ: श्रीभगवानने कहा कि हे स्वायंभुव! पहले जनलोकमें ब्रह्मसत्र हुआ था, मनसे उत्पन्न उर्ध्वरेतवाले मुनि जो वहां(जनलोकमें) रहनेवाले थे, उन्होंने यह सत्र किया था।।९।।

व्याख्यार्थ: पहले जनलोकमें ब्रह्मसत्र हुआ था, जैसे ब्राह्मण, समान फल चाहनेवाले और समान साधनवाले गुण प्रधान भावको स्वीकारकर कर्म करते हैं, उसको 'कर्मसत्र' कहा जाता है, वैसे निःसंदिग्ध ज्ञानभावको समझनेकेलिए, सर्व ज्ञानेच्छु निर्णयार्थ प्रवृत्त हो, वहां जो विचार हो 'ब्रह्मसत्र' है, वह 'ब्रह्मसत्र' जनलोकमें हुआ था. कारण कि महर्लोक पर्यन्त कर्मफल ही होता है, इसलिए शुद्ध ब्रह्म विचार वहां नहीं हो सकता है अतः ब्रह्मसत्रकेलिए जनलोक ही पसन्द किया गया है, स्वायंभुव! संबोधन देकर सूचित किया है कि इस विषय पर विश्वास रखो, केवल स्थानकी उत्तमतासे 'विचार' सुन्दर फलदायी नहीं हो सकता है किन्तु विचार करनेवालोंमें भी योग्यता होनी चाहिए अतः जन्म और कर्म आदिसे उनका(विचार करनेवालोंका) उत्कर्ष कहते हैं, १.उनमें कर्म सम्बन्धी दोष नहीं है क्योंकि वे जन लोकोंमें रहते हैं, वहां रहनेवालोंमें कर्म दोष नहीं होता है जन्मसे भी उत्तम है, कारण कि ब्रह्माके मनसे उत्पन्न हुए हैं, अतः यह सनकादि जन्मसे भी उत्कर्षवाले हैं. उनके कर्म भी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि सदैव ब्रह्मका ही मनन करते है, ब्रह्मविद्याके विचारकेलिए अधिकार चाहिए, यदि वह नहीं होगा तो वह विचार निष्फल एवं गिरानेवाला होगा, इनमें यह अधिकार भी है क्योंकि ऊर्ध्वरेता अर्थात् ब्रह्मचारी हैं तात्पर्य यह है कि विषयोंसे जो दूर है वे

अधिकारी हैं।।९।।

आभासार्थ: मैं इस अर्थको क्यों नहीं जान सका? इसका उत्तर 'श्वेतद्वीपं गतवति' श्लोकमें देते हैं.

श्वेतद्वीपं गतवति त्वयि द्रष्टुं तदीश्वरम्।
ब्रह्मवादः सुसंवृत्तः श्रुतयो यत्र शेरते।
तत्र हायमभूत् प्रश्नः त्वं मां यं परिपृच्छसि।।१०।।

श्लोकार्थ: तुम तो श्वेतद्वीपाधिपति श्रीअनिरुद्ध भगवानके दर्शनार्थ श्वेद्वीप गए थे, उस समय जहां श्रुतियां शयन करती (स्थिति) हैं, वहां ब्रह्मवाद अच्छे प्रकारसे हुआ था, जो प्रश्न मुझसे पूछ रहे हो, वह ही वहां पूछा गया था।।१०।।

व्याख्यार्थ: श्वेतद्वीपको क्षीरोद भी कहते हैं, अर्थात् वहां क्षीर समुद्र है वह स्थान भगवान् अनिरुद्धके क्रीड़ाका स्थान है, वा साधन है. उस क्षीरोदमें भगवान् अनिरुद्धके दर्शन करनेकेलिए जब तुम गए थे तब जनलोकमें ब्रह्म पर अच्छे प्रकारसे वाद हुआ था यो वाक्योंका सम्बन्ध है, इससे यह भी सूचित किया कि जब अपने-अपने स्थान पर स्थित थे तब ब्रह्मवादके ऊपर चर्चा हुई थी, कर्म करनेवाले जो भूलोकसे महर्लोक पर्यन्त रहते हैं वे सुखी हैं कारण कि उनकी रक्षा भगवान् नारायण कर रहे हैं. एवं भक्तजन भी भगवानके दर्शन करनेसे सुखी थे तब शेष रहे ज्ञानी सो वे सुखी नहीं थे, क्योंकि उनकेलिए पूर्णरीतिसे स्वरूप निर्णय नहीं हुआ था, इसलिए वहां ब्रह्म स्वरूप निर्णयकेलिए, वाद होने लगा जिस वादमें ऐसी कथा हुई जिसमें राग नहीं है, इसी प्रकारका विचार अच्छी तरहसे हुआ वहां निर्णय क्यों होने लगा? वह भी अन्य स्थानोंके समान होगा, इस शंकाका निवारण करते हुए कहते हैं कि नहीं, यह स्थान वह है, जहां श्रुतियां सर्वत्र भ्रमण करनेके अनन्तर आके स्थिति करती हैं, अतः उनका भी यह विश्रामस्थान है, वहां स्थित होकर ही श्रुतियां अपना अभिप्राय प्रकट करती हैं.

श्रुतियोंके अभिमानी देवताओंका अथवा स्वरूपधारी श्रुतियोंका परस्पर विचार जब बिना शंकावाला हो जाय, तब वह निर्णय ही सत्य होता है. श्रुतियोंके अभिप्रायको जाननेवाले वहांके निवासियोंको जब संदेह ही नहीं रहा, तो फिर उनका विचार करनेका कारण ही नहीं है, उनका परस्पर विचार करना बनता ही नहीं है, यों कहने पर उत्तर देते हैं कि 'तत्रहायमभूत् प्रश्न' वहां भी निश्चयसे यह

प्रश्न हुआ, जो तुम मुझसे कर रहे हो. अतः प्रश्न होने पर विचार करना अपेक्षित है, यों विचार करना उत्तम है. तुमने पूछा है कि 'कथं चरन्ति श्रुतयः', इसलिए यहां पुनः प्रश्न नहीं कहा है।।१०।।

आभासार्थ: जो अज्ञ होता है, वह प्रश्नकर्ता होता है और वह अधिकारी होकर प्रश्न करता है, जिसका उत्तर सर्वज्ञ अधिकारी देते हैं. इस प्रकारकी अवस्थामें वहां चर्चा कैसे हो सकी? इसलिए 'तुल्यश्रुततपः' श्लोक कहकर इस शंकाका निवारण किया है.

तुल्यश्रुततपःशीलाः तुल्यस्वीयारिमध्यमाः।
अपि चक्रुः प्रवचनम् एकं शुश्रूषवोऽपरे।।११।।

श्लोकार्थ: यद्यपि सब शास्त्राभ्यास, तपस्या एवं स्वभावमें समान थे और मित्र, शत्रु तथा तटस्थोंमें समबुद्धिवाले थे, तो भी उन्होंने अपनेमेंसे एकको वक्ता (उत्तरदाता) बनाया, शेष(अन्य) श्रोता बने।।११।।

व्याख्यार्थ: जिनका पठन, तप और शील समान है, अदृष्टको उत्पन्न करनेवाले ये तीन गुए भी समान हैं, यदि इन तीन गुणोंमेंसे किसी एकका भी अभाव हो जावे तो शेष दो गुण निष्फल हो जावे, अर्थात् अदृष्टको उत्पन्न न कर सके, सारांश यह है कि मित्र, शत्रु और तटस्थोंमें उनकी समान बुद्धि न हो सके. जिससे वे शुद्ध अन्तःकरणके अभावसे ज्ञानके अधिकारी न बन सके, किन्तु उन तीन गुणोंके होनेसे ही इनका अन्तःकरण शुद्ध हो गया जिससे वे ज्ञान अधिकारी हुए, ऐसे दृष्टादृष्ट प्रकारसे जो अधिकारी हुए. उन्होंने अपनेमेंसे एकको वक्ता[१] बनाया अन्य शेष श्रोता बने, 'आवृत्तिरसकृदुपदेशात्' इस ब्रह्मसूत्रके अनुसार ब्रह्मस्वरूपके विचारकी आवृत्ति करते हुए निर्णयकर निःसंशय होके ज्ञानकी प्राप्ति की।।११।।

१.जिसके वचन शंका निवारक हो प्रमाणरूप माने जाए अर्थात् उसके वाक्यको सिद्धान्त माना जाय.

आभासार्थ: वहां सनन्दन वक्ता हुए और सनकादि श्रोता बने संशयवाले अर्थके निर्णयार्थ सनन्दन श्रुतिवचन कहने लगे, वह सिद्धान्त जो शुकदेवजीने कहा उसके प्रसंगको सनन्दन स्वयं श्लोकोंसे कहते हैं:

वेदोंके वचनोंसे ही वेदोंका अर्थ होता है यह सिद्धान्त है.

जो सन्देहवाले वाक्य हो अर्थात् जिन वेदवाक्योंमें विषय संदिग्ध हो

उसका निर्णय शेष वेदवाक्योंसे किया जाता है, इस न्यायानुसार जैसे २८ तत्त्व पृथक्-पृथक् है उनका निर्णय भी पृथक्-पृथक् २८ प्रकारसे किया है, वैसे ही यहां भी २८ प्रकारसे निर्णय करनेकेलिए श्रुतियोंने २८ श्लोक कहकर संशय मिटाके सिद्धान्तका निरूपण किया है, इस श्रुतिगीता(वेदस्तुति)के श्लोकोंका करण वेदमें नहीं है, अर्थात् उन-उन प्रकरणोंमें ये श्लोक नहीं पढे गए हैं, जिनका आरंभ नहीं हुआ है, यदि उनका भी अध्ययन किया जावे तो वे भी निर्णायक होते हैं. सर्व तत्त्वरूप[१] भगवान् जब पोढे हुए हैं तब कारण स्वरूपसे स्फुरित नहीं होते हैं, अतः मुख्यगुण कर्तृत्वकी स्फुर्ति हो, तदर्थ तत्त्वोंके भेदका निर्णय कहते हैं. यद्यपि स्वयं तात्पर्यसे अनभिज्ञ है, तो भी अपने कहनेका केवल इतना ही आशय है कि भगवान् जगकर अपने मुख्यगुण कर्तृत्वको कार्यरूपमें लावे जैसे नट रसको प्रकट करनेवाला वेष बनाकर राजा वा दर्शकोंको आनन्दित करते हुए अपने कृतत्व करनेमें तत्पर कराता है, वैसे ये श्रुतियां भी शब्दरूप वेद और अर्थरूप भगवान् जैसी स्थितिमें है उसका निरूपण करनेकेलिए सनन्दन वैसी अवस्थाका निरूपण १२वें से १३वें श्लोकमें करते हैं इतनेसे भी वेदके सर्व सन्देह दूर नहीं होते हैं, किन्तु अन्योंकेलिए प्रवृत्त हुए कितने ही वेदोंके बोध करानेवाला यह वचन है, समझानेकेलिए दृष्टान्तमें वेदोंको भाट और भगवानको राजा कहा है, इससे यह सूचित किया है कि ब्रह्मका निर्णय करनेवाले भी समीप और दूरसे ही अपने प्रकरणका सन्देह मिटाते हैं, न कि भगवानका दर्शनकर सन्देह मिटाते हैं, वेदोंके तत्त्व निवृत्तिरूप[२] है. जिसको कहनेकेलिए भगवानकी पूर्व अवस्थाका निरूपण 'स्वसृष्टमिदमापीय' श्लोकसे सनन्दन वर्णन करते हैं.

१.जब प्रभु पोढते हैं, तब सर्व तत्त्व आपमें लीन होकर स्थित रहते हैं, अतः 'तत्त्वरूप' हैं. २.मोक्षकेलिए उपयोगी सृष्टि करनेवाला स्वरूप.

सनन्दन उवाच

स्वसृष्टम् इदम् आपीय शयानं सह शक्तिभिः।
तदन्ते बोधयांचक्रुः तल्लिंगैः श्रुतयः परम्।।१२।।

श्लोकार्थः सनन्दनजीने कहा कि अपने रचे हुए इस जगतको सम्पूर्णतया पानकर शक्तियोंके साथ पौढे हुए प्रभुको प्रलयान्तमें श्रुतियां उनके चिह्नोसे जागृत करने लगी।।१२।।

व्याख्यार्थः 'स्वसृष्ट' पदसे अपनी बनाई हुई यह सृष्टि है यों कहकर यह

सूचित किया है कि यह सृष्टि अनादि है, इस परिदृश्यमान् जगतमें जो पैदा हुए हैं उनको मुक्तकर अपनेमें लीन कर दिया जिससे आपको कुछ भी कर्तव्य न रहा, यों जताते हुए कहा है कि मानो भगवान् सो गये हैं, पश्चात्, सृष्टिमें जो तत्त्व भेद था, उसको भगवान् भूल गए हैं. यों समझ, वेद भगवानको संदेह मिटानेवाली सदुक्तियोंसे मानो जगाने लगे, कालात्मिका शक्ति ही जगानेवाली होती है वेदोंका इनको जगानेमें कोई प्रयोजन नहीं है, यदि यों कहो, तो इस पर कहा गया है, कि 'शक्तिभिः सह' आप काल समेत सर्व शक्तियोंको अपनेमें लीनकर पोढ़े हैं. अन्तःकाल[१] शक्ति भी अब कार्य नहीं कर सकती है पश्चात् पोढनेके अन्तमें अर्थात् जगनेके समय श्रुतियोंने जगाया अन्यथा[२] जगाना अपराध हो जावे, भगवानके जगानेके जो चिह्न २८ तत्त्व हैं, उनसे जगाती हैं, जिनका दूसरा नाम वीर्य है, ये श्रुतियां केवल श्रवणरूप है, जिस कारणसे श्रवण द्वारा ही प्रभुको केवल जगा सकती हैं, प्रत्यक्ष दर्शन नहीं कर सकती क्योंकि ये साक्षात् सेवा करनेवाली नहीं हैं, जिससे वे साक्षात् प्रबोध नहीं करा सकती है किन्तु केवल प्रबोध करनेवाले वीर्यके गुणको[३] ही आगे स्थापित करती है।।१२।।

१.क्योंकि भगवानको उस समय लक्ष्मीजीने भुजाओंमें लपेट लिया है अतः कालमें जगानेकी शक्ति नहीं. २.जगानेका समय न हुआ हो. ३.२८ तत्त्वोंको.

आभासार्थः यदि ये श्रुतियां स्वतन्त्ररूपसे अन्य अर्थकी प्रतिपादक होवे तो इसका विचार भी करना उचित हो किन्तु ये प्रकरणरूपसे बोध नहीं करती हैं, यों जतानेकेलिए 'यथाशयानं' श्लोकमें दृष्टान्त कहा है.

यथा शयानं सम्राजं बन्दिनस्तत्पराक्रमैः।
प्रत्यूषेऽभ्येत्य सुश्लोकैः बोधयन्त्यनुजीविनः ।।१३।।

श्लोकार्थः जैसे सोते हुए चक्रवर्ती राजाको प्रातःकालमें उसके अनुजीवी बन्दीजन आकर उसके प्रशस्त कीर्ति युक्त पराक्रमोंसे जगाते हैं, वैसे ही श्रुतियां भी प्रभुको जगाने लगी।।१३।।

व्याख्यार्थः वे भाट केवल अनुवाद करनेवाले होनेसे स्वतन्त्ररूपसे निरूपण करनेवाले नहीं है, उसी भांति श्रुतियां भी, भगवानने जो स्वयं पराक्रम किए हैं, वे उनको सुनाती हैं जिसका कारण यह है कि जो भाट हैं, वे प्रबोधन करानेके अधिकारी और विद्योपजीवी हैं अर्थात् इनकी आजीविकार्थ विद्या पर ही आधार है, वैसे ही अधिक फलके निर्णयार्थ प्रवृत्त श्रुतियोंकी तत्त्वविद्या ही

उपजीव्या है, अतः श्रुतियां तत्त्वविद्या पर ही आधार रखती हैं.

जैसे भाटोंकी अभिलाषा होती है, कि महाराजा प्रसन्न होगा, तो अवश्य पारितोषिक देगा, जिससे हम आनन्दीय भोगकर सकेंगे वैसी ही श्रुतियोंकी भी यह अभिलाषा थी कि भगवान् प्रबुद्ध[१] होगें तो कभी साक्षात्कार भी हो जाएंगे और कभी अपने आनन्दका भी दान करेंगे.

वे(श्रुतियां) पूर्ववृत्तान्तको ही जानती हैं. होनेवाले वृत्तान्तको नहीं जानती हैं. यो जतानेकेलिए तीस मुहूर्तवाली रात्रि और दिन है, जब शेष दो मुहूर्त रहते हैं, तब आकर जगाती हैं क्योंकि वे सेविकाएं हैं, यदि वे सेवाकर प्रभुको न जगावे तो उनके स्वरूपका नाश ही हो जावे यह सूचित किया है, कोई कहते हैं कि 'श्रुतियां' प्रभुके प्रथम निःश्वाससे प्रकट हुई हैं, यह सिद्धान्त दृष्टान्तसे विरुद्ध नहीं है, किन्तु वे 'श्रुतियां' भगवानसे पृथक् ही रहती हैं, यह दृष्टान्तसे समझाया है।।१३।।

१.इस अधिक फलके निर्णयार्थ प्रवृत्त हुई.

आभासार्थः इस प्रकार प्रसंगका वर्णनकर शेष वाक्योंमें प्रथम प्रकृतिका निरूपण करनेवाली श्रुतियां प्रकृतिके स्वरूपको किस प्रकारसे वर्णन करती है, वह कहते हैं कि,

१.क्या प्रकृति स्वतन्त्र है, यदि यों है तो शक्ति अथवा देवताकी प्रधानता होगी.

२.वा प्रकृतिको भगवद्रूप कहकर, उसका भगवत्व निरूपण करती है.

३.अथवा यह प्रकृति जीवोंके धर्मरूप है, इसलिए उनके ही प्रयत्नसे अथवा स्वरूप ज्ञानसे उसको निवृत्त करना चाहिए यों निरूपण करती है.

४.अथवा शशविषाणवत् जिसका अस्तित्व ही नहीं है, ऐसी भास रही है.

५. अथवा यह भगवानकी अन्तरंगा शक्ति, लक्ष्मीरूपा होनेसे सच्ची है, अतः उसमें ही स्थिति उचित है, जिससे प्रपञ्च होनेके समय अथवा प्रपञ्चभावके कालमें उसका समानरूपसे प्रतिपादन करती है, इस प्रकार अनेक सन्देहोंके होनेसे प्रकृति पादक श्रुतियोंके निर्णयार्थ 'जय जय' श्लोकमें प्रकृतिका स्वरूप कहा गया है.

श्रुतयः ऊचुः

जय जय जह्यजाम् अजित दोषगृभीतगुणां
त्वम् असि यद् आत्मना समवरुद्धसमस्तभगः।

अगजगदोकसाम् अखिलशक्त्यवबोधक ते
क्वचिद् अजयात्मना च चरतोऽनुचरेद् निगमः ।।१४।।

श्लोकार्थः श्रुतियां कहने लगी कि हे प्रभो! आपकी जय हो, जय हो! हे अजित! (आपको कोई भी जीत नहीं सकता है) स्थावर-जंगम जीवोंकी सम्बन्धिनी दोषार्थ ही जितने सत्वादिगुण धारण किये हैं, ऐसी निद्राका आप त्याग कीजिये; क्योंकि आप स्वयं ही सर्व ऐश्वर्यादि भगोंको अपनेमें रोक रखनेवाले हैं. स्थावर और जंगमोंकी इन्द्रियोंकी सर्व शक्तियोंको स्फूर्ति देनेवाले आप ही है, आप सदैव स्वस्वरूपसे ही क्रीड़ा करते हैं, अतः वेद आपकी सेवाकर रहे हैं, कभी किसी समय अजासे क्रीड़ा करते हो।।१४।।

व्याख्यार्थः 'शर्करा अक्ताः उपदध्यात्' इस श्रुतिमें शर्कराको मसलना कहा है, किन्तु किससे मसलना यह नहीं कहा है, दूसरी श्रुतिमें 'तेजो घृतम्' कहा है कि वहां घीको तेजरूप कहा है, किन्तु इसका कहा कैसे उपयोग करना चाहिए, यह नहीं कहा है, जिससे समझा जाता है, कि 'तेजो घृतम्' श्रुति उस 'शर्करा अक्ता उपदध्यात्'की शेष श्रुति है, जिसमें यह बताया कि शर्कराको घृतसे मसलना चाहिए न कि तैल, क्षीर, मधु आदिसे मसलना चाहिए इस प्रकार भगवानके समीप मायाके स्वरूपभूत गुणोंके प्रतिपादनका श्रवण करनेसे ही सन्देह निवृत होगा इसलिए उपयुक्त पक्षोंके निराकरण करनेकेलिए फिर युक्तियोंके कहनेकी आवश्यकता नहीं है, तो भी कही जाती उन युक्तियोंसे प्रथम प्रकृतिका निराकरण करनेके वास्ते भगवानको प्रार्थना करती हैं कि आप अपने स्वरूपमें स्थिति कीजिए, 'जय जय' जय हो, जय हो इन शब्दोंसे यह कहा है कि आप सबसे उत्कर्षपूर्वक बिराजो, यों दो बार कहा, जिसका भावार्थ है कि सर्वदा आप सबसे उत्कर्ष पूर्वक बिराजो, अल्प समयकेलिए नहीं ऐसी श्रुतियोंने पहले ही प्रार्थना की है यदि आप हमारी प्रार्थना स्वीकार न करोगे तो उस प्रकृतिके सम्बन्धी हमारा नाश करेंगे दूसरी भी प्रार्थना करती हैं कि 'जहि अजां' निन्द्राका त्याग कीजिए, इन शब्दोंसे यह भाव प्रकट किया इसको जड़से काट डालो जिससे अच्छे प्रकारसे प्रबोध हो, यदि आप कहो कि इतने समय तक मैं उनके वशमें रहा हूँ, वह कैसे नाश किया जाए, तो इसके उत्तरमें हमारा कहना है कि आप 'अजित्' हैं, अर्थात् आपको जीतकर, कोई भी आपको अपने वशमें नहीं कर सकता है. इस अजा अर्थात् योगनिद्राको आपने लीलासे ही ग्रहण किया है, न कि जीवके

समान निद्राके वश हुए हो. भगवानकी निद्रा वही माया वह ही प्रकृति है, यों तोनों स्वरूप एक ही हैं, इस कारण ही मार्कण्डेय पुराणमें ब्रह्माने 'योगनिद्रा'की स्तुतिकी है, यों कहकर यह सिद्ध किया है, कि 'योगनिद्रा' जगत् कर्त्री नहीं है, वह स्वप्न सृष्टि रचती हैं, न कि यह सत्य सृष्टि बनाती है, इस सत्य सृष्टिकी रचनाका प्रकार आगे कहेंगे.

इसका नाश कैसे किया जाए जबकि यह गुणवाली है. सुषुप्तिमें परमानन्द, लक्षणवाले गुणका दान करती है, अर्थात् परमानन्द देती है, इसके उत्तरमें कहती हैं कि 'दोषगृभीतगुणां' स्वरूप अज्ञानकेलिए ही गुणोंको धारण किया है, यह ही अपनी शक्तिसे जीवोंको मोहित करती है, उनको भी निद्रा और आलस्य आदिसे मोहित करनेवाली है, इससे ही 'अजजगदोकसां' यह विशेषण दिया है, जिसका तात्पर्य है कि, स्थावर और जंगम देहोंमें स्थित जीवोंकेलिए मोहकर्त्री है, अथवा ऐसे जीवोंके सम्बन्धवाला है, यदि कहो कि यह मुझे भी सुख देनेवाली है, अतः यह भले ठहरे अर्थात रहे, इसका उत्तर यह है कि आप सर्व ऐश्वर्यादि भगोंको सदैव अपनेमें रोक रखते हैं जिससे आपको अन्यसे किसी प्रकारके सुख आदि प्राप्त करनेकी आवश्यकता नहीं है, वह ही निद्रा और आलस्य आदिसे उत्पन्न क्षुद्र सुखकी अपेक्षा करता है, जिसको स्वरूपानन्द, सात्विक आनन्द प्राप्त न होवे. 'अजित' इस सम्बोधनसे[१] अजाका बाधकत्व निवृत्त करा दिया है, अर्थात् आप अजेय होनेसे अजाके बन्धनमें नहीं आ सकते है, यह आपकी इष्ट सिद्धि करेगी जिसका भी 'समवरूद्ध समस्त भगः' पदसे निराकरण करती है. आप उसकी अपेक्षा न रखते हुए स्वयं ही समस्त भगोंको धारण कर रहे हैं, तो फिर उसकी अपेक्षा क्यों करें? सेवाकेलिए जीवोंकी अपेक्षा है, उनकी इन्द्रियां प्राकृत हैं, यदि प्रकृतिका नाश होगा तो सबका नाश हो जाएगा यह नाश सेवामें बन्धनकारक होगा, इस प्रकारकी शंकाके निवारणार्थ कहती हैं, कि 'अगजगदोकसां' स्थावर और जंगमोंकी इन्द्रियोंकी शक्तिको जागृत करनेवाले आप हैं, न कि प्रकृति है, और विशेषमें स्थावर और जंगम जो भी हैं वह आपके ही हैं, उनके बोधक आप ही हैं, यदि वे प्राकृत होवे तो विचार भी करना पड़े वे प्राकृत हैं ही नहीं.

यदि प्रकृतिका नाश हो जाए तो वेद प्रकृतिको आगेकर मुझे जगानेकेलिए जो प्रवृत होते हैं वे फिर कैसे प्रवृत होगें? इस शंकाके निवारणार्थ

कहती हैं कि वेद तो आपको अनुसरण करेंगे ही, कदाचित् आप अजासे क्रीड़ा करते हैं, यों तो आप सदैव आत्म स्वरूपसे खेलते हैं 'च' पदसे यह सूचित किया है कि अजासे क्रीड़ा करनेकी दशामें भी आत्म स्वरूप क्रीडाकर रहे हैं, जिसमें किसी प्रकारकी बाधा नहीं होती, इसलिए अजाके रक्षण करनेकी आवश्यकता नहीं है. 'निगम' एकवचनसे यह समझाया है कि कोई वेद अर्थात् कुछ श्रुतियां कहती हैं कि आप अजाको आगेकर क्रीड़ा करते हैं वे भी यों कहती है कि आप उस समय भी अपने स्वरूपमें स्थित होकर ही क्रीड़ा करते हैं तो क्यों नहीं कहती हो कि ऐसे ही स्वरूपको वेद जगा रहे हैं, यों न कहिए 'अरूप' 'अस्पर्श' इत्यादि श्रुतियां कहती हैं कि आप प्रकृति सम्बन्धरहित हैं. वैसे अन्य श्रुतियां भी जो स्वरूपानन्द बोध करानेवाली हैं और सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाली हैं, वे सब प्रकृति सम्बन्धरहित ब्रह्म है, यो प्रतिपादन कर रही हैं वह आगे कहा जाएगा अतः इस मोह करनेवाली शक्तिको नाम कीजिए यह हमारी प्रार्थना हैं.

१.अणिमादि सुख और स्वरूपानन्द.

प्राकृताः श्रुतयः सर्वा भगवन्तम् अधोक्षजम्।
स्तुवन्ति दोषनाशाय तत्राविष्टो भवेद् यथा।।का.१०।।

कारिकार्थः जो प्राकृत श्रुतियां हैं वे सब अधोक्षज भगवानको अजाके नाशकेलिए[२] स्तुति करती हैं जैसे अजानाशमें जगतमें प्रविष्ट होवे(१०)

२.अजाके नाश करनेकेलिए भगवानको प्रार्थना करती है, जिसका भावार्थ है कि भगवान् प्रकृतिको सर्वदा धारण नहीं करते हैं, किसी समय ही करते हैं, समग्र वेदका अर्थ ब्रह्मपर ही है, प्रकृतिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां वैसे ही अर्थात् प्रकृतिको धारण किये हुए है, भगवानकी ही स्तुति करती है, साक्षात् स्वरूपकी स्तुति न कर वैसे भगवानकी स्तुति क्यों करती है? जिसके उत्तरमें कहा है वह 'अधोक्षज' है अर्थात् उस साक्षात् स्वरूपको श्रुतियां भी अपनी सामर्थ्यसे नहीं जान सकती है, इसलिए अजाके नाशार्थ भगवानकी स्तुति करती है, अजाके नाशसे अपने (श्रुतियोंके) भी दोष नाश हो जाएंगे यह भाव है.

आभासार्थः ब्रह्मका प्रतिपादन करनेकेलिए प्रवृत्त श्रुतियां बीचमें ''यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते'' ''तस्माद्वा एतस्मादात्मनः आकाशः सम्भूतः'' इनमें ब्रह्मको प्रतिपादनकेलिए भूत-भौतिक सृष्टिका सम्पादन कर रही है, इससे अनेक सन्देह उत्पन्न होते हैं कि, ये श्रुतियां ब्रह्मपरक है? वा सृष्टिपरक है? अथवा जगतको ब्रह्मरूपसे प्रतिपादन करनेवाली है अथवा अध्यारोपापवादसे[१] ब्रह्मका

ज्ञान स्थिर करनेकेलिए है, या तो ब्रह्मका माहात्म्य प्रतिपादनके वास्ते इन सन्देहोंका निरासकर सिद्धान्तका निर्धारण करनेकेलिए 'बृहदुपलब्धमेतत्' श्लोकमें कहा है.

१.अध्यारोप–किसी भी पदार्थमें समान गुणोंके आभाससे उसको अन्य पदार्थ मान लेना, अध्यारोप है, जैसे रस्सीमें सांपके समान वक्र आदि गुणोंके कारण रस्सीको सर्प मान लेना 'अध्यारोप' है, 'अपवाद' फिर ये गुण इसमें वास्तविक नहीं है, अतः सांप नहीं बल्कि 'रस्सी' है यों समझना अपवाद है, वैसे ही ब्रह्म जगत् नहीं है, किन्तु ब्रह्मको जगत् मान लेना, यह ब्रह्ममें जगतका 'अध्यारोप' है पश्चात् ज्ञान होने पर जान लेना कि ब्रह्ममें जगत् नहीं है ऐसे अपवाद हो जाने पर सत्य ज्ञान हो जाता है श्रुति इस प्रकार सत्य ब्रह्मका ज्ञान कराती है.

बृहदुपलब्धम् एतद् अवयन्त्यवशेषतया
यत उदयास्तमयौ विकृतेर्मृदि वाविकृतात् ।
अत ऋषयो दधुस्त्वयि मनोवचनाचरितं
कथमयथा भवन्ति भुवि दत्तपदानि नृणाम्।।१५।।

श्लोकार्थ: यह दृश्यमान जगत् जिसका हम अनुभव कर रहे हैं, वह शेषरूपसे सदैव रहता है, इसलिए इस जगतको ज्ञानी अक्षररूप जानते हैं, क्योंकि मिट्टीकी भांति अविकृतसे विकारके उदय तथा अस्तरूप होते हैं, इसलिए ऋषि लोगोंने मन और वाणीके कार्यको आपमें लगाया है. मनुष्योंके पाद जो पृथ्वी पर अंकित हो जाते हैं, वे झूठ नहीं होते हैं।।१५।।

व्याख्यार्थ: जब श्रुति तथा ब्रह्मके प्रभावसे सिद्ध है कि यह जगत् ब्रह्म है, तब अन्य श्रुतियोंकी भी अर्थमें वैसी ही योजना की जाती है, जिससे सबकी एक वाक्यता हो जाए इस प्रकार भगवानके माहात्म्य प्रतिपादन द्वारा ब्रह्ममें ये श्रुतियां प्रमाणरूपा हैं, जिससे यह फलित होगा कि ये साक्षात् भगवानकी प्रतिपादिकाएं है, इसलिए प्रारम्भमें जगतका ब्रह्मत्व प्रतिपादन किया जाता है.

यह परिदृश्यमान चराचर जगत् 'अक्षरब्रह्म' ही है यों ब्रह्मज्ञानी और वेद जानते हैं. यदि कहो कि यह विश्व तो अनित्य, अनात्म और दुःखरूप है और ब्रह्म इससे विपरीत नित्य, आत्मरूप और आनन्दमय है, जगत् ब्रह्म है, जिसका इस युक्तिसे बाध आता है, और प्रत्यक्षसे भी विरोधभास रहा है, तब जगतका ब्रह्मत्व कैसे? इस शंकाको मिटानेकेलिए 'अवशेषतया' कहा है, अर्थात् लोकमें जो शेष

रहता है, उसको ही ब्रह्मरूप कहा गया है, जैसे सुवर्णके आभूषणोंमें काचादि जड़े हुए होते हैं, किन्तु काचादिको त्याग जो शेष है, उसको ही सुवर्ण समझ उसका मूल्य कहा जाता है और घृत लेनेवाले हैं तथा चावल लेनेवाले हैं वे दुग्ध वारधिसे जो शेष 'घृत' रहता है, उसको ही मूल्य देकर ग्रहण करते है. तथा चांवल लेनेवाले भी मूल्य देकर शालियोंसे शेष रहते तण्डुलोंको मूल्य देकर ग्रहण करते हैं, तात्पर्य यही है कि जैसे लोकमें क्रय-विक्रयादि उस शेषको ही लक्ष्यमें रखकर होता है, वैसे ही विचार सहित जगतमेंसे विकारोंको निकालकर जो शेष रहता है, वह ही ब्रह्म है, जैसे धान्य(शालियों)को अन्न(तण्डूल,चावल) कहते हैं वैसे ही जगतको ब्रह्मरूप कहते हैं जगत् ब्रह्मरूप यदि माना जाए तो ब्रह्म निरवशेषरूप होनेसे भी उसके नाशकी सम्भावना होगी, जैसे अग्निसे जलको उबाल लेने पर सर्व जल(पानी) जल जाता है, शेष कुछ नहीं रहता है. वैसे कुछ भी शेष न रहनेसे जगत् ब्रह्म नहीं है, ऐसा सिद्ध होने पर जगत् ब्रह्म कैसे? यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है, 'यत उदयास्तमयौ' जिससे इस जगतका उदय(उत्पत्ति) अस्त(नाश) होता है जैसाकि 'यतो वा इमानि भूतानि' इस श्रुतिमें ब्रह्मसे जगतकी उत्पत्ति और उसमें ही लीन होना कहा है यों कहकर उस उपरोक्त शंकार्थ दिया है अर्थात् विकारवाले जगतका कुछ शेष नहीं रहता है, यह कहना असत् है, जगतका नाश कहनेसे विकारका नाश कहा गया है, न कि जगतका नाश कहा है, क्योंकि जगत् ब्रह्मसे उत्पन्न होनेसे अविनाशी है अतः ब्रह्मरूप जगत् शेष रहता है, जैसे मृतिकासे उत्पन्न घटका नाश होता है तब उसका विकार नष्ट होता है, जिस मृतिकासे बना है, वह मृतिका नष्ट न होकर शेष ही रहती है, और वह विकार भी मिथ्या नहीं केवल मृतिकामें लय हो जाता है जिससे देखनेमें आता है, वैसे ही जगत् भी जिस कारण ब्रह्मसे उत्पन्न हुवा वह कारण(ब्रह्म)रूप ही रहता है, इसलिए कहा गया है कि जगत् ब्रह्मरूप है दृश्यमान विकार भी ब्रह्ममें लीन होकर ब्रह्मरूप ही रहता है, अतः सम्पूर्ण जगत् शेषरूपसे ब्रह्म ही है. दूसरा दृष्टन्त देकर समझते हैं कि जैसे सुवर्णसे बना हुआ कुण्डल जब नष्ट(सुवर्णमें लीन) होता है तब सुवर्ण ही शेष रहता है अतः सुर्वण ही कुण्डल है यो मनुष्य जानते हैं.

जगतकी उत्पत्ति और नाश दोनों होते ही नहीं 'जनी प्रादुर्भावे' जन धातुका अर्थ प्रकट होना है, जिसका तात्पर्य है, जन्म लेना 'णश अदर्शने' धातुका अर्थ देखनेमें न आना है अतः जन्म और नाश उसका होता है, जिसकी प्रथम सत्ता

होवे जगतकी तो सत्ता ही नहीं है तो उसका उदय(जन्म) अस्त(नाश) कैसे होंगे इसका उत्तर देते हैं कि 'विकृते:' जो धर्मीके विकार उत्पन्न होनेसे कार्यरूपमें आनेसे पहले विद्यमान नहीं थे, वे विकार जगत् रूप कार्यका आश्रय लेकर उत्पन्न होते हैं. यो जानना चाहिए अर्थात् धर्मीकी उत्पत्ति और नाश नहीं होता है, किन्तु विकारका होता है यदि विकार उत्पन्न न हो तो अर्थात् 'कार्य'की उत्पति आदि न होवे तो वे अविकारी रहे, कारण कि ब्रह्मरूप होनेसे अतः जो भी विकार मात्र है, उसका उदयास्त मानना चाहिए, विकार कार्यरूप नष्ट(लीन) हो जाने पर ब्रह्म ही शेष रहता है, उसमें दृष्टान्त देते हैं 'मृदिव' जैसे मृत्तिका ही शेष रहती है मिट्टीसे बने घट आदि मृत्तिका ही शेष रहती है मिट्टीसे बने घट आदि मृतिका ही है, वैसे जगत् ब्रह्म ही है, कैसे कहते हैं, कि घट टूटने पर मिट्टी शेष रहता है, घट टूटने पर तो कपाल अवशेष देखनेमें आते हैं, यदि यों कहो, तो उसका उत्तर देते हैं, कि अविकृतात् है तो अविकार हेतुसे कहा है, कि मृद् ही रहती है, क्योंकि जो विकृत है वह स्थिर नहीं होता है, अतः कपाल भी टूटनेवाले होनेसे विकारी है, अतः दृष्टान्तमें मिट्टी ही कही है. कुण्डलमें सुवर्णके सिवाय दूसरा पदार्थ भी मिला हुआ रहता है, इसलिए मिट्टीका दृष्टान्त मुख्यरूपसे दिया है.

जो, यों होवे तो उससे क्या ऐसी जाननेकी इच्छा होने पर कहते हैं कि, 'मन्त्रदृष्टा ऋषि' मन-वचनसे जो क्रिया[१] करते हैं, वह सब आपमें धरा है, मनमें जो है वह तो मनोरथ ही करता है अतः मिथ्या विषयवाला ही होता है, वैसे वाणी भी, अत्यन्त असत् अर्थमें भी शब्द ज्ञान कराती है, जैसे श्रुति कहती है वाणीसे अनृत बोलता है, मनसे झूठा ध्यान करता है जहां वाणी और मनके विषयको भी ब्रह्मत्व है वहां पूर्ण प्रकट जगतके ब्रह्मपनमें कौनसा सन्देह है. इससे ब्रह्मज्ञानियोंके सर्व व्यवहार ब्रह्मके परायण ही है, इसलिए किसी भी कर्मसे वे लिप्त नहीं होते हैं.

'असत्य' पदार्थको ब्रह्मत्व कैसे होगा इस शंकाका दृष्टान्त देकर निवारण करते हैं कि, पृथ्वी पर कहीं भी स्थापित किए हुए चरण व्यर्थ वा झूठे कैसे होंगे? अर्थात् वे चरण तो भूमि पर ही रहेंगे, अन्यत्र नहीं जाएंगे, भूमि पर ही पड़े रहेंगे यों भ्रमसे स्वीकृत विषय, परमार्थसे भगवान् ही हो जाता है, क्योंकि भ्रमसे प्रतीत पदार्थ भा ब्रह्मरूप होनेसे तत्त्वसे ही उसका भान होता है. ब्रह्मसे पृथक् अन्य कुछ है ही नहीं तो अन्यका भान व प्रकाश कैसे होगा?

तन्तु वस्त्ररूपसे आविर्भूत होवे अर्थात् तन्तुसे वस्त्र बन जावें और

शुक्ति(सीप) रजत(चांदी)रूपसे दिखाई दे इन दोनोंमें भगवानकी अभेद(विशेष) इच्छा[२] है, वस्त्र अथवा सुख कार्यरूपसे समान ही है. अतः मूलभूत पदार्थ सत्य होनेसे यदि अन्यथा बुद्धिसे भी मन–वचनकी स्थापना की जावे तो वह भी ब्रह्मको ही विषय अर्थात् ग्रहण करेगी।।१५।।

१.मनसे जो कुछ विचारते हैं और वाणीसे कहते हैं.

२.तन्तुओंसे वस्त्रका दिखना सत्य भान है और सीपमें चांदी दिखना भ्रमयुक्त है, इसमें भगवानकी इच्छामें कोई भेद नहीं होता है–लेख

सत्यो हरिः समस्तेषु भ्रमभातेष्वपि स्थिरः।
अतः सन्तः समस्तार्थे कृष्णमेव विजानते।।का.११।।

कारिकार्थ: जो सत्य पदार्थ है, और जो भ्रमसे भासते हैं उन सबमें हरि ही स्थिर है अतः सत्पुरुष अर्थात् ज्ञानीभक्त समस्त पदार्थ कृष्णके ही रूप हैं, यों विशेषरूपसे जानते हैं.

इस कारिकामें कृष्णको ही वस्तुरूप कहनेसे यह बताया है कि वेदस्तुति के इस 'बृहदुपलब्ध' श्लोकमें ब्रह्मस्वरूप प्रतिपादक श्रुतियोंका निर्णय है(११)

आभासार्थ: इस प्रकार प्रकृति प्रतिपादक और पुरुष प्रतिपादक श्रुतियोंका निरूपण हुआ अब साधन प्रतिपादन करनेवाली 'शान्तउपासीत[१]' इत्यादि श्रुतियां क्या अहंकार प्रतिपादन करती है वा उसके[२] द्वारा आत्मका प्रतिपादन करती है, इत्यादि[३] संदेह निवारणार्थ 'इति तव सूरयः' श्लोक कहा है.

१.विधान पक्षमें–यदि यह श्रुति 'शांत' पदसे यों कहती हो कि शांतिकी प्राप्ति करनी चाहिए तो इसका आशय यह हुआ कि 'कर्ता' अहंकारवाला है, अतः यह अहंकार प्रतिपादन करती है. अनुवाद पक्षमें–यदि कर्ता पहले ही शांत है तो शांतिकेलिए कुछ करना नहीं है, क्योंकि वह निरभिमानी होता है जिससे उसको स्वतः ही आत्म स्फूर्ति होती है, तब श्रुतियां ब्रह्म प्रतिपादक है.

२.अहंकार प्रतिपादन द्वारा.

३. आदि पदमें यह कहा है कि पूर्व मीमांसा सिद्धान्तसे अर्थवादत्व.

इति तव सूरयस्त्र्यधिपतेऽखिललोकमल
क्षपणकथामृताब्धिम् अवगाह्य तपांसि जहुः।
किमुत पुनः स्वधामविधुताशयकालगुणाः
परम भजन्ति ये पदम् अजस्रसुखानुभवम् ।।१६।।

श्लोकार्थ: हे तीन लोकके अधिपति प्रभु! साधन प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियां भी ब्रह्मका ही निरूपण करती है, यों निश्चयकर आपके भक्त, सकल लोकके मलका नाश करनेवाले तथा कथारूपी अमृतोदधिमें स्नानकर तप आदि साधनोंको छोड़ देते हैं, हे परम! जिन्होंने अपने स्वरूपकी स्फूर्तिसे देह और कालके गुणोंको दूर फेंक दिया है और जो निरंतर सुखका ही जिसमें अनुभव होता है, वैसे पदको भजते है, उसका तो कहना ही क्या।।१६।।

व्याख्यार्थ: शान्त[४], दान्त[५], उपरत[६] और तितिक्षु[७] 'आत्मामें[८] ही आत्माको देखे' इत्यादि श्रुतियां अहंकारका ही[९] प्रतिपादन करती है यदि अहंकारका प्रतिपादन न करती हो तो जीव तो कर्ता है ही नहीं, कर्त्ता[१०] तथा कर्म[११] दोनों एक ही नहीं बन सकता है तथा आत्मा स्वप्रकाश[१२] होनेसे जो अपनेको ब्रह्मवेत्ता समझता है एवं वाक्यार्थका ध्यान करनेवाले उस अहंकारी विष्टके मनका वह व्यापार कहा जाता है शान्त इस श्रुतिमें भी प्रयत्न साध्य मनकी चंचलता भी निराकरण करना साहंकारीका[१३] ही कृत्य है अहंकारी नहीं है, वह शांत और दान्त कैसे बनेगा? क्योंकि उसको अन्तःकरण आदिमें अध्यास[१४] है ही नहीं जिसको पुत्र नहीं है, वह विद्वान पुत्रका पिता कैसे बनेगा? इसीसे इन श्रुतियोका शमादि, विधिमें तात्पर्य नहीं है, किन्तु अहंकारीका महान् क्लेश होता है, यों बताकर कहते हैं, कि जो अहंकार रहित हैं, उनको स्वतः ही आत्मस्फूर्ति होती है, यों साधन श्रुतियां भी भगवत् पर ही है, इस विषयको दृढ करनेकेलिए हेतु कहा है, कि इस प्रकार 'साधनश्रुतियां भगवत् परायण ही हैं यों' निश्चयकर ज्ञानी भक्तोंने साधनोंको[१५] त्याग दिया है, यदि उन्होंने साधन त्याग दिए तो उनका मोक्ष कैसे होगा? जिसका उत्तर देते हैं कि 'अखिललोक मलक्षपण कथामृतब्धिमवगाह्य' समस्त लोकोंमें मलोंको नाश करनेवाले कथारूप अमृतोदधिमें स्नानकर आनन्द[१६] प्राप्ति करते हैं, केवल कथाके अवगाहन करनेसे ही कार्य(आनन्द वा मोक्ष)की सिद्धि कैसे होगी, तम आदि अंशवाले देव जब प्रसन्न नहीं तब मोक्ष सिद्धिमें विघ्न पड़ेगे अतः विघ्नोंको मिटानेकेलिए और उन देवोंके प्रसन्नतार्थ साधनोंका करना भी आवश्यक है, इस पर कहते हैं कि 'अधिपते' आप तीनोंलोकोंके अधिपति हैं, जिससे आपके भक्तोंके मोक्षमें कोई देव भी विघ्न डालनेमें समर्थ नहीं, क्योंकि वे देव भी आपके आज्ञाकारी सेवक हैं.

शम[१७] आदि विधियोंका वेदने प्रतिपादन किया है, अतः अपेक्षा न होवें तो भी विधिके बलसे उनका पालन करना चाहिए, यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है, कि 'सूरयः' जो इस विधिका पालन नहीं करते हैं वे विद्यावाले हैं. वेद अविद्यावालोंकेलिए ही शमादिका विधान करते हैं, न कि विद्यावालोंकेलिए आज्ञा देते हैं, अतः वे भक्त परमानन्दरूप साधनको पकड़कर साधनदशामें ही कृतार्थ होनेसे दुःखरूप साधनोंसे निवृत हो जाते हैं, यदि कहो कि विद्वान भी साधन करते हैं तो इसका उत्तर यह है, कि वे विद्वान् आपके शरणागत् भक्त नहीं हैं, आपके भक्त तो साधन क्लेश नहीं करते हैं, इसलिए ही केवल 'सूरयः' न कहकर 'तव सूरयः' कहा है, तथा 'इति' शब्दसे उसी अर्थका समर्थन किया है एवं यदि 'सर्व ब्रह्म ही है' यह पक्ष लिया जावे तो साधनादि भी ब्रह्मरूप होनेसे निवृत्ति उचित है. किन्तु यों मान लेनेसे पीछेके अर्थकी संगति नहीं होती है, कारण कि सर्व ब्रह्म मान लेनेसे साधनोंके करनेमें ताप नहीं होता है, किन्तु यहां तो साधनोंको दुःखद अर्थात् ताप करनेवाला जानकर छोड़ देते हैं यों असंगति होती है, वे विद्वान्(भक्तज्ञानी)[१८] आपके हैं, आप त्रिलोकाधिपति हैं, इस कारणसे उनका निर्भयत्व कहा है, क्योंकि जो भगवानके सम्बन्धी भगवदीय हैं भगवत्सम्बन्धी चरित्र हैं उनके संसर्गवालोंके पाप स्वतः नष्ट हो जाते हैं, जिससे आपके भक्तोंकेलिए आपकी कथा ही अमृत सागर है इसलिए कहा है कि 'तव कथामृत' आपकी कथा अमृत है, 'कथा' समुद्र है, जिससे एक ही कथाको हृदयमें स्थित कर लेनेसे उससे अनेक भगवच्चरित्र उत्पन्न होते ही रहते हैं, जैसे विद्वानोंको एक ही वाक्यसे सहस्र अर्थोंकी स्फूति होती है, जैसे किसी विद्वानने कहा है कि 'यस्यकस्यापि पद्यस्य शतमर्थान प्रचक्ष्मह' है, हम किसी श्लोकके शत अर्थ कहते हैं. यदि हठ करें तो सहस्त्र भी कह सकते हैं, इस पर जिसके हृहयमें हजारों भगवत्कथाओंकी स्फूर्ति होती है, वह समुद्र कहा जाता है, उसमें अवगाहन, अर्थात् जिनके हृदयमें भगवानकी अनन्तकथाओकी, स्फूर्ति हो रही है, उस स्फूर्तिसे ही वे पूर्ण होके साधन क्लेशोंका त्याग करते हैं, वैसे ही 'गुरु' होते हैं, यों कहा है, 'अथ हवाव महिमा समुद्र विप्रुषा इत्यत्रापि गुरूपदेशलक्षणः विप्रुट् वर्णितः' इस श्रीमद्भागवतके वाक्यमें कहा है कि आपकी महिमारूप समुद्रके बिन्दुसे अर्थात् वहां तो गुरुके उपदेशरूप बिन्दुका वर्णन किया है. यहां तो सम्पूर्ण कथा कही हुई है, इसलिए समुद्रमें अवगाहनकी उक्तिका विरोध नहीं हैं,

अथवा अन्य सिद्धान्त होनेसे भी उक्तिका विरोध नहीं है, इस शरणागत पक्षमें साधन क्लेश तापकी जो निवृत्ति होती है, वह सदैवकेलिए होती है, फिर क्लेशका उदय नहीं होता है, कारणकि यहां कथामृत सागरमें अवगाहन हुआ है, ज्ञानमार्गमें बिन्दुसे विषयसुख निवृत्ति की जाती है, इसलिए पुनः स्मृति होनेसे संसार क्लेश हो सकते हैं. आगको बुझानेकेलिए अधिक जल डाला जाए, तो वह आग बुझकर फिर प्रदीप्त न होगी किन्तु यदि स्वल्प जल डाला जावे तो ऊपरसे तो आग बुझी हुई दिखेगी किन्तु भीतर जलती रहनेसे वायुका थोड़ा सा संसर्ग हुआ, तो वह प्रदीप्त हो जाएगी, इसी दृष्टान्तसे इस ज्ञान और भक्तिके बलके तारतम्यको समझ लेना चाहिए, उससे भी क्लेशकी[१९] उक्तिका कहना दोषार्थ नहीं हैं, तपस्या आदि साधन हैं, उनका त्यागकर देना यह समीक्षा है.

अब तक जो यह साधन विचार किया वह भगवत्परोक्षमें स्थित जीवका कहा जो जीव परोक्षमें नहीं है, किन्तु वैकुण्ठस्थ उद्धवजीके समान सान्निध्यमें है उनकेलिए तो क्या कहना? इसलिए 'किमुत' पद दिया है.

जिन यादवोंने भगवन्माहात्म्य न जानकर भी भगवानके संसर्गमें आकर चरणसेवा की है, वे पुष्टि(अनुग्रह)के विचारसे तो कृतार्थ हैं किन्तु मर्यादामार्गमें ही अकृतार्थ कहे हैं, जैसेकि 'यादवो नितरां' कहकर उनकी अकृतार्थता दिखाई है उन(यादवों)की व्यावृतिकेलिए कहा है कि 'स्वधामविधुताशय कालगुणा' इति (आपकी स्फूतिसे दूर कर छोड़े हैं, काम और जरा आदि गुण जिन्होंने ऐसे भक्त) जैसे भगवत्कृपासे भक्तमें कालके गुणोंका अभाव हो जाता है, वैसे ही स्वस्फूर्तिसे ही जिनके काम और कालके गुणोंकी निवृत्ति हो जाती है. वे मुख्य भगवत्सेवक हैं कारणकि भगवानके पास मुक्त[२०] जीव ही जा सकते है.

यदि वे मुक्त हैं, तो वे भजन क्यों करें? जिसका उत्तर देते हैं कि 'परमः' भगवान् उन मुक्तोंसे भी उत्तम हैं, अतः उनकेलिए भी वे फलरूप हैं. अतएव सर्वदा ही अन्तररहित[२१] आनन्दरूप सुखका अनुभव करते रहते हैं, अन्तर्यामी और अवतार स्वरूप भगवच्चरण हैं, अतः वे भीतर अन्तःकरणमें ही उस ब्रह्मानन्दका अनुभव करते हैं।।१६।।

४.अनुवाद पक्ष अर्थात् ये श्रुतियां अहंकारका ही अनुवाद करती हैं, अतः वह पक्ष ही सिद्धान्त है यों ये जनाती हैं.

५.जिसने इन्द्रियोंको वशमें कर लिया है. ६.त्यागी.७.सहनशील. ८.अपनेमें ही. ९.एवं

'ही' पदसे यह कहा है कि कर्तापन अहंकारमें रहा है. १०.दर्शन करनेवाला आप.
११.दर्शन देनेवाला भी आप 'आत्मनि एव आत्मानं पश्येत्' अतः इसका भावार्थ है कि अहंकाराविष्टका ही मनोव्यापार है अर्थात् वास्तवमें भगवानका दर्शन करता है केवल जीव अहंकारसे समझता है कि मैं अपना दर्शन कर रहा हूं.
१२.स्वप्रकाश स्वरूपको दर्शनका विधान नहीं किया जा सकता है, इसलिए 'आत्मनः' पद है.
१३.अहंकारीको भगवानका दर्शन साधन बलसे नहीं होता है क्योंकि वे शमादि सिद्ध नहीं कर सकते हैं किन्तु भगवान् उन पर भी कृपा कर उनका उद्धार करते हैं.
१४.अध्यास न होनेसे अन्तःकरणका मानो अभाव ही है तो फिर अभावमें अन्तःकरण कैसे शान्त होगा दृष्टान्तसे समझाते हैं कि जिसके पुत्र नहीं है वह विद्वान् पुत्रका पिता कैसे बनेगा?
१५.साधनोंके बलका(आश्रयका) त्यागकर उन्होंने वेदाश्रय लिया है. १६.मोक्ष.
१७.'शमेन शान्ताः शिवमाचरन्ति' अर्थ-शम द्वारा शान्तिको प्राप्तकर शिव(मोक्ष) प्राप्त करते हैं.
१८.क्योंकि वैसे ज्ञानियोंको साधनोंका ताप क्लेश न होनेसे साधन त्याग कहना संगत नहीं, वे तो साधन करते ही नहीं हैं, किन्तु साधन क्लेशादि समझ जो त्याग करते हैं, वे अहंकाराविष्ट हैं पूर्णज्ञानी नहीं हैं, भक्तोंको सेवामें अध्यास होनेसे तापकी सम्भावना है. १९.साधन करनेमें क्लेश होता है यो कहनेमें दोष नहीं है.
२०.जिसके कामादि एवं जरादि दोष नष्ट हो गए हैं वे मुक्त हैं, अतः प्रथम स्वरूप योग्यताकेलिए इस प्रकारसे मुक्त होनेकी आवश्यकता है, मुख्यभक्तोंको परम फलस्वरूपसे मुक्तिकी अपेक्षा नहीं है. २१.बिना रुकावटके.

कथानन्त्योक्तिहृदयाः साधनानि न कुर्वते।
साक्षाद् ये पादसंश्लिष्टाः ते किं वाच्या महाशयाः।।का.१२।।

कारिकार्थः जिनके हृदयमें कथाके अनन्त वचन रमणकर रहे हैं वे साधन नहीं करते, तो जो लोग साक्षात् भगवानके चरणोंका आश्रय लेकर बैठे हैं, उस महाशयोंकेलिए तो कहना ही क्या अर्थात् वे साधन न करें, तो कौनसा आश्चर्य है?(१२)

आभासार्थः इस प्रकार साधनोंकी विधियोंके निर्णयको करनेवाली श्रुतियोंका निरूपणकर, अब देवतान्तरोंकी उपासनाकी विधियोंका और कर्मके विषयोंका निरूपण किया जाता है; क्योंकि 'सूत्रात्मक महान् है' अर्थात् महत्तत्त्व जीवनरूप है, उन(अन्य देवोपासना और कर्म)का करना क्या शास्त्रकी विधिकी

समर्थतासे वा आज्ञाके नियमसे किसी प्रकारकी कामना होवे, तो केवल करना चाहिए, यों श्रुतियां आज्ञा करती है अथवा उपासना और कर्म नहीं करने चाहिए, एतदर्थ उनका वर्णन करती है, 'योऽन्यां देवतामुपास्ते' इत्यादि श्रुतियोंमें कहा है कि आगेके समयके विद्वान् अग्निहोत्र आदि नहीं करते थे. अतः कर्मादि नहीं करने चाहिए. इसलिए 'दृतय' श्लोकमें उनका निर्णय कहते हैं.

दृतय इव श्वसन्त्यसुभृतो यदि तेऽनुविधा महदहमादयोऽण्डमसृजन् यदनुग्रहतः ।
पुरुषविधोऽन्वयोऽत्र चरमोऽन्नमयादिषु यः
सदसतः परं त्वम् अथ यदेष्ववशेषमृतम् ।।१७।।

श्लोकार्थः जो आपके सेवक हैं, वे ही प्राणधारी है, शेष अर्थात् जो आपका भजन नहीं करते, वे धौकनीकी तरह केवल हवा ले रहे हैं. आपके ही अनुग्रहसे महत्तत्त्व अहंकार आदिने इस ब्रह्माण्डको रचा है, जो आप अन्नमय आदिमें अंतिम हैं, वह आप ही देहोंमें पुरुषविध एवं अन्वय है. कार्य और कारणसे भी जो परे हैं, वह भी आप ही हैं और जो ये सर्व कार्य-कारणात्मक वस्तु है, उनमें जो शेष रहता है, वह सत्य भी आप ही हैं।।१७।।

व्याख्यार्थः जो लौकिक पुरुष हैं, उनकी पशु पुत्रादि कामनाओंकी पूर्तिकेलिए ही श्रुतिने उपासना कर्म करनेकी आज्ञा दी है, यों जानकर वे कर्म करते हैं और कामनासे साधन करनेवालोंको श्रुति फल देती है तो भी जो निष्काम हैं उनकेलिए श्रुति निष्फल है, अतः निष्काम मानते हैं कि वेदकी आज्ञा है, कि उपासना और कर्म करने चाहिए इसलिए करने पड़ते हैं, इस प्रकारके ये दोनों पुरुष धौंकनीकी तरह केवल श्वास लेते हैं, एक प्राणोंके पोषक होनेसे श्रुतिमें कहे हुए कर्म आदि कामनासे करते हैं, जो केवल लौकिक हैं. वे प्रकरणसे ही निषिद्ध हैं, इसलिए ही उनका यहां समावेश नहीं किया है, क्योंकि ब्रह्मवेताओंके ही विचारका यह विषय है वैदिक सर्व ही ब्रह्मवादी होते हैं, जो यों मानते हैं कि श्रुतिकी आज्ञा कामनाके परायण है अथवा विधि पर हैं, उनकी निन्दा की जाती है, कि वे प्राण पोषक अर्थात् प्राणोपाधिसे ग्रस्त हैं, धौंकनी जो धातु ठन्डे है उन सबको तपाती है, अर्थात् पीड़ा देती है, वैसे ही वे अन्योंको दुःख देनेवाले बहिर्मुख तप आदि कर्मसे समर्थ बनकर दूसरोंको ही कष्ट देते हैं, विशेषकर पशुओंका घात करनेवाले विशेष पीडा देते हैं 'हम शाप नहीं देते हैं तो भी वे हमको शाप देते हैं' 'जो हमारे शत्रु है जो वेदज्ञ होकर भी हमारा द्वेष करते हैं'

इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है कि वे अलौकिक प्रकारसे भी सर्वकेलिए उपद्रव करनेवाले होते हैं, अतः वे मरे हुए ही हैं, और इसलोक तथा परलोक दोनोंमें फलहीन है केवल दूसरोंको पीड़ा करनेकेलिए ही धौंकनीके समान जीवन धारण करते हैं, और फिर जो 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवा' इस श्रुतिके अनुसार यज्ञसे यज्ञरूप विष्णुकी सेवा करते हैं तथा देवोंको आपका अंशरूप जानकर पूजते हैं वे ही आपके भक्त हैं. अतः वे भक्त ही वास्तवमें प्राणधारी हैं उनका ही प्राण धारण करना सफल है उनसे कभी भी दूसरोंका अहित नहीं होता है.

और विशेष कहते हैं, कि पूर्व कहे हुए दो प्रकारके पुरुषोंके जो दूषण कहे उनके सिवाय दूसरे दूषण भी उनके बताते हैं, 'महदहमादयः इति' जिसके अनुग्रहसे महत्तत्त्व और अहंकारने इस ब्रह्मांडकी रचना की उस ब्रह्माण्डमें रहकर उनसे ही यह शरीर धारणकर उनकी और उनके स्वामीकी जो भक्ति-सेवा नहीं करते हैं वे कृतघ्न हैं, कृतघ्नके पापका नाश हो नहीं सकता है, ऐसी आज्ञा है, जो भगवानके सेवक हैं उनको सर्वात्मभावसे भगवानका भजन करना उचित है, यों कहनेकेलिए कहा है, कि महदादिने भी भगवानकी सेवाकेलिए भगवत्क्रीडाभाण्ड यह ब्रह्माण्ड बनाया है ब्रह्माण्ड बनानेमें महदादिकी सामर्थ्य नहीं थी किन्तु भगवदनुग्रहसे ही सामर्थ्य प्राप्त हुई तब जिससे वे बना सके अतः इससे यह भी सूचित किया है कि वे भगवद् अंग हैं. यों जानकर अन्य देवोंके भजन करनेमें दोष नहीं हैं.

दूसरे प्रकारसे भी दोनोंकी निन्दा-स्तुति निरूपण की जाती है, '**पुरुष विधोऽन्वयोत्र चरमोऽन्नमयादिषु य इति**' जो भगवान् अन्नमय स्वरूपोंमें अन्तिम आनन्दमय स्वरूप है वह पुरुषविध ही इस देहमें अन्वय है.

जैसे बर्तन आदि बनानेवाले पहले जिस वस्तुको बनाना होता है, उस आकृतिका सांचा बनाकर फिर उसमें धातु पिघलाकर डाल देते हैं, जिससे वह वस्तु बन जाती है. यदि यों न करें तो वह वस्तु सिद्ध न हो सके वैसी ही यह देह है, घट आदि पदार्थ तो क्रियासे बनाए जाते है. किन्तु देह क्रियासे नहीं बनती है, इससे जाना जाता है, कि इस देहमें भीतर कोई ऐसी वस्तु है जिस पर पड़ा हुआ अन्न, रस आदि बन जाता है, यदि ऐसी कोई वस्तु भीतर न होवे तो वह अन्न यों ही भस्मकी राशिके समान वहां पड़ा रहे अतः जो भीतर स्थित होके नित्य ही अन्नका रसमयादि बनाकर शरीर पोषणकर रहा है, वह अत्यन्तमेव मान देने योग्य

है, 'तस्य पुरुष विधतामन्वयं पुरुषविधः' इति उसके पुरुष प्रकारके कारण ही यह पुरुष प्रकार है. इस श्रुतिमें उस भगवानके पुरुष प्रकारको ध्यानमें लाकर ही यह अन्नमय आदि पुरुष प्रकारके हैं, यों इसका पुरुष प्रकार भगवानके[१] सम्बन्धसे ही निरूपण किया है, पुरुष प्रकारका सम्बन्ध तो वैसे बताया जैसे वंश परम्पराका सम्बन्ध होता है, जैसे मनुष्य वंशमें उत्पन्न मनुष्याकार ही होता है वैसे ही आनन्दमयके सम्बन्धसे उत्पन्न भी पुरुषविध ही होता है.

अन्नमयका सम्बन्ध भगवानसे और भगवानका अन्नमयसे सम्बन्ध भले ही हो किन्तु इसमें विशेष कौन वा क्या[२] है? इस प्रकारकी शंकाका निवारण 'अत्र अन्नमयादिषुयश्वरमः' किया है कि, पांच स्वरूप अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय हैं. इनमें जो अन्तिम पांचवां है, वह आनन्दमय ही है. आनन्दमय होनेसे सर्वान्तर अर्थात् सबके भीतर स्थित है, उसका दूसरा कोई प्रयोजन नहीं और न दूसरेकी अपेक्षा करता है, यों सूचित किया है, जो भीतर स्थित रहता है, वह ही आकृतिको देनेवाला होता है, 'तस्य पुरुष विधतामन्वयं पुरुषविध' इस तैत्तिरिय श्रुतिमें कहा है कि उसके पुरुष प्रकारके कारण ही यह भी पुरुष प्रकारका है, वहां तस्यै इस षष्ठी विभक्तिसे यह कहा कि जिसकी पहली बात कही है, उसका ही यहां विचार किया गया है. वह प्राणमय ही 'स वा एष पुरुषविध एव' यह पूर्वका वाक्य है 'अयं' इससे यह सर्वत्र अन्नमय ही ग्रहण करना चाहिए अथवा जो पहले कहा है वह ही लेना चाहिए न कि यों मानना चाहिए कि पहला पुरुषविध होनेसे दूसरा भी पुरुषविध होता है, और भगवान् आनन्दमय है यहां कितने ही 'आनन्दमय'को भगवान् न मानकर कोश मानते हैं[३], जो यों कोश मानते है, वे अपने शोकका ही प्रतिपादन करते हैं, आनन्दमयके त्यागसे शोक ही शेष रहता है, अर्थात् जो लोग भगवानका त्याग करते है, भगवानसे विमुख हो कोशके सम्मुख होते हैं, वे शोकके सिवाय क्या प्राप्त करेंगे, 'मयट्' प्रत्यय विकारवाची है इस कथनकी अयोग्यता तो सूत्रकारने (ब्रह्मसू१।१।१२में) ही यह (मयट्)प्राचुर्य अर्थमें है यों कहकर सिद्ध कर दी है. व्याकरणानुसार भी 'मयट्' प्रत्यय विकार अर्थवाला वहां होता है जहां दो अच् होते हैं, तीन अच् वाले शब्दमें आया हुआ मयट् विचारवाची नहीं होता है बल्कि प्राचुर्य अर्थमें होता है इससे समझा जाता है कि 'मयट्'को विकारवाची कहकर कोशका प्रतिपादन केवल ब्रह्मकी साकारताके द्वेषके कारण ही किसीने किया है,

'ब्रह्मपुच्छं प्रतिष्ठा' इससे ब्रह्मको आनन्दमय भगवानकी पुच्छ वा चरण कहा है, भगवानकी हंसाकृतिके वर्णनमें ब्रह्मका पुच्छपन सिद्ध है, इस सिद्धान्तके अज्ञानसे भी 'कोश' कहा है. यदि ब्रह्म भगवानके चरण न होवे तो भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्गका फल एक न हो सकेगा, क्योंकि भगवच्चरणको अब्रह्मत्व होगा इतना ही प्रर्याप्त है. भाष्यमें विस्तारसे कहा है, अतः जो भगवान् भीतर स्थित होके आनन्दका सम्पादन करते हैं और पुरुषत्व सम्पादन करते हैं, वैसे भगवानको जो नहीं मानते हैं वे कृतघ्न हैं इसमें कहना ही क्या है? और जो वैसे भगवानको भजते हैं वे ही उचित कार्य करते हैं, इनके औचित्यकेलिए क्या कहा जाए? और विशेष यह है कि इस जगतमें जो कुछ कार्य है. उस समस्त कार्यकेनियन्ता आप ही हैं, इसकी सिद्धिकेलिए ही कहते हैं कि 'सदसत पर त्वमिति' कार्य और कारणसे परे जो नियन्तापनसे विचारित ब्रह्म है वह आप ही हैं, न केवल आप नियामक ही है किन्तु दूसरे प्रकारसे कहते हैं कि भेदको मिटाकर 'यदेषुअवाशेष्यते' जो इनमेंसे शेष रहता है वह भी आप ही हैं, यह पहले ही प्रतिपादन किया, जैसे सर्व पदार्थोंमें वह भगवान् शेष रहते हैं, यों कहकर शिक्षा दी कि परिणामको देखकर विचार करना चाहिए न कि जो अवशिष्ट रहता है, उसका ही सर्वत्र अनुसरण करना चाहिए, न कि, जो दूसरे नश्वर हैं, उनका अनुसरण करना चाहिए इस प्रकार दोनों तरफ यह हेतु कहा है, और विशेष स्पष्ट करते हैं, कि केवल शेष कहनेसे भी कार्यकी सिद्धि नहीं होगी क्योंकि वह शेष भी घृतकी तरह नष्ट हो जाता है, इसलिए फिर कहा है कि 'यदेषुऋतं तद्भगवानेव' इन शेषोंमें भी जो सत्य है वह भगवान् है इस प्रकार स्तुति और निन्दामें पांच हेतु निरूपण किए हैं.

१.आनन्दमयके. २.प्रकार.

३.श्लोकमें दिखाया कि जो अन्नमयादिमें अन्तिम है, वह ही यहां पुरुषविध(प्रकार) है वह अन्तिममें जो पुरुष है वह आनन्दमय होनेसे परब्रह्म है, जिससे ही अन्नमय आदि वंशक्रमानुसार पुरुष प्रकार है, अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय ये चार विभूतिरूपसे देह स्थित अपना-अपना कार्य करते इनके भीतर पांचवा आनन्दमय भगवान् है जिनके द्वारा ही चार कार्य करनेमें समर्थ हो रहे हैं, आनन्दमयको भगवान् न कहकर जीवको ही आनन्दमय कहना वेदव्यास सूत्रादि शास्त्रोंसे विरुद्ध हैं, इनको 'कोश' मानना शास्त्र और युक्तिसे विरूद्ध है कोशका अर्थ करते हैं जीवके साथ सूक्ष्म शरीरके अवयव वे अन्नको रसमय नहीं बना सकते इत्यलम्.

कृष्ण एव सदा सेव्यो निर्णीतः पञ्चधा बुधैः।
शरीरदः प्रेरकश्च सुखदः शेषसत्पदः।।का.१३।।

कारिकार्थः श्रीकृष्ण शरीरदाता, प्रेरक सुख देनेवाले, शेष और सत्त्व हैं, यों पांच प्रकारसे ज्ञानियोंने जिनका निर्णय किया है; वे श्रीकृष्ण ही सदा सेवा करने योग्य है(१३)

आभासार्थः इस प्रकार श्रुतियोंमें कहे हुए अन्य देवोंकी उपासनाकी विधियोंका और कर्मान्तर विधियोंका निर्णय कहकर अब अनेक प्रकारके भगवानके उपासकोंको जो पृथक्-पृथक् फल मिलता है उनका निर्णय 'उदरमुपासते' श्लोकसे कहते हैं.

उदरम् उपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः परिसरपद्धतिं हृदयम् आरुणयो दहरम्।
तत उदगाद् अनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे।।१८।।

श्लोकार्थः ऋषियोंके मार्गोंमें अर्थात् वैदिकमार्गोंमें जो उदर(कर्म)की उपासना करते हैं, वे स्थूल दृष्टिवाले हैं और जो नाड़ियोंका मार्ग जहां है, वैसे हृदयकी उपासना करते हैं, वे अल्प प्रकाशवाले हैं अर्थात् स्वल्प देखते हैं, हे अनन्त! आपका धाम उत्तम है अतः त्रैलोक्य कालसे भी उत्तम आपका जो सिर आधिभौतिक(ब्रह्मलोक) है, उससे भी उपर जाते हैं, वह आपका भगवत्स्वरूप ऐसा है, जिसको प्राप्तकर फिर कालके मुखमें नहीं पड़ते हैं।।१८।।

व्याख्यार्थः भगवानकी उपासना करनेवाले तीन प्रकारके हैं, १.कर्मिष्ठ २.योगी और ३.ज्ञानी, इनमें ज्ञानी उत्तम है. शेष कर्मी और योगी अधम और मध्यम है, 'एकत्वेन पृथकत्वेन बहुधा विश्वतो मुखम्' इस वाक्यानुसार भगवानका भजन बहुत भांतिसे होता है, कितने ही इस पद्यको योग पर लगाते हैं, वह उनका लगाना श्रुतिके निर्णयसे विरुद्ध सा दिखता है. ऋषिमार्गोंमें अर्थात् वेदोंमें ऋषियों द्वारा कहे हुए मार्गोंमें स्थिर रहकर जो उदर यानि कर्मरूप भगवानकी उपासना करते हैं, वे स्थूल(मोटी) दृष्टिवाले हैं, वेदका उदर शब्द कर्म है, कर्मकी समाप्ति उदरमें ही होती है. 'उदर'के अर्थ है लक्षणाविधिसे ये दोनों ही होते हैं, उदरका शब्दार्थ तो 'पेट' है, किन्तु लक्षणासे उदर शब्दका अर्थ कर्म किया है, कारण कि वेदका 'उदर' कर्म है, कर्मका फल धनादिको पोषणार्थ प्राप्ति होनेसे भी उदरका अर्थ कर्म किया है, यदि उदर शब्दका अर्थ मणिपूरक

चक्र अथवा कर्म किया जावे तो यहां पासवाले छः चक्रोंका निरूपण नहीं किया गया है और कर्म शुद्धिके छः अंग भी नहीं कहे हैं, इस कारणसे यह अर्थ संगत नहीं है, भगवान् यज्ञपुरुष पंचात्मक है, वहां भी विचार करनेसे 'उदर'का अर्थ 'सोम' होता है, सारांश यह है कि यहां 'उदर' शब्द देकर सकाम कर्मियोंकी निन्दा ही की गई है, लोकमें जो शिश्नोदर परायण हैं वे निन्दाके ही योग्य होते हैं, इस प्रकार जो, कर्मी हैं वे स्थूल दृष्टिवाले हैं, कूर्प शब्दका अर्थ कंकड है यानि पाषाणके छोटे टुकड़े उनको वे ही देख सकते हैं, सूक्ष्म तत्त्वको नहीं जान सकते हैं. अथवा 'कूर्प' शब्दका अर्थ कछुएकी पृष्ठ(पीठ) पर जो चक्षुसम काले चिन्ह हैं, वे है, जिसका तात्पर्य है कि जैसे वे चक्षुसम काले चिन्ह देख नहीं सकते हैं, वैसे ही ये शिश्नोदर परायण भी तत्त्वको देख नहीं सकते हैं. इस तरह 'त्रेयी धर्म मनुप्रपन्ना[२] गतागतं काम कामा लभन्ते' इस वचनसे उनकी निन्दा सुनी जाती है, इसी तरह कनिष्ठ कर्मियोंकी स्थिति कैसी है क्या होती है, यह बताकर, अब मध्यम जो योगी हैं उनकी स्थिति बताते हैं, 'परिसर पद्धति हृदयम्' इति, चारों तरफ जो सरण करती रहती हैं, वे नाडियां कही जाती हैं, उनका मार्ग है 'हृदय' इससे उस हृदयमें स्थित होकर योगाभ्याससे नीचे ऊपरके सकल मार्गोंको शुद्ध करते हैं. इस प्रकार योगी भगवानका चिन्तन हृदयमें करते हैं, वे योगी अरुणकी तरह स्वल्प प्रकाशवाले होते हैं, अरुणका पुत्र 'आरुणि' दहरका अर्थ अल्प है, कितने ही इस दहरका अर्थ छिद्र करते हैं वेदमें 'दहरं वै सा पराभ्यां दोहाभ्यां द्रुहः' इस श्रुतिमें 'दहर' शब्दका अर्थ अल्प कहा है, अतः जो स्वयं अल्प प्रकाशवाले हैं वे अल्पकी ही उपासना करते हैं. इसी भांति सर्वात्मक भगवानकी कितने ही 'उदर' कर्मरूपसे और कितने ही 'हृदय' योगाभ्याससे हृदयमें उपासना करते हैं, यों कर्म और योगको कहा है, गीतामें योगकी प्रशंसा तो योगशास्त्र होनेसे की है, अथवा बहिर्मुखोंके उद्देश्य होनेसे की है.

यों है तब मुख्य उपासक कौन है? ऐसी जिज्ञासा होने पर कहते हैं कि, 'ततउदगात् इति, तवधाम शिरः परमं' आपका परमधाम जो शिर आधिभौतिक (ब्रह्मलोक) है. उससे भी वे उपासक ऊंचे जाते हैं, जो सर्व कारणोंका कारण है वह अक्षरब्रह्म है, यों कहते हैं, जिसमें प्रमाण 'विष्णोर्धाम' वाक्य है, भगवानके बहुत स्थान है उनमें भी अक्षर सबसे उत्तम स्थान है. 'अक्षर' पदके प्रयोगसे ही उसका परमपन जाना जाता है वा जानना चाहिए, इस कारणसे ही तीनलोकसे

और कालसे भी शिर ऊपर है, उसका ही आधिभौतिकरूप 'ब्रह्मलोक' है, इसलिए उसको शिर कहा है, पहले जो कहा उससे इस फलकी उत्तमता कहते हैं कि प्राणी जिस भगवत्स्वरूपको प्राप्तकर फिर लौटकर कालके मुखमें नहीं पड़ते है. अर्थात् आवागमनके चक्करसे छूट जाते हैं, जैसाकि गीतामें कहा है, 'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते' मुझे प्राप्त हो जानेके अनन्तर फिर जन्म नहीं लेना पड़ता है अतः ज्ञानी ही उत्तम है. यह तात्पर्य है।।१८।।

१.एकपन, बहुपन और विश्वरूप बने हुए मेरा बहुत प्रकारसे भजन होता है.

२.वेदके धर्ममें आसक्त, सकाम पुरुष जन्म-मरणके चक्करमें फिरते रहते हैं.

कर्मरूपं हरिं केचित् सेवन्ते योगरूपिणम् ।
तेभ्योऽप्यक्षररूपस्य सेवकाः संमताः सताम्।।का.१४।।

कारिकार्थ: कितने ही कर्मरूप हरिकी उपासना करते हैं और कितने ही योगरूप हरिका सेवन करते हैं, इन सबसे भी अक्षररूप हरिकी सेवा करनेवालोंको सत्पुरुषोंने उत्तम माना है(१२)

आभासार्थ: इस तरह उपासनाके भेदोंका निर्णय कहकर, अब अनुप्रवेश (कार्योंको रचकर फिर उनमें भगवान् प्रवेश करते हैं.) श्रुतियोंका 'स्वकृत विचित्र योनिषु' श्लोकमें निर्णय कहते हैं.

स्वकृत-विचित्र-योनिषु विशन्निव हेतुतया
तरतमतश्चकास्स्यनलवत् स्वकृतानुकृतिः ।
अथ वितथास्वमूष्ववितथं तव धाम समं
विरजधियोऽन्वयन्त्यभिविपण्यव एकरसम् ।।१९।।

श्लोकार्थ: आप अपने रचे हुए विचित्र देव-मनुष्य आदि शरीरोंमें हेतुपनसे रहते हुए भी मानों भीतर प्रवेश करते हुए छोटे-बड़े आदि विविध प्रकारसे वैसे प्रकाशमान हो, जैसे अग्नि काष्ठमें सीधी व वक्र आदि काष्ठसम भासती है और जो सर्व व्यवहारातीत ज्ञानी हैं, वे ही इन असत्य योनियोंमें आपका स्वरूप सत्य तथा एकरस है, यों जानते हैं।।१९।।

व्याख्यार्थ: 'ततसृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' उसको रचकर अनन्तर उसमें प्रवेश किया 'स एष इह प्रविष्ट आनखाग्रेभ्यः' वह यह यहां(कार्यरूपमें) नखसे लेकर ऊपर मस्तक तक प्रविष्ट हुए हैं, इत्यादि श्रुतियोंमें प्रवेश कहा है यो सुनते हैं, 'गुहां प्रविष्टौ आत्मानौ हि तद्दर्शनात्' हृदयाकाशरूप गुहामें दो आत्माएं(जीव

और परमात्मा) प्रविष्ट हुए हैं यो उनके दर्शनसे अर्थात् निरूपणसे जाना जाता है यों ब्रह्मसूत्रमें भी इस न्यायसे निर्णय किया हुआ है.

इस पर विचार होता है कि यह प्रवेश सर्वथा बाहर स्थितका हुआ है, वा भीतर स्थितका लोगोंको दर्शन होनेसे लोक दृष्टिसे ही कहा जाता है कि प्रवेश हुआ है, इन विचारोंसे यदि बाहर रहे हुएका प्रवेश हुआ है, यह सिद्धान्त माना जाएगा तो 'स आत्मानं स्वयं अकुरुत' इत्यादि श्रुति प्रोक्त आत्मसृष्टि अर्थात् आप ही जगत् रूप हुए हैं यह सिद्धान्त झूठा होगा और अद्वैतका भी विरोध होगा अर्थात् द्वैत हो जायगा, इससे भगवान् निरवयव है यह सिद्धान्त भी नष्ट हो जावेगा, प्रवेश भी एकका नहीं बल्कि दोनोंका न्यायपूर्वक ब्रह्मसूत्रमें कहा है, प्रवेशसे प्रथम तो पृथक होनेका कोई कारण नहीं था, प्रवेशान्तर ही जीव और ब्रह्मभाव हुवा है, अतः दोनोंके प्रवेशका निर्णय करना चाहिए, क्या? बहिःस्थित एक ही भगवान् प्रवेश करते हैं अथवा जीव और ब्रह्म दोनों समानरूपसे प्रवेश करते हैं अर्थात् जैसे भगवान् सर्व पदार्थोंके तुल्य होकर उनमें प्रवेश करते हैं, वैसे जीव भी समान होकर प्रवेश करते हैं अथवा अणुरूपसे ही प्रविष्ट होते हैं, यह विचार जो यहां हुआ है उसका निर्णय दो श्लोकोंमें करेंगे, जिसमें जीवके प्रवेशके प्रकारका निर्णय २०वें श्लोकमें कहा जायगा. यहां ब्रह्म प्रवेशका निर्णय करते हैं कि भगवान् अपनी ही बनाई हुई विचित्र योनियोंमें कारणत्वसे स्थित हो, मानो प्रविष्ट होते हैं यो भासते हैं. यों कहनेसे सिद्ध किया है कि ये प्रवेश श्रुतियां दृष्टानुवादिका है, अर्थात् जो देखा है उसका अनुवाद करती हैं, कोई कहते हैं कि कार्यमें कारणका पीछे प्रवेश पृथक् होता है, जो पृथक् प्रवेश न होवे तो वहां वैसी प्रतीति जो हो रही है वह न होवे इसलिए दोनों मतोंका संग्रह करनेकेलिए 'इव' पद दिया है, भागवतके तृतीय स्कन्धके २६वें अध्यायके ४९वें श्लोक, 'परस्थ दृश्यते धर्मो ह्यपरैस्मिन् समन्वयात्'में भी कहा है कि कारणका गुण कार्यमें समन्वित देखनेमें आता है, अतः भगवान् कार्यमें उपादानरूपसे[१] विराजते हुए भी फिर प्रविष्ट होते हैं.

इस प्रकार प्रवेश कहकर 'सत् और त्यत्' हुए इत्यादि वाक्योंमें कहा है कि जो प्रविष्ट होता है वह ही पृथक होता है, यानि उसमें विलक्षणता हो जाती है यों श्रुति कहती है, उसका भी निर्णय कहा जाता है कि 'तरतमतश्चकास्सीति' उत्कृष्ट निष्कृष्ट भावोंसे भासते हो. अर्थात् देव, तुच्छ प्राणी, मनुष्य आदि

भावसे और राजसादि भावसे भासते हो. एक ही भीतर प्रविष्ट होके अनेक कैसे भासते है? इसका उत्तर देते हैं कि 'अनलवत्' (अग्निकी तरह) अर्थात् अग्नि जैसे काष्ठमें प्रविष्ट होती है वैसे ही भासती है, किन्तु अग्निमें भेद नहीं है वैसे ही अन्तर्यामीमें भी भेद नहीं है देव मनुष्यादि जैसी देहमें प्रविष्ट है वैसा भासता है, यों कहकर जीवने भेद किया है इस पक्षका निराकरण किया है, भगवान् तो अन्तर्यामी हैं सर्वत्र ही एक प्रकारके ही है, जीवोंकी विलक्षणतासे देवादि भेद हैं, जैसे अग्नि काष्ठमें पहले ही स्थित है फिर उसमें प्रविष्ट होकर वर्णभेद स्थूलसूक्ष्म भेद, दीर्घ-वक्र आदि भेदका विस्तार स्वयं करती है, उसकी यह विलक्षणता दूसरा कोई नहीं करता है, यह तो केवल दृष्टान्त दिया है. हेतुपूर्वक युक्ति देकर नहीं समझाया है इसपर कहते हैं कि 'स्वकृतानुकृतिः' भगवान् सर्वत्र अपनी कृतिका ही अनुकरण करते हैं, जैसे अध्यापक शिष्य शिक्षार्थ स्वयं शिष्यवत् पढकर शिष्यको विशेष ज्ञान योग्य करता है जिससे शिष्य प्रवीण होता है. वैसे ही भगवान् भी क्रीडाकेलिए स्वयं जगत् रूप बनकर सर्व वस्तु मात्रमें प्रविष्ट होकर तत्-तत्रूप बनकर सबको खेलाने लगे हैं यो करनेसे जो दोष दीखते हैं, उनका निवारण करते हैं, 'अमूषु वितथास्वपि अवितथं तव धाम' इन झूठे पांच भौतिक पदार्थोंमें प्रविष्ट आपका तेज व स्वरूप सत्य है, कारणकि 'सम' अर्थात् एकरस है, पृथिवी आदि एकसे एक दशगुणा विषम है जिससे उनमें समता हो नहीं सकती, कठिन और विरल अवयवत्वके कारण विषमता अवश्य होनेवाला ही है, आकाश भी अनित्य होनेसे विषमतावाला है किन्तु सूक्ष्म होनेसे उनकी विषमता पहचानी नहीं जाती है, भगवान् तो सर्वत्र सम ही प्रविष्ट हुए हैं, जैसे कहा है कि 'निर्दोषं ही समं ब्रह्म' ब्रह्म निर्दोष और सम है, ज्ञान आदि तारतम्य तो जीवमें रहा है, यह आगे आनेवाले श्लोकमें कहा जायगा, यहां कहनेका भावार्थ यह है कि भगवान् सर्वसम है, जहां प्रविष्ट होते हैं वहां उसके समान हो जाते हैं, जैसे कहा है कि 'सम प्लुषिणा समो मशकेन समो नागेन' इति श्रुतेः भगवान् प्लुषी(दीमग, उदई) मशक(मच्छर) और हस्ति(हाथी)के समान है, अतः उनके तुल्य ही प्रविष्ट होते हैं, भगवान् यदि सर्वत्र समान अंशसे प्रवेश करते हों तो सबके समान बन नहीं सकेंगे यो आपका कहना उचित नहीं क्योंकि भगवान् हस्तीमें जितने अंशसे प्रविष्ट होते हैं, उतने अंशसे मच्छरमें प्रविष्ट नहीं होते हैं बल्कि हस्तीमें हस्तीके समान, मशकमें मशकके समान प्रवेश करते हैं. अतः वैसे स्वभाव

गुणवान होते हैं, इससे ही भगवानके कार्योंमें भी विषमता प्रतीति होती है नहीं तो विषमता प्रतीति न होवे.

भगवानके कार्योंका निरूपण 'योऽन्तः प्रविश्य मम वाचमिमां प्रस्तुप्ताम्' श्रुतिमें किया है कि जो भगवान् भीतर प्रविष्ट होकर मेरो इस सोई हुई वाणीको जगाते हैं अर्थात् सोई हुई वाणीवाले पुरुषमें सोई हुई वाणीमें प्रवेश करते हैं अन्यथा वाणीको जगा नहीं सके, इससे श्रुतिने सिद्ध किया है कि भगवान् कार्यके समान गुणवाले हो प्रविष्ट होते हैं. इस भगवानकी विचित्र लीलाको कौन जानता है? इस पर कहते हैं कि 'विरजधियोऽन्वयन्तीति' जिन्होंने रजोगुणका नाशकर हृदयको शुद्ध बना दिया है वैसे ब्रह्मदृष्टिवाले जो हैं वे ही इस विलक्षणताको जान सकते हैं क्योंकि भगवान् प्रविष्ट होनेके अनन्तर सर्वत्र सर्वदा एक लीला नहीं करते हैं जिससे साधारण दृष्टिवाले इसको नहीं जान सकते हैं जैसे जोहरी ही सच्चे-झूठे रत्नकी परीक्षा कर सकता है, वैसे ही ब्रह्मदृष्टिवाले ही भगवानकी लीला समझ सकते हैं, वे ही जान सकते हैं, जिसका क्या कारण है? इस पर कहते हैं कि 'अभिविपण्यैव' सर्व प्रकार जिन्होंने इसलोक तथा परलोकके व्यवहारोंको त्याग दिया है और भगवद्विषयका ही अभ्यास करते रहते हैं अतः जो पुरुष जिस विषयका अभ्यास करता है, उसको उस विषयका पूर्ण ज्ञान हो जाता है, जिससे उसके दर्शन कर सकते हैं, जैसे-जैसे व्यवहारमें निपुण तोल आादि करनेसे अथवा देखनेसे ही पदार्थका तोल बता सकते हैं कि यह वस्तु इतनी और वैसी है, वैसे ही जो लोक व्यवहारका त्यागकर स्वथा ब्रह्मका ही चिन्तन करते रहते हैं, वे सर्वत्र ब्रह्म ही देखते हैं, न कि विकारसे उत्पन्न पदार्थ देखते हैं, और वह 'सम' ही है, उनको तो ब्रह्म ही देखनेमें आना चाहिए न कि सम, वे सम देखते हैं जिसका क्या कारण है? यदि कहो कि ब्रह्म सम ही है, तो यही विचाणीय विषय है कि ब्रह्म, सम है वा विषम है? इसलिए सम है तो उसके वास्ते पृथक् हेतु देना चाहिए. इस पर कहते हैं कि 'एकरस' इति ब्रह्म एकरस है यह विशेषण दिया है. 'रस' तो अनुभवसे जाना जाता है, सर्वत्र उनकी रति(प्रेम) समान है, जो यो न होवे(ब्रह्म सम न होवे) तो अनुभवमें विरोध होते ही सर्वत्र समदृष्टि न रहे. लोकमें रसकी विलक्षणता जाननेवाले विलक्षण रसवाले तुल्यरूप पदार्थोंमें भी विषम दृष्टिवाले ही हो जाते हैं, किन्तु 'ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने'[३] इस वाक्यमें समदृष्टिका ही निरूपण किया है अतः भगवान् सर्व सम होकर ही सर्वत्र जगद् रूपसे प्रविष्ट

होकर क्रीडा करते हुए भी निर्दुष्ट(दोषरहित) है यों निरूपण किया है.

१.जिस वस्तुसे जो पदार्थ बनता है वह वस्तु उस पदार्थका उपादान कारण है, जैसे कुण्डल सुवर्णसे बनता है तो सुवण कुण्डलका उपादान कारण है, वैसे भगवान् कार्य मात्रका उपादान कारण है. २.ब्राह्मण ढेढ, अनयज और चोरमें समदृष्टि बतायी है.

सर्वत्र भगवांस्तुल्यः सर्वदोषविवर्जितः।
क्रीडार्थमनुकुर्वन् हि सर्वत्रैव विराजते।।का.१५।।

कारिकार्थ: सर्व दोषरहित भगवान् सर्वत्र समान है, केवल क्रीड़ाकेलिए अनुकरण करते हुए सबके भीतर विराजते हैं(१५)

आभासार्थ – इस प्रकार प्रवेशके प्रसंगमें भगवानको प्रवेश करनेसे दोष नहीं लगता है यों सिद्धकर, अब इस श्लोकमें दूसरे(जीव)के प्रवेशके विषयकी शंकाओंका निवारण करते हैं, प्रवेश दोनों, ब्रह्म और जीवका कहा हुआ है.

स्वकृतपुरेष्वमीष्वबहिरन्तरसंवरणं
तव पुरुषं वदन्त्यखिलशक्तिधृतोंऽशकृतम्।
इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनं
भवतउपासतेऽङ्घ्रिम् अभवंभुविविश्वसिताः।।२०।।

श्लोकार्थ: कवि आपके ही बनाए हुए इन देहोमें जीवको अखिल शक्तिधारी आपका अंश कहते हैं, वह आपका अंशरूप जीव देहके गुण–दोषरूप आवरणसे रहित है. इस तरह जीवकी गतिका विवेचनकर, वे (पृथ्वी पर भगवानमें विश्वस्त) कवि, वेद जिसका प्रतिपादन करते हैं कि चरणारविन्द जन्मादि संसारको नष्ट करनेवाला है, आपके वैसे चरणारविन्दोंकी भक्ति करते हैं।।२०।।

व्याख्यार्थ: भगवानके बनाए हुए, देव मनुष्य पशु आदि शरीरोंमें, जो जीव हैं वह भगवानका अंश है, देहोंमें रहते हुए भी उनके गुण और दोषोंसे अलिप्त ही है, किन्तु अंश होनेके कारण उसमें विषमता प्रतीत होती है, इस विषयको स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, जीव भगवानका चैतन्य अंश है, अत्यन्त सूक्ष्म स्वरूपसे सर्व देहोंमें प्रविष्ट होते हुए भी अंदर और बाहर चैतन्य गुणसे पूर्ण है, इससे वास्तवमें वह भी विषम नहीं है अर्थात् 'सम' है तो भी आनन्दांशके तिरोहित होनेसे और अंश[1] होनेसे विषम भावापन्न जैसा हुआ है अर्थात् अणु है इस कारणसे अपने आनन्दकी प्राप्तिकी इच्छार्थ देहोंमें प्रवृत्ति करता है, अर्थात्

देहोंमें आनन्द प्राप्त्यर्थ घूमता रहता है, वह आनन्द न मिलनेसे विषम जैसा दीखता है. भगवान् और जीवमें विलक्षणताका कारण इतना ही है यों बताया, भगवान् तो आनन्द पूर्ण हैं इसलिए किसीसे भी आनन्दकी याचना नहीं करते हैं, जीवका आनन्द तो तिरोहित हो गया है, इसलिए जहां कहांसे आनन्दकी अपेक्षा करता है इससे विषमके समान प्रतीत होता है, यह अर्थ 'अंशकृत' पदसे सूचित किया है. इसी तरह जो मनुष्य भगवान् और जीवकी विलक्षणता(भेद) जानते हैं वे ही भगवानकी भक्ति करते हैं, न कि दूसरे अर्थात् जो इस विलक्षणताको नहीं जानते हैं वे भगवद्भजन नहीं करते हैं.

जीवकी यह प्रवृत्ति आनन्दको ढूंढनेकेलिए ही है, वह आनन्द तो भगवानमें ही है, दूसरे किसीमें भी, जैसाकि श्रुति कहती है कि 'को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्' 'एष ह्येवानन्दयति' यदि यह आकाश न होवे तो कौन श्वास ले सके और जीवन धारण कर सके क्योंकि आनन्द तो आकाश ही देता है.

जब जीवोंमेंसे आनन्द तिरोहित हो गया है तो जड़ोमें उसकी गन्ध भी न होवे तो क्या आश्चर्य है अर्थात् उनमें आनन्दकी गंध मात्र भी नहीं है, किन्तु जैसे भ्रान्त पुरुषोंको मरुमरिचिकाकी तरह अत्यन्त निर्जल भूमिमें भी जलकी प्रतीति होती है वैसे ही पुष्प चन्दनादिमें[२] भी आनन्द है यों मान मनुष्य भ्रमित होते हैं, 'सर्व मनुष्य अथवा पदार्थ' जिसके पास है वही दे सकता है. उसके सिवाय दूसरा कुछ भी दे नहीं सकता है इसलिए इस तत्त्वको जाननेवाले पण्डित भी जानते है कि, आनन्दनिधि भगवान् हैं, उनसे ही आनन्द मिलेगा वे ही आनन्द दे सकेंगे अतः वे भगवानके चरणोंकी ही उपासना करते हैं.

भले, परमानन्द भगवानमें होवे, किन्तु स्वर्ग आदिका आनन्द तो अन्यत्र भी होगा, इस प्रकारकी शंका पर कहते हैं कि, निगमा वपनं समस्त वेद भगवानके चरणोंमें ही आनन्द कहते हैं अतः वेद भी चरणोंको ही प्रणाम करते हैं जैसे कि श्रुतिमें कहा है कि 'सर्व वेदा यत्पद् मामनन्ति' अतः वेद भी भगवानके चरणोंकी भक्तिका प्रतिपादन करते हैं, वह चरण ही फल तथा साधनरूप है. अतः यज्ञ भी चरणरूप है. स्वर्ग भी वैसा ही है, यह मुख्य सिद्धान्त है. 'अस्यैव आनन्दस्य अन्यानि मात्राम् उपजीवन्ति' यह श्रुति कहती है कि इसके ही आनन्दकी मात्रासे अन्य जीवन धारण करते हैं, 'एष एवानन्दयाति' यह ही आनन्द प्राप्त कराते हैं,

'एव' पदसे यह दृढ सिद्धान्त सिद्ध किया है कि वेदके कथनसे भी भगवानके चरणारविन्दके सिवाय दूसरी जगह आनन्द नहीं है. यदि कहो कि इसका(भगवान् व भगवच्चरणका) भी उत्पत्ति आदिसे आनन्दके विरुद्ध जो धर्म है उनके साथ सम्बन्ध हो जानेसे जीवकी भांति आनन्द तिरोहित हो जायगा, तो उनका भी जीववत् जन्म होगा, जिसका उत्तर यह है कि भगवच्चरण दूसरोंके जन्मको भी जब नष्ट कर देते हैं तब उनका जन्म कैसे होगा? स्वर्ग आदिमें आनन्दकी सामग्रीके दर्शन होनेसे, स्वर्गके सुख तथा आनन्दमें भेदका ज्ञान न होनेसे आनन्दकी शंका भी हो सकती है, पृथ्वी पर तो ऐसी शंका हो नहीं सकती है क्योंकि 'भुवि विश्वसिताः' पृथ्वी पर तीर्थ आदि हैं उनसे व उपासना आदिसे शुद्धान्तःकरण हो जानेसे भूमिस्थ जीवोंका भगवानमें विश्वास हो जाता है, दूसरे स्वर्गादि लोकोंमें भोगोंमें आसक्ति होनेसे भगवानमें विश्वास नहीं रहता है.

१.अंशेन, यह तृतिया विभक्ति देकर ऐक्य दिखाया है अर्थात् अंश अलग विभाग नहीं बल्कि अंश जैसा, यानि आनन्दांश छिपनेसे अंश है.

२.आदि पदसे स्त्री, पुत्र, धनादिमें भी आनन्द प्रतीति भ्रान्तोंको होती है.

गुप्तानन्दा यतो जीवा निरानन्दं जगद्यतः।
पूर्णानन्दो हरिस्तस्माज्जीवैः सेव्यः सुखार्थिभिः।।का.१६।।

कारिकार्थः जीवोंका आनन्द तिरोहित हो गया है, जगतमें आनन्द नहीं है, इसलिए जिन जीवोंको आनन्द प्राप्तिकी चाहना है उनको भगवानकी सेवा करनी चाहिए, क्योंकि भगवान् पूर्णानन्द हैं, अतः यह ही आनन्द दान कर सकते हैं(१६)

आभासार्थः इस प्रकार भगवान् कार्योंमें प्रवेश करते हैं इस प्रसंगवाली श्रुतियोंसे जीव स्वरूप कहकर, उनको(जीवोंको) आनन्द प्राप्तिकेलिए भगवत्सेवा ही करनी चाहिए, यों निश्चयकर, अब जीवको असम्भावना और विपरीत भावनाके कारण दो शंकाएं (१. कदाचित् भगवानमें भी आनन्द न होवे और २. भगवान् जो पूर्णानन्द है, वह कौन है?) उत्पन्न होती है तदर्थ उन दो भावनाओंको मिटानेकेलिए 'दुरवगमा' श्लोक कहते हैं.

दुरवगमात्म–तत्त्व–निगमाय तवात्ततनोः चरितमहामृताब्धि–परिवर्तपरिश्रमणाः।
न परिलषन्ति केचिदपवर्गमपीश्वर ते चरणसरोजहंसकुलसङ्गविसृष्टगृहाः।।२१।।

श्लोकार्थः जिस आत्मतत्त्वका ज्ञान पाना अति कठिन है, उसका ज्ञान

देनेकेलिए जिस आपने अवतार धारण किया है, वैसे आपके चरित्ररूप महान् अमृत सागरमें बहुत अवगाहनार्थ परिश्रम करनेवाले कोई ऐसे विरले भक्त हैं, जो हे ईश्वर! मोक्ष सुखको भी नहीं चाहते हैं, कारण कि उनको आपके चरणकमलके आश्रय करनेवाले हंसों(परम भगवदीयों)के संगमें भगवच्चरित्र चर्चा करते, जो परमानन्द प्राप्त होता है, वह मोक्षमें भी नहीं दीखता है, इसलिए ही उन्होंने गृह आदि सबका त्याग कर दिया है।।२१।।

व्याख्यार्थ: भगवानमें आनन्द है अथवा नहीं है ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए और यह भी शंका न करनी चाहिए कि भगवान् कौन है? भगवान् भी जीवकी तरह जन्म लेते हैं अतः उनका भी आनन्द तिरोहित होता होगा ऐसी शंका नहीं करनी चाहिए. क्योंकि अवतारी[१] श्रीकृष्णके केवल चरित्र श्रवण करनेसे ही श्रोताको ऐसा परम आनन्द प्राप्त होता है, जिसके आगे मोक्षके महान् आनन्दको भी वे विचारक नहीं गिनते अर्थात् कभी भी मोक्षानन्द नहीं चाहते हैं, देखे हुए पदार्थमें कुछ अनुपपन्न नहीं है, क्योंकि उसमें किसी प्रकार सन्देह नहीं है, इसका भी जतानेवाला दूसरा है, उसको कहते है 'चरण सरोजहंस कुल संगविसृष्टगृहा' चरणकमलके आश्रित जो हंस हैं उनके संगार्थ जिन्होंने गृह छोड़ दिया है, गृहमें तो महान् सुख मिल रहा है वह विद्यमान और सिद्ध है, उसकी प्राप्तिमें अथवा उसके होनेमें कोई सन्देह नहीं है. उसको भी छोड़ देते हैं, यदि भगवानमें आनन्द होनेमें सहस्रांश भी संशय होता तो गृह सुख, जो मौजूद है उसको कौन छोड़ सकता है, अतः भगवानमें आनन्द है, जिसमें कुछ भी सन्देह नहीं करना चाहिए, भगवानका जन्म, ज्ञान देनेकेलिए है, यह कहना भी विपरीत अर्थ प्रकट करता है क्योंकि देह तो अज्ञानका परिणामरूप है, अज्ञानरूप देह ज्ञानका कारण कैसे? इसलिए यों कहना विपरीतार्थवाला दीखता है, जिस शंकाको मिटाते हैं कि 'संव्यवहार्यस्यापि पूर्णानन्दत्वमिति' भगवानका जो भी व्यवहार हो रहा है वह पूर्णानन्दवाला है यों कहते हैं कि जो आत्मा किसीसे भी जानी नहीं जाती है, जिसको नेत्रवाला नहीं देख सकता है उसको जाननेका उपाय कठिन है, जो अपनेको ही नहीं जान सकता है, उसको दूसरा कौन ज्ञान करा सकेगा? ज्ञान नहीं होता है अपनी आत्मा समझमें नहीं आती है, यों होने पर यह आत्मा कैसी है ऐसा संशय होता है, उसका तत्त्व भी दुर्ज्ञेय है और उसका परमार्थतः कौनसा रूप है? ऐसे परमात्माका ज्ञान, यदि लोकमें प्रसिद्ध अर्थात् सबको हो जावे तो इतने समयमें सब मुक्त हो जाते,

इसलिए आत्मतत्त्वके ज्ञानकेलिए कोई भी साधन लोकको मालुम नहीं है, इसलिए ही जीव कल्याणार्थ आत्मतत्वके ज्ञान देनेकेलिए भगवानको अवतार धारण करना पड़ा है. 'निगमार्थ आत्ततनौ' ज्ञानकेलिए देह धारण की, जो देह धारणका कार्य अज्ञानका है, यों विरुद्ध धर्म दिखानेवाला चरित्र होनेसे ही भगवानका यह चरित्र अद्भुत है, अज्ञान कार्य समान देहको प्रकट करते हुए सबको ज्ञान देते हैं, अतः अद्भुतकर्मा भगवानका चरित्र ही महान् अमृत सागर है, जिससे लोकसिद्ध समुद्रकी अपेक्षा अधिक है, यह समुद्र तो कैसे ही सूख भी जाता है, पिया[१] भी जाता है, बान्धा भी जाता है, उसका उल्लंघन भी हो सकता है, चरित्रामृताब्धिको तो कोई ऐसा नहीं कर सकता है. अब्धित्व और अमृतत्व तो प्रतिपादन किया ही है, उन चरित्रोंके अमुताब्धिमें बिलोडने(मथन)का परिश्रमकर, जो महारस पानसे मत्त हो गए हैं, वे स्वयं प्राप्त व किसीके दिया हुआ मोक्ष नहीं लेते हैं. इस विषयमें क्या कहा जाय? 'परिलषन्ति'में जो 'परि' उपसर्ग है उसका भावार्थ है कि ऐसे भक्तोंको कितने ही लोभ आदि दिए जावे तो भी, उन पदार्थोंके लेनेकी इच्छा भी मनमें उत्पन्न नहीं होती है. हे ईश्वर! इस संबोधनसे यह सूचित किया है कि आप देवें, तो भी नहीं लेते हैं वहां दूसरोंका दिया कैसे लेंगे मोक्ष और कथामृताब्धि दोनोंमें परमानन्द है तो, फिर कथामृताब्धि बिलोड़नेमें अधिक क्लेश भोगनेकी क्या आवश्यकता है क्यों न मोक्ष चाहते हैं, यदि कहो तो इसका उत्तर यह है कि, अकेले रसानुभाव करनेकी तुलनामें बहुत योग्योंके साथ रसानुभवमें अधिक सुख प्राप्त होता है, इसी तरह परमानन्द होते हुए भी मोक्षमें अकेले रसानुभव किया जाता है, चरित्र श्रवणमें बहुतोंके साथ अनुभव करनेसे परमानन्दका विशेष सुख प्राप्त होता कहा है कि 'सरोजहंसकुलसंग विसृष्टगृहाः' चरणकमलके आश्रित जो हंसकुल(भगवदीयजन) हैं उनसे संग करनेलिए छोड़ दिया है गृह जिन्होंने, अर्थात् ऐसे भगवदियोंके साथ संग करनेसे भगवच्चरितामृत पानसे अनेक प्रकारका रसानन्द भोगा जा सकेगा, वैसा मोक्षमें भी नहीं मिलेगा यों कहकर सूचित किया है कि मोक्षसे भी अधिक रस प्राप्ति कथा श्रवणमें होती है. गृह, चरित्र श्रवणमें प्रतिबन्धक है अतः भगवत्सेवकोंकी गृहमें रहनेकेलिए सम्मति नहीं है जिससे उन भक्तोंने प्रत्यक्ष सुखदाता गृह त्याग कर दिया है।।२१।।

१.३७वां अध्याय २१श्लोक–'तेभ्यः स्ववीक्षणविनष्टतमिश्रदृग्भ्यः' इस श्लोकमें कहा है कि भगवानने अवतार लेकर जीवोंको अपने आत्मतत्वका ज्ञान कराया है, उनकी

दृष्टिसे अज्ञानके पर्दे हटा दिए हैं, तदनुसार यहां आचार्यश्रीने कहा है कि 'अवतीर्णस्य श्रीकृष्णस्य'. २.अगस्त्य ऋषिने समुद्र पान कर डाला.

कृष्णे हरौ भगवति परमानन्दसागरः।
वर्तते नात्र संदेहः कथा तत्र नियामिका।।का.१७।।

कारिकार्थ: भगवान् हरि कृष्ण में परमानन्दका सागर है इसमें किसी प्रकारका संदेह नहीं है, क्योंकि उसमें कथा नियामक है (१७)

आभासार्थ: इसी तरह परमानन्दकी चाहनावाले जीवोंको भगवानकी ही सेवा करनी चाहिए, यों निरूपणकर उस सेवामें जो रूकावट डालनेवाला असत्संग है, उसके स्वरूपका विशेषरूपसे इस 'त्वदनुपथ' श्लोकमें वर्णन करते हैं कि जिससे भक्त सावधान रहें, तो सेवा प्रेमसे निर्विघ्न कर सकें.

त्वदनुपथं कुलायमिदमात्मसुहृत्प्रियवत्
चरति तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च।
न बत रमन्त्यहो असदुपासनयात्महनो
यदनुशया भ्रमन्त्युरुभये कुशरीरभृतः।।२२।।

श्लोकार्थ: यह देह आपकी सेवाकेलिए है, अतः आत्मवत्, मित्रवत् और प्रियवत् आचरण करती है और जो आप हित करनेवाले, प्रिय एवं आत्मा है, उसके सन्मुखताके योग्य ब्राह्मणादि शुद्ध देह होते हुए भी आपकी सेवा करते हुए आपमें रमण नहीं करते हैं, आपका आनन्द नहीं लेते हैं, वे असतों(असत् संगसे अथवा क्षुद्र देवोपासनासे)की उपासनासे अपनी आत्माका हनन करते हैं और जिससे वे दुष्ट शरीरवाले होकर महान् भयदायी संसारमें भटकते हैं, इसलिए आश्चर्य तथा खेद है।।२२।।

व्याख्यार्थ: भगवत्सेवामें प्रतिबन्धक वे हैं जिनकी[१] हम चाहना करते हैं उनके सिवाय दूसरे प्रतिबन्धक नहीं है यह सिद्ध करते हैं, उनमें पहले यह बताते है कि शरीर, भगवद्भजनमें प्रतिबन्धक नहीं है, अतः उसकी प्रतिबन्धकताका निराकरण करते हैं, यह शरीर सर्वदोषनिधि होनेसे दुष्ट है, असमर्थ है और आलस्यवाला है, अतः भगवद्भजनमें रुकावट डालनेवाला होगा, ऐसी शंकाका उत्तर देते हैं कि, यह शरीर आपके मार्ग पर चलनेवाला सेवक, सर्व इन्द्रियोंसे युक्त और बल तथा विवेकवाला है, जिससे वह भगवत्सेवाका प्रतिबन्धक नहीं है, इन्द्रियादिके होनेसे ही शरीर भगवत्सेवाके योग्य होता है, यह ही उसका,

अधिकारी होनेमें कारण है, ऐसे भगवत्सेवाके योग्य शरीरमें यदि अहन्ता-ममता दृढ हो जाय तो उससे यह शरीर भगवत्सेवामें नहीं लगाया जाता है, इसलिए कहते हैं कि इस शरीरमें अहन्ता-ममता नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह शरीर पक्षियोंके घोंसलेके समान है, जैसे पक्षी पांख आते ही घोंसला छोड़ देते हैं उसमें ममता नहीं रखते हैं वैसे ही मनुष्यको भी ममता न रखकर इस शरीरको भगवत्सेवाका ही साधन समझना चाहिए, जिन्होंने शरीरको पुत्र आदिसे पृथक् जाना है और केवल आत्माके रहनेका ही स्थान है यों जाना है तथा इन्द्रियादिसे भी अलग हैं केवल अविवेकी ही इसको अपनेलिए हितकारी जानते हैं, इस प्रकारका विवेक रखकर सर्वदा इसका (मोह) त्याग करना चाहिए यों जिन्होंने जान लिया है, उनकेलिए यह शरीर, भगवत्सेवामें प्रतिबन्धक नहीं है, उसमें भी यदि स्त्री देह, सेवक देह अथवा भिन्न स्वभावके कारण द्वेषी देह होवे तब कार्य(सेवा) सिद्ध नहीं होता है इसका स्पष्टीकरण करनेकेलिए कहते हैं कि 'आत्मसुहृत्प्रियवच्चरति इति' आत्माकी तरह सुहृतकी तरह और प्रियकी तरह आचरण करता है, आत्मा(शरीर) अपने आधीन होता है वैसा स्त्री और सेवकका शरीर अपने आधीन नहीं रहता है, उनका[२] शरीर तो दूसरेके आधीन रहता है, तो भी यदि धर्म कार्य करनेमें समर्थ न होवे तो भी सेवा सिद्ध न होगी, इसलिए कहा है कि शरीर मित्रकी तरह आचरण करता है, मित्र अपनेका हित ही करता है वैसे ही यह शरीर भी धर्मादि कार्यमें समर्थ होनेसे मित्रवत् आचरण करता है अर्थात् हित ही करता है सारांश यह है कि सेवामें सदैव प्रेरणा ही करता है, और विशेष यह है कि केवल मित्रवत् आचरण नहीं करता है किन्तु प्रेमीकी तरह प्रिय भी करता है, इसलिए यह शरीर प्रिय, स्नेहका विषय होनेसे प्रेमका पात्र होता है, अर्थात् इस शरीरसे स्नेह करना चाहिए, न कि लौकिक विषय सम्बन्धी मोह करना चाहिए, महापातकीके समान द्वेषके योग्य नहीं है, चांडाल आदि देहकी तरह मनकी पीड़ा उत्पन्न करनेवाला नहीं है. इस प्रकार भगवानकी सेवामें देह प्रतिबन्ध है इस शंकाका निवारण किया.

यदि मनमें यह शंका होवे कि कदाचित् भगवान् सेवामें विघ्न करें तो, क्या गति होगी? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहा है कि 'तथोन्मुखे त्वयि हिते प्रिय आत्मनि च' भगवान् तो अपनी सेवा करानेकेलिए ही सेवा योग्य ब्राह्मणादि देह देकर, यों सामने देख रहे हैं कि यह मेरी सेवा कब करेगा? भगवान् मित्र है

अतः कदाचित् भगवत्सेवा करनेवालेको सेवा करनेमें किसी प्रकार देहका कष्ट होता है तो भगवान् उसको मिटाकर सेवकका हित करते हैं जिससे वह सेवा कर सकता है. भगवान् भक्तका प्रिय भी है, प्यारा अपने प्रेमीका कार्य करते हुए कभी भी खिन्न नहीं होता है, और भगवान् जैसे सबकी आत्मा हैं वैसे ही इस देहकी भी आत्मा है, इस प्रकार सेवाका साधन शरीर भी हो, सेव्य भगवान् भी अनुगुण हो तो भी जो मनुष्य सेवा नहीं करता है, जिसका कारण 'असदुपासना'[३] है, दुष्टोंकी उपासना(संग) करनेसे सेवा नहीं करता है 'उपासना' पदसे यह जताया है कि अन्यदेवाश्रयसे भी सेवासे विमुखता आती है, उनका एकबार भी संग(आश्रय) किया तो भगवद्भजन करना छूट जाता है, जब असत्संग सर्व पुरुषार्थोंका नाश करनेवाला है तो क्यों करते हैं? जिसका उत्तर देते हैं 'आत्महनः' वे आत्मघाती हैं उनके पूर्वजन्म कृत ऐसे पाप हैं जिनके वश होनेसे उनको असत्संग प्राप्त हुआ जिससे वे आत्म हत्यारे बने हैं, अथवा दुष्ट इन्द्रियोंकी उपासनासे भजन नहीं करते हैं, दुष्ट इन्द्रियोंकी उपासनासे क्या होता है? इस पर कहते हैं कि 'यदनशयाः' उस उपासनासे असत्संगमें ही दृढ स्थिति हो जाती है, जिससे वासना विशेषोंके कारण बहुत भय देनेवाले संसारमें दुष्ट शरीर प्राप्तकर अनेक जन्मोंमें चक्कर काटते रहते हैं, कभी भी स्वल्प सुख भी नहीं पा सकते हैं।।२२।।

१.अहंता–ममताके कारण स्त्री, पुत्र, धन आदि और उनकी एवं स्वर्गादि प्राप्यार्थ अन्य देवोपासना. २.स्त्री शरीर पतिके आधीन और सेवकका स्वामीके आधीन होता है.
३.दुष्ट इन्द्रियोंकी आधीनता, अभक्तोंका संग, अन्याश्रय.

असत्सङ्गो न कर्तव्यो भक्तिमार्गस्य बाधकः।
देहे ह्यनुगुणे कृष्णे नेन्द्रियाणां प्रियं चरेत्।।का.१८।।

कारिकार्थः असत्संग नहीं करना चाहिए क्योंकि, सेवामें प्रतिबन्ध डालनेवाला है अतः श्रीकृष्णकी सेवामें देह अनुकूल हो तो सेवा ही करनी चाहिए, इन्द्रियोंके प्रिय विषयोंमें चित्त नहीं लगाना चाहिए।।१८।।२२।।

आभासार्थः भगवानका भजन ही जीवोंका आवश्यक कर्तव्य है, यों निरूपण किया, वह किस प्रकार करना चाहिए, इस विशेष जिज्ञासाके निर्णयार्थ ''निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढ़योगयुजो'' श्लोक कहते हैं.

निभृतमरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन् मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्।
स्त्रिय उरगेन्द्रभोग–भुजदण्ड–विषक्त–धियो

वयमपि ते समाः समदृशो–ऽङ्घ्रि–सरोज–सुधाः।।२३।।

श्लोकार्थः अच्छी रीतिसे धारण किये हुए वायु, मन और इन्द्रियोंसे जिन्होंने योगकी सिद्धि प्राप्त की है, वैसे मुनि लोग अपने अन्तःकरणमें उपासना करते हैं, वह आपका चरण शत्रुओंने भी स्मरणसे प्राप्त किया है तथा शेषकी कायाके समान आपके भुजदण्डोंमें आसक्त बुद्धिवाली स्त्रियां और हम भी समदृष्टिवाले आपको समान ही है; क्योंकि आपके चरणकमलोंको सब अच्छे प्रकारसे धारण करनेवाले हैं।।२३।।

व्याख्यार्थः इससे किसी भी उपायसे मनको कृष्णमें प्रवेश करना चाहिए, यों भगवच्चरणके परायण होना ही प्रयोजक है, न कि कोई प्रकार प्रयोजक है यों स्पष्ट करनेकेलिए कहते हैं कि मर्यादामार्ग, निषिद्धमार्ग वा पुष्टिमार्ग इनमेंसे किसी भी मार्गसे, जो भगवानकी उपासना करते हैं वे सब भगवद्विचारसे समान हैं अर्थात् भगवानकी दृष्टिमें समान ही हैं, क्योंकि प्रयोजक साधारणधर्म, (भगवदुपासना) सर्वत्र विद्यमान है, उनमेंसे वेदविहित मर्यादामार्गसे जो उपासना करते हैं उनका प्रकार पहले बताते हैं, अच्छी प्रकारसे निरुद्ध किया है १.वायु २.मन और ३.इन्द्रियां जो इस प्रकार सदैव योग द्वारा भगवानका चिन्तन करते हैं, १.वायुसे प्राणायाम, २.मनसे प्रत्याहार और ३.इन्द्रियोंसे धारणा, ध्यान कहा है, इस प्रकार इन तीन साधनोंसे योग द्वारा निरन्तर भगवानका चिन्तन करते रहते हैं, हृदयमें भगवानकी मानस पूजादिसे उपासनाकर भगवानमें मनको दृढ स्थापित करते हैं, उस ही भगवत्स्वरूपको उन(भगवान)के शत्रुओंने भी स्मरण मात्रसे प्राप्त किया है, सर्वात्म भावसे जिसमें ही मन प्रविष्ट हो जाता है उसको ही प्राप्त करते हैं, इस प्रकार शास्त्र विहित प्रकार और निषिद्ध प्रकारसे उपासना करनेवालोंकी गति तुल्य ही कही है, इससे यह सूचित किया है कि भगवानमें प्रमेयबल ही मुख्य है, प्रमाणबल मुख्य नहीं है, कारण कि इन दोनों प्रकारवालोंमें अन्तर्मुखता है, अब बहिर्मुखोंको भी कहते हैं 'स्त्रिय इति' शेषनागकी देहके समान भुजाओंमें जिनकी बुद्धि आसक्त है, वैसी गोपियां बहुत बहिर्मुख हैं और हम श्रुतियां अन्तर्मुख है अतः सब हमारा आदर करते हैं, इस प्रकार पुरुष और स्त्रियां सब आपकी दृष्टिमें समान हैं, क्योंकि भगवान् समदृष्टिवाले हैं अतः भगवान् सबको ही अपना और समान मानते हैं, उन सबका साधारणधर्म कहते हैं कि सब, भगवानके चरणकमलको अच्छे प्रकारसे धारण करते हैं, मुनिलोगोंका तो चरण धारण करना

स्पष्ट ही है, शत्रुओं(दुश्मनों)को तो जब मारनेकेलिए पधारते हैं तब उनकी ही भावना ध्यान स्मरण होनेसे स्वरूपदर्शन दृढ हो जाता है, उनकी तो भगवान् पधारेंगे यही भावना रहती हैं, भगवानकी अभिसारिकाएं भी उनसे मिलनेकी ही चाहना करती हैं, और हम जो श्रुतियां ही, जिससे ही कहा गया है कि 'सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति' सर्व वेद जिसके चरणको ही प्रणाम करते हैं, ध्यान धरते हैं।।२३।।

सर्व एव हरेर्भक्ताः तुल्या यान् मन्यते हरिः।
अतः कृष्णो यथात्मीयान् मन्यते भजनं तथा।।का.१९।।

कारिकार्थ: भगवान् जिनको अपना मानते हैं वे सब भक्त भगवानको समान हैं अतः श्रीकृष्ण जैसे उनको आत्मीय(अपना) मानते हैं वैसे ही भजन भी मानते हैं।।१९।।

आभासार्थ: इस प्रकार भक्तोंकी समानताका निरूपण किया, उसमें शास्त्रके विरोधकी शंकाकर उसका परिहार 'क इह नु वेद' श्लोकसे करते हैं.

क इह नु वेद बतावर–जन्म–लयो–ऽग्रसरं यत उदगाद् ऋषिर्यमनु देवगणा उभये।
तर्हि न सन् न चासद् उभयं न च कालजवः
किमपि न तत्र शास्त्रम् अवकृष्य शयीत यर्हि(/यदा!)।।२४।।

श्लोकार्थ: जिससे ब्रह्मा उत्पन्न हुए, उसके बाद दोनों प्रकारके देव पैदा हुए, उन सबसे पहले विद्यमानको, पीछे उत्पन्न तथा लय प्राप्त हुए, यह कैसे जान सकेंगे ? यह विचारणीय है और फिर जब सबका आकर्षणकर शयन करते हैं, तब वहां कार्य तथा कारण एवं मन और कालवेग भी नहीं रहता है और कोई शास्त्र भी नहीं होता है।।२४।।

व्याख्यार्थ: जब कि शास्त्र कहता है, कि, 'ज्ञानी प्रियतमोऽतो मे ज्ञानेनासौ बिभर्ति माम्' 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' इत्युपक्रम्य 'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एक भक्तिर्विशिष्यते' इति 'ज्ञानिनः प्रशंसा श्रवणान्मुनीनां स्त्रीणां द्विष्टानां श्रुतीनांच कथं तुल्यतेति चेत्तत्राह क इह नु वेद इति' अर्थात् ज्ञानी मुझे विशेष प्यारा है, क्योंकि ज्ञानसे वह मेरा भजन करता है, चार प्रकारके पुरुष मेरा भजन करते हैं, इस वचनसे प्रारम्भ करके अन्तमें कहते हैं कि नित्य योगवान् और मुझ एककी ही भक्ति ही करनेवाला विशेष है अर्थात् उत्तम है. इस प्रकार शास्त्रोंमें ज्ञानीकी प्रशंसा सुनी जाती है तो उसके विरुद्ध यहां मुनि, स्त्रियां शत्रु और श्रुतियां

सब प्रकारके समान कैसे कहे गए हैं? इसका उत्तर देते हैं कि, यह जो ज्ञानकी प्रशंसा की है वह, जो कहता है कि मैं जानता हूं अर्थात् ज्ञानी हूं केवल उसकी बुद्धिको ध्यानमें रखकर ही बड़ाई की है, वास्तवमें वह कुछ नहीं जानता है, जिसमें कारण बताते हैं कि इस संसारमें भगवानको कौन जानता है? क्योंकि हम भी नहीं जानती हैं, इसलिए ही श्रुति कहती है कि जो कहता है कि मैं नहीं जानता हूं, उसने ही जाना है और जो कहता है कि मैंने जान लिया उसने नहीं जाना है, अर्थात् वह परमात्मा किसीसे भी जाना नहीं जाता है क्योंकि प्रमाणोंके होते हुए भी जाननेमें नहीं आता है, कारण कि 'वह' प्रमाण आदि सबसे प्रथम विद्यमान है, जाननेवाला, पीछे उत्पन्न होकर लय भी हो जाता है, अतः जो आदि और अन्तमें नहीं केवल मध्यमें है वह कैसे जान सकेगा? भगवान् स्वयं तो सृष्टि उत्पन्नकर छिप जाते हैं, बीचमें सृष्टिमें, जीव उत्पन्न हुए फिर लयको भी प्राप्त हो गए, छिपे हुए आप फिर प्रलयकेलिए आएंगे, यदि यह जीव सृष्टिसे पहले स्थित हो और प्रलयमें भी होवे तो सृष्टिके पड़दे न होनेके कारण जान भी सके, जब मध्यमें है तब सृष्टिरूप पड़दा रुकावट डालनेवाला मौजूद है इसलिए जीव नहीं जान सकता है, 'न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युष्माकमन्तरं बभूव' इति श्रुतेः अर्थ–जिसने इस सृष्टिको उत्पन्न किया है, उसको तुम(जीव) नहीं जान सकते हो कारण कि यह आपसे अन्य प्रकारका है, यों यह श्रुति इसका स्पष्ट निषेध करती है कि जीव भगवानको जानता है.

क्योंकि आपसे ब्रह्मा उत्पन्न हुआ, उस ब्रह्माके अनन्तर आध्यात्मिक आधिदैविक देवगण उत्पन्न हुए, सृष्टिके समय सृष्टिका अन्तराय था किन्तु सृष्टिके बाद अर्थात् प्रलयके बाद तो कुछ भी रुकावट नहीं थी उस समय क्यों न जाना जाता है, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि प्रलयके बाद अर्थात् जब भगवान्, सबका अपनेमें आकर्षणकर(लयकर) सो जाते हैं, तब जिससे ज्ञान हो वैसा कोई पदार्थ नहीं रहता है अर्थात् सत्, जाननेवाला नहीं और असत् जिन इन्द्रियोंसे जाना जाय वे भी नहीं रहती हैं, दोनों इन्द्रियोंका सन्निकर्ष नहीं और व्यापार भी नहीं रहता है, दोनों सत्, असत्, और सत्–असत्रूप मन भी नहीं होता है 'नासदासीन्नो सदा सीत्तदानीम्' प्रलयकालमें उभयात्मक अर्थात् असत्–सत् दोनोंरूप मनको कहा है वह भी नहीं है, इसी तरह अग्नि रहस्यमें भी मनको उभयरूप अर्थात् सदसद्रूप कहा है, कोई कहते हैं कि जगत् उभय(सदसद्रूप) है.

'मनसैवानुद्रष्टव्यम्' मनसे ही जानना चाहिए, यो जाननेमें कारण जो मन, वह भी उस समय नहीं रहता है, जो मात्रा स्वरादिका नियामक सत्वगुणका प्रेरक कालवेग है, वह भी तब नहीं है, और कोई भी शास्त्र पुराण आदि भी नहीं बचता है, क्योंकि सबका अपनेमें आकर्षणकर सोते हैं इसलिए सम्पूर्ण ज्ञान सामग्रीके ही अभाव हो जानेसे किसीको भी भगवानका प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता है.

श्रुतिने जो कहा है कि किसी धीरने प्रत्यगात्माका दर्शन किया, तो कैसे कहा जाता है कि भगवानका ज्ञान नहीं होता है? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि कदाचित् किसी धीरको भगवद्दर्शन जो होता है वह उतने हीका ज्ञान करता है, न कि, भगवानके सर्व विशेष गुणोंका ज्ञान कराता है.

अवतार समयमें भगवान् जिस देहको धारण करते हैं उसको मर्यादावादी आनन्दमय[१] मानते हैं आत्माके(जीवके) साक्षात्कार होने पर भगवानके वैभवका पूर्ण ज्ञान नहीं होता है और वह, साक्षात्कार, योग द्वारा प्राप्त गुणसे होनेके कारण, स्वप्नकी तरह वह ज्ञान, वस्तुका नियामक नहीं हो सकता है, तथा प्रमाणोंका संवाद (कहना) तो अनेकविध अनुभव कराता है, जिससे संदेहरहित ज्ञान वह(प्रमाणोंका संवाद) भी नहीं करा सकता है, इसी कारणसे सृष्टिदशामें अथवा प्रलयदशामें सर्वथा भगवद् ज्ञान सामग्रीके अभावसे कोई भी ज्ञाता(भगवानको साधनसे जाननेवाला) नहीं है, ज्ञानकी प्रशंसा तो ज्ञानमें प्रवृत्ति होवे इसलिए की है, प्रवृत्ति तो चित्तकी शुद्धयर्थ आवश्यक है, उससे शुद्ध होकर भगवानका भजन करे, जिससे भगवान् प्रसन्न होके अनुग्रह करे.

१.अवतारकी देह सत्त्वगुणवाली होती है, उसमें पुरुषोत्तमका आविर्भाव होनेसे वह आनन्दमय बन जाती है, अतः सत्वका प्रमाणसे ज्ञान होता है किन्तु भगवानका ज्ञान तो अनुग्रहसे होता है, तब आवरण रहिन पुष्टि स्वरूपके पूर्ण दर्शन होते हैं.

ज्ञानमार्गो भ्रान्तिमुलः ततः कृष्णं भजेद् बुधः।
प्रवर्तकं ज्ञानकाण्डं चित्तशुद्ध्यै यतो भवेत्।।का.२०।।

कारिकार्थः ज्ञानमार्गका मूल भ्रान्ति है, इसलिए उसमें न फंसकर बुद्धिमान पुरुषको भगवानका भजन ही करना चाहिए, क्योंकि ज्ञानकाण्डकी प्रवृत्ति, केवल चित्त शुद्धिकेलिए है(२०)

आभासार्थः इस प्रकार वेदका ज्ञान काण्ड भी भगवानके भजन परत्व ही है, यों निरूपणकर, अब जो दूसरे मतवाले वादी भगवद् भजनको सहन नहीं कर

सकते हैं जिससे शास्त्रका अर्थ उल्टा करत हैं, उनके मतोंका 'जनिमसतः' और 'सदिव मन' इन दो श्लोकोंसे निराकरण करते हैं.

जनिम् असतः सतो मृतिम् उतात्मनि ये च भिदां
विपणम् ऋतं स्मरन्त्युपदिशन्ति त आरुपितैः।
त्रिगुणमयः पुमान् इति भिदा यद् अबोधकृता
त्वयि न ततः परत्र स भवेद् अवबोध–रसे।।२५।।

श्लोकार्थः असत्(नैयायिक)से (जो नहीं है, उससे) उत्पत्ति मानते हैं, सत् (वैशेषिक–आत्माका)का नाश मानते हैं, जीवों(मीमांसक–जीव अनेक हैं)में भेद मानते हैं, फिर (सांख्यके एकदेशी और योगी) दूसरे कर्मफलको सत्य मानते हैं–ये सब आरोपित भ्रमोंसे ही यों निरूपण करते हुए उपदेश देते हैं कि यह पुरुष त्रिगुणवान् है, इस प्रकार भेद अज्ञानकृत है, ज्ञान रसरूप आपमें वह अज्ञान हो नहीं सकता है; क्योंकि आप उससे परे हो।।२५।।

व्याख्यार्थः वे[१] प्रतिकूल दो प्रकारके हैं, १.अर्धवैनाशिक और २.दूसरे सर्व वैनाशिक हैं, इनमेंसे पहले अर्धवैनाशिकोका खण्डन करते हैं, वे चार प्रकारके हैं, १.नैयायिक २.वैशेषिक, ३.मीमांसक, ४.सांख्यके एकदेशी, इनके मतोंका मानो उपहास करती हुई श्रुतियां, इनका मत कहती है कि, उनमेंसे प्रथम नैयायिकोंके मतको वर्णन करती है कि वे कहते हैं कि जो पदार्थ प्रथम नहीं है उसका जब जन्म होता है तब वह सत् होता है, जैसे घट प्रथम नहीं था अर्थात् असत् था पीछे बना, जब बन गया तब सत् हो गया, यों उनका कहना अघटित है, क्योंकि सत्ता और सम्बन्ध दोनों नित्य है, अतः सत्ताका घड़ेके साथ सम्बन्ध नित्य रहता है यदि घट असत् होवे तो उसका सत्ताके साथ सम्बन्ध कैसे होगा क्योंकि सत्ता और असत्ता दोनों परस्पर विरुद्ध हैं और वे[२] असतपन जाति है, उसमें घड़ेका समवाय सम्बन्ध है, जिससे कालकी व्यवस्थासे घट सत् और असत् दोनों हो सकता है. यों भी नहीं मानते हैं अतः केवल देखनेमें न आनेसे घट असत् है यों कहनेवाले नैयायिक भ्रान्त ही हैं यदि नेयायिकोंके इस भ्रान्तमार्गको माना जाय तो भक्तिमार्गमें विरोध आता है अर्थात् भक्तिमार्ग सिद्ध नहीं होता है क्योंकि भक्तिमार्गमें आविर्भाव–तिरोभाव मानकर सबकी सत्ता सदा सत्य मानी गई है, तब ही सत्ता और सम्बन्ध नित्य है. यह शास्त्रीय सिद्धान्त सत्य सिद्ध होता है.

अब नैयायिकोंके मतमें सिद्धान्तसे जो विरोध है वह स्पष्ट करते हैं, भगवानकी कृपा तब होती है जब जीव भजन करता है. यदि कृपा नित्य प्रकट है अर्थात् स्वतः होती है यों माना जाय तो भजन करनेसे कृपाका मानना असत्य होगा, तथा भजन करनेका कोई भी प्रयोजन नहीं रहता है, इसी तरह भगवानकी इच्छा भी यदि नित्य प्रकट मानी जाय तो भगवानका अवतार नित्य होना चाहिए किन्तु यों होता नहीं, जब भक्त प्रार्थना करता है तब अवतार लेनेकी इच्छाका प्रादुर्भाव होता है और तब ही अवतार होता है.

यदि परमानन्द केवल सुखरूप होवे तो गुणरूप होनेसे अनित्य होता है जिससे भगवान् पूर्णानन्द नहीं रहते हैं उनको भी कालकी मर्यादावाला होना पड़ता है, इसलिए यह नैयायिक मत खण्डनकर आविर्भाव-तिरोभाव शक्तियोंका स्वीकार किया जाता है[३]

वैशेषिक मतवाले तो, सतका भी नाश मानते हैं, यह देह सत् है वह नष्ट हो जाती है अतः उसके परलोककी चिन्ता नहीं करनी चाहिए, क्योंकि देह ही देवदत्त नामसे कही जाती है, अर्थात् देहका ही देवदत्त नाम है, देह नाश हो गई तो देवदत्त भी नाश हुआ फिर परलोक किसका, जिसकी चिन्ता की जावे? यह वेद बाह्योंका सिद्धान्त है, उनकी भोग व्यवस्था तो वैसे वे भूत स्वभावसे ही कर लेते हैं. इस सिद्धान्तमें, ज्ञान, भक्ति आदि सन्मार्गोंको निरर्थक माना है, इसलिए इस मतका निराकरण करना चाहिए 'उत्क्रामन्तं स्थितं वापि' इस गीताके वाक्यानुसार, जीव, इन्द्रियोंके समूहके साथ देहसे बाहर निकलता है, और ऐसा ब्रह्मविदोंका अनुभव भी है ही, लोकमें ऐसे मनुष्य भी मौजूद हैं जिनको पूर्वजन्मका स्मरण है, यदि परलोक नहीं होवे तो उनकेलिए किसीकी हिंसा न करनी ऐसी शास्त्रकी विधि भी व्यर्थ हो जावे, ज्योतिषशास्त्रमें[४] जो ग्रहादिसे परलोक आदि फल प्राप्ति लिखी है, वह शास्त्र भी व्यर्थ हो जावे.

'अनन्तं नाम' इति श्रुतेः, यह श्रुति कहती है कि नाम अनन्त हैं, 'नाम' सदैव पदार्थका आश्रय लेकर ही रहता है, वह पदार्थ देवदत्त शब्द वाच्य, देवतारूप हो चाहे आधिदैविकरूप हो, किन्तु नित्य सिद्ध है, यह 'नाम' केवल देहका ही परिचय[५] करानेवाला है किन्तु, कोई विशेष गुण नहीं है, यों ब्रह्मसूत्रके कर्म निर्णय नामक चतुर्थ प्रकरणमें प्रतिपादन किया है कि यह नाम(देवता) देहका उपलक्षक है, न कि विशेषण है. जैसे, एक अवस्थामें साधनों द्वारा पाककी सिद्धि

की जाती है, पाक सिद्ध हो जानेके बाद दूसरी अवस्था प्राप्तका भोग होता है ज्यों यह बात सिद्ध है वैसे ही वह भी स्पष्ट है कि नामकरण जीवका ही होता है, न कि देह सहित जीवका, अर्थात् देह जिसका गुण है वैसे जीवका नामकरण नहीं किया जाता है, क्योंकि नामकरण शास्त्रीय है. जीवके साथ देह उस समय ऐसी है, जैसे देहके साथ वस्त्र, केश आभूषणादि उस समय साथमें होते हैं अतः सत् आत्मा तथा मुख्य संघातका नाश नहीं होता है, यदि उनका नाश माना जायगा तो परलोक होनेकी उपपत्ति[६] हो नहीं सकेगी, जब उनका[७] नाश न माना जायगा तब पृथक् कहे हुए न्यायके अनुसार भक्तिमार्ग सिद्ध होगा.

मीमांसक आदि जीवोंमें अनेकत्व तथा भेद[८] मानते हैं, यदि ईश्वर कर्मरूप है यों माना जावे तो ईश्वर एक है यह सिद्ध न हो सकेगा, वह मत झूठा मानना पड़ेगा इस पर मीमांसकोंका कहना है कि, यदि ईश्वर एक है. और वह कर्तुम्, अकर्तुम् और अन्यथाकर्तुं समर्थ भी है, वह जीवोंको विषम फल कैसे देंगे? और उनसे विषम कर्म कैसे कराएगा? यदि यों कराते हैं तो वह वैषम्य और नेर्घृण्य दोषवाला क्यों न माना जाता है? इसलिए कर्मके सिवाय अन्य कोई ईश्वर ही नहीं है, वह कर्मरूप ईश्वर अनेक हैं, अतः प्रत्येकको अपने नियत यज्ञकर्मरूप कर्म ही करने चाहिए, इन मीमांसकोंके मतका भी निराकरण करना चाहिए.

यदि यों माना जावे कि ईश्वर है ही नहीं तो, भक्त किसका ध्यान धरे, वे मीमांसक भी आरोपपूर्वक ईश्वरका ध्यान करते हैं और उससे कर्म करनेवाले फल प्राप्त करते हैं, किन्तु फल दाताको देखते नहीं, इस कारणसे कर्मको ईश्वर मानते हैं.

जब फल देना दूसरेके आधीन है, कर्मके आधीन नहीं है तब देनेवालेको तो अपेक्षा रहती ही है, जैसे साक्षात् जिसका फल नहीं मिलता है, वैसे स्वयं राजमहल बनाने पर कारीगरोंको फल देनेवाले राजाकी आवश्यकता रहती है, यह प्रत्यक्ष देखा जाता है जैसे पाक(भोजन बनानेकी क्रिया) औदनको सिद्ध करता है, वैसे याग स्वर्गको सिद्ध नहीं करता है, जिससे ईश्वरकी अपेक्षा न पड़े, और स्वर्ग एकलोक है जो ब्रह्माण्डाधिपतिके आधीन है, सुखके साधन भी उनके आधीन हैं, यदि उनके आधीन फलादि न होवे तो यज्ञ करते ही स्वर्ग, क्यों न स्वतः उस समय ही प्राप्त हो जावे? अतः ईश्वरका अंगीकार अवश्य करना चाहिए, एक ही महाराजाकी भांति कार्यकी सिद्धि हो जानेसे हरेक कर्मका फलदाता ईश्वर पृथक्

मानना व्यर्थ है और उससे केवल गौरव बढ़ता है, जीवोंका भेद यहां नहीं कहा गया है, यों भासता है, क्योंकि एक तो एकवचन दिया है और प्रकृत विषयमें उसका उपयोग नहीं है जीवोंका भेद तो भक्तिमें साधक है, न कि बाधक है, जीव पृथक्-पृथक् हैं यह मत भी खण्डन किया है और आगे इसका विशेष निराकरण करेंगे.

दूसरे वादी जो सांख्यके एकदेशी और योगी हैं, वे, कर्म द्वारा प्राप्त फलको नित्य मानते हैं, योगसे जो पदार्थ प्राप्त किया जाता है वह नित्य है यों कहते हैं वैदिक नित्यकर्मसे भी जो लोक प्राप्त होता है उसको अक्षयरूप मानते हैं, उस पक्षमें भी ईश्वरका प्रयोजन नहीं माना जाता है, कर्मसे प्राप्त फल द्वारा ही कार्यकी सिद्धि हो जाती हैं, वह मत भी निराकरणके योग्य है क्योंकि वह मत, केवल प्रशंसा वाचक शब्दोंमें सत्यत्वकी बुद्धिका आरोपण करनेसे ही उत्पन्न होता है, जैसे कि 'अपाम सोममृता अभूम' सोम पीकर हम अमर हो जाएंगे. ये प्रशंसा वाक्य है, तथा 'अक्षय्यं ह वै चातुर्मास्य याजिनः सुकृतम्' चातुर्मास्य यज्ञ करनेवालोंका पुण्य अक्षय है, इसी भांति सुकृतकी प्रशंसा की गई है, ये सिद्धान्त भ्रमवाले हैं, इससे इन भ्रमित सिद्धान्तोंके वाक्योंके अनुरोधसे पूर्व कहे हुए सिद्धान्तोंमें शंकित नहीं होना चाहिए.

आपके इस न्यायसे तो भक्तिमार्गकी संगति भी सिद्ध न होगी सर्व वैनाशिक इस प्रकार स्मार्तमतका निरूपणकर इसको असत् सिद्ध करना चाहता है. उसका कहना है कि भक्तिमार्गमें विष्णु, शिव वा ब्रह्मा सेव्य हैं, वे गुणाभिमानी देव हैं इसलिए जितना गुणानुसार नियमित कार्य करना है उतना ही कर सकते हैं, अपने-अपने गुणाधीन रहकर ही अपने भक्तकेलिए कार्य करते हैं अतः त्रिगुणमय यह पुरुष ब्रह्माण्डाभिमानी नारायण, सत्त्व, रज और तमो गुणों द्वारा पृथक् हो उपाधिभेदसे[९] वा जीवभेदसे[१०] स्थिति आदि करते हैं, यों अल्पदाता होनेसे भक्तिमार्गसे भी क्या लाभ? गुणमय होनेसे वह नारायण भी तिरोहित आनन्दवाला है, इस कारणसे राज सेवककी तरह एक दूसरेके ध्यान करनेकी इनको आवश्यकता पड़ती है, यों पुराणोंमें तथा लोकमें देखा जाता है. इसलिए स्मार्तोका मत भी निराकरण करने योग्य होनेसे, निराकरण करना चाहिए, नहीं तो पूर्वोक्त मार्ग सिद्ध न हो सकेगा. 'त्रिगुणमयः पुमान' पुरुष त्रिगुणात्मक है, यो कहकर, सेव्य स्वरूपमें जो भेद किया गया है वह भी भगवत्स्वरूपके अज्ञान द्वारा

ही होता है, इसलिए ही उनको स्मार्त कहा है जिसका भावार्थ है कि वे 'स्म' प्रसिद्ध 'आर्ताः' आर्त यानि दुःखी हैं, वे जिसको सेव्य कहते हैं, वह तो भगवानकी एक विभूति है, भक्तिमार्गमें प्रतिपाद्य भगवान् इतने ही नहीं हैं, किन्तु 'पुरुषोत्तमः' पुरुषोत्तम है यों बहुत प्रकारसे निरूपण किया है, यदि पुरुषोत्तमत्व पक्षमें भी अज्ञान माना जावे तो मूल भूतस्वरूपमें भी वही दोष वैसा ही रहेगा, अतएव कितनोंको यों कहना पड़ता है कि मूलभूत ब्रह्म ही अज्ञानका आश्रय और विषय है, जैसाकि कहा है,

''आश्रयत्वविषयत्वभागिनी निर्विभागचितिरेव केवला,
पूर्वसिद्धतमसो हि पश्चिमो नाश्रयो भवति नापि गोचरः''

आश्रयत्व और विषयत्वके सम्बन्धवाला और जिसमें विभाग नहीं है वैसा केवल ज्ञान ही हैं, वह ही ब्रह्म हैं; क्योंकि जो पीछे होता हैं, वह पहली वस्तुका आश्रय और विषय बन नहीं सकता हैं अर्थात् जाना नहीं जाता हैं.

अतः उनका सिद्धान्त है कि जगतका मूल जो ब्रह्म है वह ही अज्ञानका आश्रय और विषय है, जिसके कहनेका फलितार्थ यह ही होता है कि ब्रह्म अज्ञानका विषय है अर्थात् ब्रह्मका ज्ञान अज्ञानसे ही हो सकता है, इसलिए इस मतका भी निराकरण करना चाहिए, यदि इस मतका खण्डन न किया जाएगा तो, भक्तिमार्गका परिणाम परमार्थ देनेमें समर्थ नहीं हो सकेगा, इसलिए निषेध करता है कि 'त्वयि न ततः परत्र स भवेदवबोधरस' आप जो रसरूप सबसे परे हो उसमें यह 'अज्ञान' हो ही नहीं सकता है जिसमें दो हेतु दिए हैं, १.आप सबसे परे हो, जैसाकि कहा है 'आदित्य वर्ण तमसः परस्तात्' श्रुतिः आप अज्ञानसे बहुत दूर उस तरफ हो और आादित्य जैसे वर्णवाले हो, 'यः सर्वज्ञ सर्वशक्तिः' ब्रह्म, सबकुछ जानते हैं और सर्व शक्तिमान हैं, (उसमें अज्ञान कैसे?) 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है, (इससे भी सिद्ध है कि उसमें अज्ञान नहीं है) 'स्वप्रकाशश्चिदात्मा' आप ही प्रकाश स्वरूप और ज्ञान स्वरूप हैं, इत्यादि अनेक श्रुतियोंसे यह सिद्ध है कि ब्रह्मसे अज्ञानका सम्बन्ध किञ्चिन्मात्र भी नहीं है, इसलिए इन श्रुतियोंसे इस पक्षका भी निराकरण किया गया है, ज्ञानका भी जो रस परमानुभवरूप है वह ही जिसका स्वरूप है, अतः अन्यमत भ्रान्तिमूल है, भक्तिमार्ग ही दोषरहित है जिससे भक्तिमार्गानुसार भगवान् ही भजनीय है, यों सिद्ध हुआ.

१.भगवद्भक्ति करनेके विरुद्ध, २.नैयायिक

३.इन शक्तियोंके स्वीकारसे, भगवानकी कृपा नित्य होते हुए भी जब भजन किया जावे तब उसका अविर्भाव होता है, इसलिए भजन करना चाहिए यह सिद्धान्त सत्य सिद्ध होता है, भगवानकी इच्छा नित्य होते हुए भी भक्त जब प्रार्थना करते हैं तब उसका आविर्भाव होता है, जिससे भगवान् अवतार धारण करते है अतः प्रार्थना करनी भी आवश्यक है, परमानन्द धर्मरूप होते हुए भी नित्य है जिससे भगवान् नित्य पूर्णानन्द हैं, इन दो शक्तियोंके माननेसे जगतका भी आविर्भाव-तिरोभाव सिद्ध होना स्वीकृत होता है, किन्तु असतका जन्म मानना यह मत असंगत है और दोष पूर्ण है.

४.यद्यपि वेदांग होनेसे ज्योतिषको प्रमाण नहीं मानते हैं, परन्तु गणितका फल आकाशमें ग्रहण आदिसे प्रत्यक्ष होनेके कारण वे भी प्रमाण मानते हैं.

५.स्थूल देहके बाद सूक्ष्म देहका धर्म जाग्रतकर उसका परिचय करा देता है.

६.हेतुपूर्वक सिद्धि. ७.सत् आत्मा तथा मुख्य संघातका. ८.भगवानसे अन्य.

९.सत्वोपाधिसे विष्णु बनकर स्थिति करते हैं, रजोपाधिसे ब्रह्मा बनकर सृष्टि करते हैं, तमोपाधिसे रुद्र बनकर संहार करते हैं-'लेख'

१०.सात्त्विक जीवोंकी विष्णु पालना करता है, तामस जीवोंका संहार रुद्र करता है, राजस जीवोंकी उत्पत्ति ब्रह्मा करता है-'लेख'.

भ्रान्तिमूलतया सर्वसमयानामयुक्तितः।
न तद्विरोधात् कृष्णाख्यं परं ब्रह्म त्यजेद् बुधः।।का.२१।।

कारिकार्थ: सर्व मतोंकी जड़ भ्रान्ति है और उनमें कोई शास्त्रीय तर्क नहीं है. अतः ऐसे भ्रान्त, युक्तिरहित मतोंके विरोधसे बुद्धिमानको कृष्णके भजनका त्याग नहीं करना चाहिए।।२१।।

आभासार्थ - यद्यपि इसी प्रकार अन्य सिद्धान्तोंमें दूषण देकर उनका परिहार करते हुए भक्तिमार्गको स्थापित तो किया किन्तु जगत् कर्तापन और सर्वाश्रयत्वादि[१] धर्म माहात्म्यकेलिए भगवानमें माननेसे उनके दोष भगवानमें आते हैं, जिससे अनेक सहस्र दोष होने पर भी दो मुख्य दोष तो हैं ही १. जगदाश्रय और उपादान कारण होनेसे, इनमें जो दोष यानि जगतमें जो दोष हैं, उनका सम्बन्ध होनेसे वे दोष और उपादान कारणके दोष भी भगवानमें ही आ जाएंगे, २. जीव[२] भगवान् है अतः उसके(जीवके) काम, क्रोध आदि सर्व दोष भी भगवानमें आते हैं, इन मुख्य दोनों दोषोंको मिटानेकेलिए 'सदिव मनः' श्लोक कहा है.

१. सर्वाश्रय होनेसे, शरीर धारी बनना पड़ता है, शरीर धारण करना यह प्रथम दोष है-

लेख. २.जीव बननेसे उत्पन्न दोष –लेख.

सदिव मनस्त्रिवृत् त्वयि विभात्यसदामनुजात्
सदभिमृशन्त्यशेषम् इदम् आत्मतयात्मविदः।
न हि विकृतिं त्यजन्ति कनकस्य तदात्मतया
स्वकृतम् अनुप्रविष्टम् इदम् आत्मतयावसितम् ।।२६।।

श्लोकार्थः तृणस्तम्बसे लेकर मनुष्य पर्यन्त सबमें असत् और तीन गुणवाला यह मन आपमें सत् जैसा भास रहा है. आत्म ज्ञानी इस सम्पूर्ण जगतको ब्रह्मरूपसे सत् ही जानते हैं. जैसे सुवर्णके व्यापारी सुवर्णके विकार(कुण्डलादि)को सोना ही समझ खरीदते हैं; क्योंकि उस विकारमें सुवर्णने ही प्रवेश किया है, वैसे ही भगवानने अपनेमेंसे बनाए इस जगतमें प्रवेश किया है, जिससे यह जगत् भी उसी तरह ब्रह्ममय होनेसे ज्ञानी आत्मवेत्ताओंने इसको ब्रह्मरूपसे निर्धार किया है।।२६।।

व्याख्यार्थः प्रथम उन दोषोंका परिहार किया जाता है, जो दोष, जीव बनने पर भगवानमें अज्ञ लोग मानते हैं, वे दोष मनके ही हैं न कि जोवके दोष हैं, उस मनका पूर्णरीतिसे वर्णन नहीं किया जा सकता है, कारणकि 'असत्' है, श्रुति मनकेलिए स्पष्ट स्थितिका वर्णन न कर कहती है कि 'नासदासीन्नो सदासीत्' वह मन न 'असत्' था और न 'सत्' था, इसलिए मनका सदसदात्मकरूप है, इनमें भी इसका असत् रूप तो सहज ही है, सत्वरूप तो आगन्तुक हे अर्थात् कभी हो जाता है इसलिए श्लोकमें 'सत्' न कहकर 'सत् इव' कहा है, वह(मन) उभयात्मक है जिसमें कारण देते हैं कि त्रिवृत् तीन गुणोंसे वेष्टित है, अतः जब सत्वगुण बढता है तब सत् होता है, रजतमकी वृद्धिसे असत् रह जाता है. ऐसे मनका प्रकाश जीवके सम्बन्धसे नहीं हो सकता है. किन्तु आपमें ही वह प्रकाश पा सकता है, 'मनसो वशे सर्वमिदं बभूव नान्यस्य मनो वशमन्वियाय. भीष्मो हि देवः सहसः सहीयान्' इति श्रुतिः, 'यह सर्व मनके वशमें हुआ किन्तु मन किसीके वशमें न आया' 'भीष्म(भयकारी) देव तेजवालेसे विशेष तेजस्वी होता है'; ये श्रुतियां इस प्रकार मनका माहात्म्य कहती हैं, मनका यह माहात्म्य तब घटता है जब उसको भगवदाश्रय प्राप्त होता है, जीवके आश्रयसे नहीं, भगवदाश्रयसे भी यदि उसका माहात्म्य माना जावे तो भी उसके दोषोंका सम्बन्ध तो होगा ही? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहा है कि 'आमनुजात्' अर्थात् इसका यह माहात्म्य, मनुष्यों तक

ही चल सकता है, तृणस्तम्बसे लेकर महत्तत्व पर्यन्त सब जीवगण है, उनमें मनुष्य मध्यमें स्थित है, भगवानने मनको सबकेलिए ही नियुक्त किया है अतः सर्वत्र परिभ्रमण करता रहता है, उसका परिभ्रमण संभव हो तदर्थ उसके अंगोंकी अथवा सामर्थ्यकी कल्पना करनी चाहिए क्योंकि इसकी उत्पत्तिके समय यह एक है यो प्रतिपादन किया गया है अतः मन सूक्ष्म होनेसे इतने अंशवाला नहीं हो सकता है जो बहुत दूर भी जा सके, इसलिए उसमें इतनी सामर्थ्य है यों मानना चाहिए, मन बहुत हैं यो मानना अनुचित है. इससे यह मन जब मनुष्य पर्यन्त भ्रमण करता है तब असत् होते भी सत्वत् भासता है, आगे[३] तो, कहीं सत् जैसा वा कहीं असत् जैसा भासता है, इस कारणसे कामादि दोषोंकी जड़ मन है, किन्तु वह दोष मनका स्वाभाविक नहीं है, इसलिए उसके दोषसे भगवानमें दोष नहीं आते हैं.

अब दूसरे दोषको मिटाते हैं 'सदभिमृशन्ति' इति 'अभिमर्श' पदका अर्थ है 'ज्ञान', आत्मज्ञानी अत्यन्त प्रमाणभूत[४] हैं, इसलिए, वे ज्ञानी इस समग्र जगतको जो भ्रान्त दृष्टिके कारण नानाविध भासता है, तो भी उसको आत्मरूपसे सत् ही जानते हैं अर्थात् सर्व ब्रह्म ही है यों समझते हैं, इसी तरह यहां मनके दोषका भी खंडन हुआ है, जैसे जादूगरमें एक वस्तुको दूसरी वस्तु दिखानेका सामर्थ्य, गुण कहा जाता है न कि दोष, वैसे ही कामादिका भासना भी मनका गुण ही है, क्योंकि वह दिखावा आनन्दकेलिए ही करता है, वास्तवमें तो वह ब्रह्म ही है. 'आत्मविद' पदसे यह सूचित किया है कि उनका(आत्मज्ञानियों)का ज्ञान आत्मामें ही परिणमित होता है, अतः आत्मा वास्तविक सत्य है, वह सत्यरूप आत्मा ही जब सर्व बनता है तो फिर असत्यत्वकी शंका ही कैसे? यद्यपि असत्यताकी शंका नहीं होनी चाहिए, तो भी इसकी सत्यतामें युक्ति बतानी चाहिए, इस पर कहते हैं कि सुवर्णको खरीदनेवाले व्यौपारी क्या सुवर्णकी विकृतिको(कुण्डलादिको) खरीदते नहीं हैं? खरीदते ही हैं जिसका कारण यह है कि वे जानते हैं कि यह विकार यानि कुण्डलादि सुवर्ण ही है क्योंकि यह विकार, कुण्डलादि, स्वर्णसे ही बने हैं, इसमें अन्य द्रव्य न होनेसे सुवर्ण ही होनेसे व्यौपारीको ग्रहण करना उचित ही है किन्तु जगतका उपादान तो जड़[५] है और जीव सामग्रीसे भरा हुआ है, ऐसा जगत् भगवान् कैसे माना जाय? जिसका उत्तर है कि 'स आत्मानं स्वयमकुरुत' इस श्रुतिके अनुसार यह जगत्, भगवान् आप ही बने हैं, अत: आप ही इसका उपादान है, 'तत्सृष्टवा तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुत्यानुसार

आप ही अपनेमेंसे जगत् रूप बनाकर उसमें प्रविष्ट हुए, अतः जगत् और उसमें स्थित सर्व पदार्थ, भगवान् ही है अतः ज्ञानियोंने यह सब आत्मारूप ही समझा है, यों होने पर अर्थात् सब ही ब्रह्म है तो किसका दोष कहां हो? अन्य मतानुसार ही दोष दोषरूप होते हैं, ब्रह्मवादमें तो सर्व ब्रह्म ही है इसलिए सर्वसम होनेसे सब विरोध रहित है.

३.जब देवादिकेलिए परिभ्रमण करता है तब. ४.सत्य ज्ञानको ही ग्रहण करनेवाले होनेसे.५.समष्टिरूप 'विराट' उपादान है.

जीवानां ब्रह्मरूपत्वाद् दोषा अपि च मानसाः।
जगच्च सकलं ब्रह्म ततो दोषः कथं हरौ?।।का.२२।।

कारिकार्थ: जीव और समग्र जगत् ब्रह्म है तो दोष मानसिक है फिर हरिमें दोष किस तरह होगा?।।२२।।

आभासार्थ: इसी तरह भगवानमें दोष नहीं है यों सिद्ध करनेसे, यह निर्णय किया है कि भक्तिमार्गमें भगवान् दोषरहित हैं अतः भक्तिमार्ग भी निर्दोष हैं, अब ''तव परि ये चरन्त्यखिल'' श्लोकमें सिद्ध करते हैं कि भगवान् मृत्युका उल्लंघनरूप फलदान देते हुए भी निर्दोष हैं, तथा भक्त भी निर्दोष हैं, क्योंकि भक्त, आपकी सेवासक्त होनेसे दुःखानुभव करते ही नहीं है.

तव परि ये चरन्त्यखिल–सत्त्व–निकेततया
त उत पदाक्रमन्त्यविगणय्य शिरो निर्ऋतेः।
परिवयसे पशूनिव गिरा विबुधानपि तां
स्त्वयि कृतसौहृदाः खलु पुनन्ति न ये विमुखाः।।२७।।

श्लोकार्थ: जो आपको सकल प्राणीमात्रका स्थान जानकर सेवते हैं, वे ही मृत्युके शिरका तिरस्कारकर, उस पर पैरोंको धरकर, उस(मृत्यु)को उल्लंघन कर जाते हैं, जो मृत्युसे भी उत्कृष्ट देव हैं, उन प्रसिद्ध देवोंको भी आप वाणीसे बांधते हैं, किन्तु जिन्होंने आपसे सौहार्द्र कर लिया है, वे तो समस्त जगतको पवित्र करते हैं, इसमें किसी प्रकारका संशय नहीं है. जो आपसे विमुख तपस्वी आदि हैं, वे इस प्रकार जगतको पवित्र नहीं कर सकते हैं।।२७।।

व्याख्यार्थ: जो आपकी सेवा करते हैं, वे ही मृत्युके शिरका अपने पादसे आक्रमण करते हैं, किन्तु जानकर मृत्युकी परवाह न कर अर्थात् तिरस्कार पूर्वक करते हैं, इससे यों सिद्ध किया कि भगवत्सेवक केवल सेवासे ही मृत्युको जीत

लेते हैं, भगवान् कृपया ऐसी शक्तिका दान करे वह बात तो पृथक् है, जगतमें सबको दो बातोंकी चाहना रहती है १.दुःख न मिले, २.सुखकी प्राप्ति होवे इनमें यह बता दिया कि सुख, भगवानके द्वारा ही प्राप्त होता है अन्यथा नहीं, और दुःखकी हानि भी भगवानकी सेवासे ही होती है अन्य प्रकारसे नहीं होती है, दुःखोंकी अवधि मृत्यु है, वह कर्मानुसार प्राणी मात्रको दुःख देती है, सर्वकर्मोंकी अपेक्षा, कर्मके फलदाता अर्थात् जो दुःखदाता हैं उनका अपमान विशेष दुःखदायी होता है, शिर पर पाद धरना यह महान् अतिक्रम है अर्थात् तिरस्कार है, जिससे वह बहुत दुःख देता है, वह दुःख भी यदि भक्तोंकेलिए भजनका साधन होता है तो फिर उनको दुःख किसका, ध्रुव भक्तके चरित्रमें मृत्युके शिर पर पाद धरना स्पष्ट लिखा हुआ है जो भक्त भगवानकी सेवा करते हैं उनकी वैकुण्ठमें भी अपेक्षा(आवश्यकता) है, इसलिए उनको वहां शीघ्र जाना चाहिए. कदाचित् दूसरी देहके बननेमें देरी लगे क्योंकि जब संस्कार नाश होवे तब अन्य देह बने, इसलिए उसी ही शरीरसे वहां(वैकुण्ठ)में शीघ्र जाते हैं तब बीचमें मृत्यु प्रतिबन्धक आ जाता है तो उसको देख निडर हो उसका तिरस्कार कर मस्तक पर यों पादोंको धरते हैं जैसे सीढ़ी पर पैर धरे जाते हैं, यों मृत्युका उल्लंघन कर वैकुण्ठको चले जाते हैं.

यहां 'शिर' कहनेका भावार्थ है बड़े-बडे साहसोंके कर्म अर्थात् भक्तलोग महान् साहसिक कर्म करनेमें भी नहीं डरते हैं, ऐसे साहसिक बड़े-बडे कर्म करना ही मृत्युके शिर पर चढना है, यह आधिभौतिक व्यवस्था है. इस प्रकार भक्त मृत्युके शिर पर पाद धरते अर्थात् बड़े-बड़े साहसिक कर्म करते हुए भी सुखी ही रहते हैं, अब आध्यात्मिक व्यवस्थामें क्या होता है वह बताते हैं, भक्तलोग देह, दैहिक और वैदिक आदि धर्मोंका उल्लंघन कर और विरुद्ध कर्म करते हुए भी भगवानकी सेवाको करते रहते हैं अर्थात् भक्तलोग भगवत्सेवाको ही मुख्य एवं स्वधर्म समझते हैं जिससे अन्य धर्मोके उल्लंघन शास्त्र विरुद्ध धर्म करनेमें भी हिचकते नहीं, सेवार्थ ही यों करते हैं, यह भावार्थ है.

'अखिल सत्त्वनिकेतनतया' यों कहकर यह सूचित किया है कि 'बहिर्मुख' सेवाके अधिकारी नहीं है, किन्तु जो भक्त, समस्त प्राणियोंमें हरिका स्थान है अर्थात् भगवान् सर्वत्र है, यो समझते हैं वे अधिकारी हैं और वे बिना किसीसे विरोध किए भगवत्सेवा करते हैं, 'सर्वं तद्विष्यमीक्षध्वमेवं वस्तोषितो

ह्यसौ' जब आप भगवानको सर्वमें स्थित जानकर सेवा करोगे तब भगवान् आप पर प्रसन्न होंगे. इस प्रकार सेवा करनेसे तथा दर्शन भी यों करनेसे भगवान् प्रसन्न होंगे, अन्यथा यदि यों न कर सेवा करोगे तो उससे दोष लगता है, जैसाकि कहा है 'कुरुते अर्चाविडम्बनम्' 'भस्मन्येव जुहोति' जो भगवानको ऐसा न जानकर सेवा करता है वह सेवाकी हंसी करता है और जो कुछ करता है वह ऐसे व्यर्थ जाता है जैसे भस्ममें होम किया हुआ पदार्थ व्यर्थ जाता है, 'तव' षष्ठीपद देनेका भावार्थ यह है कि केवल आपकी परिचर्यासे नहीं किन्तु आपके सम्बन्धी किसी भी पदार्थकी परिचर्यासे उसमें निर्भयता आ जाती है जिससे वह मृत्युके शिरका आक्रमण करनेसे डरता नहीं किन्तु इसमें सर्वात्मभावों(सबमें वही आत्मा है ऐसा भाव)की अपेक्षा है, कारण कि जो यहां सर्व पदार्थोंको पृथक्-पृथक् देखता है अर्थात् यह दूसरा है वह दूसरा है इस दृष्टिसे देख भेदभाव करता है वह मृत्युकी भी जो मृत्यु है उसको प्राप्त होता है, जब इस तरह भेदभाव होता है तब ही मृत्यु अपना पराक्रम दिखा सकती है.

सबका अतिक्रमण करने पर दोष क्यों न होगा? अथवा धर्मरक्षा करनेवालोंको क्रोध कैसे न होगा? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'परिवयस' उन प्रसिद्ध विबुधोंको भी पशुओंकी तरह बांधते हो.

जहां अपने स्वामी, मृत्युसे भी उत्तम देवोंको बांधते हैं वहां उनके सेवक यदि मृत्युकी अवगणना करे तो कौनसा आश्चर्य है, परन्तु आप वाणीसे बांधते हैं किन्तु जैसे राजा केवल आज्ञा देता है साक्षात् बान्धनेका कार्य तो राजाके सेवक ही करते हैं वैसे ही भगवानके सेवक ही मृत्युका उल्लंघन करते हैं कारणकि उनको यों करनेका अभ्यास है जिससे उनमें भय उत्पन्न नहीं होता है जैसे सेवक ही गाड़ीमें पशुओंको जोतते हैं जिससे वे पशु प्रसन्नतासे सेवा करनेमें लग जाते हैं क्योंकि वे इसको(सेवाको) अपना धर्म समझते हैं, इसी प्रकार भक्तजन ही इनको भगवत्सेवामें लगाते हैं अर्थात् जोड़ते हैं, अतः भक्त सेवा प्राप्त कर कृतार्थ ही होंगे, इसलिए उनको मनमें किसी प्रकार क्लेश नहीं होता है, इसी तरह सेवकोंका देवोंसे भी उत्कर्ष बताया है, तो भी सेवकोंमें मर्यादाके अभावसे उनकी निन्दा और अशुद्धता होगी, इस शंकाके होने पर कहते हैं कि 'त्वयि कृत सौहृदा खलु पुनन्ति न ये विमुखाः' जिन्होंने आपसे सौहार्द किया है वे ही जगतको पवित्र करते हैं न कि तपस्वी व दूसरे प्रकारके धर्मात्मा जगतको पवित्र करते हैं, क्योंकि वे(तपस्वी

व दानी आदि धर्म करनेवाले) आपसे विमुख हैं.

अयमर्थः यह अर्थ है 'शुद्धि' दो तरहकी है, १.दोषोंको निकालनेवाली २.गुणोंको देनेवाली, गुणोंमें सबसे उत्कृष्ट गुणकी सीमा 'भगवत्सेवा' है जिससे उत्तम अन्य कोई गुण नहीं है जैसाकि कहा है 'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः' जिसकी भगवानमें निर्गुण प्रेमलक्षणा अनन्यभक्ति है उस भक्तमें सब देव, सब गुणों सहित निवास करते हैं, दोषोंकी अवधि(सीमा) यानि सबसे महत्तम दोष भगवानकी अवज्ञा है जैसाकि कहा है,

''ब्रह्महत्यासहस्रस्य पापं शाम्येत् कथञ्चन.
न पुनस्त्वय्यवज्ञाते कल्पकोटिशतैरपि''

हजार ब्रह्महत्याका पाप कदाचित् मिट भी जावे किन्तु, हे भगवान्! आपकी अवज्ञासे उत्पन्न पाप करोड़ो कल्पोंके सहस्त्रोंवर्ष बीत जाने पर भी नष्ट नहीं होते हैं.

जो गुणवाले होते हैं वे ही अपने गुणोंके अंशोंसे दोष तथा दोषसम आचारादिको मिटा देते हैं, इतना ही नहीं किन्तु दोषोंको मिटाकर उनमें गुणोंको स्थापित करनेकी शक्तिवाले भी वे ही हैं.

जो दोषपूर्ण है उन दोषोंके अंशोंसे सर्वगुण जिनके नष्ट हो गए हैं, वे शुद्धि नहीं कर सकते हैं, 'खलु' निश्चयवाचक पद देनेका भावार्थ है कि जो यहां कहा है वह प्रमाण है.

सर्वथा सर्वतः शुद्धा भक्ता एव न चापरे।
अतः शुद्धिमभीप्सद्भिः सेव्या भक्ता न चापरे।।का.२३।।

कारिकार्थ: भक्त ही सर्वथा सर्व प्रकार शुद्ध हैं, अन्य शुद्ध नहीं है, अतः शुद्धिकी चाहनावालेको भक्तोंकी सेवा करनी चाहिए दूसरोंकी सेवा नहीं करनी चाहिए।।२३।।

आभासार्थ: इस प्रकार भजन करने योग्य(भगवान्) और भक्तोंके दोषोंका परिहारकर, उनको निर्दोष सिद्ध किया तथा भजनकी भी दृढता स्थिर की, किन्तु जो दोष प्रतीति हो रहे हैं उनको देख कोई भजन करेगा नहीं, 'त्वमकरणः' श्लोकसे उस शंकाका निराकरण करते हैं.

त्वम् अकरणः स्वराडखिल–कारक–शक्ति–धरः
तव बलिम् उद्वहन्ति समदन्त्यजयाऽनिमिषाः ।

वर्ष–भुजो–ऽखिल–क्षितिपतेरिव विश्व–सृजो

विदधति यत्र ये त्वधिकृता भवतश्चकिताः।।२८।।

श्लोकार्थः आप इन्द्रियरहित हैं, स्वयं प्रकाश करनेवाले हैं, समस्त क्रियाकलापों(कारकों)की शक्तिको धारण करनेवाले हैं, अतः देवमायासे आपकी बलिको धारण करते हैं और खाते हैं. जैसे चक्रवर्ती राजाकी आज्ञा अनुसार खण्डपति राजा लोग 'कर' लेकर वह चक्रवर्तीको देते हैं, शेष आप लेते हैं और जो ब्रह्मादि आपने नियत किये हैं, वे आपसे डरते हुए नियत कार्य पूर्णतया करते रहते हैं।।२८।।

व्याख्यार्थः भगवान् अवतार समयमें इन्द्रियोंवाले प्रतीत होते हैं, वे इन्द्रियां जीवोंको फलदान करनेकेलिए धारण की हुई नहीं है, यदि यों माना जायगा तो अधर्मपन होगा और इन्द्रियोंका कार्य उनसे हो नहीं सकेगा, नैयायिकोंके सिद्धान्तानुसार, मुक्त जीवोंकी इन्द्रियां हैं यों भी स्वीकार करना उचित नहीं, क्योंकि 'वाङ् मनसि संपद्यते' इस श्रुतिमें कहे अनुसार, वाणी मनमें लीन हो जाती है, जिससे सिद्ध है इन्द्रियोंका लय हो जाता है और 'वागग्निरभवत्'(वाणी अग्नि हो गई) इस श्रुतिमें वाणीका आधिदैविक स्वरूप हो जाना कहा है अतः जो अवैदिक है अर्थात् वेद सिद्धान्त नहीं मानते और न जानते हैं वे ही न्याय सिद्ध स्वीकार कर सकते हैं, वैदिक नहीं स्वीकार कर सकते हैं, किन्तु वैदिक तो उनका सिद्धान्त सुनना भी नहीं चाहते है, अवैदिक ही सुन सकते हैं, अतः ईश्वरकी इन्द्रियां अपना–अपना कार्य करनेमें समर्थ और नित्य हैं, जीवोंकी इन्द्रियां उनके अदृष्टसे बनी है, वे इन्द्रियां जो भगवानकी हैं, वे तो भगवदर्थ ही बनी है, जिससे वे प्रत्येक कार्य करनेकेलिए नियत की हुई है यो मानना चाहिए, इसलिए उन इन्द्रियोंके साथ भगवानका स्वाभाविक वा अध्याससे हुआ सम्बन्ध कहना चाहिए, यदि कहों कि इससे भगवानमें दोषका सम्भव होगा, तो उसका जवाब है कि 'त्वमकरणः' आपकी इन्द्रियां है ही नहीं, यदि इन्द्रियां नहीं हैं तो इन्द्रियोंका कार्य कैसे करते हैं? इसका उत्तर है कि 'स्वराट्' उनका स्वरूप ही सर्वसमर्थ है, वह स्वरूपसे ही सर्वकार्य करनेमें समर्थ हैं, उनको इन्द्रियोंकी आवश्यकता ही नहीं यदि यों आपमें सर्व सामर्थ्य न हो तो इन्द्रियोंमें सामर्थ्य कहांसे आवे? यदि इन्द्रियां मूलभूत है. अर्थात् पहले ही थी यो माना जावे तो 'अद्वैत' सिद्धान्तकी हानि होती है, द्वैत हो जाता है.

और विशेष, आप सर्वकारक, जिन शक्तियोंको धारण करते हैं वे सब शक्तियां आप एक ही धारण करते हैं, जिससे सिद्ध हुआ कि जब भगवान् कारकोंका कार्य भी कर सकते हैं तो भगवानको इन्द्रियोंके कार्य करनेमें क्या है? वह सर्व समर्थ होनेसे सबकुछ कर सकते हैं, वे छ कारक आधार आदि शक्तियोंवाले हैं, वे कारक शब्दोंके आश्रित होनेसे अनित्य होनेसे और जातिकी भांति नियत(मुकर्र) शक्तिवाले होनेसे अन्य कार्य कर नहीं सकते हैं और जो सर्वशक्तिमान् है उस एकसे ही सर्वकार्यका होना बन सकता है, जिससे शुद्ध ब्रह्मत्व हो जाता है इससे अनेक कारक होनेकी कृति व्यर्थ सिद्ध होती है, कारकोंकी सर्व शक्तियां सर्वदा भगवान् ही धारणकर, जब-जब जिस शक्तिकी आवश्यकता होती है तब-तब उस शक्तिको उनमें स्थापित करते हैं, यो मानना चाहिए, इस विषयमें अन्यथाऽनुपपतिरूप हेतु कहते हैं 'तव बलिमुद्वहन्ति समदन्त्यजयानिमिषा इति' सावधानदेव प्रथम आपको बलि देकर, शेष आप खाते हैं, यदि देवोंमें स्वतः स्वसामर्थ्य होती और वे, स्वतन्त्र होते तो भगवानको बलि देनेके बाद शेषबलि(उच्छिष्ट) स्वयं न लेते, सृष्टि प्रसंगमें ऐसी प्रार्थना की है, जैसे कि 'यावद् बलिं तेऽज हराम काले' इस भागवतके श्लोकमें लिखा है कि हे अजन्मा! 'समय पर जब तक आपकेलिए बलि ले आए और विशेष वे प्रकृतिके वशीभूत होनेसे, स्वतन्त्र बन नहीं सकते हैं. लोकमें भी देखा जाता है कि जो बकरियोंकी पालना करते हैं वे भी स्वामीकेलिए ही सेवा करते हैं, अथवा जिनका धन केवल बकरियां ही हैं, वे बहुत अल्प हैं, जहां इन्द्रियोंके स्वामियोंकी भी यह दशा है तो वहां इन्द्रियोंकी शक्तियां कैसे इन्द्रियोंमें रह सकेगी? ये दृष्टान्त तो अल्पोंके कृत्यका दिया है. यदि ऐसी शंका हो तो उस पर महान् पुरुषोंका भी यही कृत्य है यह समझानेकेलिए थोड़े अन्तरसे दूसरा दृष्टान्त देते हैं कि 'वर्षभुजोऽखिलाक्षिति पतेरिवेति' खंड-खंडके राजा चक्रवर्ती राजाके आधीन रहते हैं वैसे, जम्बूद्वीपमें नव खंड हैं, इसी तरह अन्य द्वीपोंमें सात-सात खंड है, उस-उस खंडमें एक-एक खंडका स्वामी पृथक्-पृथक है, वे खडाधिपति अपने-अपने निर्वाहकेलिए[२] चक्रवर्तीकी सेवा करते हैं, वैसे प्रत्येक इन्द्रियोंके स्वामी सर्व संघातके स्वामीकी सेवा करते हैं, पुनः वे इन्द्रियोंके स्वामी निर्वीर्य नहीं हैं किन्तु विश्वकी रचना करनेवाले हैं, और विशेष यह भी है कि खंडके राजा कभी स्वतन्त्र भी हो जाते हैं किन्तु ये तो केवल आपके ही आधीन हैं. यों

कहनेकेलिए कहते हैं कि 'विदधति यत्र ये त्वधिकृता' इति, जिस अधिकार पर उनको स्थापित किया वहां वे आज्ञानुसार कार्य करते रहते है. भगवानसे भयभीत होनेसे वैसा-वैसा कार्य करते हैं जैसी-जैसी जिस समय आज्ञा पाते हैं, यदि भगवानका डर न होता तो, जिस कार्य करनेकी चाहना नहीं, उसमें भी प्रवृत्ति न करते, अब तो इन्द्रियां जिसके भयसे दुर्गन्धवाले, दुष्ट शब्दोंवाले, रसरहित पदार्थमें, और भयानक, कठिन स्पर्शवाले, तथा दुःखपूर्ण कार्यमें भी प्रवृत्त होती हैं, यदि निर्भय होती तो मलके त्याग जैसा कार्य जो लोकमें निन्दित है, उस कार्य करनेका अधिकार कदापि न लेती.

१.इन्द्रियां जिस देहमें स्थित होती हैं, उसमें ही ज्ञान और क्रिया उत्पन्न कर सकती हैं, दूसरेमें नहीं. इस प्रकारका कार्य भगवानकी ये इन्द्रियां नहीं करती हैं.

२.हमारा खण्ड राज्य सुरक्षित रहे, इसकेलिए.

सुवर्णप्रतिमेवासौ सर्वानन्दमयोऽधिराट्।
सर्वसेव्यो नियन्ता च निर्दुष्टः सर्वथैव हि।।का.२४।।

कारिकार्थः सुवर्णकी प्रतिमाके समान, यह(श्रीकृष्ण) सर्वानन्दपूर्ण, सार्वभौम राजा, सर्व जिनकी सेवा करते हैं, सबको अपने वशमें रखनेवाले, सर्वथा ही दोषोंसे रहित हैं।।२४।।

आभासार्थः इस प्रकार यह सिद्ध किया है कि भजन करनेमें, धर्म वा धर्मी प्रकारसे कोई दोष नहीं है, अब 'स्थिरचरजातयः' श्लोकसे कार्य द्वारा प्राप्त दोषोंका निराकरण करते हैं.

स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो विहर उदीक्षया यदि परस्य विमुक्त ततः।
न हि परमस्य कश्चिद् अपरो न परश्च भवेत्
वियत इवापदस्य तव शून्यतुलां दधतः ।।२९।।

श्लोकार्थः हे मायासम्बन्धसे विमुक्त! जब आप परपुरुषकी क्रीड़ा करनेकी इच्छा होती है, तब स्थावर और जंगम जातियां स्वयं ही उत्पन्न होती है और साथमें वे इच्छा प्रकृतिसे उत्थित कर्म भी धारण करती है.

अक्षरसे भी आगे विराजमान आपसे कोई अन्य पर या अपर नहीं है; क्योंकि स्थानरहित आप आकाशके समान शून्यकी समानता धारण करते हैं।।२९।।

व्याख्यार्थः यदि भगवान् पूर्णानन्द हैं, सर्वदोषोंसे रहित हैं, तो उनके

अंश(जीव) अनेक योनियोंमें क्यों भटकते हैं? इससे जाना जाता है कि भगवान् ही अपने हितकेलिए उत्पन्न करते हैं, नहीं तो उनकी उत्पत्ति हो नहीं सकती, इस शंकाका निराकरण करनेकेलिए कहा जाता है कि 'यदि तव विहर उदीक्षया' जैसे अपने महलमें आनन्दसे रमण करते हुए भी राजाको कभी बाहर घूमने व खेलनेकी इच्छा होती है वैसे आपको भी बाहर आनन्दसे क्रीड़ा करनेकी इच्छा होती है तब स्थावर और जंगम जातियां वैसे ही स्वतः उत्पन्न हो जाती हैं, जैसे वर्षाकालमें जीव स्वयं उत्पन्न हो जाते हैं, उन जीवोंकी उत्पत्तिकेलिए वर्षा होनेके सिवाय अन्य कोई प्रयत्न नहीं किया जाता है वैसे ही भगवान् भी केवल क्रीड़ा करनेकेलिए इच्छा करते हैं. इच्छाका उत्पन्न होना ही काल है, वह काल प्रकृति आदि शक्तियोंको प्रेरित करता है, जैसे राजाको बाहर घूमने निकलते देखकर ही बिना कहे, सब सेवक काममें लग जाते हैं, वैसे ही काल भी गुणोंमें क्षोभ(घबराट) उत्पन्न करता है वैसे ही अग्नि जब प्रचण्डरूप धारण करती है, तब उसमेंसे चिनगारियां उत्पन्न होती हैं, त्यों जीव भी उस समय उत्पन्न हो जाते हैं, और कालसे घबराहटको प्राप्त गुण, साक्षात् वा परंपरासे सर्वकार्य मात्रको पैदा करते हैं पश्चात् जो जीव भगवानसे चिनगारियोंकी भांति निकलते हैं वे प्रकृतिसे मिलकर, कामनाओंके वश निमित्तकर्म अथवा अज्ञानका आश्रयकर जहां कहीं अनेक प्रकारकी योनियोंको ग्रहण करते हैं.

जैसे अग्निसे निकली हुई चिनगारियां वायुसे मिलती है तो फिर वह वायु उन्हें जहां-कहां भी ले जाती है तो वहां उनको विवश होनेसे जाना ही पड़ता है, यदि जाते हुए तिनकों पर पड़ती है तो बढ़ जाती है और कदाचित् जलमें गिर पड़ी तो बुझ जाती है, पृथ्वी पर गिरनेसे मध्यास्थिति हो जाती है, मूलभूत अग्नि, जिससे चिनगारियां उत्पन्न होती है, वह अग्नि किसी चिनगारीको कहीं भी नहीं जोड़ती है वैसे ही ये जीव जिससे उत्पन्न हुए हैं वह मूलभूत अक्षर इनके प्रेरक नहीं है. किन्तु प्रकृतिसे उत्थित होते हुए और उस अजासे उत्थिक कर्म ही निमित्त बन जाते हैं, विहार(क्रीड़ा) ही निमित्त है, केवल क्रियाशक्ति निमित्त कैसे होगी? इस शंकाको मिटानेकेलिए ज्ञानशक्तिको भी कहा है कि 'उदीक्षया' जब इच्छा उत्पन्न होती है तब इस इच्छाके होते ही क्रीड़ा की जाती है, यह ही ज्ञानशक्ति है, अर्थात् इसी तरह जो क्रीड़ा होती है वह ज्ञानपूर्विका क्रीडा है, इस प्रकार ज्ञानपूर्वक क्रीडार्थ ही जीवका भगवानसे निर्गमन हुआ है.

विहार, अजाके साथ होने पर भी प्रकारान्तरसे भगवानमें दोष होता है, इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि 'परस्थ' वे प्रकृतिसे पर हैं अर्थात् उसके नियामक हैं. ठीक है, आप नियामक हो किन्तु, वह प्रकृति जो भार्या है उससे मोहित होनेसे उसमें आसक्ति तो होगी ही; जिस शंकाकी निवृत्ति करते हैं कि, हे ततो विमुक्त! उस प्रकृतिसे आपका सम्बन्ध ही नहीं है, जिससे वह आपको वशमें करनेका कुछ भी कार्य कर सके, क्योंकि वह आपकी दृष्टिमें तुच्छ सेविका है जैसे राजाके विहारमें क्षुद्र दासियां नहीं होती हैं, वैसे ही यह भी आपके विहारमें नहीं है. ये प्रकृतिके गुण वा काल, भले ही प्रेरक नहीं हो किन्तु दूसरी अन्तरंग शक्तियां तो उनको प्रेरणा करनेवाली होती है, उनसे ही दोष सम्बन्ध होना चाहिए, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'नहि परमस्य' अर्थात् जो अक्षरसे भी उच्च उत्कृष्ट है और लौकिक वार्ताओंसे सर्वथा अनभिज्ञ है, उससे जो कोई पदार्थ ही नहीं है वह उत्कृष्ट हो नहीं सकता है, राजाका दृष्टान्त विहारकेलिए ही है, न कि प्रेरणाकेलिए है, जिसको भोगकेलिए किसी विषय(पदार्थ) प्राप्त करनेकी इच्छा होती है उसको ही कोई प्रेरणा करता है, जिसको भोगेच्छा ही नहीं उसको कोई प्रेरणा नहीं कर सकता है, जैसे राजा, भोग पदार्थके जानने वा सुननेकी इच्छा करता है तब अन्तःकरण उसकेलिए आंख और कानको प्रेरणा करता है, प्रेरणा होते ही राजा उस पदार्थको देखने एवं जाननेकेलिए तैयार होता है, पश्चात् राजा अश्व शस्त्रादिसे विहारक्रिया करना चाहता है. तो उसका अन्तरंग सेवक वह सामग्री तैयार करता है और उसका प्रेरक बनता है, किन्तु जो भगवान् केवल[१] आनन्दमय है और सर्व सम्बन्धरहित होनेसे भोगादिकी इच्छा ही नहीं करते हैं, उनको कोई कैसे प्रेरणा कर सकता है? वहां भगवानकेलिये इसलिए सामग्री[२] नहीं है यह बताते हैं. सामग्री पांच प्रकारकी होती है–१.स्वरूप, २.स्थान, ३.विशेषाकार, ४.उत्कर्ष और ५.अपकर्ष, भावको प्राप्त पदार्थ, इनमेंसे कोई भी पदार्थ भगवानमें नहीं है. क्योंकि सबसे आप उत्तम हैं, जिससे उत्कर्ष और अपकर्ष भावसे रहित हैं. अत: सबसे विलक्षण हैं, इसलिए उनसे उच्च वा नीच कोई नहीं है. श्लोकमें दो 'न' शब्द देकर यह सूचित किया है कि भगवान्, सबसे पृथक् है, सकल पदार्थोंसे भगवान् विलक्षण प्रकारके है इसकी स्वतः सिद्धि होनेकेलिए 'अपदश्च' पदसे कहा है कि स्थान रहित भी होते हैं और 'च'से उस सामग्रीसे भी रहित हैं, प्रत्येक पदार्थ आधारवाला ही होता है, फिर यह निराधार

कैसे हो सकता है? इस शंकाको दृष्टान्त देकर मिटाते हैं कि 'वियत इव' जैसे आकाश किसी भी क्रियामें व्यापृत नहीं है, वैसे ही भगवान् भी सर्व प्रकार क्रिया मात्रसे अव्यापृत है, इससे भगवानको सब विशेषोंसे रहित कहा है स्वरूपको भी अप्रत्यक्ष कहा है, 'शून्यतुलां दधत' इस पदसे शून्यवादका भी निराकरण किया है, यदि शून्यवाद कहना होता तो केवल 'शून्य' पद कहते 'तुलां' समानता पद देकर शून्यवादका तिरस्कार किया है. इसलिए ही 'असंगो ह्ययं पुरुषः' 'अरुपमस्पर्शम्' इत्यादि श्रुतियां कहती कि 'यह पुरुष संगरहित है' 'रूप और स्पर्शरहित है' मात्र भगवान् है, इतना ही जानने योग्य है, अतः ऐसे भगवानको कौन जान सकता है, यह ऐसा है कि वैसा है जिससे प्रेरणा कर सके।।२९।।

१.इन्द्रिय रहित.२.भोग जिससे किया जा सके, ऐसी सामग्री.

सर्वभावनिर्विमुक्तः पूर्णः क्रीडार्थम् उद्गतः।
निमित्तं तं समाश्रित्य जायन्ते जीवराशयः।।का.२५।।

कारिकार्थ: सर्व लौकिकभावोंसे रहित, पूर्णप्रभु श्रीकृष्ण, क्रीडाकेलिए जब तैयार होते हैं, तब क्रीड़ारूप कालके किये हुए गुणोंकी घबराहटका आश्रय व निमित्त लेकर जीव समूह चिनगारियोंकी तरह उनसे निकलते हैं अर्थात् उत्पन्न होते हैं।।२५।।

आभासार्थ: इसी तरह जीवमें अनेक योनियोंके सम्बन्धसे दोष आता है वह भगवानमें नहीं है, यह सिद्ध कर भगवानमें जब दोष नहीं है तो भगवान्-माहात्म्य भी विशेष होगा, ऐसे प्रसंगमें भगवानका माहात्म्य सिद्ध करनेकेलिए और जीव भगवानके आधीन है यह भी स्थापन करनेके वास्ते 'अपरिमिता' श्लोकमें जीव स्वतन्त्र है इस सिद्धान्तका वर्णन कर बादमें निराकरण करते हैं.

अपरिमिता ध्रुवास्तनुभृतो यदि सर्वगताः तर्हि न शास्यतेति नियमो ध्रुव नेतरथा।
अजनि च यन्मयं तद् अविमुच्य नियन्तृ भवेत्
समम् अनुजानतां यद् अमतं मतदुष्टतया ।।३०।।

श्लोकार्थ: यदि अगणित नित्य जो जीव हैं, वे व्यापक होवें तो नियम्य नहीं हो सकते हैं (अर्थात् उनके उपर किसीका भी नियम नहीं रह सकता है; क्योंकि नियम्य और नियामक भाव तब रह सकता है कि जब एक अणु होवे, दूसरा व्यापक होवे. यह कहनेका तात्पर्य है कि जब जीव अणु हो और भगवान् व्यापक हो, तब नियम्य व नियामक भाव बन सकता है) ब्रह्ममय होकर ही

जीवरूपसे प्रकट हुए हैं, किन्तु यदि वे ब्रह्मात्मताका त्याग न करे, तो फिर नियन्ता कौन होगा? अर्थात् कोई नहीं. ब्रह्म सर्वत्र सम है इसलिए नियम्य-नियामकत्वभाव जो लोग नहीं मानते हैं, उनका मत दोषपूर्ण होनेसे अमत है अर्थात् मान्य करने योग्य नहीं है।।३०।।

व्याख्यार्थ: यदि जीव व्यापक है यों माना जायगा तो जीव अपनेको व्यापक जानकर भगवानके वशमें नहीं रहेगा, भोग और मोक्षकेलिए तथा दुःखोंके अभाव होनेके वास्ते जीवोंको भगवानकी अपेक्षा न रहेगी. यों आगे कहा जायगा, अतः यदि श्रुतिमें जो सिद्धान्त कहा गया है कि जीव चिनगारीरूप है, इसको माना जायगा, तब ही नियम्य-नियामकभाव सिद्ध हो सकेगा, न कि स्मार्त पक्षानुसार जीवको व्यापक माननेसे सिद्ध होगा, श्रौत सिद्धान्त ही सम्पूर्ण है, इसलिए ही हम जीवकी व्यापकताका निराकरण करते हैं.

कितने ही नैयायिक आदि मतवाले जीवको व्यापक मानते हैं, उनका यह अभिप्राय है, नित्य पदार्थ वह होता है, जो अणु हो अथवा व्यापक होवे, जो मध्यम परिमाणवाला पदार्थ है वह नित्य नहीं होता है, क्योंकि अवान्तर(मध्यम) परिमाण अनित्यपनसे आवृत(व्याप्त, घिरा हुआ), यदि जीवको अणु माना जायगा तो सर्व शरीरमें जो चैतन्य व्याप्त दीखता है, वह नहीं होना चाहिए, और विशेष, देशान्तरमें हमारे भोगकेलिए जो द्रव्य उत्पन्न होता है, उसका कारण हमारा अदृष्ट(प्रारब्ध) कहना चाहिए, अतः उत्पत्तिवाले प्रदेशमें अदृष्टकी तरह आत्माका संयोग भी कारण है, इससे सिद्ध है कि 'जीव' व्यापक है, इससे जीव देश परिच्छेदरहित[१] है और ध्रुव होनेसे काल परिच्छेदरहित है, जो जीवको अनित्य माने जायेंगे, तो जीव मुक्त न हो सकेंगे, और जो व्यापक है, वह अनित्य हो नहीं सकता है, 'सर्वगतास्ते' उनका सकल मूर्त द्रव्योंके साथ सर्वत्र संयोग है यों कहना चाहिए, जो यों नहीं माना जायगा तो उनकी(जीवोंकी) भोग पूर्तिकेलिए जिन द्रव्योंकी आवश्यकता है, वे उत्पन्न ही न हो क्योंकि, इस अनादि संसारमें कोई भी पदार्थ किसीकेलिए नहीं है, यों सिद्ध नहीं होता है, अर्थात् सर्व पदार्थ सब अपने भोगमें ला सकते हैं, इसी प्रकार आत्मा(जीव)में दो(देश, काल) परिच्छेदोंका अभाव और सकल मूर्तद्रव्योंका सम्बन्ध अवश्य अंगीकार करना चाहिए, इस प्रकार नैयायिकोंका मत कहकर अब उसका निराकरण करते हैं.

'तनुभृतो यदि सर्वगतास्तहि न शास्यतेति नियमः' व्यापक होनेसे

जीवोंका सर्व पदार्थोंसे सम्बन्ध होगा, अतः वे किसीके नियममें नहीं रह सकते हैं, यह नियम है, इस विषयमें जो नियम्य-नियामकभाव है, वह कर्म निमित्त जो शिक्षा आदि मिलती है, उसके समान नहीं है, क्योंकिकर्म फलसे जो शिक्षा आदि देनेका शासन है, वह यम आदि देवोंका कार्य है, किन्तु यहां तो दास और स्वामीकी तरह नियम्य और नियामक भावकी स्थिति है. यदि जीव व्यापक माने जावेंगे, तो उनमें दासत्व नहीं बनेगा, यदि वे दास नहीं रहेंगे तो उनको नियामकका प्रयोजन नहीं होगा, जिससे ईश्वरकी सिद्धि भी नहीं हो सकेगी. सर्वत्र जीव ही सर्व विषयोंमें कारण हो जानेसे अपना भोग आदि भी आप ही सम्पादन करते रहेंगे, अदृष्टका नियामक तो कर्म ही है भोग तो अदृष्टसे नियम्य है और कर्म प्रयत्नसे नियम्य है. अतः जीवकेलिए ईश्वरकी अपेक्षा न होनेसे जब ईश्वर भी सिद्ध न हो सकेगा तो नियम्य[२] और नियामककी[३] बात तो दूर रही.

श्रुतियां कहती हैं कि नियम्य और नियामक भाव सिद्ध नहीं होगा. अर्थात् नहीं बन सकता है, श्रुतियोंके यों कहनेका अभिप्राय यह है कि, भोगका नियामक तो ईश्वर ही है, नहीं तो भोगका नियम रहेगा नहीं, और भोगका नियम तो प्रत्यक्ष निश्चित् हुआ देखनेमें आ रहा है.

नैयायिक सिद्धान्तानुसार जीव अनेक हैं और वे सब व्यापक हैं, जिससे सबका सब पदार्थोंसे समान सम्बन्ध है, जब एक शरीर, फल खाता है तब सब शरीरोंको तो उस फलभोगका सुख प्राप्त नहीं होता है, केवल उस एक शरीरको ही प्राप्त होता है दूसरोंको नहीं, यों क्यों होता है? यदि कहो कि अदृष्टसे यों होता है तो, यह बतलाइए कि वह इस एकका ही अदृष्ट है दूसरेका नहीं है, जिसकेलिए कौनसा नियम है? उस अदृष्टके साथ संयोग तो व्यापक होनेसे सबका समान है, इसलिए सबका ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न भी समान होने चाहिए, ईश्वरके सिवाय दूसरा कोई नियामक नहीं बन सकता है, जिससे प्रत्येकको नियमसे भोगकी प्राप्ति होती देखनेमें आती है, ईश्वरके नियामक होनेसे, एक ही भोग करता है दूसरा कोई भी उसका भोग नहीं कर सकता है, यह नियम तब तक चल रहा है, जब ईश्वरके हाथमें नियामकत्व है, अदृष्टके सम्बन्धमें भी यों ही समझना चाहिए, कि उसका भी नियामक ईश्वर है, अतः भोगके नियमकेलिए अवश्य ईश्वरका नियामकत्व स्वीकार करना चाहिए, वह नियामकत्व जीवका व्यापकत्व माननेसे सिद्ध नहीं हो सकेगा, क्योंकि जीवको व्यापकत्वसे, महानता और तुल्यताका अभिमान हो

जाता है, जिससे वह भगवानको नहीं मानता है, यदि भोगका ईश्वरसे ही मिलना नियमित माना जाएगा तो जीवकी व्यापकता न रहेगी, अर्थात् जीव व्यापक नहीं है, यों स्वीकार करना पड़ेगा, 'अणु' माननेसे जीवका चैतन्य गुण सारी देहमें जो व्याप्त दीखता है वह नहीं होना चाहिए, इस शंकाका निराकरण करते हुए कहते हैं कि 'गन्धवत्' जैसे पुष्पकी गन्ध दूर-दूर फैलती है वैसे अणु जीवका चैतन्य भी समग्र देहमें व्याप्त रहता है, जब गन्धकी उत्पत्तिकी खोज की जाती है तो देखनेमें आता है कि गन्ध अपने आश्रयसे पृथक् नहीं होती है, बाहर फैलते हुए भी उसमें ही रहती है. वह उचित ही है, यदि यों माना जाय कि गन्धके अवयव उत्पन्न होते हैं वे दूर-दूर चले जाते हैं, वह कहना ठीक नहीं है क्योंकि यों होवे तो पत्र-पुष्पादिकी भांति गन्ध भी अपने आश्रयका त्यागकर दूसरे स्थान पर जावे वह तो होता नहीं, अर्थात् वह(गन्ध) अपने आश्रयका त्याग करती नहीं है, वायु द्वारा गन्ध दूर जाती है यह प्रसिद्ध है, जैसे भगवती श्रुति कहती है कि 'यथा वृक्षस्य सपुष्पितस्य दूरात् गन्धो वाति' फूलोंसे भरे हुए वृक्षकी गन्धको वायु दूर ले जाती है, अवयव भले नवीन उत्पन्न न हों किन्तु वे ही अवयव दूर-दूर चले जाते हैं यह कहना भी संगत नहीं है, क्योंकि योजन पर्यन्त गंध जाती है, इस वाक्यसे वह कहना बाधित है, कारण कि १.सीमारहित, अर्थात् जीवकेलिए देश अथवा कालकी सीमा नहीं है क्योंकि व्यापक है. २.जीव वशमें रहनेवाला ३.ईश्वर वशमें रखनेवाला.

यादृशः प्रकटो गन्धः पुष्पाणां सन्निधौ भवेत्।
एकस्मिन्नपि तत् पुष्पे तथा घ्राणगते न हि।।का.२६।।

कारिकार्थः फूलोंकी गन्ध पुष्पोंकी सन्निधिमें जैसी प्रकट होती है, वैसी गन्ध एक फूलको नाकमें डालने पर भी नहीं आती है अर्थात् जब एक फूलसे वैसी गन्ध नहीं प्राप्त होती है, तो सूक्ष्म अवयवोंसे गन्ध किस प्रकार आवेगी?

इससे यह मत निश्चित है कि गन्धकी तरह चैतन्यगुण भी सर्व देहमें व्याप्त हो जाता है, लोकमें नियम्य और नियामक भाव परिच्छिन्नमें ही होता है.

नियममें रखनेवाला(ईश्वर) भी भले परिच्छिन्न होवे इसमें कौनसा दोष है? इसके उत्तरमें 'हे ध्रुव' सम्बोधन दिया है, जो निश्चल है वह व्यापक ही होता है, दूसरी तरह तो अर्थात् स्वल्प समयकेलिए स्थिरता भूमि आदिमें भी है इसलिए उसमें व्यापकता नहीं दीखती है, इसलिए 'ईश्वर' व्यापक ही है, 'तस्मिन्नाकाश ओतश्च प्रोतश्च इति श्रुतेः' उसमें(ईश्वरमें) आकाश पूर्ण ओतप्रोत(गुंथा हुआ)

है, 'आराग्र मात्र ह्यपरोऽपि दृष्टः श्रुतिः' अणुके समान दूसरा भी देखनेमें आया है. यदि कहो कि जीव अणु नहीं है क्योंकि श्रुतिके अनुसार वह व्यापक है, तो उसके उत्तरमें ब्रह्मसूत्र 'नाणुरतच्छ्रुतेरिति चेन्नेतराधिकारात्' दिया है, यह व्यापक श्रुति ब्रह्मके विषयमें है कि ब्रह्म अणु नहीं है बल्कि व्यापक है, दूसरी तरह अर्थात् जीवको व्यापक वा भगवानको अणु माननेसे, अथवा एकभागका भी अन्यथात्व कहां जायगा तो नियम्य और नियामक भाव बन नहीं सकेगा, इस विषयमें किसी तरहकी दृढ उपपत्ति(हेतुपूर्वक युक्ति) नहीं है, अतः यदि व्यापकत्व भी हो और नियम्यत्व भी होवे तो कौनसा दोष है? जैसे छोटा सिंहका बालक भी बड़े हस्तीको अपने नियममें रख सकता है. राजाका शरीर छोटा है वह सकल लोगोंको अपनी आज्ञामें चला सकता है, छोटा सा अग्निका कण(चिनगारी) समस्त गृहोंको जला सकता है, इससे यह आवश्यक नहीं है कि स्थूल परिमाणवाला ही नियामक हो सकता है और सूक्ष्म परिमाणवाला नियम्य ही बने अतः आपका यह व्यर्थ आग्रह है, यदि यों कहा जावे तो, उसके उत्तरमें कहा है कि 'अजनि च यन्मयं तदविमुच्य नियन्तृ भवेदिति' अर्थ–जो जीव ब्रह्ममय ही उत्पन्न हुआ है वह उस ब्रह्मात्मकताको छोड़े बिना क्या नियन्ता हो सकता है? नहीं हो सकता है, अर्थात् नियन्ता तो ब्रह्म ही हो सकता है. भगवन्मय जीव नियन्ता न होकर नियम्य ही होता है. बाध्य(बांधा हुआ) और बाधक(बांधनेवाला) भाव, दाह्य(जलाने लायक) दाहक(जलानेवाला) भाव दूसरा(ये दोनों भाव दूसरे है) है और नियम्य तथा नियामक भाव दूसरे प्रकारका है. अब इसको स्पष्ट समझानेकेलिए दृष्टान्त देते हैं कि राज्यमें उत्पन्न प्रजाएं राज्यमय होती हैं और राज्य, राजाका अंग है इसलिए प्रजा राजामय ही है वैसे ही जीव भी भगवन्मय हैं यदि व्यापक होवे तो भगवन्मय नहीं बन सकते.

जीवका ईश्वरके साथ सदैव सम्बन्ध होते हुए भी भोगका नियम करनेमें ईश्वरका कोई प्रयोजन नहीं है, वह भोगका नियम अदृष्ट कराती है, यों कहनेवाला साहसी(बालात्कार करनेवाला) है. इस कारणसे जीवका भगवन्मयत्व दूसरे प्रकारसे सिद्ध नहीं होनेसे जीवमें व्यापकत्व नहीं है, यह सिद्ध हुआ वेदान्ती भी आत्मा(ब्रह्म) और जीवका एकत्व कहते हुए नियम्य–नियामकभाव स्वीकार नहीं करते हैं; क्योंकि सर्वत्र समानता देखते हैं, यों कहकर जो वेदान्तमें नियम्य–नियामकभाव नहीं मानते हैं, इनका मत कहकर अब उनका

खण्डन करते हैं. सममनुजानतां यद मतं' उनका मत ब्रह्मवादी समदृष्टिवाला है.

'ब्राह्मणे पुल्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्के स्फुलिङ्गके।

अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक्पण्डितो मतः इति।।(भाग.पुरा.११।२९।१४)

ब्राह्मण, ढेढ, चोर, वेदज्ञ सूर्य, अग्निके कण अक्रूर और क्रूर; इन सबमें जो समान दृष्टिवाला होता है, वह पण्डित ज्ञानी समदृष्टिवाला है.

ब्रह्मवादी समदृष्टिवाली है, उनको यह मान्य नहीं है, वे भी नियम्य और नियामक भाव अंगीकार करते हैं, यदि अंगीकार न करें, तो भगवान् मुक्त जीवोंके पास जाते हैं अर्थात् उनको प्राप्त होते हैं वह शास्त्र वचन झूठे हो जाते, जैसाकि कहा है 'चतुर्विधा भजन्ते माम्'(गीता) इसमें ज्ञानी भी भजन करते हैं, कहा है, ज्ञानमार्गमें भले अनियम्यता होवे, इसमें कोनसा दोष है? जिसके उत्तरमें कहा है कि 'मतदुष्टतया' ब्रह्मवादमें यों मान लेना दोषपूर्ण है 'एष सर्वेश्वर एष लोकपाल एष भूताधिपतिः' इति, यह सबके ईश्वर हैं, यह लोकपाल हैं, यह भूतोंके अधिपति हैं, यों सर्व उपनिषदोंमें भगवानका ही नियामकत्व सुना जाता है, 'एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिवि विधृते तिष्ठतः' इत्यादि श्रुतियोंमें स्पष्ट भगवानका नियामकत्व दीखता है. हे गार्गी! इस अक्षरकी आज्ञासे ही पृथ्वी और आकाश धारण किए हुए खड़े हैं, 'सा च प्रशासनात्' इस ब्रह्मसूत्रमें भी यह ही निर्णय किया है कि उनकी आज्ञासे धारण किए हैं अर्थात् भगवान् सबको अपने वशमें रखते हैं जिससे वे ही नियामक हैं, इससे भगवानका प्रशासन सब वादी मानते हैं, वह यदि जीव व्यापक होगा तो घटेगा नहीं, क्योंकि भगवन्मय न होनेका प्रसंग होगा, अतः जीव अणु नियम्य ही है, इति सिद्धान्तः।।३०।।

नियन्ता जीवसङ्घस्य हरिस्तेनाणवो मताः।

जीवा न व्यापकाः क्वापि चिन्मया ज्ञानिनां मताः।।का.२७।।

कारिकार्थः जीवोंके समूहको वशमें रखनेवाले हरि है, जिससे जीव अणु माने गए हैं, जीव कभी भी व्यापक नहीं है ज्ञानी भी उनको चिन्मय मानते हैं।।२७।।

आभासार्थः इस प्रकार भक्तिकी सिद्धिकेलिए, नियम्य और नियामक भावका निरूपण किया, जिसमें हेतु यह कहा कि जीव भगवन्मय है, यों कहनेसे यह सिद्ध होता है कि जो पदार्थ, यन्मय होता है वह उससे ही नियम्य रहता है, यों होने पर, देह, प्राण, इन्द्रिय और अन्तःकरण सहित जीवका जडांश प्रकृतिमय

होनेसे और चैतन्यांश पुरुषमय होनेसे, प्रकृति-पुरुषकी ही नियम्यता उचित है, न कि पुरुषोत्तमकी नियम्यता उचित है, इस शंकाका 'न घटत उद्भवः' श्लोकसे परिहार करते हैं.

न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयोः उभययुजा भवन्त्यसुभृतो जलबुद्बुदवत् ।
त्वयि त इमे ततो विविधनामगुणैः परमे
सरित इवार्णवे मधुनि लिल्युरशेषरसाः।।३१।।

श्लोकार्थः अजन्मा प्रकृति-पुरुषसे उत्पत्तिका होना घटता नहीं है, जीव प्रकृति-पुरुषके संयोग मात्रसे उत्पन्न होते हैं, जैसे जलके बुदबुदे जलवायुके संयोगसे बनते हैं; क्योंकि सबका कारण आप ही हैं, इससे आपमें ही ये जीव विविध नाम-गुणोंके साथ लीन रहते हैं. जैसे नदियां समुद्रमें और सर्वरस मधुमें लीन होते हैं।।३१।।

व्याख्यार्थः जिसरूपसे(वस्तुसे) जो पदार्थ उत्पन्न होता है वह पदार्थ उसका ही रूप होता है, जैसे मृत्तिकासे घट उत्पन्न होता है तो वह मृत्तिकामय कहलाता है वैसे ही जीव विस्फुलिंगन्यायसे ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं अतः वे ब्रह्ममय हैं. इसलिए उनकी(जीवोंकी) ब्रह्मात्मकता उचित ही है, देह आदि संघात तो प्रकृत्यात्मक नहीं है क्योंकि उसका प्रकृति उपादान कारण नहीं है, और पुरुषात्मक भी नहीं, कारण कि पुरुष भी उसका उपादान कारण नहीं है तथा वह संघात प्रकृति पुरुषात्मक भी नहीं है जिसका हेतु है कि वे दोनों संघातके उपादान कारण नहीं हैं, दोनों(प्रकृति-पुरुष) अज हैं जिससे दोनोंका कार्यरूपसे आविर्भाव नहीं होता है, इससे कहा है कि 'न घटत उद्भवः प्रकृतिपुरुषयोरजयोरिति' यदि इन दोनोंका कार्यरूपसे आविर्भाव नहीं होता है तो संघातकी उत्पत्ति कैसे होती है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'उभय युजा' प्रकृति-पुरुषके संयोगसे उसकी उत्पत्ति होती है परन्तु प्रकृति-पुरुष उसके उपादान कारण नहीं हैं, जैसे धान्यकी उत्पत्तिमें भूमि और जलका संयोग एक प्रकारका साधारण निमित्तकारण है, न कि उपादानकारण है, उपादानकारण तो धान्यका बीज ही है, वैसे ही यहां भी संघातका मूल उपादानकारण ब्रह्म ही है प्रकृति-पुरुषका संयोग एक प्रकारका साधारण निमित्तकारण ही है.

यदि संघात अकेले प्रकृति वा पुरुषसे उत्पन्न नहीं हो सकता है तो दोनोंके संयोगसे कैसे उत्पन्न होंगे? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'जल बुदबुदवत्'

जैसे जलमें बुदबुदा केवल जलसे वा केवल वायुसे उत्पन्न नहीं होता है बल्कि जल और वायु दोनोंके संयोगसे बुदबुदोंका जन्म होता है, वैसे ही यहां भी प्रकृति-पुरुषके संयोगसे संघातका जन्म होता है इसलिए यों मान लेनेमें किसी प्रकारकी अनुपपत्ति नहीं हैं अर्थात् उपपत्ति[२] है.

प्रकृतिसे संघात नहीं बना, यों मान लेनेसे क्या सिद्ध हुआ? जिसका उत्तर है कि इससे सिद्ध हुआ कि वह भगवद्रूप है, क्योंकि उसका उपादानकारण ब्रह्म है. कहता है कि वह यों है, यह 'त्वयित इमे' ये जो सर्व प्राणी जो दीख रहे हैं वे सब आपमें ही हैं क्योंकि उनका उपादानकारण आप ही हैं, इस प्रकार कहनेका भावार्थ यह है प्रकृति और पुरुष दोनों अजन्मा हैं, व्यापक हैं, जिससे उनमें क्रियापनका अभाव रहता है, अतः उनका संयोग नहीं होता है तो फिर उनके संयोगसे संघातकी उत्पत्तिका कहना असंगत है, जिसका उत्तर देते हैं कि, ऐसे उन दोनोंका संयोग बन नहीं सकता है, फिर भी वह हुआ, जिसका हेतु है कि, वह संयोग भगवद्रूप है अथवा भगवानने सिद्ध किया है, इस प्रकारके अद्भुतकर्म[३] करनेवाले ही, भगवान् है अतः सर्व संघातोंकी भगवदात्मता है, जिससे वे सर्व संघात भगवानमें अवसान पाते हैं अर्थात् इनमें ही पूर्ण होते हैं, न कि दूसरेमें यह ही निर्णय है.

पुनः 'विविधनामगुणै:' पदसे इसकी पुष्टि करते हैं कि यदि संघात एक ही प्रकारके नाम-गुणवाले होते तो जैसे-तैसे प्रकृति-पुरुषात्मकताकी कल्पना की जा सकती, किन्तु, यों नहीं है, बल्कि, प्रत्येकके नाम, रूप और गुण, विविध प्रकारके पृथक्-पृथक् दीखते हैं अतः इनसे जाना जा सकता है, ये भगवानसे ही हुए हैं, कारणकि, अचिन्त्य शक्तिमान् और अनन्त मूर्तिवाले भगवान् ही है.

अर्वाचीन होते हुए भी प्रकृति पुरुषमें क्यों न अनन्त शक्तिता हो? जिस पर कहते हैं कि 'परम' भगवान् सबसे उत्कृष्ट हैं अतः उनमें अनन्त शक्तिपन और अनन्त मूर्तित्व आदि विविध विरुद्ध धर्म रहते हैं, अन्य किसीमें नहीं, यों वेदादि शास्त्रोंका सिद्धान्त है और विशेष कहते हैं कि, वे ही तद्रूप होते हैं जो जिसमें लीन होते हैं, जैसे सब नदियां समुद्रमें लीन होती है, अतः वे नदियां समुद्र जलात्मक ही हैं, क्योंकि मेघों द्वारा समुद्रसे ही लाए हुए जलसे नदियां उत्पन्न होती हैं फिर, वह नदी जल समुद्रमें ही लीन हो जाता है, इसलिए उनको अर्णवात्मक कहते हैं न कि भूम्यात्मिका वा पर्वतात्मिका कहते हैं. अतः ये संघात भी सच्चिदानन्दात्मक

होनेसे सच्चिदानन्दरूप भगवानमें ही प्रतिष्ठित होनेके योग्य बनते हैं, न कि दूसरे किसी स्थान पर.

यदि विश्व भगवदात्मक हो तो भगवानमें विश्वकी ही प्रतीति होनी चाहिए, जिस जिसको भगवानका साक्षात्कार होवे, उस उसके अनुभवमें विश्वकी स्फूर्ति होनी चाहिए, यदि यों होवे तो भगवानको सृष्टि करनेकी इच्छा ही नहीं होवे. जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'मधुनि लिल्युरशेषरसाः' जैसे मधु(शहद)में सर्व पुष्पोंके रस लीन हैं, वे भी भिन्न प्रतीत नहीं होते हैं, अर्थात् यह रस इस(गुलाब) पुष्पका है वा उस पुष्प(मोगरे आदि)का है इसकी प्रतीति नहीं होती है किन्तु एकपनको वे प्राप्त हो एकसम रस देते हैं, जिसको 'मधु' कहा जाता है, वैसे भगवानमें भी सब विश्व सूक्ष्मरूपसे रहता हैं जिससे उनकी भिन्न प्रतीति नहीं होती है. अतः दर्शकोंको विश्वरूपका अनुभव भगवत्स्वरूपमें नहीं होता है बल्कि उस आनन्दमय भगवानका ही आनन्दानुभव होता है, विश्व भीतर लीन होनेसे लीलार्थ बाहर प्रकट करनेकी इच्छा होना स्वाभाविक और उचित ही है यही तात्पर्यार्थ है.

१.संघात देवतिर्यगादिकोंकी देह आदि. २.हेतु पूर्वक सिद्धि है अर्थात् योग्यता है. ३.अज होते हुए भी कार्यरूप अपना प्रादुर्भाव करना.

नाम–रूप–प्रपञ्चं हि देव–तिर्यङ्–नरात्मकम्।
कृष्णादेव समुद्भूतं लीनं तत्रैव तन्मयम्।।का.२८।।

कारिकार्थः देव, जन्तु और मनुष्यरूप एवं नामरूप सर्व जगत् कृष्णसे ही उत्पन्न हुआ है, तन्मय होनेसे उनमें ही लीन हो जाता है।।२८।।

आभासार्थ – इसी तरह यह सिद्ध किया है कि जीव और संघात दोनों अथवा प्रत्येक भगवद्रूप है, जिससे वे भगवानके वशमें रहते हैं, इसलिए जीवको अपने नियामक भगवानकी भक्ति अवश्य करनी चाहिए, तदनुसार जीव भक्ति करने लगे, तो काल उनका भक्षण करे अर्थात् उनकी बुद्धिको बिगाड़ दे, तो भजन कैसे हो ? इस शंकाको मिटानेकेलिए 'नृषु तव मायया' श्लोक कहा है.

नृषु तव मायया भ्रमम् अमीष्ववगत्य भृशं
त्वयि सुधियो–ऽभवे दधति भावम् अनुप्रभवम् ।
कथम् अनुवर्ततां भवभयं तव यद् भ्रुकुटिः
सृजति मुहुस्त्रिणेमिरभवच्छरणेषु भयम्।।३२।।

श्लोकार्थ: ये मनुष्य आपकी मायाके कारण ही आपको भूल जाते हैं, जिससे वे बार-बार नाना योनियोंमें भ्रमण करते हैं, यों जानकर जो बुद्धिमान हैं, वे श्रेष्ठबुद्धि होनेसे आपमें भाव अर्थात् रति करते हैं, उनको संसारका भय कैसे होगा? आपका भ्रुकुटिरूप काल तो उनको बार-बार भय उत्पन्न करता है, जिन्होंने आपकी शरण नहीं ली है।।३२।।

व्याख्यार्थ: भगवानने सृष्टिकी उत्पत्ति करते हुए प्रथम काल और माया बनाई. काल उनको खा जायगा, जो मायाके फंदेमें फसेंगे और जो मनुष्योंको भगवानकी मायामें फंसनेसे कालग्रस्त जानकर यह निश्चय समझते हैं कि, मायामें न फंसनेसे कालका ग्रास न बनेंगे, इसलिए मायामें न फंसनेका मार्ग भगवानका भजन ही है, अतः वे भगवानका भजन ही करते हैं, उनको कभी भी मायासे मोह सर्वथा नहीं होता है, उससे कालग्रासका अभाव भी सिद्ध है, अर्थात् काल उनका भक्षण नहीं कर सकता है जिससे वे भक्त भ्रमणसे बच जाते हैं.

जो कभी, भक्तिमार्गमें विषयोंके विद्यमान होनेसे कभी मोह हो भी जावे, तो भी कालका ग्रास न बनना पड़ेगा, जिसमें कारण देते हैं कि 'कथमनुवर्ततां भव भयं' जो आपकी शरण ले भजन करते हैं उनको 'भवभय' जन्म-मरणका भय कैसे होगा? उसमें भी हेतु देते हैं कि 'तवैव भ्रुकुटिः अभवच्छरणेषु भयं सृजति' आपका भ्रूकुटिरूप काल उनको ही भय देता है जो आपकी शरण नहीं आए हैं, अतः भक्तिमार्ग, सर्वथा कालका नाशक है.

शास्त्रमें कहे हुए कर्म करनेका अधिकार मनुष्य शरीरको ही है, क्योंकि मनुष्यके सिवाय जो योनियां(देह) हैं वे भोग देह हैं उनको कर्म करनेका अधिकार ही नहीं है, इससे ही मनुष्य शरीरके अनन्तर ही अनेक प्रकारकी योनियोंसे सम्बन्ध होता है, तात्पर्य यह है कि भोग योनियोंमें नियमित समयमें भोग भोगकर अन्तमें क्रमशः फिर मनुष्य योनि मिलती है, उसमें कर्माधिकार प्राप्त होनेसे जीव जैसा-जैसा कर्म करता है वैसी योनि प्राप्त करता है, जैसाकि कहा है 'स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं तिरश्चां पुनरस्य च' मनुष्य देह ही, स्वर्ग, मोक्ष और पशु-पक्षी तथा फिर मनुष्य देह प्राप्तिका द्वार है, इसलिए 'नृणां भ्रम' मनुष्योंका ही भ्रमण होता है यों कहा है, अतः जो बुद्धिमान हैं एवं जिन्होंने मनुष्य देह प्राप्त की है, वे समझते हैं कि यदि इस मनुष्य देहको प्राप्त करके भी प्रमत्त(मतवाले, लापरवाह) बने रहेंगे और अपना कर्तव्य (भगवद्भजन) नहीं करेंगे तो फिर कालचक्रसे हीनत्व आदि

योनियोंमें जानेसे कृतार्थ नहीं हो सकेंगे, इस झंझटसे अपना निस्तार हो इसलिए गुरुकी ही सेवा करते हैं, और वह गुरु ही अपने निस्तारकरणार्थ भगवान् हैं अथवा भगवान् ही गुरु हैं यों मान उनकी सेवाकर अपना निस्तार कराते हैं, कारणकि प्रवृत्ति करानेकी और भजन योग्य होनेकी दोनों शक्तियां उसमें ही जानी गई है.

'यो यच्छ्रद्धः स एव सः' जो जिसमें जैसी श्रद्धा रखता है वह उसकेलिए वैसा ही है, इस गीता वाक्यके अनुसार बहुत समयके बाद तद्रूपता(गुरुरूपता) प्राप्त होती है, वह(गुरु) भी यदि फिर जन्म ले तब विशेष कौन हुआ? यह शंका गुरुको भगवद्रूप न जाननेसे हुई है जिसका उत्तर देते हैं कि, 'अभव' पद देकर समझाया है कि, गुरु भगवान् ही हैं अतः उनका जन्म होता ही नहीं है, यदि गुरुको भगवान् न माना जावे तो भी वह भगवदीय तो है ही, जिससे भी उसका जन्म नहीं होता है.

कब और कितने समय तक भजन करना चाहिए, इस पर कहते है कि 'अनुप्रभवं' जबसे भगवानमें सद्बुद्धि उत्पन्न हो, उस समयसे लेकर भगवानमें सदैव भाव(प्रेम) करते ही रहना चाहिए.

काल बहिर्मुख है, अतः केवल आन्तरिक भाव होनेसे, पीड़ासे निर्वृत्त नहीं करता है, किन्तु पीड़ा देता ही रहता है, इससे ही ज्ञानी और आन्तर भक्तिवालोंको बाहर ही महान क्लेश है, भीतर तो आनन्द ही है, जैसे जड़भरतके प्रसंगमें वर्णित है, उस दुःखसे दुःखी होकर कदाचित् मोहको भी प्राप्त होवे अतः आरम्भसे भीतरकी तरह बाहर भी भजनकी अनुवृत्ति करनी चाहिए, इसी प्रकार बाह्य और भीतर दोनों प्रकारसे भगवानका अनुसरण करनेवाले सच्चे सेवक, जो कामनासे सेवा नहीं करते हैं तो उनको शिक्षार्थ ही दंड करनेवाला काल, उनको भवभय कैसे दे? उनका भक्षण कैसे करे? अर्थात् उनको काल न भवभय देता है और न भक्षण करता है, कालका भूरूपत्व पहले वर्णन किया है.

काल अल्प दण्ड करे, जिससे लौकिक भयके समान वह अल्प दण्ड भी अल्प भय देनेवाला होनेसे भजनकी सिद्धि नहीं करा सकेगा, अर्थात् भजनमें प्रवृत्ति नहीं कराएगा, इस शंकाका उत्तर देते हैं कि 'मुहुः' बार-बार अर्थात् थोड़ी-थोड़ी शिक्षा बार-बार देकर स्मरण कराता है कि अरे मनुष्य! भजनकर, काल तो देखनेमें नहीं आता है, जो देखनेमें आता है उससे ही लोक डरते हैं, इस पर कहते हैं कि 'त्रिणेमिरिति' तीन नेमीवाला काल है, १.शीत, २.आतप और

३.वर्षा, ये कालकी तीन नेमियां है, वह काल संवत्सररूपसे प्रत्यक्ष है, और उन तीन नेमियों, ठंड, धूप और वर्षासे अपना पराक्रम प्रकट करता है, जिन मनुष्योंने आपकी शरण नहीं ली है, उनको ही काल भय देता है, जैसाकि कहा है 'ये यथा मां प्रपद्यन्ते' जो मेरी शरण जिस प्रकार आते हैं मैं भी उनका वैसे ही भजन करता हूं।।३२।।

नृणां दुर्गतिम् आलोक्य ये सेवन्ते दृढव्रताः।
कृष्णं तद् भ्रुकुटिः कालो न तान् हन्ति कदाचन।।का.२९।।

कारिकार्थ: जो लोग मनुष्योंकी दुर्गति देख, निश्चय पूर्वक अनन्य होकर श्रीकृष्णका भजन करते हैं उनको भगवान् कृष्णका भ्रुकुटिरूप काल कभी हनन नहीं करता है।।२९।।

आभासार्थ: इस प्रकार प्रेमपूर्वक भजन करनेका प्रतिपादनकर, योग आदि द्वारा जो भजन किया जाता है, उस भजनसे कार्यकी सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि वह भजन योगका शेष हैं, अतः स्वतन्त्र भक्तिमार्गानुसार ही भक्ति करनी चाहिए. इस अभिप्रायसे योग पक्षको, 'विजितहृषीकवायुभिः' श्लोकसे गौण कहते हैं अर्थात् उससे वह फल नहीं मिलता है, जो स्वतन्त्र भक्तिसे प्राप्त होता है.

विजित–हृषीक–वायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुम् अतिलोलम् उपायखिदः ।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिजइवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ।।३३।।

श्लोकार्थ: जो मनुष्य इन्द्रिय और वायुको स्वाधीनकर अति चञ्चल और जो काबूमें नहीं है, ऐसे मनरूप घोड़ेको रोकनेकेलिए प्रयत्न करते हैं, वे साधन करते–करते ही थक जाते हैं; क्योंकि उन साधनोंमें बहुत कष्ट है. हे अज! वे कष्ट पाते हुए क्यों थक जाते हैं? जिसका कारण यह है कि वे गुरुचरणोंका समाश्रय नहीं लेते हैं, जिससे वे सैकडों व्यसनोंमें ऐसे फंसे रहते हैं, जैसे व्यापारी बिना कर्णधारवाली नौकामें बैठकर समुद्रमें गोते खाते रहते हैं।।३३।।

व्याख्यार्थ: पूर्व श्लोकमें गुरु द्वारा भजन करना चाहिए, यह निरूपण किया. वह भजन ही फल देनेवाला होता है, योग सर्वथा किसीसे भी सिद्ध नहीं हो सकता है, कारण कि योगमें स्वतः प्रवृत्त मन अर्थात् गुरु आश्रय बिना प्रवृत्त मन,

उस(योग सिद्धि)में प्रतिबन्धक होता है दूसरा कारण यह है कि मन असत् अर्थात् दोषपूर्ण चंचल है, जिससे वह स्वतः कुछ नहीं कर सकता है. यदि उस पर ईश्वर और गुरुकी कृपा हो जावे, जिससे शक्ति प्राप्त हो, तब कार्य सिद्धि कर सके, यदि ईश्वर और गुरुकृपासे शक्ति प्राप्तकर कार्य(फल) सिद्धि हो सकती है, तो फिर योगकी क्या आवश्यकता है? साधन(भजन एवं ईश्वर तथा गुरुकृपा)से ही कृतार्थता प्राप्त हो जाती है अतः लौकिकोंकी तरह योगी भी संसारमें ही परिभ्रमण करते हैं, कृतार्थ नहीं होते हैं, यों इस श्लोकमें निरूपण किया जाता है.

जब यों है, तो योगमार्ग किस लिए? आचार्यश्री यह शंका स्वयं उत्पन्नकर उसका उत्तर निम्न कारिकाओंमें देते हैं–

अणिमादिसुखार्था ये ये चात्यन्त बहिर्मुखाः।
क्लेशकार्यरता ये च तदर्थं योग उच्यते।।का.३०।।
परम्परासाधनं वा फलार्थं वा निरूपितः।
योगः साक्षाद् न मोक्षाय निषेधाद् व्याससूत्रतः।।का.३१।।
'एतेन योगः प्रत्युक्तः' प्रशंसार्था फलश्रुतिः।'(ब्रह्मसूत्र २।१।३)

कारिकार्थ: जिनकी इच्छा है कि हम अणिमा आदि सिद्धियोंके सुखका स्वाद लेवें और जो भगवानसे सर्वथा बहिर्मुख हैं एवं जो क्लेशकार्योंमें सुख मानते हैं, ऐसोंकेलिए योग कहा है।।३०।।

अणिमादि सिद्धिकी इच्छावालोंकेलिए यह योग परंपरासे साधन है, और सिद्धिरूप फलकेलिए योगका निरूपण है. योग साक्षात् मोक्ष फल देनेवाला नहीं है किन्तु उससे किञ्चित् सुखकी प्राप्ति हो जाती है, क्योंकि व्यासजीने अपने ब्रह्मसूत्रोंमें योगसे मोक्ष प्राप्तिका निषेध किया है, जैसेकि 'एतेन योगः प्रत्युक्तः' इससे योगका उत्तर दिया, इस सूत्रमें मोक्षकी प्राप्तिका निषेध किया है।।३१।।

व्याख्यार्थ: इसलिए इस श्लोकमें स्वतन्त्र योगसे मोक्ष फल नहीं मिलता है यह कहा जाता है.

मनको वशीभूत करनेकेलिए, इन्द्रिय और वायुको प्रथम जीत लेते हैं, जिससे यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार ये पांच अंग सिद्ध होते हैं, विशेष नहीं, यदि ये पांच भी सिद्ध न होवे तो, योगाभ्याससे प्रवृत्ति करनेवालोंके मनमें शंका उत्पन्न हो जावे, जिससे कोई भी योगमें प्रवृत्त न होवे. मन वशमें नहीं होता है जिसका कारण कहते हैं कि 'अदान्त' मन स्वभावसे ही ऐसा है जो,

किसीके काबूमें नहीं रहता है, यों कहकर यह सूचित किया है कि शास्त्रानुसार प्रत्येक जीवकी इन्द्रियां और मन पृथक्-पृथक् स्वभाववाला है अर्थात् किसीका तामस, किसीका राजस और किसीका सात्विक है, अत: जिस जीवका मन सात्विक है वह मन दान्त होता है, ऐसे जीवोंका योग, सिद्ध भी हो जावे, और जो सात्विक नहीं उनका मन अदान्त होनेसे तुरंग(घोड़े)के समान है, ऐसे मनरूपी अश्व पर आरूढ (चढ़कर) जीव विषयाभिलाषी होता है, जिससे उस जीवका वह मन रोकना अशक्य ही होता है, और स्वयं(खुद) तो इस जगतमें लोकानुसारसे ही रह, वश करनेकेलिए इच्छा करता है, किन्तु जैसे तुरंग कभी वश भी हो जाता है, वैसे वह वशमें नहीं आता है क्योंकि 'अतिलोलं' तुरंगसे भी विशेष असीम चंजल है, इससे प्रयत्न करते हुए भी वशमें आना अशक्य है, यों आप कैसे कहते हो? गीता 'यतो यतो निःसरितमनश्चंचलमस्थिरम्' श्लोकसे चंजल मनको वश करनेका साधन बताती है, इस पर कहते हैं कि गीतादि शास्त्र साधन बताते है यह सत्य है किन्तु 'उपायखिदः' उन साधनोंके करनेमें ही खेदको प्राप्त होते हैं, इस कारणसे ही योगशास्त्रमें प्रथम पांच अंग यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, बताए हैं वे पांच साधन भी मनकी अति चंचलताके कारण सिद्ध नहीं हो सकते हैं, जब तक मन विक्षेपोंसे युक्त है तब तक आसन वा यमादिक सिद्ध नहीं हो सकते हैं अतः मन सर्वथा अदान्त हो तब तक योगका आरम्भ ही नहीं करना चाहिए, यदि कहो कि शीघ्र न होगा विशेष समय लगेगा तो यों विशेष समय लगाकर यमादि साधनोंका अनुष्ठान करने पर चित्तकी शुद्धि हो जायगी ऐसा भी हो नहीं सकता है, क्योंकि 'व्यसन शतान्विता' प्राणी मात्रके विक्षिप्त मनमें प्रतिक्षण अनेक व्यसन उत्पन्न होते ही रहते हैं जिससे विशेष समय साधनानुष्ठान बन नहीं सकता है, यदि यों है तो प्रथम व्यसनोंको निकालनेके जो साधन हैं वे करने चाहिए, इस पर कहते हैं कि 'समपहाय गुरोश्चरणं' योगाभ्यास करनेवाले प्रथम तो गुरुचरणोंका आश्रय त्याग, योगमें प्रवृत्त होते हैं, इसलिए उनके व्यसन मिटते नहीं, अतः समझ लेना चाहिए कि, व्यसनादिके निराकरण केलिए और कार्य सिद्ध्यर्थ गुरु ही एक परमोत्तम साधन है, जैसे 'एतत्सर्व गुरौ भक्तया' श्रीमद्भागवतके श्लोकमें कहा है, तात्पर्य यह है, गुरुचरणाश्रयरूप भक्ति भी साधन समझकर नहीं करनी क्योंकि उस(गुरुसेवा)में ही कृतार्थता हो जाती है, अतः योग व्यर्थ है, कहनेका यों भाव है. हे अज! वे दोनों तरफसे भ्रष्ट हो जाते हैं

अर्थात् गुरुशरण व भक्ति नहीं करते जिससे पूर्णानन्दकी प्राप्ति नहीं पाते हैं और योगके क्लिष्ट साधनोंसे खेद पाकर आगे नहीं बढ सकते है, जिससे उनकी दशा बिना नाविकवाली नौकामें बैठकर समुद्रमें यात्रा(मुसाफरी) करनेवाले बनियोंकी सी हो जाती है, अर्थात् वे बनिये कार्य सिद्ध न होनेसे घरको भी लोट नहीं सकते है तथा समुद्र होनेसे महान् क्लेश भोगते हैं. वैसे योगाभ्यास करते हुए शरीरको कृश करते हुए क्लेशको ही प्राप्त होते हैं इत्यर्थः यही सार है।।३३।।

अदान्ते मनसि ज्ञाते योगार्थं न यतेद् बुधः।
गुरुसेवापरो भूत्वा भक्तिमेव सदाभ्यसेत्।।का.३२।।

कारिकार्थ: मन वश होनेवाला नहीं है यों जानकर बुद्धिमानको योगकेलिए प्रयत्न नहीं करना चाहिए किन्तु गुरुसेवा परायण होकर सदा भक्ति ही करनी चाहिए।।३२।।

आभासार्थ : भक्तिमार्गके सिवाय जो भजन करनेके नमूने हैं, उनका निराकरणकर, अब श्रुतियां कहती है कि मोहके नाश होने और वैराग्यके उदय हुए बिना भक्ति नहीं हो सकेगी, अतः 'स्वजन सुतात्म' श्लोकमें वैराग्यका उपदेश देती है.

स्वजन–सुतात्म–दार–धन–धाम–धरा–ऽसुरथैः
त्वयि सति किं नृणां श्रयत आत्मनि सर्वरसे ।
इति सदजानतां मिथुनतो रतये चरतां
सुखयति कोऽन्विह स्वविहते सुनिरस्तभगे।।३४।।

श्लोकार्थ: जब शरणागत पुरुषको सर्व रसरूप आप आत्मरूपसे स्फुरित होते हैं, तब ऐसे आश्रित मनुष्योंको स्वजन, पुत्र, देह, स्त्री, धन, गृह, धरा, आदि प्राणरूप वाहकोंसे कौन सा प्रयोजन है? कुछ भी नहीं. इस प्रकारकी जो सत् वस्तु है, उसको जो नहीं जानते हैं और विषय सुखकेलिए स्त्रीको साथमें लेकर जो फिरते रहते हैं, उनको स्वतः ही टूट–फूट गए और उत्तम सामग्री रहित गृहमें कौन सुख देनेवाले हैं?।।३४।।

व्याख्यार्थ: अपने आवश्यक प्रयोजनके वास्ते स्वसम्बन्धियोंकी अपेक्षा रहती ही है, उनकी अपेक्षाका परित्याग तब तक हो नहीं सकता है, जब तक अपनी आत्मस्वरूपमें स्थिति न हो जावे, अतः ऐसे ज्ञान होनेके अनन्तर ही वैराग्य हो, यह पक्ष चालू प्रसंगमें उपयोगी नहीं है, अर्थात् भगवानकी भक्तिमें तो प्रथम

वैराग्यकी आवश्यकता है, अतः प्रयोजन कौनसा है इसका निर्णय करके ही फिर वह प्रयोजन कौनसे साधनसे सिद्ध होगा, यों जानना चाहिए, इसलिए श्रुति यह सिद्ध करती है कि जो पहले स्वजन आदि साधन प्राप्त हैं वे व्यर्थ हैं. प्रत्येक प्रकारके लोकमें प्राप्त साधन नाशवान् हैं इससे उन नाशवान् साधनोंसे सिद्ध प्रयोजन भी लौकिक होनेसे नाशवान् होगा, वे लौकिक साधन जब निवृत्त हो जायगे तब भगवानके द्वारा प्राप्त प्रयोजन अलौकिक ही होगा, जिससे इस प्रकार हुआ वैराग्य भी मुख्य वैराग्यके समान ही है.

स्वजनोंका, इसलोकमें उपयोग है, इसलोककी प्रतिष्ठा आदि उनसे ही सिद्ध होती है, पुत्रका परलोककेलिए उपयोग है, देहका तो परलोकके साधक कर्मोंके करनेकेलिए तथा इसलोकके सुख भोगनेकेलिए उपयोग है, स्त्रियोंका उपयोग, बाधक कामके कष्टको मिटानेकेलिए तथा सुख भोगकेलिए है. धन, गृह तथा पृथ्वी इन तीनोंका उपयोग सुख और स्थिति सहित निर्वाहकेलिए है, ये सर्व साधन प्राणरूप बने हैं क्योंकि वे न होवें तो प्राण रहे ही नहीं, यदि 'असुरथैः'के स्थान पर 'अश्वरथैः' पाठ लिया जावे तो उसका अर्थ यों होगा कि ये कहे हुए साधन, गति और सुखके साधन है, इसलिए पहले कहे हुए सात अश्वरूप होनेसे गतिके साधन हैं और आठवां रथरूप होनेसे सुखदाता है, ये आठ ही मिलकर जितना उपकार करेंगे, उससे कोटि गुणा उपकार भगवान् करते हैं, यदि सुखकी अपेक्षा है तो भगवान् सुख देते हैं और यदि सुखके साधनोंकी आवश्यकता है तो पहले अलौकिक साधनोंका दान करते हैं. 'नृणां' पद देकर यह सूचित किया है कि इनमें कामना और विवेक दोनों हैं, यदि कदाचित् भगवान् यों सुख अथवा साधनोंका दान न करें तो फिर कौनसी गति होगी? इस शंकाका परिहार करनेकेलिए कहते हैं कि 'श्रयत आत्मनि' उनका जो आश्रय करता है उसका आप आत्मा बन जाते हैं, जैसे आप अपना हित करता है वैसे ही भगवान् भी आत्मा बननेसे हित करते हैं.

यदि भगवान् भी विषयोंको देवें तो फिर उपस्थित विषयोंके त्यागका क्या कारण है? यदि यों कहो तो उत्तर यह है कि, 'सर्वरसे' सब कीर्ति आदि रस भगवानमें ही हैं, और ये रस भगवानमें प्रकट ही है, मधुकी तरह अव्यक्त नहीं है, इस विषयमें क्या करना उचित है? भगवानमें विद्यमान रसोंका उपभोग करना चाहिए, अथवा अपनेसे प्राप्त रसोंका भोग करना चाहिए?

यदि कहो कि भजन करना आवश्यक है, इसलिए लाघवताके(सुविधा) वास्ते स्त्री आदिके साथ रहते हुए भी भगवद्भजन करना चाहिए, न कि सबका त्यागकर भजन करना उचित है, इस पर कहते हैं कि 'इति सद जानतां' सत्य नहीं जाननेवालोंका यों कहना है, यहां जो पहले भजनके प्रकार कहे हैं उनमें भगवान् और स्वजनोंकी समानता नहीं बताई है, किन्तु स्वजन तो दुःख देनेवालोंको जीव भ्रमसे ही सुख देनेवाले मान बैठा है, वास्तवमें उनसे प्राप्त सुख नहीं है बल्कि सुखाभास है, भगवान् तो जो आनन्द देते हैं वह दोषरहित सदानन्द है, जब दोनोंमें इस प्रकार विलक्षणताका ज्ञान होता है, तब फिर संदेह उत्पन्न ही नहीं होता है, अतः विलक्षणता समझानेकेलिए सुतादिके स्वरूपका निरूपण करते हैं, इस प्रकार जो परमार्थतत्त्वको नहीं जानते हैं और भगवान् और स्वजन आदिका तारतम्य नहीं समझते हैं तथा ग्राम्य सुखकेलिए सर्वत्र स्त्रीके साथ घूमते रहते हैं. कैसे घूमते हैं? वह बताते हैं कि जैसे कोई पथिक अपने बैठनेकेलिए लिया हुआ मंज(बडी खाट या चारपाई) सिर पर घरके फिरता है, वैसे यह भी क्षणमात्र सुखकेलिए शृंखला(सांकल या जंजीर)में बन्धे हुएकी तरह स्त्रीके साथ फिरते रहते हैं, इसी तरह अतीव दुःखियोंको कौनसा पदार्थ सुख देगा, अत्यन्त पीड़ितको कोई भी विषय, सुख नहीं दे सकते हैं, सगे सम्बन्धी सुख देंगे, ऐसी सुख जनित मात्र भी दूर है, अर्थात् स्वजनोंसे तो सुखकी आशा करनी भी व्यर्थ है, जिनका सुख प्राप्तिकेलिए अन्य साधनों पर आश्रय है उनको भगवान् भी सुख नहीं देते है, 'नु' यह पद वितर्कमें दिया है, अर्थात् श्रुतियां कहती हैं कि हमने सर्वत्र जांच कर ली है, किन्तु कोई कहीं भी ऐसे पुरुषको सुख देनेवाला नहीं मिला, कोई सुख देगा ऐसी शंका(विचार) ही नहीं करनी, क्योंकि इस जगतमें टूटे-फूटे, उत्तम पदार्थोंसे रहित शून्य और अभेध्य पदार्थ जिसमें पड़े हैं ऐसे घरमें रहनेवालेको सुख देनेकेलिए वहां नहीं जाता है, वैराग्यकी अवस्था कहनेका तात्पर्य यह है कि, भगवद्भक्त जगतमें रहकर भी यदि सेवा करता है तो उसकेलिए जगत् भी वैकुण्ठ है, क्योंकि उसका वास-स्थान वैराग्य होनेसे उसको सर्वत्र वैकुण्ठ ही दीखता है.

पुत्रादीन् संपरित्यज्य कृष्णः सेव्यो न तैः सह।
तत् सुखं भगवान् दाता ते तु क्लिष्टेऽतिदुःखदाः।।का.३३।।

कारिकार्थ: पुत्र आदिका त्यागकर(उनसे मोह-ममता निकालकर उनके

पालन–सुख आदिकी चिंता छोड़ दे और यों निश्चय रखे कि इनको भगवान् ही सुख देंगे) श्रीकृष्णकी सेवा करनी चाहिए, उनको सुख भगवान् देंगे. वे दुःखके समयमें विशेष पीड़ाकारक होते हैं।।३३।।

आभासार्थ – इस प्रकार सर्वका त्यागकर भगवानका भजन करना चाहिए, यों निरूपण किया. उस भजनमें पहले क्या करना चाहिए? ऐसी आकांक्षा होने पर उनका क्रम निरूपण करती हुई श्रुतियां 'भुवि पुरुपुण्य' श्लोक कहती है.

भुवि पुरु–पुण्य–तीर्थ–सदनान्यृषयो विमदाः
त उत भवत्पदाम्बुज–ह्रदो–ऽघभिदङ्घ्रि–जलाः ।
दधति सकृन् मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे
न पुनरुपासते पुरुषसार–हरावसथान्।।३५।।

श्लोकार्थः जिनका चरणजल पापोंको नाश करनेवाला है, भगवानके ऐसे चरणकमल जिनके हृदयमें विराजमान है, ऐसे मदरहित ऋषि बड़े पुण्यवाले जो गंगा, कुरुक्षेत्रादि तीर्थ हैं, उनको और गुरुओंके गृहोंको ही सेवते हैं, ऐसे जिन्होंने नित्य सुखरूप आपमें एकबार भी मन लगा दिया है, वे फिर विवेकादि हरण करनेवाले गृहोंमें कभी रहना नहीं चाहते हैं।।३५।।

व्याख्यार्थः भगवानके भजन करनेके उत्सुकोंको पहले भूमिकी शरण लेनी चाहिए; क्योंकि भूमि भगवानकी चरणरूपा है, अतः खाट पर न सोकर भूमि पर ही सोना चाहिए और पैरोंमें खड़ाऊ आदि भी नहीं पहननी चाहिए अर्थात् नंगे पांवोंसे अटन करना चाहिए, यों करनेसे सदैव भूमिसे ही सम्बन्ध बना रहेगा और इससे यह भी सूचित किया कि सर्व पदार्थोंके भोगका त्याग करो पश्चात् भगवच्चरणारविन्दकी विशेष स्फूति होवे इसलिए तीर्थोंका आश्रय करना उचित है. तीर्थोंमें मुख्य श्रीगंगाजी है, कारण कि वह भगवानके चरणारविन्दमें विराजती है, इसलिए गंगाजीके तट पर भगवच्चरणारविन्दकी स्फूति होती है. यह कार्य आधिदैविक[१] और आवेशपक्ष[२] दोनोंमें प्रकट है.

भूमिका आश्रय करते हुए भी विशेषमें भूमि पर भी बहुत पुण्यवाले कुरुक्षेत्र आदि तीर्थ सेव्य हैं. वे केवल तीर्थ समझकर सेव्य नहीं है, किन्तु वे गुरुरूप भी हैं, इसलिए भी सेव्य हैं. ये कुरुक्षेत्र आदि पृथ्वी पर गुरुओंके गृह है; क्योंकि वहां रहनेसे हृदयका अज्ञान नष्ट हो जाता है, जिससे भी वे अवश्य

सेवनीय हैं अथवा जैसे तीर्थ सेव्य हैं, वैसे ही गुरुओंके गृह भी सेव्य हैं, वे भी पृथ्वी पर ही हैं. वे गुरु कौन हैं? जिस पर कहते हैं कि जो मन्त्रद्रष्टा हैं, वे ऋषि हैं. वे ऋषि मन्त्रोंमें जो उद्धार करनेका अलौकिक प्रकार बताया गया है, उस प्रकारको जानते हैं, अतः उनके पास जाकर मन्त्रादिमें कहा हुआ अलौकिक भगवद्भजनका साधन सीखना चाहिए.

उनमें कौनसी विशेषता है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'विमदाः' वे अहंकार रहित होनेसे 'स्व' और 'पर' भेदसे दूर हैं, जिससे वे ज्ञानी हैं. यह भी सूचित किया है कि यदि केवल मदाभाव ही उत्तमताका लक्षण है, तो सात्विक कर्म करनेवाले अथवा अन्य देवोंके उपासक हैं, वे भी सेव्य समझने चाहिए? इसके उत्तरमें कहते हैं कि वे केवल निरभिमानी ही नहीं, किन्तु वे उस गुणके साथ आप(प्रभु)के चरण कमलोंको हृदयमें धारण करनेवाले हैं, जिससे उनका भीतर और बाहरका माहात्म्य बताया है. भीतर उनके हृदयमें भक्तिमार्गके अनुसार भगवान् विराजते हैं और बाहर वे भगवानकी आज्ञानुसारी रहते हैं. आज्ञा पालन कैसे करते हैं? यह निम्न कारिकामें कहते हैं,

१.गंगाजीके तट पर भक्तिसे किसी कालमें देवता, मूर्तिरूपसे दर्शन देती है, यह प्रत्यक्ष दर्शन 'आधिदैविक पक्ष' है. भगीरथको भक्तिसे ही गंगाजीने स्वरूपसे दर्शन दिया था, वह आधिदैविक गंगाका स्वरूप भगवद्रूप है.–'लेखाशय'

२.श्रीकृष्णके चरणारविन्दकी रज बाहुल्यसे गंगाजल श्रीकृष्णावेशवाला है, जिससे वह तीर्थ कहलाता है, इसलिए श्लोकमें 'तीर्थ' पद दो बार(१.पुरुपुण्य तीर्थ और २.तीर्थ सदनानि) लेना चाहिए.–'लेख'.

सर्वलोकोपकारार्थं कृष्णेन सहितास्तु ते।
परिभ्रमन्ति लोकानां निस्ताराय महाशयाः।।का.३४।।

कारिकार्थ: वे महाशय समस्त लोगोंके उपकार करनेकेलिए और उनको मोक्ष देनेकेलिए श्रीकृष्णके साथ परिभ्रमण करते हैं.

व्याख्यार्थ: अतएव पापोंके नाशकारी अपने चरणजलसे सबके पापोंको धो डालते हैं; क्योंकि वे पापक्षय करनेका अलौकिक प्रकार जानते हैं और उनके उपदेशसे उनके हृदयमें स्थित भगवच्चरणारविन्द उपदेश्यके अन्तःकरणमें आ जाते हैं यह भी सूचित किया.

उन(ऋषियों)को सेवा करते हुए जब भगवान् हृदयमें पधार जावें, अनन्तर यदि शीघ्र देहका पात हो जाय, तो कोई चिन्ता नहीं है.

कदाचित् देहपातमें विलम्ब होनेसे काल आदि द्वारा बुद्धिका नाश हो जाय, तो गृहासक्ति हो जायगी, जिससे किया हुआ सर्व भजन वृथा हो जायगा? इस शंकाका निवारण करते हैं कि जिन्होंने गुरु उपदेशसे आपमें एकबार भी मन लगा दिया है, जिससे आपमें स्नेह हो गया है, स्नेहानन्तर आसक्ति हो गई है. आसक्ति होनेसे भगवानमें चित्त प्रवण हो गया है, वैसे फिर कभी भी गृहका आश्रय नहीं करते हैं. जैसे कामीजनोंका यदि किसी स्त्री विशेषमें एकबार भी चित्त आसक्त हो जाता है, तो वे कामी उस स्त्रीसे कामोपभोगका अनुभव किए बिना उसे नहीं छोड़ते हैं, वैसे ही भगवानमें जिनका मन एकबार भी आसक्त हो गया है, वे उनका त्यागकर गृहमें आसक्त नहीं हो सकते हैं. जिन्होंने मनमें कभी भगवानका ध्यान नहीं किया है वा अनुभव नहीं किया है, वे कदाचित् घरका सेवन कर भी लें किन्तु जिन्होंने प्रभुका आनन्द लिया है, वे कभी भी घरमें रहना नहीं चाहते हैं.

जो भगवानके रसको प्राप्तकर कृतार्थ हो गया है, वह यदि गृहमें आकर भी भगवानसे प्रेम नहीं छोड़ता है. ऐसी अवस्थामें गृहमें आकर रहनेमें कौनसा दोष है? इस पर कहते हैं कि 'गृह' विवेकधैर्यादि जो भक्ति करनेकी अवस्थामें सिद्ध हुए थे, उन सबको हर लेते हैं, अतः गृहमें किसी भी अवस्थावालेको नहीं रहना चाहिए.

परिभ्रमन् तीर्थ–निष्ठो गुरु–लब्ध–हरि–स्मृतिः।
न सेवते गृहान् दुष्टान् सद्धर्मात्यन्तनाशकान्।।३५।।३५।।

कारिकार्थ: जो भक्त तीर्थोंमें निष्ठावाला है वह सदैव पुण्य स्थानोंमें भ्रमण करता रहता है. गुरुसे जिनको हरिकी स्मृतिका ज्ञान प्राप्त हो गया है, वैसा भक्त सद्धर्मका अत्यन्त नाश करनेवाले दुष्ट गृहोंका सेवन नहीं करता है।।३५।।

आभासार्थ: यों सर्व प्रकारसे भगवानका ही भजन करना चाहिए यह निरूपण किया और भक्तिमार्गानुसार उसको अच्छी तरह स्थिर किया, किसका भजन करना चाहिए? इसका जो निर्णय करानेका प्रयत्न करते हैं, उनकेलिए कहते हैं कि सच्चिदानन्द भगवान् ही सेव्य है, किन्तु लोकमें सच्चिदानन्द धर्म, एक ही पदार्थमें कहीं भी नहीं दीखते हैं, इसलिए तो क्या कहे, किन्तु एक–एक धर्म कहीं(किसी पदार्थमें) भी दृष्टिगोचर नहीं होता है, जिसकेलिए छ श्लोकोंसे स्पष्टता करते हैं, दो–दो श्लोकसे एक–एक धर्मका वर्णन करते हैं, जड़में सत्व

धर्म नहीं है अर्थात् जड़में सत्त्वधर्म तिरोहित है जिससे वह(जड) 'असत्' कहलाता है, चेतनमें(चित्पन) यानि चित्त्वधर्म नहीं है, अर्थात् ज्ञान स्वरूप जीव होते हुए भी उसका ज्ञान धर्म तिरोहित हो जानेसे वह(जीव) अज्ञ कहलाता है, स्वर्ग आदिमें आनन्दत्व नहीं है यानि 'धर्मरूप' आनन्द वहां(स्वर्गादिमें) नहीं है, जिससे वहां भी ईर्ष्या आदि रहते हैं, अतः वे सेव्य नहीं है, इसलिए इनके(जड, जीव और स्वर्गादिके) सत्व आदिका निराकरण करते हैं, प्रथम दो श्लोकोंसे जगतमें सत्वका निराकरण करते हैं, यों जगतमें सत्वका निराकरण न किया जाए तो भगवान् ही सत् हैं, यह अर्थ सिद्ध न हो सके, जगतमें जो सत्व है वह गौण है गौण सत्व भजनीयके निर्धारकेलिए प्रयोजक नहीं है, उस गौण सत्वका, ज्ञानकेलिए और दोषाभावकेलिए उपयोग है, यह पहले ही बताया गया है कि असतकी सेवासे नाश होता है और सतकी सेवासे कार्यकी सिद्धि होती है, यदि जगतमें भी पूर्ण मुख्य सत्व होवे तो वह(जगत्) भी सेव्य हो जाना चाहिए और उसके भजनमें कोई दोष नहीं होना चाहिए, इसलिए जगतका सत्व अवश्य निराकरण करना चाहिए, इस विषयमें जो वादी जगतमें सत्व कहते हैं उनके मतका प्रश्नोत्तररीतिसे (वादी–प्रतिवादी बनकर) खण्डन करना चाहिए, इस विषयमें यों संशय है, जिसका वर्णन 'सत्' श्लोकमें किया है.

सत इदम् उत्थितं सदिति चेद् ननु तर्कहतं
व्यभिचरति क्व च क्व च मृषा न तथोभययुक् ।
व्यवहृतये विकल्प इषितो–ऽन्धपरम्परया
भ्रमयति भारती त उरुवृत्तिभिरुक्थजडान् ।।३६।।

श्लोकार्थ: यदि कहो कि यह जगत् सत्से उत्पन्न हुआ है, अतः 'सत्' है, तो यों(सत्) भी नहीं है; क्योंकि तर्कसे यों सिद्ध नहीं हो सकता है और कहीं व्यभिचारी हो जाता है एवं किसी स्थल पर झूठा भी होता है, यदि कहो कि सदसदात्मक जगत् है, तो वैसा भी नहीं है. यह कल्पना व्यवहारकेलिए अन्ध परम्परासे मानी गई है. आपकी यह वेदवाणी नानावृत्तियोंसे कर्मासक्तोकों भ्रममें डालती है।।३६।।

व्याख्यार्थ: इस विषयमें जो संशय है, वह कहते हैं, कि इस जगतको जो आप सद् कहते हैं, वह अपनी प्रतीतिके अनुसार कहते हो, वा उसका कोई निर्णायक कारण है अथवा इसमें कोई प्रमाण है? इस प्रकार शंकाकर,

शंकाओंका निराकरण करते हुए इस सिद्धान्तको असत् सिद्ध करते हैं–

इस जगतके सत्में अनुमान कारण है, इस पक्षका पहले निराकरण करते हैं. इसकी सत्त्व सिद्धिमें अनुमान यह है कि यह 'सत्'से उत्पन्न हुआ है, इसलिए 'सत्' है क्योंकि जो पदार्थ जिससे उत्पन्न होता वह वैसा ही होता है, जैसे सुवर्णसे उत्पन्न कुण्डल सोना ही है, वैसे ब्रह्मसे उत्पन्न जगत् 'सत्' ही है, और 'कथमसतः सज्जायेत' इस श्रुतिमें कहा है कि 'असत्से सत् कैसे उत्पन्न होगा? अतः जब कारण सत् है तब कार्य भी सत् है, सत् कार्य असत्से उत्पन्न नहीं होगा?

इस सिद्धान्तका खण्डन करते हुए, इसके विरुद्ध जो तर्क और प्रमाण है वे देते हैं, क्योंकि दूषण(तर्क)में दूषण(तर्क) ही प्रमाण कहा जाता है, 'नु' पद वितर्कमें दिया है, इससे कहा है कि आपके कहे हुए पक्षमें तर्कका बाध है, अर्थात् वह तर्कसे सिद्ध न होनेसे झूठा है, तर्कसे ही शंकाका निवारण होता है. इससे पूर्वपक्षीने भी व्याप्ति बलवाले तर्कसे ही अपने सिद्धान्तका निर्णय किया है, इसलिए ही हम भी पूर्वपक्षीका यह सिद्धान्त तर्कसे खण्डन करते हैं. कारणकि कांटा कांटेसे निकाला जाता है, वास्तवमें तो शब्द प्रमाणसे ही जो सिद्धान्त सिद्ध होता है वही सिद्धान्त सिद्धान्त है यों हम मानते हैं.

आप जगतमें जो सत्त्व सिद्ध करते हैं वह सत्त्व, जो कारणमें है वह कार्यमें आता है? अथवा आरम्भ न्यायानुसार कार्यमें अन्य सत्त्व उत्पन होता है? इन दोनोंमें पहला पक्ष अर्थात् कारणका सत्त्व कार्यमें आता है वह युक्त नहीं है क्योंकि वह तर्कसे सिद्ध नहीं हो सकता है अतः झूठा है, जो कारणका सत्त्व कार्यमें आता है यों माना जायगा तो कारण असत् हो जायगा, कारण रहेगा नहीं, इस प्रकार अपने नाशकी आशंका होनेसे कारण, कार्यको ही उत्पन्न करना न चाहेगा, अतः अपने नाश होनेकी शंकासे भगवान् जगत् भी न करें.

यदि कहो कि जगत् तो प्रत्यक्ष 'सत्' दीखनेमें आ रहा है, तो तर्ककी क्या आवश्यकता है? इस पर कहते हैं कि कारणमें रहा हुआ सत्व लक्षणवाला गुण, कार्यमें आया है ऐसा ज्ञान, कभी भी अपनेको नहीं होता है, इससे बहुत तर्कोंसे असत् होनेके कारण, कारणमें रहा हुआ सत्व कार्यमें नहीं आता है. अतः यह प्रथमपक्ष झूठा है.

दूसरापक्ष कार्यमें दूसरा(कारणका नहीं) सत्त्व उत्पन्न होता है यह भी

झूठा है, क्योंकि व्यभिचारीपन[१] होनेसे सत्(श्रेष्ठ) अंग राजासे असत्(दुष्ट) वेन उत्पन्न हुआ, यो भी नहीं कहना कि दुष्ट अंश संघातमें था इसलिए वेन दुष्ट हुआ, यदि यों हो तो कार्य(देह) ही असत्(दोषयुक्त) हो न कि स्वभाव आदि भी दोषपूर्ण हो, यदि कहो कि वीर्यमें दोष था. यदि यो माना जावे तो दुष्ट वेनसे पृथुका प्रादुर्भाव न होता, अतः कार्य-कारणमें विलक्षणता होनेसे कारणसे सत्त्वसे कार्यमें सत्व होगा ही यह नियम नहीं है,

कारण मात्र कार्यमें सत्त्व उत्पन्न करते हैं यों हम नहीं कहते हैं किन्तु समवायकारण ही सत्त्व उत्पन्न करता है, बीज तो निमित्तकारण है, इसलिए योनिदोषसे वा स्वभावदोषसे वेन वैसा हुआ, बीज गुणवान होते हुए भी योनि आदिके बलवान् दोषोंसे तिरोहित हो गया, अतः बीजका गुण वेनमें न आाया, यदि कहो कि समवायिकारण और उसके अवयव पृथक्-पृथक् हैं इसलिए व्यभिचार नहीं इस पर कहते हैं कि 'क्वच मृषा' कहीं झूठा भी होता है, तात्पर्य यह है कि पूर्वपक्षोंका व्यभिचारदोष यों भी मिट नहीं सकता है, इसकी सिद्धिकेलिए दृष्टान्त देते हैं, सीपीसे, भ्रान्त पुरुषकी दृष्टिमें रजत(चांदी) उत्पन्न होती है, सीपी सत्य होते हुए भी उत्पन्न कार्यरूप चांदी झूठी है, उस असत् रूप चांदीका आधार आश्रय सीपी है इसलिए 'सीपी' चांदीका समवायिकारण है, यो व्यभिचार सिद्ध होता है.

सिद्धान्तीने उपर्युक्त दूषण देकर व्यभिचार सिद्ध किया, जिसका अब पूर्वपक्षी निराकरणकर अपने पक्षका समर्थन करता है कि केवल सीपी, रजतका उपादान कारण नहीं है, किन्तु चाकचक्यादि दोष सहित सीपी उपादान है, अर्थात् सीपी और चाकचक्यादि दोष दोनों उपादान हैं, इसलिए केवल सीपीसे चांदी उत्पन्न नहीं होती है, यो होने पर भी चांदी आधी सत्य होनी चाहिए. सर्वथा असत्य न मानी जावे, पूर्वपक्षीका यों आधा मत स्वीकारकर उसमें जो दोष होते हैं, वे दिखाते हैं, श्लोकमें 'न तथा' पदोंसे कहा है कि यों आधा सत् आधा असत् अर्थात् जगतमें सत्त्व और असत्त्वके अंशोका भेद नहीं है, अतः समग्र झूठा है, यदि कहो कि सीपीमें जो चांदी दिखती है उसमें सतका अंश दोषके कारण तिरोहित हो गया है तो यहां प्रकृत विषयोंमें भी यों प्रतीति होती है, यह मान लेना चाहिए, अर्थात् जगतमें भी भगवदिच्छासे 'सत्' तिरोहित हो गया है जिससे वह भी असत् भासता है, इसलिए ऐसा कहा है.

जगत् जो 'सत्' भास रहा है वह केवल मनके दोषोंके कारण यदि मनमें दोष न होवे तो जगत् सच्चिदानन्दरूपसे क्यों न भासने लगे? और विशेष यह है कि जगतका केवल ब्रह्म ही कारण है ऐसा ब्रह्मवाद, सर्वत्र नहीं कहना चाहिए, किन्तु प्रकृति और पुरुष भी जगतके कारण हैं. यह वाद भी कहा गया है. इससे दोनों(प्रकृति-पुरुष)के संयोगसे उत्पन्न यह जगत् सत् और असत् दोनोंरूप हैं, व केवल सत् है, यों अर्थ है, यहां तक पूर्वपक्षको मृषा सिद्ध किया है.

इस प्रकार दिए हुए हेतुको स्वरूपकी असिद्धि और व्यवहारसे दूषित है यों कहकर असत् सिद्ध किया है, अब 'व्यवहृतये विकल्प दूषित' इस पदसे अन्य हेतुकी आशंकाकर उसका भी निराकरण करते हैं, जैसाकि यह कल्पना, व्यवहार चले इसलिए की है, यह जगत् सत्य है, क्योंकि सत्यपनसे प्रतीत हो रहा है, ब्रह्मकी तरह, यह अनुमान देकर पूर्वपक्षी जगतको सत्य सिद्ध करना चाहता है यह अनुमान भी दोषयुक्त है यों सिद्ध करते हैं.

यह जो जगतकी सत्त्वरूप विशिष्ट कल्पना मनसे की गई है वह प्रातीतिकी है, न कि परमार्थरूपा है, जो कल्पना केवल व्यवहारकेलिए प्रतीति हो रही है उस कल्पनाको सत्य कल्पना माननेमें कोई प्रयोजन नहीं है. सत् प्रतीत हो रहा है इससे वह पदार्थ सत् है यह हेतुमृषा(झूठ) है, क्योंकि सीपीमें दीखती चांदी सत् दीखती है किन्तु सत् नहीं है, इसी तरह मनसे कल्पित पदार्थ परमार्थतः सत् नहीं है.

यह संसार अनादि है. इसमें सबकी 'सत्' बुद्धि है, इससे जाना जाता है कि यह 'सत्' है. इसके उत्तरमें कहा है कि 'अन्ध परम्परया' यह जगत् सत् है, यह जिनको नेत्र(ज्ञाननेत्र) हैं उनकी परम्परामें नहीं है क्योंकि वे तो जगतको असत् ही मानते हैं किन्तु जिनको नेत्र नहीं है उनकी परस्परामें जगत् 'सत्' है.

वेदशास्त्रोंके वाक्योंसे जगतका सत्पन अंगीकार किया जाता है, इस पर कहते हैं कि 'भ्रमयति भारती' वेदरूप आपकी वाणी कर्मजड़ोंको भ्रममें डालती है, किस प्रकार भ्रममें डालती है वह प्रकार द्वितीय स्कन्धमें कहा है वेदवाणी, यज्ञीय पदार्थ मात्र हरिरूप(आचार्यश्रीने तत्त्वदीपके भागवतार्थ प्रकरणमें यों कहा हैं) हैं वे सब ब्रह्मसे सम्बन्धवाले हैं यों कहती है जिसको न समझकर, लोक, लौकिक पदार्थोंको ब्रह्मसम्बन्धी मान लेते हैं जिससे वे भ्रमते रहते हैं, कर्मिष्ठ क्रियाशक्तिमें ही आसक्त होनेसे ज्ञानसे दूर होनेके कारण पदार्थोंके स्वरूपका

विचार नहीं करते हैं इस कारणसे उनको 'कर्मजड' कहा गया है।।३९।।

१.यह हेत्वाभास होनेसे, जो सिद्ध करना है वह जिस हेतुसे सिद्ध न होवे वह हेत्वाभास.

सद्बुद्धया सर्वथा सद्भिः न सेव्यम् अखिलं जगत्
भ्रान्त्या सद्बुद्धिरत्रेति सन्तं कृष्णं भजेद् बुधः।।का.३९।।

कारिकार्थ: यह जगत् सत् है, यों जानकर सत्पुरुषोंको इसका सेवन नहीं करना चाहिए, जगतमें जो सत् बुद्धि हुई हैं, वह भ्रान्तिसे हुई है, अतः सत् रूप श्रीकृष्णका ही भजन करना चाहिए।।३६।।

आभासार्थ – जगतका सत्यपन भले न हो, इससे जो सत् समझ जगतको भजते थे, वे उसका भजन छोड़ देंगे, किन्तु जो स्वभावसे उस(जगत)को सेवते हैं. वे जगत् सत् है वा असत् है, इसका ध्यान नहीं रखते हैं. इनको कौन रोक सकेगा? कारणकि जगतमें जैसे सत्त्वका अभाव है, वैसे ही असत्त्वका भी अभाव है. जैसे जगतका सत्त्व सिद्ध नहीं किया जा सकता है, वैसे ही उन्हीं हेतुओंसे असत्त्व भी सिद्ध नहीं कर सकते हैं. इस कारणसे जगत् सत् और असत् दोनोंसे विलक्षण है, जिससे उसके आश्रय करनेमें जैसे गुण नहीं है, वैसे दोष भी नहीं है. ऐसी अवस्थामें जगतका त्याग कैसे सिद्ध होगा. इस शंकाकेलिए 'न यदिदम्' श्लोक कहते हैं.

न यद् इदम् अग्र आस न भविष्यद् अतो निधनात्
अनुमितम् अन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसे ।
अत उपमीयते द्रविण–जाति–विकल्प–पथैः
वितथमनो–विलासम् ऋतम् इत्यवयन्त्यबुधाः ।।३७।।

श्लोकार्थ: जिससे यह जगत् सृष्टिसे पहले नहीं था और प्रलय होनेके बाद भी न रहेगा. केवल मध्यमें एकरस आपमें अनुमानसे भास रहा है, अतः झूठा ही है, ऐसे मनोविलासित जगतको जो सत्य–ब्रह्मस्वरूप कहते हैं, वे मूर्ख है।।३७।।

व्याख्यार्थ: यदि जगतको असत् सिद्ध करनेवाला कारण न होवे तो, यों कह भी सकते, किन्तु यहां तो असत्त्व साधक हेतु मौजूद है, जैसेकि जगत्, नित्य न होनेसे असत् है, जगतके असत्त्वमें अनित्यता हेतु है, जो नित्य नहीं है वह असत् नहीं है, जैसे ब्रह्म, ब्रह्म नित्य होनेसे 'सत्' है यह केवल व्यतिरेकीहेतु है, जिसका निरूपण करते हैं–

यत् यस्मात्, जिस कारणसे यह जगत् सृष्टिसे पहले नहीं था और लय होनेके बाद भी न रहेगा, केवल मध्यमें कुछ वक्त ही रहता है, इससे जाना जाता है कि, जगत् असत् है, क्योंकि सत् वह है जो, तीनों कालोंमें रहता है, अतः सत् कभी भी असत् नहीं होता है, यदि यों न होवे, सत्का रूप बदलता हो तो कभी घट भी पट हो जावे, केवल मध्यमें होनेसे जगत् असत् है इस हेतुसे तो सत्त्वका अभाव ही सिद्ध होगा न कि असत्त्व सिद्ध होगा, व्यतिरेकहेतुसे भी सत्त्वका अभाव ही सिद्ध किया जाता है, न कि अन्यधर्मका होना सिद्ध होता है, यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि 'अनुमितमन्तरात्वयि विभाति मृषा' मध्यमें अनुमानसे बताया हुआ यह जगत् आपमें झूठा ही भासता है. उसमें हेतु 'त्वयि' आपमें यह पद है जो वास्तविक वस्तु है. उसमें यदि अन्य पदार्थमें भासे तो समझना चाहिए कि भासमान अन्य वस्तु झूठी है, जैसे सत्य सीपीमें अन्य वस्तु चांदी भासती है वह झूठी ही है, सत्य तो सर्व, सीपी ही है, वैसे ही यह सब जो भास रहा है वह भी ब्रह्म ही है, भासित जगत् असत् है, यों ब्रह्मवेताओंने श्रुतिसे निर्णय किया है.

दूसरा हेतु कहते हैं 'अनुमित मन्तरा' मध्यमें जो भासता है वह झूठा है क्योंकि वह अनुमानसे कल्पित होता है, प्रत्यक्ष ही सत्य होता है, प्रत्यक्ष उसको कहा जाता है, जो सत् पदार्थसे इन्द्रियका संयोग होकर ज्ञान उत्पन्न हो वह प्रत्यक्ष ज्ञान सत्य है, जैसे सीपी और इन्द्रियका संनिकर्ष होने पर सत् ज्ञान होता है अर्थात् सीपी सत्य है, किन्तु उसके अनन्तर जो बुद्धिसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है अर्थात् बुद्धिसे उत्पन्न ज्ञान द्वारा जो पदार्थ जाना जाता है, वह पदार्थ अनुमित ज्ञानका विषय होनेसे सत् नहीं है, जैसे इन्द्रिय और सीपीके संनिकर्षसे उत्पन्न ज्ञानके अनन्तर बुद्धिसे चांदीका ज्ञान होता है, इसलिए रजत अनुमानका ही विषय है और आदि तथा अन्तमें न होकर केवल इन्द्रिय और पदार्थके मध्यमें भासती है, जिससे वह चांदी झूठी है इसी तरह प्रमाता चैतन्य और ब्रह्म चैतन्यके मध्यमें जगत् भास रहा है. इससे यह भी मिथ्या है, जब तक दोनों चैतन्योंका पूर्ण परीक्षासे ज्ञान नहीं हो जाता है तब तक जगत् भासता है अतः मध्यमें ही भासता है, इन दोनों चैतन्योंके विचार करने पर जब 'तत्त्वमसि' इस वाक्यका सत्य ज्ञान हो जायगा बादमें सर्वत्र ब्रह्म ही भासता है और विशेष यह है कि आप जो एकरस हो उस आपमें जो नाना प्रकारसे यह जगत् भास रहा है वह झूठा है यो समझना चाहिए,

जैसे एक चन्द्रमामें दो होनेकी प्रतीति भ्रान्तिसे होती है, वैसे यह भी भ्रान्तिसे भास रहा है.

यो असत् हो, तो उसकी प्रतीति कैसे होती है? जिसका निवारण करनेकेलिए कहा है कि 'अत उपमीयत' असत् के समान है, अतः जगत् असत् है. यो उपमानसे समझा जाता हैं. पदार्थोंकी जातियोंमें जो अवान्तर भेद है, उनसे पदार्थ पहचाने जाते हैं. अतः ऐसे पहचान करानेवाले कारणको उपमान[२] कहा जाता है. जैसे गौके समान गवय है–यह वाक्य सुनकर वनमें 'गवय'को देखते हुए कहने लगता है कि यह गौके समान है, अतः गवय है. गौ आदि जातियोंमें गौपन आदि उनमें जो अवान्तर भेद है, वह ही उपमानमें पहचाननेका साधन है. यदि यों न होवे, तो गवय भी गौ ही प्रतीयमान होने लगे. इस ही विशेषतासे अर्थात् भेदसे यहां अनुमान न होकर उपमेय होता है. अग्नि तो व्याप्ति आदि सब स्थानोंमें एक ही है, किन्तु सादृश्यता दूसरे प्रकारका ज्ञान कराती है. इसी तरह जो पदार्थ झूठे देखे है. विचार करने पर निश्चय होता है कि ये सत् नहीं है, इसलिए उसी धर्मकी समानता होनेसे जगत् भी असत् है. यो निश्चय किया जाता है. भान तो सत् और असत् दोनोंका होता है. जैसे शशशृंग[३] नहीं है, जिसका भी भान होता है, इससे शशशृंग सत् है, यों सिद्ध नहीं होता है. सत् तथा असत् किसको कहा जाता है? जिसे समझाते हैं कि सत् वह है, जो गुणोंसे युक्त हो अर्थात् गुणरूप करण ज्ञान होनेमें साधन हो और विचारसे उसको माना जा सके तथा असत् वह है, जो दोषवाला हो अर्थात् दोषवाला करण ज्ञान होनेमें साधन हो और विचारसे उसको मान्य न किया जावे.

वेदज्ञ बड़े–बड़े विद्वान् भी जगतमें सद्बुद्धि रखते हैं, यदि जगत् सत् न हो असत् होवे, तो उसमें स्थिरता न रहेगी, जिससे विश्वाससे सब कार्य न होने चाहिए अर्थात् न होंगे. इस कारणसे जगतको सत्त्व अथवा सदसद्विलक्षण है, यों कहना चाहिए. यदि यों कहो, तो जिसका उत्तर यह हैं कि 'वित्तथ मनोविलास' यह सब जगत् झूठा ही है, क्योंकि मनका ही विलास है, जिससे ही जो जिसको मनसे जैसा समझता है उसको वह वैसा ही प्रतीत होता है, मित्र–शत्रु, अपना वा पराया, शुद्ध वा अशुद्ध जैसा भी मनसे समझता है उसकेलिए वह वैसा ही हो जाता है, जगतमें स्वभावसे कोई पदार्थ ऐसा नहीं है, जो सर्वको प्यारा होवे, अतः मनके विलाससे ही यह सब किया हुवा होता है, इस कारणसे, मनोरथकी तरह यह

जगत् मिथ्याभूत ही है, ऐसे जगतको भी जो सत्य मानते हैं, वे अबुध हैं, अर्थात् विचारहीन है।।३७।।

१.पृथ्वी अन्यसे जुदे प्रकारकी है क्योंकि गन्धवाली है, जो अन्यसे जुदे प्रकारका नहीं है वह गन्धवाला भी नहीं है, इसको केवल व्यतिरेकी हेतु कहा जाता है.

२.अनुमान और उपमान दोनों कारण प्रमाण माने जाते हैं. इनमें इतना ही भेद है कि अनुमानमें वह पदार्थ एक ही है. जैसे रसोड़ेमें जो अग्नि है वैसी ही अग्नि पर्वतमें है, किन्तु 'उपमान'में यों नहीं है, उसमें भेद है. जैसे गवय गौ जैसी है, केवल समानता है. ३.खरगोशके सींग होना.

खपुष्पादिसमत्वाद् हि मिथ्याभूतं जगद् यतः ।
अधिष्ठानाच्च सद्भानं तं कृष्णं नियतं भजेत्।।का.३७।।

कारिकार्थ: आकाशके फूलोंके समान जगत् असत् है, जिस अधिष्ठान से सत् भास रहा है, उस कृष्णका नियमपूर्वक सदा ही भजन करना चाहिए।।३७।।

आभासार्थ: भजनकेलिए भगवानके सिवाय दूसरोंमें(जगतमें) सत्त्व नहीं है यह सिद्ध किया, जिससे वह(भगवान्) ही तत्त्वसे सत्त्व होनेसे भजन करने योग्य है, इस प्रकार सदंशका विचारकर, अब निम्न दो श्लोकोंसे चिदंशका विचार करते हैं.

स यदजया त्वजाम् अनुशयीत गुणांश्च जुषन्
भजति सरूपतां तदनु मृत्युम् अपेतभगः ।
त्वम् उत जहासि ताम् अहिरिव त्वचम् आत्तभगो
महसि महीयसे–ऽष्टगुणिते–ऽपरिमेय–भगः।।३८।।

श्लोकार्थ: वह ही भगवद्रूप(जीव) जब भगवानकी मायामें फंस जानेसे अविद्याका अनुसरण करता है, तब जीव कहलाता है और उस(अविद्या)के गुणोंका सेवन करनेसे उस(अविद्या)की समानताको प्राप्त होता है अर्थात् जड़ताको प्राप्त करता है, पश्चात् उस(जीव)में भगवद्रूप होनेसे जो ऐश्वर्य आदि भग हैं, वे तिरोहित हो जाते हैं, जिससे वे मृत्युको पाते हैं. आप तो उससे अन्य प्रकार फैंक अपने अणिमादि आठ ऐश्वर्य(भग) सहित पूर्ण तेजोरूपमें विराजते हैं और जैसे सर्प त्वचाको फैंक देता है, वैसे ही आप भी मृत्युको फैंक देते हैं. विशेषमें आप तो वास्तविक असंख्य भग अर्थात् गुण. यथा, यश, ज्ञान, वैराग्यादिवाले हैं।।३८।।

व्याख्यार्थ: जगतमें सत्त्व नहीं अतः वह सेव्य नहीं किन्तु जीव जो चिदंश है उसमें सत्त्वमें भी है, अतः उसका भजन करना चाहिए, इस पक्षमें भी भगवान् ही सेव्य है, न कि जीव सेव्य है, सेवा उसकी करनी चाहिए जो अपने स्वरूपमें पूर्णतया स्थित होवे, जीव तो स्वरूपसे गिरे हुए हैं. अर्थात् अपना स्वरूप भूल बैठे है, उसको हेतु देकर स्पष्ट करते हैं कि वह जीव भगवद्रूप होते हुए भी जब अथवा जिस कारणसे, भगवानकी मायासे अविद्याका अनुशरण करने लगा, तब जीवभावको प्राप्त हुआ तब अविद्याके गुणोंको ग्रहण कर अपना आनन्द त्याग, जड़ोंसे आनन्द प्राप्त करूंगा यों विचार जब जड़का अनुभव करने लगता है तब स्वयं भी अपना चैतन्य छोड़कर जड़भावको प्राप्त होता है. इस प्रकार अविद्यासे सम्बन्ध होनेके कारण आनन्दांश तथा चिदंश भी तिरोहित हो जाता है, केवल जड़ताको प्राप्त होता है अर्थात् देह धारण करता है. जडताकी उपासनाका प्रथम ही निषेध कर दिया है.

जड़भावमें कौनसा दोष है? महान् मूल्यवान रत्न आदि भी जड़ है, इस पर कहते हैं कि 'तदनु मृत्युमपेत भग' देह धारण करनेके बाद भगसे रहित होनेसे मृत्युको प्राप्त करते हैं क्योंकि, काल जड़ गुणोंमें खलबली उत्पन्न करता है और पकाए हुए अन्नको जैसे सहज ही भक्षण करता है वैसे काल इसका भी भक्षण करता है, जड़ता प्राप्त करनेके बाद मृत्युको पाता है जैसे राजा जीवन पर्यन्त सुख भोगकर अन्तमें मृत्यु पाता है, इतना ही अनिष्ट नहीं किन्तु उससे भी विशेष दुखः जीवको होता है, क्योंकि जीते हुए ही उसके ऐश्वर्यादि नष्ट हो जाते है जिससे मिट्टी-ढेले समान और मृत्यु ग्रस्त जो जीव है, वह सेव्य कैसे बन सकता है? 'मम माया दुरत्यया' इस गीता वाक्यानुसार भगवानका भी मायासे सम्बन्ध है, इससे वह(भगवान्) भी वैसे जीववत् मृत्युवत् होने चाहिए, ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि 'त्वमुत जहासि ताम्' आप तो उसको फेंक देते हो यों यह श्रुति कहती है, 'जहात्येनां भुक्तभोगामजीन्यः इति श्रुतिः' जन्म रहित अन्य(भगवान्) भुक्त भोगा इस मायाका त्याग करते हैं, जीवसे भगवानमें यह भी विलक्षणता है, ऐश्वर्यादि भग उसमें रहते हैं जिसने प्रकृति वा मायाका त्याग किया है, क्योंकि ऐश्वर्यादि भगके रहनेको जड़, प्रकृति व मायाका त्याग है, भगवानमें ऐश्वर्यादि भग स्थित ही हैं, क्योंकि उनके नाश करनेवाला कोई कारण है ही नहीं.

भगवानके साथ माया मिली हुई है, उसका यदि भगवान् त्याग करेंगे तो

उनका स्वरूप ही चला जाय, इसलिए उसका त्याग कैसे करेंगे ? जिसका उत्तर देते हैं कि 'अहिरिव त्वच' जैसे सर्प कंचुलीका त्याग करता है, कालने सर्पोंको वृद्ध बना दिया, यह देखकर सपोंमें मुख्य, कसर्णीर नामवाले सर्पने 'भूमिर्भूम्ना' इत्यादि कितने ही मन्त्रोंका दर्शन कर अपनी कंचुली उतारकर मन्त्रोंसे सकल सर्पोंको बुढापेसे छुडाया, उस दिनसे सब सांप जीर्णतन अर्थात् कंचुलीका त्याग करते हैं, वैसे भगवान् भी स्वभावतः सम्बद्ध भी त्वगरूप मायाको अपने अखण्डैश्वर्य युक्त स्वरूपमें स्थित होते ही छोड़ देते हैं, जैसे कंचुली छोड़ देने पर सर्पोंमें कोई विशेष नहीं होता है, वैसे ही भगवानमें भी मायाके त्याग और ग्रहण करने पर कुछ भी विशेषता नहीं होती है, अतः उसका परित्याग व्यर्थ ही है, यदि यों कहो तो इसका उत्तर यह है कि 'महति महीयसे' आप अष्टैश्वर्य सहित पूर्ण तेजोरूपमें विराजते हैं. आप मायाको छोड़ते हैं, यह कहना केवल इसलिए है कि लोकदृष्टिसे मायाके सम्बन्ध होनेके कारण दोष दीखते हैं, वास्तवमें यों नहीं है, वास्तवमें तो मायाका सम्बन्ध होवे अथवा न होवे, भगवानमें उससे उपचय(लाभ वा वृद्धि) अपचय(हानि वा क्षीणता) कुछ नहीं होता है, सदैव परम प्रकाशवाले अष्टैश्वय युक्त स्वरूपानन्दमें विराजते रहते हैं क्योंकि वास्तवमें वे सर्वशक्तियां भगवानमें ही हैं, उनसे भगवानकी कोई क्षति नहीं होती है जो पृथक होती है उनसे ही अनिष्ट होना सुना जाता है, आप तो असीम भगवाले हैं, जिनमें सीमावाला भग है उनकी ही क्रियासे हानि हो सकती है, जो असीम हैं उनका नाश क्रियाशक्ति कदापि नहीं कर सकती है. इस कारणसे कहा है कि सकल सद्गुणोंवाला जिसका माहात्म्य है, और जिसमें कोई दोष नहीं हैं वैसे भगवान् ही सेव्य हैं, जीव कभी भी सेव्य नहीं हैं.

कालादितृणपर्यन्ता न सेव्या मुक्तिम् इच्छता।
दोषत्याजनशक्तो हि सेव्यो दाता गुणस्य च।।का.३८।।

कारिकार्थः मुक्ति इच्छुककेलिए कालसे लेकर तृण पर्यन्त कोई भी सेव्य नहीं है कारण कि दोष छुड़ानेकी जिसमें शक्ति हो और गुणोंके दाता हो वह भगवान् ही सेवा करने योग्य है।।३८।।

आभासार्थः भगवानकी सेवासे तो जीव भजन करना ही मुख्य हैं क्योंकि जीवमें भगवान् और जीव दोनों ही है, अतः अंश सहित भगवान् वहां(जीवमें) हैं, उस सांशका त्यागकर केवल निरंश कैसे सेव्य हो सकता है ? यदि यों कहो तो

इसका उत्तर निम्न श्लोकमें दिया जाता है.

यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटा

दुरधिगमो–ऽसतां हृदि गतो–ऽस्मृत–कण्ठमणिः ।

असु–तृप–योगिनाम् उभयतोऽप्यसुखं भगवन्

अनपगतान्तकाद् अनधिरूढ–पदाद् भवतः ।।३९।।

श्लोकार्थः हृदयमें विराजमान होने पर भी भगवानको वे योगीजन कठिनतासे वा दुःखसे प्राप्त कर सकते हैं, जिन्होंने हृदयसे कामरूप जटाओंको दूर नहीं फैंक दिया है, जो असत् जगतमें आसक्त है, उनको तो असल नहीं मिलता है इसमें कहना ही क्या? जैसे कण्ठमें पड़ी हुई मणि भी विस्मृत हो जानेसे सुख तो नहीं देती है प्रत्युत्त दुःख ही देती है, वैसे ही जो प्राणोंके पोषणार्थ ही प्रयत्न करते हैं, उनको दोनों तरहके दुःख प्राप्त होते है, एक यम सहित काल भी उनको दुःख देता है, जिससे जीवन दशामें दुःख ही भोगते हैं, मरनेके बाद भी आपकी प्राप्ति न होनेसे चिंतासे घिर जानेसे वे दुःखी होते हैं. इस प्रकार भगवानसे भी दुःख पाते हैं।।३९।।

व्याख्यार्थः जहां अंश और भगवान् दोनों प्रकट हों वहां तो वैसे ही करना चाहिए अर्थात् सेवा करनेमें रुकावट नहीं है, इस कारणसे पुरुषोंमें ही भजन कहा है, किन्तु जहां जीव स्वरूप जड़त्वको प्राप्त हो गया, भगवान् सर्वथा प्रकट नहीं वहां क्या करना चाहिए?

काष्ठमें अग्नि है, इसलिए शीत निवारणार्थ अथवा होमकेलिए काष्ठ नहीं लाया जाता है, इस दृष्टान्तसे समझना चाहिए कि जिन पदार्थोंमें भगवत्स्वरूप प्रकट नहीं है वे सर्वथा सेव्य नहीं है.

हृदयमें विराजमान स्वप्रकाश भगवान् क्यों नहीं प्रकाशते हैं? इस पर कहते हैं कि योगी वा सन्यासी भी हृदयमें स्थित कामजटाओंको(वासनाओंको), जब–तक निकालकर बाहर नही फेंक देते हैं तब–तक उनको भी प्रकाश मिलना असम्भव है.

पृथ्वीमें गाड़ी हुई धनराशि पर वृक्ष उत्पन्न हो गए हों तो राशिको निकालनेकेलिए प्रथम उत्पन्न पेड़ोंको समूल काटे बिना, गाड़े हुए धन नहीं निकाल सकते है, इसी प्रकार अन्तःस्थित भगवानने भी माया जवनिका(परदे)से अपनेको छिपा दिया है, उसके ऊपर अविद्यासे आच्छादित, और बादमें वासना,

काम, क्रोध आदि वृक्षोंके कारण उसका ज्ञान सर्वथा लोप हो गया है, ऐसी अवस्थामें कैसे देखनेमें आवे? जो स्वयंप्रकाश है, उसका प्रकाश अन्य कोई नहीं करा सकता है किन्तु उसके प्रकाशके आगे रुकावटवाले पदार्थोंको ही दूर करना पड़ता है जिससे स्वयंप्रकाशका प्रकाश स्वतः मिल जाता है, जैसे सूर्यका प्रकाश, बादलोंसे जब आच्छादित होता है तब दीखता नहीं है, वायु द्वारा बादल हट जाने पर उसका प्रकाश स्वतः मिल जाता है. भगवान् तो उससे भी विशेष आच्छादित हैं वे कैसे दर्शन देंगे? उसमें भी फिर देहाभिमानियोंको कैसे प्रकाशित होंगे.

यों होने पर भी, वहां भगवान् हैं, अतः वस्तु सामर्थ्यसे सेवा करने पर फल तो मिलेगा ही, यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि, 'अमृस्तकण्ठमणि' जैसे कण्ठमें मणि पड़ी है, किन्तु मनुष्य समझता है कि मणि नहीं है, इस प्रकारकी भूल करनेवालेको कण्ठ स्थित मणिसे सुख तो नहीं मिलता है प्रत्युत विस्मृतिसे जब उसके मनमें स्मृति आती है तब दुःख होता है, इसी प्रकार भगवान् भी विस्मृत होने पर उस(जीव)को ही सुख नहीं देते हैं तो उस(जीव)की पूजा करनेवालेको कैसे सुख देंगे? प्रत्युत सन्यासियोंको तो दुःखद भी होते हैं, जैसे जो मणिको भूल गया है, फिर जब उसको ढूंढनेकेलिए निकलता है तब वह क्लेशको पाता है, उसी तरह आत्माके अन्वेषणार्थ, सर्वस्व छोड़कर, वनमें जाकर, जो रहते हैं उन यतियोंको तो भगवान् विशेष दुःखद होते हैं, क्योंकि जीवन पर्यन्त त्याग धर्मका पूर्ण पालन करना पड़ता है और जो फिर बाहर आत्माका आश्रय न मिलनेसे क्लिष्ट साधन करनेसे जो दुःखी होकर, जैसे तैसे प्राणोंका पोषण करते हैं, वे तो प्राणोंके ही पोषक हैं, और पहले योगी थे, अथवा वे प्राण पोषणार्थ ही योगीहोके, अपने सकल कृत्योंसे जीवन ही सम्पादन करते हैं, अर्थात् देहादि भरण पोषण ही पूर्ण करते हैं, ऐसे योगियोंको दोनों तरफसे दुःख प्राप्त होता है, वे दोनों प्रकारके दुःख कैसे मिलते है वह बताते हैं कि 'अनपगतान्तकाद्भवतश्च' मृत्युसे छुटकारा न होनेके कारण एक दुःख और दूसरा आपसे.

अपने सन्यासके धर्मोंके परित्याग करनेके कारण, यम सहित काल भी उनको दुःख देता है, नरक और मृत्यु देता है, भगवानको भूल जानेसे भगवान् दुःख देते हैं, इससे जीतेजी भी दुःख मिलता रहा. मृत्युके बाद भी भगवच्चरणारविन्दकी प्राप्ति न होनेसे दुःख हुआ, भगवान् इस प्रकार दुःख देते हैं

कि, वे भगवानके चरणारविन्द प्राप्त न होनेकी चिन्तासे व्याकुल होते हुए क्लेश पाते हैं।।३९।।

जीवेषु भगवान् आत्मा संछन्नस्तेन तत्र न ।
भजनं सर्वथा कार्यं ततोऽन्यत्रैव पूजयेत्।।का.३९।।

कारिकार्थ: भगवान् जीवोंमें पूर्णरीतिसे छिपे हुए हैं, अतः जीवका भजन नहीं करना चाहिए, इस कारणसे भगवानका ही सर्वथा भजन करना चाहिए।।३९।।

आभासार्थ: इस प्रकार चिदंशकी सेवा नहीं करनी चाहिए यह निरूपण करके लौकिक आनन्द भी सेव्य नहीं है, किन्तु भगवान् ही सेव्य है, यों निम्न दो श्लोकोंसे कहते हैं.

त्वदवगमी न वेत्ति भवदुत्थ–शुभाशुभयोः
गुण–विगुणान्वयांस्तर्हि देहभृतां च गिरः ।
अनुयुगम् अन्वहं स गुण गीत–परम्परया
श्रवण–भृतो यतस्त्वम् अपवर्ग–गतिर्मनुजैः ।।४०।।

श्लोकार्थ: जिसने आपके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त कर लिया है, वह आपकी सेवा करते हुए जो सुख तथा दुःख होते हैं और गुण वा अवगुण होते हैं, उनको जानता ही नहीं एवं देहाभिमानियों द्वारा कही हुई निन्दावाली वाणी आदिको भी नहीं जानता है; क्योंकि श्रवणेच्छु मनुष्योंने मोक्ष देनेवाले आपके गुणोंवाले गीतोंसे प्रत्येक युगमें तथा नित्य अपने कर्णोंको भर दिया है. जिससे उनके कानोंमें सुख–दुःख, गुण–अवगुण और निन्दा आदिके सुननेके वा रहनेकेलिए स्थान ही नहीं है।।४०।।

व्याख्यार्थ: स्मृति आदि शास्त्रोंसे स्वभावसे ही सर्व प्रकारके आनन्द(विषयावह) भोगनेका निषेध है, जैसे इस लोकमें साधारण स्त्रियोंसे भोगका निषेध है, वैसे ही स्वर्गमें अप्सराओंसे भी भोग करनेका निषेध है, जैसे इसलोकमें भोग भोगनेके जो शास्त्रमें नियम हैं उनके विपरीत काल आदिमें भोग भोगे जावें तो वह कार्य सर्व श्रुति–स्मृतिसे विरुद्ध माना जाता है, वैसे ही स्वर्गलोकमें भी समझना चाहिए. जैसे शास्त्र विरुद्ध भोग भोगनेसे यहां भूलोकमें निन्दा होती है, वैसे ही स्वर्गमें भी होती है. अतः सर्व सुखोंके भोग भोगनेका निषेध है, निषिद्ध आचरण करने पर सर्वथा दुःख होता है, जिससे अनुभव होता है

कि सर्व ही सुख-दुःखसे युक्त हैं इस कारणसे वैसा सुख कैसे लिया जाया जाय, जिससे अन्तमें दुःख प्राप्त होवे?

भगवदानन्द तो सबको ही लेना चाहिए, क्योंकि उसमें ऊपर कहे हुए दोष नहीं है कारण यहां ही देख लीजिए कि भगवत् स्वरूपका ज्ञान हो जाने पर भगवदानन्दका भोग भोगनेसे भी चिन्ता, दुःख, निन्दा आदिका अनुभव ही नहीं होता है. जिसको 'त्वदवगमी' और 'भवदुत्थ शुभाशुभयोग विगुणान्वयान् न वेति' पदोंसे कहा है कि आपके स्वरूपको जाननेवाला आपके निमित्त जो सुख और दुःख तथा गुण और अवगुणका सम्बन्ध होता है, उनको जानता ही नहीं है. जैसे कामिनी अपने परम प्यारे जारके कारण कितना भी कष्ट पाती है, तो उसको कष्ट नहीं समझती है एवं राजाका सेवक जब कस्तुरी आदिका राजाको उबटन करता है, तब उससे स्वयं लिप्त होने पर भी सुख नहीं मानता है; इसी प्रकार भगवानके सेवक भी भगवानके सेवक होनेके नाते उनके यहां वैभवके आनन्दका अनुभव करते हुए भी वह सुख अपना नहीं मानते हैं. किन्तु प्रभुको ही इससे सुख हो रहा है, यों समझते हैं. ऐसे ही सेवार्थ अर्थात् सेवा करते हुए कितना भी कष्ट होता हो, तो उसको कष्ट नहीं समझते हैं तो शास्त्रके विधि-निषेध, चिन्ता, अपकीर्ति आदि प्रतिपादक वाक्योंकी भी परवाह नहीं करते हैं, क्योंकि वे भगवदानन्दमें ही मत्त हैं. वास्तवमें ये विधि-निषेध आदि वचन देहासक्तोंकेलिए ही है, न कि भगवद्भावमान भक्तोंके वास्ते हैं. अतः इसलोकमें ही भगवानसे सम्बन्ध होने पर भक्तके सर्व उपद्रव निवृत्त हो जाते हैं, जो भगवद्भक्त नहीं है, उनको तो साधारण सुख-दुःखका अनुभव होता है, तो राग और द्वेष उत्पन्न हो जाता है, जिससे ऐसे प्राणियोंकेलिए ही विधि-निषेध हैं, इसलिए भगवद् सम्बन्ध होने पर ही सुख प्राप्त होता है, अन्यथा नहीं. यह स्पष्ट है.

आपके स्वरूपको जाननेवाला सुख-दुःख और उनसे उत्पन्न राग-द्वेष नहीं पाता है और उसकी अपकीर्ति आदि भी नहीं होती है. यों आप कैसे कहते हो? जिसका कारण इस श्लोकके उत्तरार्धसे बताते हैं कि 'अनुयुगमन्वहं मनुजैः उन भक्तोंका भगवानके गुणोंका श्रवण करना ही नित्य कर्म है. गुणगान श्रवणकेलिए देश-कालका कोई विशेष नियम नहीं है. जिस कर्मको करनेकेलिए कालकी नियमरूप उपाधि है, वे सब कर्म काम्य हैं, यों पहले ही सिद्ध किया है, अतः व्यासादि ऋषियोंने जो भगवानके गुण कहे हैं, वे परम्परासे उनके श्रवण द्वारा

कानोंमें भगवानको विराजमान कर रखा हैं, जिससे दूसरे किसी विषयके रहनेका उन कानोंमें स्थान ही नहीं है, अतः अन्य निषेध आदि सुन ही नहीं सकते हैं. भगवानसे कर्ण भर जानेसे नित्य भगवत्स्मरण और श्रवणने एवं भगवानने सब पाप नाश कर दिए हैं. इससे दुःख देनेवाली अपकीर्ति आदि कुछ भी उस सेवककेलिए नहीं होते हैं, क्योंकि भगवान् मुक्तिदाता हैं इसलिए उसका मोक्ष तो सिद्ध ही है, भगवद्गुणगान और स्मरण सर्वदा ही होनेसे कालधर्म सेवकको बाधा नहीं करते हैं. यह तो अच्छी तरह प्रसिद्ध है कि, भगवान् भक्तोंके हितकारी हैं. सर्व मनुष्योंने, भगवानको श्रवण आदिसे अपना लिया है, भगवत्सेवकोंने भगवानसे एक्य कर लिया है, इसलिए कोई भी सच्चे सेवककी किसी प्रकार निन्दा नहीं करेगा अतः भगवानका सेवक ही दोषरहित जो सुख(भगवदानन्द) है उसका भोक्ता है न कि कोई दूसरा यों निरूपण किया है.

सुखसेवापरो यस्तु स आनन्दं हरिं भजेत्.
अन्यथा सुखसम्प्रेप्सुः सर्वथा दुःखम् आप्नुयात्।।का.४०।।

कारिकार्थः जिसको सुख और भगवत्सेवाकी लालसा हो, उसको आनन्दरूप हरिका भजन करना चाहिए जो सेवाके सिवाय अन्य उपायसे सुख चाहता है वह सर्वथा दुःखको ही पाता है।।४०।।

आभासार्थः जो नाशवान न होवे, वह ही आनन्दपूर्वक सेव्य है, कैसा भी हो तो भी जो देश और कालसे परिच्छिन्न अर्थात् देश और कालसे सीमावाला है वह नाशवान है अतः सेवाके योग्य नहीं है, ''द्युपतय एव ते न ययुः'' इस श्लोकसे भगवानका आनन्द देश और कालसे परिच्छिन्न नहीं है, यों बताते हैं.

द्युपतय एव ते न ययुरन्तम् अनन्ततया
त्वमपि यद् अन्तराण्डनिचया ननु सावरणाः ।
ख इव रजांसि वान्ति वयसा सह यच्छ्रुतयः
त्वयि हि फलन्त्यतन्निरसनेन भवन्निधनाः ।।४१।।

श्लोकार्थः आपके स्वरूपानन्दके अन्तको स्वर्गलोकोंके पति इन्द्रादि तो नहीं जानते हैं, किन्तु आप भी नहीं जानते हैं; क्योंकि आपमें आवरण सहित ब्रह्माण्डोंके समूह कालके साथ ऐसे घूम रहे हैं, जैसे आकाशमें रजकण फिरते रहते हैं. आप ही जिनका विश्रामस्थान हैं, ऐसी श्रुतियां निषेध मुखसे भी निश्चयसे आपमें ही पर्यवसान पाती है अथवा आपका ही प्रतिपादन करती है।।४१।।

व्याख्यार्थ: स्वर्गोंके स्वामी देवेन्द्र आदि आपका आनन्द(सुख) कितना है जिसको नहीं जानते है अर्थात् आप परमात्माके स्वरूपमें कितना आनन्द है उसकी सीमाको वे(देवेन्द्रादि) नहीं पा सके है. उपनिषदोंमें शत-शत संख्याकी विशेषता बताते हुए मनुष्यानन्दसे लेकर अक्षर ब्रह्मानन्दकी सीमा बताई है, किन्तु आनन्दमय आपके स्वरूपकी सीमा कितनी है? वह नहीं कहा है, अन्त होते हुए भी यदि उसको न जाना, तो इसमें कौनसा दोष है? सीमा हो वा न हो उसका ज्ञान हो जाने पर कि इसका(आनन्दका) यहां अन्त है तो उससे दुःखका अनुभव ही होगा. इस शंकाका समाधान करनेकेलिए कहते हैं कि 'अनन्ततया' असीम होनेसे इसका अन्त नहीं है, आप जो दूषण दे रहे हो वह तब यथार्थ हो जबकि, आनन्दका अन्त हो और उसका ज्ञान हो, तब ही सर्वज्ञताका अभाव सिद्ध हो सके, वह(अन्त) तो है नहीं, और विशेषता यह है कि आप भी नहीं जानते हैं, इससे यह भी नहीं समझना चाहिए कि सर्वज्ञ भगवान् कैसे नहीं जानते होंगे? सर्वज्ञता भगवानमें नहीं है, वह तब कहा जावे, जबकि अन्तकी विद्यमानता होवे, यहां तो विद्यमानता है ही नहीं, अतः अविद्यमानतामें सर्वज्ञताकी हानि नहीं होती है. इस प्रकार भगवदानन्दमें कालकी निःसीमता कहकर अब देशकी निःसीमता कहते हैं, 'यदन्तराण्डनिचया ननु सावरणा' आपके भीतर आवरण सहित ब्रह्माण्डोंके समूह प्रकृति पर्यन्त उत्तरोत्तर दशगुण आवरण युक्त हो फिरते रहते हैं, इसमें एक ब्रह्माण्डके अधिपतिका कितना ब्रह्मानन्द है वह बता दिया है, यों भगवानके आनन्दकी अनन्तताका समर्थन किया है यों होने पर भी अनन्तता सिद्ध नहीं होती है कारणकि ब्रह्माण्डोंकी तो गिनती है, जिससे इसका भी नाप निकल आएगा, यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि 'ख इव रजांसि वान्ति' जैसे आकाशमें अनन्त रजकण उड़ते फिरते हैं, वैसे ही भगवानके एक-एक रोमकूपमें कितने ही ब्रह्माण्ड फिरते रहते है क्योंकि भगवानका एक रोमकूपका स्थान भी आकाशकी तरह अतिविशाल है अतः जैसे आकाशमें कोटिशः रजकण भ्रम रहे है वैसे यहां(भगवानके रोमकूपमें) असंख्य ब्रह्माण्ड फिरते रहते हैं. कोई कहते हैं कि जैसे जालीमेंसे आए हुए सूर्यकी रश्मिके कण कोटिशः फिरते रहते हैं वैसे भगवानके रोमकूपोंमें ब्रह्माण्ड फिरते हैं.

तब तो काल महान् होगा? इस शंकाके परिहारार्थ कहते हैं कि 'वयसा सह' कालके साथ, अर्थात् वहां काल भी कोटिशः फिर रहे हैं. अथवा काल

वायुके स्थान पर है, अर्थात् जैसे वायु रजकणोंके भ्रमणमें कारण है वैसे यहां काल यों है, तो भी प्रमाणसे तो परिच्छेद होगा ही, कारण कि अनन्त शब्दसे वाच्य होनेसे, इस पर कहते हैं कि 'यदन्तरा श्रुतयोऽपिवान्ति' जिस भगवानके भीतर श्रुतियां भी भ्रमण कर रही हैं, अर्थात् श्रुतियां भी उसके आनन्दकी सीमाका वर्णन नहीं कर सकती है.

अनन्त ब्रह्माण्डोंकी तरह वेद भी अनन्त हैं, इससे एक ही ब्रह्माण्डकी वार्ताको एक वेद कहता है, इसलिए वेद भी भगवदानन्दका परिमाण(नाप) नहीं कर सकते हैं.

यदि यों हैं तो सर्व प्रमाणोंमें जो अगम्य है, ऐसे भगवानके, वैसे अनन्त आनन्दका प्रमाण क्या ? इस पर कहते हैं कि 'त्वयि हि फलन्ती' श्रुतियां ही प्रमाण है किन्तु पर्यवसान[१] वृत्तिसे न कि वाच्य[२] वृत्तिसे, जैसे पृथ्वी पर जो अनन्त वृक्ष हैं वे फल देते हैं, वे फल ऊंचे स्थित हैं तो भी पृथ्वी पर ही गिरते हैं, इस प्रकार सर्व वेद अपनी-अपनी रीतिसे अपनेसे जितना बन सकता है, उतना भगवानका माहात्म्य प्रकट करते हैं, उन माहात्म्योंके ज्ञानोंको ही फल कहते हैं, उन फलोंको कहीं भी स्थान न मिलनेसे भगवानमें ही पड़ते हैं, अर्थात् भगवानका ही ज्ञान कराते हैं.

अनन्त वृक्षोंके अनन्त फल भूमि पर गिरते है, किन्तु पृथ्वीके सहस्त्रांशको भी जैसे नहीं भर सकते हैं, वैसे वेद भी भगवानका माहात्म्य उसी तरह बता सकते हैं, जैसे कोई मेरुपर्वतको सर्षप(राई)के दानेकी उपमा देकर बतावे.

इसी तरह वेद, विधिमुखसे इस प्रकारका ब्रह्मका स्वरूप है यों भगवत्स्वरूपका ज्ञान कराके अब निषेधमुखसे भगवत्स्वरूपका ज्ञान कराते हैं 'अतन्निरसनेन भवन्निधना' इति 'यों भी नहीं यों भी नहीं इस प्रकार निषेध करते हुए ज्ञान कराते हैं, कि वह अनुपम है.

जो कुछ वेद प्रतिपाद्य है उस सबको कहकर अन्तमें कहते हैं कि भगवान् सबसे 'पर' अर्थात् उत्तम व और विचित्र है, 'न तदश्नोति कश्चन' 'यतो वाचो निवर्तन्ते' 'कोई उसका अशन नहीं करता है' 'जिससे वाणी लौट आती है' इत्यादि प्रतिपाद्य पदार्थकी निषेध करनेवाली अनेक श्रुतियां सबसे परमात्माकी परमोत्तमता प्रतिपादन करती है. कारणकि निषेध अवधिवाला होनेसे उसका अन्त

नहीं है, अवधिवाले पदार्थका ज्ञान नहीं है, भगवानके वर्णन करनेकी शक्ति कुण्ठित हो जानेसे, मानो श्रुतियां अपनेको अप्रमाण भाववाली समझने लगती है, जिससे अनन्यगतिक हो भगवानमें ही लय पाती है, इससे ऐसे परमानन्दरूप श्रीकृष्ण ही सेव्य है, अन्य कोई नहीं है, यही सर्व वेदोंके अर्थका सत्य भावार्थ है. वेद इस प्रकार उनका ही ज्ञान कराते हैं, इस प्रकारका ज्ञान प्राप्त होनेकेलिए भगवान् ही बुद्धि उत्पन्न करते हैं. इसलिए सूक्ष्म दृष्टिसे सर्व वेद इस प्रकार भगवानका प्रतिपादन करते हैं, यों जानना चाहिए कि श्रुतियां भगवानके गुणोंको जाननेकी शक्तिवाली हैं तो भी अनिर्देश्य ब्रह्मका भी वर्णन करती हैं, इस विषयमें जिन श्रुतियोंके विषयमें विवाद हुवा है वे मूलभूत श्रुतियां स्वयं सर्वत्र देख लेनी, यहां विशेष विस्तार हो जानेकी शंकासे नहीं लिखी हैं, इस प्रकार श्रुतियोंसे प्रतिपादित गूढ अर्थको भी यहां कहा है।।४१।।

१.शब्दमें रही हुई अपने अर्थको प्रकट करनेकी शक्ति, ऐसी वृत्ति. २.जिस वृत्तिसे व्युत्पत्तिसे अपने अर्थ प्रकट करनेकी शक्ति हो.

कृष्णानन्दः परानन्दो नान्यानन्दस्तथाविधः.
वेदा अपि न तच्छक्ताः प्रतिपादयितुं स्वतः।।का.४१।।

कारिकार्थ: श्रीकृष्णका आनन्द ही सबसे बढकर आनन्द है उसके समान अन्य कोई आनन्द नहीं है, वेद भी स्वतः उसके प्रतिपादन करनेमें समर्थ नहीं है।।४१।।

इत्येवं श्रुतिगीतायाः संक्षेपेण निरूपितः।
अर्थराशिः समुद्रो हि यथांगुल्या निरूप्यते।।का.४२।।

कारिकार्थ: जैसे समुद्रको अंगुलीसे दिखाया जा सकता है, वैसे ही श्रुतिगीताका अर्थ संक्षेपसे निरूपण किया है।।४२।।

आभासार्थ: १४वें श्लोकसे ४१वें श्लोकतक श्रुतियोंने भगवत्स्तुति की है, वे श्लोक सनन्दनने अनुवादरूपमें कह दिए हैं, किन्तु व्याख्याके बिना उन श्लोकोंका आशय उसने समझा वा नहीं? इस शंकाके उत्तरमें कहा है कि, दिव्य बुद्धिसे उसने समझ लिया है यह निम्न श्लोकसे सिद्ध करते हैं.

श्रीभगवानुवाच

इत्येतद् ब्रह्मणः पुत्रा आश्रुत्यात्मानुशासनम्।
सनन्दनम् अथानर्चुः सिद्धा ज्ञात्वात्मनो गतिम्।।४२।।

श्लोकार्थः श्रीभगवान् नारायण नारदजीको कहने लगे कि इस प्रकार जीवोंको दिया हुआ उपदेश सुनकर आत्माकी गतिको जान ली, जिससे ब्रह्माके पुत्र सिद्धार्थवाले हो गए, अतः पश्चात् सनन्दनका पूजन करने लगे।।४२।।

व्याख्यार्थः श्रुतिगीताके श्रोता ब्रह्माके पुत्र थे, श्रुतिगीतामें जीवोंको यह ही उपदेश दिया गया है कि 'भगवान्' ही सेव्य है, यह उपदेशार्थ उनके हृदयमें स्थित हो गया, जिससे उन्होंने उपदेष्टा गुरु सनन्दनकी पूजा की.

'अथ' शब्दसे अन्य उपक्रम करनेकी सूचना करते हैं, यद्यपि, विद्या, तप और शीलमें ब्रह्माके सर्व पुत्र समान थे, तो भी श्रुतिगीतामें कहे हुए अर्थको पूर्णरूपसे सनन्दनने जाना है, इसलिए उसको ही यह अधिकार दिया गया कि आप वह उपदेश दो, जो सर्व नहीं जानते हों, तदनुसार सनन्दनने यह 'श्रुतिगीता'का उपाख्यान कहकर सुनाया, श्रवणानन्तर ब्रह्माके पुत्रोंने इस श्रुतिगीताका पूर्ण अर्थ यदि न जान लिया होता तो, सनन्दनका पूजन द्वारा अभिनन्दन न करते, यों कहकर सिद्ध किया है कि ब्रह्माके पुत्रोंने श्रुतिगीताका अर्थ समझा है तथा यह भी बताया है कि यह अर्थ 'भगवान्' ही सेव्य है वह जनलोक निवासियोंको भी दुर्लभ है, कारण कि वहां तो ब्रह्मवाद(ज्ञानमार्ग) है जिससे भगवद्भजनानन्दके आनन्दको वे नहीं जानते हैं, यह भजनानन्दरूप नवीन अर्थ तो अब ही प्रकट हुआ है, जिसकी प्राप्ति होनेसे ये सिद्ध हुए हैं अतः अब इनको अन्य कुछ भी श्रवण करनेकेलिए शेष नहीं रहा है, इन ब्रह्माके पुत्रोंको आत्मज्ञान तो था, किन्तु 'भगवानका भजन ही परम रसपान करनेका केवल एक उपाय है' इस ज्ञानका पता इनको अब लगा है, अतः अब ये पूर्ण सिद्ध हुए यह सार है।।४२।।

आभासार्थ – नारदजीके मनमें उस समय, यह भी इच्छा हुई कि, जैसा यह अर्थ है वैसा अन्य अर्थ भी होगा, उसको भी जान लूं, इससे यह 'इत्यशेष' श्लोक कहते हैं.

इत्यशेषसमाम्नाय–पुराणोपनिषद्रसः।
समुद्धृतः पूर्वजातैः व्योमयानैर्महात्मभिः।।४३।।

श्लोकार्थः सकल वेद, पुराण और उपनिषदोंमें जो रस है, वह पूर्व उत्पन्न हुए आकाशमें भ्रमण करनेवाले महात्माओंने खींच लिया है।।४३।।

अर्थः स्थलत्रये गूढः पुराणोपनिषच्छ्रुतौ।
सर्वतः सारमेतद् हि समुद्धृतम् इहोच्यते।।का.४३।।

कारिकार्थः पुराण, उपनिषद् और श्रुतियां इन तीन स्थानोंमें भगवद् भजनानन्द रस गुप्तरूप रहा है, जहांसे(श्रुतिगीतासे) यह सार निकालकर यहां कहा जाता है, अतः इसके सिवाय अन्य कोई सार नहीं है।।४३।।

व्याख्यार्थः समस्त वेद(मन्त्रभाग) उपनिषद्(ब्राह्मणभाग) और पुराण, इन सबका पूर्ण रीतिसे मन्थनकर यह अर्थ निकाला है इसलिए यह अर्थ 'रस' है, प्रथम यह रस वेद, पुराण और उपनिषदोंमें था, अनन्तर प्रथम उत्पन्न आकाशमें भ्रमण करनेवाले महात्मा सनकादिकोंने उस रसको उनसे खींच, पृथक कर इस श्रुतिगीतामें धरा है, उनमेंसे रस खींचनेका कौनसा प्रयोजन था? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'महात्मा' हैं इसलिए उनको सबका उपकार ही करना है अतः सब पर उपकार करनेकेलिए खींचा है, यदि न खींचते तो यों केवल इस छोटे 'श्रुतिगीता'से जीव कैसे रसपान कर सकते?।।।४३।।

आभासार्थः इस प्रकार श्रुतिगीताका माहात्म्य कहकर 'त्वं चैतद्ब्रह्मदायाद' श्लोकमें नारदजीको विशेष कार्य करनेका उपदेश देते हैं.

त्वं चैतद् ब्रह्मदायाद श्रद्धयात्मानुशासनम्।
धारयंश्चर गां कामं कामानां भर्जनं नृणाम् ।।४४।।

श्लोकार्थः हे ब्रह्मस्वरूपके ज्ञानके उत्तराधिकारी ब्रह्माके पुत्र! मनुष्योंकी कामनाओंके नाशक जीवार्थ दिए हुए इस उपदेशको तुम धारण करते हुए पृथ्वी पर स्वेच्छापूर्वक घूमते रहो।।४४।।

व्याख्यार्थः ब्रह्माका पुत्र ब्रह्मका उत्तराधिकारी होता है, यहां तो ब्रह्ममें ही उत्तराधिकार प्राप्त कर लिया है, इसलिए यह सम्बोधन खास नारदजीके अधिकार बतानेकेलिए कहा है, जो ब्रह्मका उत्तराधिकारी होता है उसके हृदयमें यह अर्थ स्फुरता है अतः आत्मा यानि आप(नारदजी)को दिया हुआ यह उपदेश उसी ही अर्थका सदैव विचार करते हुए पृथ्वी पर सर्वत्र यथेच्छा परिभ्रमण करो.

परित्यागसे ही, इस शास्त्रमें जिसके भजनका प्रतिपादन किया है उसका भजन हो सकता है, जीवोंको तो जब ऐसा उपदेश मिले तब निरन्तर भगवत्स्मरण हो सकता है, नारदजीको तो निरन्तर स्मरण सिद्ध ही है.

महान् पुरुषको भी भगवत्स्मरणमें बाधक केवल 'काम' ही है, किसी महान पुरुषने कामको न जीता हो तो उसकेलिए, यह सर्व कामनाओंके नाश करनेका साधन है, 'नृणां' पदसे मनुष्योंका विशेष हितकारी है, यह सूचित किया

है।।४४।।

आभासार्थ: यह भगवानका दिया हुआ उपदेश नारदजीके हृदयमें जम गया यों जतानेकेलिए उसकी कथा 'एवं स' श्लोकसे कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

एवं स गुरुणादिष्टं गृहीत्वा श्रद्धयात्मवान् ।

पूर्णः श्रुतधरो राजन् आह वीरव्रतो मुनिः ।।४५।।

श्लोकार्थ: श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन्! इस प्रकार गुरुजीके उपदेशको श्रद्धासे ग्रहणकर अधिकारी, ज्ञानी, नित्य स्मरण करनेवाले एवं अविलंब कार्य करनेवाले मुनि कहने लगे।।४५।।

व्याख्यार्थ: यद्यपि नारदजीने बहुत उपदेश सुने थे तो भी इस उपदेशमें विशेष श्रद्धावान् हुए, 'आत्मवान्' पदसे वह अधिकारी है यह सूचित किया है, 'पूर्ण' पदसे यह सूचित किया है कि इनको अर्थका ज्ञान हो गया है, अतः ज्ञानी है. 'श्रुतधर' पदसे यह बताया है कि केवल सुनते ही शब्दसे और अर्थसे उसको जान लेते हैं, इससे वह नित्य स्मरण करते हैं यह सूचित किया और नारदजीको अब अभ्यास करनेकी अपेक्षा नहीं है, वह भी बता दिया. हे राजन्! यह संबोधन परीक्षितको देकर यह सूचित किया है कि, यह अर्थ ग्रहण करनेके योग्य है, वह अर्थ नारदजीने जान लिया है, यह बतानेकेलिए गुरुजीको कुछ कहते हैं, क्योंकि नारदजी 'वीरव्रत' हैं अर्थात् वीरों जैसे व्रतवाले हैं, जिससे एक ही समयमें कार्य कर देते हैं, विलम्बको सहन नहीं करते हैं, इस प्रकार नारदजीमें क्रियाशक्तिकी अधिकता कहकर, ज्ञानशक्तिकी विशेषता दिखानेकेलिए 'मुनि' विशेषण दिया है।।४५।।

आभासार्थ – 'नमस्तस्मै' श्लोकसे अपने गुरुको नमस्कार करेंगे.

नारद उवाच

नमस्तस्मै भगवते कृष्णायामलमूर्तये ।

यो धत्ते सर्वभूतानाम् अभवायोशतीः कलाः ।।४६।।

श्लोकार्थ: नारदजी कहने लगे कि उन निर्मल स्वरूप भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजीको नमस्कार है, जो सकल भूतोंके मोक्षार्थ सुंदर कलाओंको धारण करते हैं।।४६।।

व्याख्यार्थ: नारायणका मूलस्वरूप कृष्ण है, अर्थात् श्रीकृष्णने ही

नारायण स्वरूपसे अवतार धारण किया है, इसलिए कृष्ण ही मूलस्वरूप है, यद्यपि लोकमें यह प्रसिद्ध है कि नारायणका ही अंश कृष्ण है, जिसमें प्रमाण 'ताविमौ वै भगवतो हरेरंशाविहागतौ' ये दो(बलराम-कृष्ण) इस लोकमें भगवान् हरिके अंश प्रकटे है, तो भी श्रुतिगीताकी शिक्षासे उसने इससे विपरीत जाना, क्योंकि श्रुतिगीतामें कहा है कि 'शेषकी कायाके समान भुजदण्डोंमें आसक्त बुद्धिवाली स्त्रियां है' इससे इस श्लोकमें इन स्त्रियोंको श्रुतियोंके समान कहा है, ऐसी आसक्त बुद्धिवाली स्त्रियां गोपिका आदि ही हैं, जो श्रीकृष्ण स्वरूपमें ही थी, न अन्य अवतारोंके स्वरूपोंमें इसलिए वह श्रीकृष्ण ही भजन करने योग्य हैं, यो श्रुतिगीतामें निरूपण हुआ है, यों इसने जाना.

माहात्म्यं बहुधा ज्ञात्वा जीवानां च गतिं पराम्.
सर्वं त्यक्त्वा विधायैतन् नित्यं कृष्णं स्मरंश्चरेत्।।का.४४।।

कारिकार्थ: मनुष्य सर्व प्रकार भगवानके माहात्म्यका ज्ञान प्राप्त करे, अनन्तर यह निश्चय कर लेवें कि जीवोंकी परमागति श्रीकृष्ण ही है, इस श्रुतिगीताके उपदेशको हृदयमें धारणकर, सब सांसारिक कार्योंको छोड़ नित्य श्रीकृष्णका स्मरण करता हुआ विचरण करें।।४४।।

व्याख्यार्थ: इस उपाख्यानका इतना तात्पर्यार्थ है यों जानकर नारदजी कृष्णको ही नमस्कार करेंगे(करते हैं) श्रीकृष्ण तो एक अवतार यों समझनेसे जो दोषका भान होता है उसका 'अमलमूर्तये' पदसे निराकरण किया है कि आप निर्मल स्वरूप हैं, अथवा जो निर्मल हैं उनमें जिसकी मूर्ति है, अथवा इस पदसे भगवानकी प्राप्तिका उपाय बताया है.

यह साक्षात्(प्रत्यक्ष) गुरु नारायण है, जिसका अवतार कृष्ण है इस प्रत्यक्षको नमस्कार न कर 'तस्मै'से परोक्षको प्रणाम क्यों किया? इस शंकाके निवारणार्थ कहा है कि 'या धत्ते सर्वभूतानां भवाय' जो सर्व प्राणियोंको मोक्ष देनेकेलिए ही सुन्दर स्वरूपोंको धारण करते हैं, वह ही इस(नारायण)रूपसे हम लोगोंके उद्धारार्थ प्रकट हुए हैं यों होते हुए भी यह(नारायण) मूलरूप नहीं है, यह उपकार(उद्धार आदि) भी उसका(श्रीकृष्णका) ही है इसलिए उसको ही नारदजीने नमस्कार किया है, यह तात्पर्य है।।४६।।

आभासार्थ: गुरुको नमस्कार करना चाहिए वह क्यों न किया? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर 'इत्याद्यमृषिमानम्य' श्लोकमें दिया है.

इत्याद्यम् ऋषिम् आनम्य तच्छिष्यांश्च महात्मनः ।
ततोऽगाद् आश्रमं साक्षात् पितुर्द्वैपायनस्य मे ।।४७।।

श्लोकार्थः इस प्रकार आद्य ऋषिको प्रणामकर और उनके जो शिष्य महात्मा थे, उनको भी नमस्कारकर अनन्तर मेरे पिता द्वैपायनके साक्षात् आश्रममें गए।।४७।।

व्याख्यार्थः इसलिए उनको नमस्कार किया, कारणकि वे आद्य ऋषि हैं अपने स्वरूपको जानते हैं कि मैं कृष्ण हूं, उनके शिष्य भी उनके स्वरूपको जानते हैं क्योंकि महात्मा हैं जिससे वस्तु स्वरूपको जान सकते हैं, जो बहिर्मुख हैं वे वस्तु स्वरूपको नहीं जान सकते है, यह मत दूसरोंका मत है क्योंकि सनन्दनने कहा है इस शंकाके निवारणार्थ कहते हैं कि नहीं, इस मतमें व्यासजी सम्मति है, यह बतानेकेलिए व्यासजीका सम्बन्ध कहते है, 'ततोऽगादाश्रम साक्षात् पितुर्द्वैपायनस्य मे' अनन्तर मेरे पिता द्वैपायनके साक्षात् आश्रममें गए, यद्यपि व्यासजीके आश्रम स्थान बहुत हैं किन्तु नारदजी मूल जो स्थान है वहां गए, इसलिए 'साक्षात्' पद दिया है, जब व्यास साक्षात् भगवान् हैं तो उन्होंने स्वतः क्यों न जान लिया, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि वे 'द्वैपायन' अतः न जान सके अर्थात् व्यासका जन्म टापू पर होनेसे उनकी बुद्धिमें भी जन्म स्थानके प्रभावसे कदाचित् द्विधा भाव हो जाता है।।४७।।

सभाजितो भगवता कृतासनपरिग्रहः ।
तस्मै तद् वर्णयामास नारायणमुखात् श्रुतम् ।।४८।।

श्लोकार्थः भगवान् व्याससे पूजित और आसन प्राप्त नारदजीने नारायणजीके मुखसे जो गूढ तत्त्व सुना था, वह उन(व्यासजी)को वर्णनकर बता दिया।।४८।।

व्याख्यार्थः आनेके बाद वहां भगवान् व्यासजीसे अच्छी तरह सत्कार किए हुए और उनसे आसन प्राप्त किए हुए नारदजीने नारायणके मुखसे जो गूढ उपदेश सुना था वह वर्णन कर बताया, पश्चात् शुकदेवजीने कहा कि मैने भी जो परम्परासे उपदेश प्राप्त किया है वह भी तुम्हें कह दिया.

इस प्रकारके विचार करनेसे ही जैसे निर्गुण स्वरूपमें मनका प्रवेश हो, वैसे करना चाहिए, भगवानने यदि ऐसी तुम्हारी बुद्धि की है तो ऐसी बुद्धिसे मन प्रविष्ट होगा, यों भाव है।।४८।।

इत्येतद् वर्णितं राजन् यन्नः प्रश्नः कृतस्त्वया।
यथा ब्रह्मण्यनिर्देश्ये निर्गुणेऽपि मनश्चरेत् ।।४९।।

श्लोकार्थः हे राजन्! तुमने जो यह प्रश्न किया था कि अनिर्देश्य और निर्गुण ब्रह्ममें जैसे मन लगे, वह प्रकार बताइये. उसमें जिस प्रकार मन लगेगा, वह प्रकार वर्णन कर दिया।।४९।।

व्याख्यार्थः इस अर्थको न जाननेसे पूछा तो एक और उत्तर दूसरा दिया यों न समझना इसलिए इस अर्थको कहा है कि, जो प्रश्न तुमने किया उसका ही यह उत्तर दिया है, वेद तो निर्गुणका प्रतिपादन करते है, किन्तु किस प्रकार करते हैं? इस संदेहके होने पर कहा कि इस प्रकार(इस अध्यायमें कहे हुए प्रकारसे) ही प्रतिपादन करते हैं, यों जाननेवालेका 'मन' निर्गुण ब्रह्ममें भी विचरण करेगा।।४९।।

आभासार्थ – शुकदेवजी भी श्रुतिगीतामें जिस अर्थका प्रतिपादन हुआ है वह अर्थ सरलतासे समझमें आ जावें इसलिए स्वयं संक्षेपमें 'योऽस्योत्प्रेक्षक' श्लोक कहते हैं.

योऽस्योत्प्रेक्षक आदि–मध्य–निधने योऽव्यक्त–जीवेश्वरो
यः सृष्ट्वेदम् अनुप्रविश्य ऋषिणा चक्रे पुरः शासिताः।
यं सम्पद्य जहात्यजाम् अनुशयी सुप्तः कुलायं यथा
तं कैवल्य–निरस्तयोनिम् अभयं ध्यायेद् अजस्रं हरिम् ।।५०।।

श्लोकार्थः जो भगवान् इस जगतका आदि, मध्य और अन्तमें हित विचारते हैं और इस जगतके आदि मध्य और अन्तरूप हैं एवं प्रकृति, पुरुष तथा ईश्वररूप हैं. जो इस जगतकी रचना कर वेद सहित इसमें प्रवेश कर पृथक्–पृथक् शरीर धारण करते हैं, फिर उनको अपने वशमें रखते हैं, जैसे सुप्त पुरुष देहको भूल जाता है, वैसे ही जिसको प्राप्त कर प्रकृतिका अनुयायी भी अविद्याका त्याग करता है, जिसने केवल होनेके कारण योनिका नाश कर दिया है और निर्भय है, वैसे नित्य हरिका ध्यान करना चाहिए।।५०।।

व्याख्यार्थः माहात्म्य जानकर भगवानकी सेवा करनी चाहिए, यों कहा है. श्रुतिगीताके 'माहात्म्य' और 'भजन' ये दो अर्थ हैं.

उस श्रुतिगीतामें भजनका प्रतिपादन करनेवाली सकल श्रुतियोंका सार इकट्ठा कर घ्यायेदजस्र पद कहा है जिसका भावार्थ है कि भगवानको हृदयमें

विराजमान कर वहां उसका ध्यान करें, अर्थात् तत्प्रवणरूप सेवा करे, 'अजस्र' पदसे यह बताया है कि वह सुखरूप एवं सर्व दुःखहर्ता है, वहां यह सिद्ध किया है कि भगवानका माहात्म्य, गुणरूप और दोषाभावरूप है. गुणरूप माहात्म्य द्वादश प्रकारका है यह निरूपण करते हैं.

जो भगवान् यह समग्र जगत् सुखी हो यों देखना चाहते हैं, सदैव यह चिन्तन करते रहते हैं कि इन जीव समूहोंका निस्तार(उद्धार) कैसे होगा? यो विचार कर कहते हैं कि इस प्रकार होगा, यों हित ही विचारते हैं. यह एक गुण है जिससे भगवान् ही भजनीय है, आवश्यकताकेलिए तीन गुण कहते हैं कि, इस जगतके आप आदि, मध्य और अन्तरूप है. इस प्रकार ये तीन गुण और एक ऊपर हितचिन्तक गुण कहा, इन चार गुणोंसे आप एक सृष्टिके कारणरूप हैं अतः भगवान् भजनीय हैं, ये गुण भगवान् सेव्य है, इसके साधक हैं.

अब माहात्म्य प्रदर्शक तीन गुण कहते हैं, जो भगवान् अव्यक्त (प्रकृति), जीव(पुरुष) और ईश्वर(काल-सबको वशमें रखनेवाले) यों तीन गुणरूप कहे, इस प्रकार सात गुण निरूपण किए, शेष पांच गुणोंको कहते हैं: १.जिस भगवानने इस जगत(ब्रह्माण्ड)को रचा, २.फिर उस(ब्रह्माण्ड)में प्रवेश किया, ३.अनन्तर वेदसे अथवा मुख्यजीवके साथ सम्बन्ध बनाया, ४.पश्चात् देव, तिर्यग् आदि शरीर बनाए, ५. सबको अपने वशमें रखा, इस प्रकार १२ गुण कहे, इनसे आपका माहात्म्य गुणरूप है, जिस माहात्म्यके कारण आप ही सेव्य हैं.

भगवानमें दोषोंका अभाव है जिस कारणसे भी आप ही भजनीय हैं, तीन दोषोंका अभाव दिखाते हैं, जीव, जिसको मनसे भावनाकर, प्राप्त कर लेनेसे अविद्याको मिटा देते हैं अर्थात् अविद्या फिर उस पर अपनी सत्ता नहीं चला सके, तब तो स्मरणसे ही मुक्त हो जाना चाहिए. यों होवे तो फिर देह ग्रहण नहीं होनी चाहिए, इस पर कहते हैं कि जैसे सुप्त पुरुष देह भूल जाता है जिससे उसका स्मरण ही नहीं होता है, वैसे ही भगवानसे सम्बन्ध मात्रसे कार्य सहित अविद्याको छोड़ देता है, सर्वथा उसका स्मरण नहीं करता है, इसी प्रकार परम्परासे दोषोंका अभाव निरूपण किया जिसका आशय है कि, सर्वात्मरूपसे अजाका परित्याग हो जाता है किन्तु यो कहकर भगवानके माहात्म्यको दिखाया.

२.आप केवल अर्थात् एक ही है जिससे जन्म-मरण कारणभूत

(योनि)को नष्ट कर दिया है, जब सब ही आप भगवान् हैं तो दूसरी योनि अधिक कहांसे आवे ? यों दूसरे दोषका निवारण किया है.

३.स्वयं आप तो निर्भय है किन्तु सर्वभय निवर्तक है, इससे तीसरा दोष भी निवारण किया.

इसी प्रकार निर्दोष पूर्णगुणरूप भगवान् हैं, इसलिए स्वतः ही परमानन्द देते हैं और दुःख दूर करते हैं, वैसे भगवानका ही सबको भजन करना चाहिए, यह ही तात्पर्य है।।५०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंधके ८४वें अध्याय की श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृतटीका)के गुण प्रकरणके तृतीय अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण।

अध्याय ८५

शिवजीका संकटमोचन

एवं कृष्णस्य मूलत्वे सन्दिहानस्य संशयः।
निवारितोऽतियत्नेन येन कृष्णः परः स्मृतः।।१।।

कारिकार्थः श्रीकृष्णके मूलत्व(ब्रह्मपन)में संदेहकर्त्ताका सन्देह[१] ऐसे अति प्रयत्नसे दूर किया, जिससे सर्वने कृष्णको सर्व श्रेष्ठ समझा।।१।।

१.सुभद्रा हरण आदि कार्यसे सिद्ध हुआ कि श्रीकृष्णमें वीर्य गुण पूर्ण नहीं है तो फिर वह मूलब्रह्म कैसे? इस सन्देहका निवारण यों किया है कि श्रीकृष्ण अलौकिक है उनके कार्य अलौकिक(दिव्य) हैं जिससे वे जो कुछ करते हैं उनमें कौनसा रहस्य है उसको लोकदृष्टिसे कोई नहीं जान सकता है इस प्रकार बहुत प्रयत्नसे पिछले अध्यायमें सन्देहका निवारण किया है.

जब अलौकिकमें श्रुतियोंकी भी प्रवृत्ति नहीं हो सकती है तो चक्षु आदिकी कैसे हो सकेगी श्रीकृष्णमें तो चक्षु आदिकी प्रवृत्ति होती है अतः वे मूलब्रह्म नहीं है, इस प्रकारका संशय प्रमाणोंके कारण हुआ है, इस संशयका भी निवारण पिछले अध्यायमें यह बताकर किया है कि श्रुतियां भगवानका ग्रहण किस प्रकार करती है.

व्यवहारस्तथैवात्र कृष्णे पर्यवसानतः।
सर्वेन्द्रियाणां ग्राह्यत्वं श्रुतिनां हि यथोदितम्।।का.२।।

कारिकार्थः जैसे श्रुतियोंके सर्व व्यवहार, अन्तमें भगवानमें ही विराम पाते हैं, अर्थात् भगवानको ही ग्रहण करते है, वैसे ही सर्व अलौकिक इन्द्रियां भी भगवानमें विराम पाती हैं. यानि अन्तमें भगवानको ही प्राप्त करती है, जिससे, अलौकिक इन्द्रियां सर्वत्र भ्रमण करती हुई भी अन्तमें भगवानके ही लावण्यरूप रसका ही पान करती हैं।।२।।

भजनीयगुणे त्वत्र सन्देहः कश्चिदुद्गतः।
तन्निवारयितुं प्रश्नः पुना राज्ञा निरूप्यते।।का.३।।

कारिकार्थः यहां तो राजाको, भजन करने योग्य भगवानके गुणोंमें एक कोई सन्देह उत्पन्न हुआ, जिसके निवारणार्थ राजाने पुनः प्रश्न[१] किया, वह निरूपण करते हैं।।३।।

१ प्रश्नसे यह सूचित किया कि इस अध्यायमें यों कहता है.

पूर्वाध्यायो यशोव्यक्त्यै श्रियै चायमुदीरितः।

अतः श्रियं सदा कृष्णे नित्यामाहाव्ययां क्वचित्।।का.४।।

कारिकार्थः पूर्व अध्यायमें भगवानके 'यश'का प्राकट्य कहा, यह अध्याय 'श्री'गुणके प्रकट करनेकेलिए कहा है, जिससे यह बताया है कि भगवान श्रीकृष्णमें अव्यय 'श्री' सदा और नित्य विराजती हैं।।४।।

यथानन्दो न सर्वत्र तथा श्रीरपि देवता।

तथात्वं दूषणं लोके भ्रान्तबुद्धौ निरूपितम्।।का.५।।

कारिकार्थः जैसे आनन्द, श्रीकृष्णके सिवाय अन्यत्र कहीं भी नहीं है वैसे ही लक्ष्मी भी श्रीकृष्णके सिवाय अन्य किसीके पास स्थिर नहीं है लोकमें तो लक्ष्मीवान् होना दोष है क्योंकि चंचल होनेसे जिसके पास जाती है वह चंचल मनवाला हो जाता है, अतः भगवानके पास लक्ष्मी होनेसे उनमें भी यह दोष है, यों भावना भ्रान्त बुद्धिके कारण होती है।।५।।

अतोऽत्र भजनीयार्थं लक्ष्मीनिर्णय उच्यते।

एकोनचत्वारिंशे च तत्प्रसंगात् कथान्तरम्।।का.६।।

कारिकार्थः इससे उत्तरार्धके इस ३९वें अध्यायमें लक्ष्मी सम्बन्धी निर्णय कहा है जिससे श्रीकृष्ण ही सेव्य है यह सिद्ध हो जावे।।६।।

शिवादिसर्वदेवानां दातृत्वमविचारितः।

विचारेण तु दातृत्वं कृष्णस्यैव विशेषतः।।का.७।।

कारिकार्थः शिव आदि देव बिना विचार किये दान देते हैं किन्तु विचारपूर्वक श्रेष्ठ ढंगसे दान देनेवाले तो श्रीकृष्ण ही हैं।।७।।

अविचारितदानेन स्वयं दातापि नश्यति।

सम्प्रदानस्य का वार्ता तस्माच्छ्रीशो न तत्प्रदः।।का.८।।

कारिकार्थः बिना विचार किये यों ही दान देनेसे दाताका भी नाश होता है तो लेनेवालेकी क्या दशा होगी? वह कही नहीं जाती है, इससे लक्ष्मीपति बिना विचार किये दान नहीं देते हैं।।८।।

दुष्टैव श्रीरन्यगता शुद्धा कृष्णैकतत्परा।

कृष्णमेव ततो वाञ्छेत् न श्रियं बुद्धिमान् क्वचित्।।का.९।।

कारिकार्थः अन्य किसीके पास जो लक्ष्मी जाती है, वह चंचल दोषयुक्त है, केवल जो लक्ष्मी भगवानके पास है वह चंचल दोषरहित होनेसे शुद्ध है, जिससे भगवान् दोषरहित हैं, अतः बुद्धिमानको भगवानकी प्राप्तिकी इच्छा करनी

चाहिए न कि लक्ष्मीकी इच्छा करनी चाहिए।।९।।

कारिकार्थ समाप्त.

आभासार्थ : परब्रह्मरूप भगवान् कृष्णमें, प्रमाण विषयक जो सत्यादि गुणरूप दोष प्राप्त हुए थे, पूर्वाध्यायमें निर्गुण ही प्रमाण विषय है यों कहकर उन दोषोंका परिहार किया. अब प्रमेयरूप भगवान् श्रीकृष्णमें अदातृत्व आदि दोषोंके परिहारकेलिए यह दूसरा अध्याय प्रारंभ करते हैं, राजा परीक्षित भगवानमें दातृत्वका सन्देह करता है और लोकमें अदाताकी निन्दा सुनी जाती है, जिससे उस विषयके निर्णयकेलिए 'देवासुरमनुष्येषु'से दो श्लोकोंमें पूछता है.

राजोवाच

देवासुरमनुष्येषु ये भजन्त्यशिवं शिवम्।
प्रायस्ते धनिनो भोजा न तु लक्ष्म्याः पतिं हरिम्।।१।।

श्लोकार्थः राजाने कहा कि देव, असुर और मनुष्योंमें जो अशिव शिवका भजन करते हैं, वे धनादिसे सुख भोगते हैं अर्थात् उनके पास प्रायः धनादि सुखके साधन प्राप्त होते हैं और जो हरिकी सेवा करते हैं, वे न धनाढ्य होते हैं तथा न ही सुख भोगते हैं।।१।।

व्याख्यार्थः देव, असुर और मनुष्य तीन प्रकारके जीव ही क्यों कहे? पशु आदि भी जीव हैं वे क्यों न कहे? अतः यों कहनेका हेतु आचार्यश्री 'उपासन समर्थाः' पदसे प्रकट करते हैं कि, इन तीनोंके सिवाय पशु आदि जीव उपासना करनेमें असमर्थ हैं, इसलिए ये तीन कहे हैं, ये तीन ही उपासना कर सकते हैं, यों कहकर दूसरे देवोंकी उपासनाका निषेध दिखा भगवानकी ही उपासनाका विधान करते हैं, दूसरे देव भी ऐहिक सुख देते हैं, उनका निषेध कैसे किया जाता है? इसलिए इस सम्बन्धमें महादेवकी सूचना करते हैं, इन तीन प्रकारके जीवोंमेंसे जो लक्ष्मी द्वारा प्राप्त शोभासे रहित है ऐसे शिवकी उपासना करते हैं, वे धनी होते हैं, जो ज्ञान चाहते हैं वे तो बहुतकर शिवसे धनकी इच्छा नहीं करते हैं, और वे, केवल धनी नहीं किन्तु भोगी भी होते हैं, कारणकि शिव वह ही धन देता है जिस धनसे दान भोग हो सके, जो कदाचित् हरि, धन देवे तो, उस धनमें कहा हुआ भोगादि दूषण न होगा, इसलिए प्रकृतिमें निषेध करते हैं कि, वे लक्ष्मीके पतिका भजन करनेवाले वैसे नहीं होते हैं, अर्थात् पैसे प्राप्त नहीं कर सकते हैं, यद्यपि लक्ष्मी भगवानके पास है, जिससे आप शोभायमान भी हैं तो भी नहीं देते हैं,

क्योंकि वे आप सकल प्रकारके दुःखोंके हर्ता हैं, अतः जो लक्ष्मीके पतिकी सेवा करते हैं, वे न धनी बनते हैं और न भोगी होते हैं, दोनोंमें स्वरूपसे तो तुल्यता(एकत्व) है किन्तु गुणोंके कारण तारतम्यता कही है।।१।।

१.शिव इतना धन देते है जिससे शीव भक्त दूसरोंका पालन-पोषण कर सकते है और अपना व्यवहार भी अच्छी तरह चलाते है.

यदि दोनों(शिव और हरि)के स्वभाव इसी प्रकारके ही हैं तो, मैं इसको जानना चाहता हूं कि ऐसा क्यों?

एतद् वेदितुम् इच्छामः सन्देहोऽत्र महान् हि नः।
विरुद्धशीलयोः प्रभ्वोः विरुद्धा भजतां गतिः ।।२।।

परस्पर विरुद्ध स्वभाववाले प्रभुओं(समर्थवालों)के भजन करनेवालोंको फल भी विरुद्ध मिलता है. जैसे धनादि देनेवाले शिव(लक्ष्मीरहित)के भक्तोंको धनादि फल मिलता है और धनादि न देनेवाले (लक्ष्मीसहित)हरिके भक्तोंको धनादि भोग नहीं मिलता है, इस विषयमें हमको महान् सन्देह है अतः इसको जानना चाहता हूं कि यह क्यों?।।२।।

इस विषयमें जो महान् संदेह है, उसका निवारण करना चाहता हूं, 'हि' पदसे कहते हैं कि यह अर्थ उचित है, भक्त होनेसे भजनीय स्वरूपके गुणमें जो संदेह हो, वह निवारण करना चाहिए, 'नः' बहुवचन देनेका तात्पर्य है कि केवल मुझे संशय नहीं है सर्व सेवकोंको संदेह है अतः अवश्य निवारणीय है, क्योंकि यहां अर्थात् इस विषयमें जो कौतुकाविष्ट है उनकी भी इच्छा है, कि संदेहकी निवृत्तिकेलिए प्रयत्न होना चाहिए, यह जतानेकेलिए कहा कि 'विरुद्ध शीलयोः प्रभ्वोः' दोनों समर्थ होते हुए भी विरुद्ध शीलवाले हैं, एक 'हरि' लक्ष्मीसहित और दूसरा 'शिव' लक्ष्मीरहित हैं, उनके सेवक भी विरुद्ध फलवाले होते हैं, जैसे लक्ष्मीविहीन शिवके भक्त, लक्ष्मीवान् होते हैं और लक्ष्मीसहित हरिके भक्त लक्ष्मीविहीन होते हैं, जिसको जो वस्तु पसंद आती है वह वस्तु अपने भक्तको देता है, यहां तो उसका अभाव है.

यहां संदेह करनेवालेसे पूछना चाहिए कि शिवजी आप स्वयं क्यों नहीं धनादिसे भोग भोगते हैं? क्यों भक्तोंको दे देते हैं? ये राज्यादि कैसे हैं, उत्तम सुखदाता हैं अथवा अधम दुःखदाता हैं? यदि उत्तम है तो आप क्यों नहीं भोगते हैं? यदि अधम हैं तो अपने भक्तोंको क्यों देते हैं? इसका उत्तर है कि ये भोग

अपकृष्ट अर्थात् अधम है, इसलिए आप नहीं भोगते हैं, फिर भक्तोंको क्यों देते हैं? जिसका उत्तर देते हैं कि उपासकोंका ही यह दोष है, वे यह ही मांगते हैं कारणकि वे उपासक अहंकारी हैं, अपने अहंकारको बढ़ानेकेलिए ही शिवजीसे धनादि प्राप्तकर अहंकारका पोषण करते हैं. इसलिए अहंकाराभिमानी तामस गुणाविष्ट शिवकी ही उपासना करते हैं न कि, शैवतन्त्र सिद्ध सदाशिवकी उपासना करते हैं कारणकि, साधारण और ज्ञानाधिकारके अभाववाले हैं।।२।।

इस कारणसे ऐसे अहंकारी भक्तोंकेलिए शिव भी वैसे होकर वैसे फल देते है जिसका निरूपण 'शिवःशक्तियुतः' श्लोकमें करते हैं.

श्रीशुक उवाच

शिवः शक्तियुतः शश्वत् त्रिलिंगो गुणसंवृतः।
वैकारिकस्तैजसश्च तामसश्चेत्यहं त्रिधा।।३।।

श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि शिव निरंतर शक्तिको अपने पास रखते है एवं सात्त्विक, राजस तथा तामस अहंकाराविष्ट होनेसे त्रिलिंग कहलाते हैं और तीन गुणोंके कारण तीन प्रकारके हैं।।३।।

शिवजीमें अहंकारका अभिमान मात्र है, न कि जीवकी तरह अहंकाराध्यास है, और शिवजी अहंकारी भक्तोंको उनके योग्य फल देनेकेलिए तथा जगत् हितार्थ 'शक्ति'को सदैव रखते हैं जैसाकि भागवतमें कहा गया है 'शक्त्या युक्तो विचरित घोरया भगवान् भवः' भगवान् शिव घोरशक्तिके साथ फिरते हैं, इस प्रलय करनेवाली शक्तिको शान्तात्मा शिव क्षणमात्र भी नहीं छोड़ते हैं, क्योंकि यदि छोड़ें तो यह शक्ति क्षणमें समग्र जगतको प्रलय कर दे, और शिवजी यदि कण्ठमें कालकूट विषको धारण न करें तो सब जो भक्ष्य पदार्थ अन्न आदि हैं उनके खानेसे मृत्यु हो जावे, क्योंकि सर्व वस्तुओंमें जो मृत्यु कारक दोष है उसका आधिदैविक स्वरूप कालकूट है, उसको कण्ठमें धारण कर लेनेसे सर्ववस्तुओंमेंसे दोषोंका अभाव हो गया है. जिससे अन्नादि भक्ष्य पदार्थ निर्दोष होकर सबको जीवन देते हैं, यदि शिवजी उसका त्याग करें तो सर्व वस्तुओंमें फिर वह दोष पैदा हो जावे, जिससे अन्नादि भक्षण द्वारा सर्वकी मृत्यु हो जावे.

यदि महादेव सर्पोंको धारण न करें तो कुण्डलिनी व्याप्त पुरुष, उससे ही मारे जावे, इस कारणसे कुण्डलिनीके आधिदैविक स्वरूप सर्पोंका निरोधकर कण्ठमें धारण कर लिए हैं, इसलिए कुण्डलिनी किसीको भी नहीं मार सकती है,

इससे यों सूचित किया है.

आप अग्निको धारण कर सबको दाहसे बचा रहे हैं, यदि अग्निको धारण न करें तो सबको अग्नि भस्म कर डाले.

आप चन्द्रमाको धारण कर सबको क्षीण होनेसे बचाते हैं, यदि चन्द्रमाको धारण न करते तो चन्द्रमा सबको अपने समान क्षीण कर देता.

आप वस्त्रोंको धारण न कर नग्न रहते हैं क्योंकि आप जानते हैं कि वस्त्र देवरूप हैं, सबकी रक्षा करते हैं, किसीके बाधक नहीं, 'मृत्योवा एष वर्णो यच्छार्दूलम्' इति श्रुते 'व्याघ्रचर्म मृत्युका वर्ण है' यो श्रुतिमें कहा है अतः मनुष्योंकी मृत्युको हटानेकेलिए आप व्याघ्रचर्म धारण करते हैं.

आपने गंगाको धारण इसलिए किया है कि अधिकारियों(भगवदीयों)की ही देह निर्दोष होवे, कारणकि गंगाजी स्पर्श मात्रसे ही दोषरूप देहको बदला कर भगवदीय देह बना देती है, यदि धारण न करते तो सबसे स्पर्श होता सबकी देह भगवदीय हो जाती तो अधिकारीपनका नियम लोप हो जाता.

आप जटाओंको धारण करते हैं, बादल केशरूप हैं, जैसे कहा है कि 'अम्बुवाहा: केशा:' यदि धारणा न करते तो बादलोंको वायु दूर-दूर ले जाती यहां लौट कर न आते जिससे यहां वर्षा ही न पड़ती, अतः आपने जटा धारण भी आवश्यक समझा.

इसी तरह शंकरने जो-जो पदार्थ धारण किए हैं उनका प्रयोजन शिवतन्त्रमें कहा है, वहां शिवजीका निर्दोषपूर्णगुण विग्रह सिद्ध किया है, इस प्रकारके होते हुए भी आप परम कृपालु होनेसे भक्तोंके आग्रहसे त्रिलिंग हुए हैं, इससे ही सत्व, रज और तमोगुणसे युक्त हुए हैं, उनके(महादेवके) त्रिलिंग होने वा गुणोंसे वेष्टित होनेका क्या हेतु है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'वैकारिकस्तैजसश्च' अहंकार सात्विक, राजस और तामस होनेसे त्रिविध है अतः आप भी अहंकाराभिमानी होनेसे त्रिलिंग हुए अतः गुणोंसे युक्त हो कर वैसे हो गए।।३।।

शिवजीके साथ रही हुई शक्ति पुरुष(श्रीशिवजी)के सम्बन्धसे प्रलय करनेका कार्य त्याग कर सृष्टि करने लगी, यह 'ततो विकारा' श्लोकमें वर्णन करते हैं.

ततो विकारा अभवन् षोडशामीषु कञ्चन।

उपाधावन् विभूतीनां सर्वासाम् अश्नुते गतिम् ।।४।।

उससे सोलह विकार दस इन्द्रियां(राजस अहंकारसे दश इन्द्रियां उत्पन्न हुइ), एक मन (सात्त्विक अहंकारसे मन उत्पन्न हुआ) और पांचभूत(तामस अहंकारसे पांचभूत(पृथ्वी, जल, वायु, आकाश और अग्नि) उत्पन्न हुए) हुए इनमेंसे किसीका भी आश्रय करनेवाला सर्व विभूतियोंका फल भोगता है।।४।।

पांच महाभूत मन सहित ११ इन्द्रियां ये षोडश विकार हैं, अर्थात् इसी तरह महादेवने १६रूप धारण किए, जैसा श्रुतिमें 'षोडशकलोऽयं पुरुषः' कहा है कि पुरुष १६ कलावाला है, इस कारण इन १६ भगवानकी मूर्तियोंमेंसे किसी भी मूर्तिका आश्रय करता है वह सब मूर्तियोंका फल पाता है, क्योंकि वह महादेव इन १६ विभूतियोंका स्वामी है, अतः आप ऐश्वर्योंको अक्षयरूप कर धारण करते हैं, यों कह कर महादेव विभूतिरूप है, इस मतका निराकरण किया है।।४।।

इस प्रकार महादेवमें दोषका निराकरणकर, भक्तोंके आग्रहके कारण ही विकारोत्पन्न फल देते हैं, यों निरूपण किया.

भगवानके विषयमें शंका करनेवाले वादीसे पूछना चाहिए कि लक्ष्मीरूप विषय उत्तम हैं, या अधम? यदि उत्तम है तो उपासकोंको क्यों नहीं देते हैं? यदि अधम है तो आप क्यों धारण करते हैं? इस विषयमें पहले कहे हुए प्रकारका 'हि' पदसे निवारण करते हैं.

लक्ष्मीरूप विषय अच्छे हैं अतः भगवान् धारण करते हैं यह उचित ही है.

लक्ष्मीके विषय, दोषरूप हैं इस पक्षकी स्थापना करनेकेलिए भगवानने शिवरूप धारण किया है इसलिए यहां फिर पूर्वपक्ष नहीं आ सकता है, वहां प्रश्न होता है कि यदि लक्ष्मीका विषय उत्तम है तो भक्तोंको क्यों नहीं देते हैं? इस शंकाका उत्तर देनेकेलिए 'हरिर्हि' श्लोक कहा है.

हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः ।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत् ।।५।।

हरि ही निर्गुण, प्रकृतिसे पर, साक्षात् पुरुष है, सबका सब कुछ देख रहे हैं, निकट भी देख रहे हैं, उनका भजन करनेवाला निर्गुण होता है।।५।।

हरि अपने भक्तोंको ऐश्वर्यादि देते हैं किन्तु दुःखरूप ऐश्वर्यादि नहीं देते हैं जैसे गजेन्द्रको, पूर्वावस्थावाले देह, स्त्री और ऐश्वर्यादि जो दुःखद थे उनका

त्याग करा कर परम आनन्दरूप ऐश्वर्यादि दिए, 'ही' पदसे यह सूचित किया है कि यों करना उचित ही है, शिवकी तरह क्यों नहीं देते हैं? जिसका उत्तर देते हैं कि आप 'निर्गुण' हैं, गुणकेलिए वह ही(शिवरूप) धारण किया है, उसरूपसे ही वह कार्य सिद्ध करते हैं, इसलिए ही आप गुणातीत हो कर विराजते हैं, इस स्वरूपमें गुणोंके ग्रहण करनेका कोई प्रयोजन है, इसलिए कहा है कि 'साक्षात् पुरुषः' साक्षात् पुरुष है अतः सब उपासकोंकी आत्मा है, जिससे उनका हित ही विचारते हैं उपासकोंके अनुरोधसे नहीं देते हैं, जिसके देनेसे भक्तोंका अहित न होवे वह पदार्थ देते हैं.

इसके पास ऐसी कोई शक्ति नहीं है, जिसके वश हो कर गुणोंको ग्रहण कर सगुण होवे, हरि पुरुष है, अतः प्रकृति स्त्री होनेसे स्वतः इनके पास आती है, जिसके उत्तरमें कहा कि 'प्रकृतेः पर' प्रकृतिसे पर हैं, यों होते भी भक्तोंके क्लेशोंको देख कर क्यों नहीं गुणोंको ग्रहण करते हैं? यदि यों कहते हो तो इसका उत्तर यह है कि 'स सर्वदृक्' 'स' पदसे यह सूचित किया है कि वह आत्माका हित करनेवाले हैं यो प्रसिद्ध है, सर्वका, सब दुःख-सुख सब देख रहे हैं इस कारणसे जब समझते हैं कि इसके बिना उपासकका कार्य सिद्ध नहीं होगा, तब ही उसको वह देते हैं, इस कारणसे ही ऐसे परम विचक्षणका जो भजन करता है वह स्वयं भी निर्गुण हो जाता है, कारणकि उसका गुणोंसे कोई प्रयोजन नहीं है.

भगवान् उस ही(निर्गुण ही) रूपसे प्रकटे हैं, इसलिए भक्त अपेक्षा नहीं करता है और भगवान् भी नहीं देते हैं।।५।।

प्रत्युत(बल्कि) यदि भक्तोंमें कोई दोष देखते हैं तो उसका अपहरण कर लेते हैं, यों कहनेकेलिए 'निवृत्तेष्वश्वमेधेषु' श्लोकसे उपाख्यान कहते हैं.

निवृत्तेष्वश्वमेधेषु राजा युष्मत् पितामहः।
शृण्वन् भगवतो धर्मान् अपृच्छद् इदम् अच्युतम्।।६।।
स आह भगवांस्तस्मै प्रीतः शुश्रूषवे प्रभुः।
नृणां निःश्रेयसार्थाय योऽवतीर्णो यदोः कुले।।७।।

अश्वमेधोंके पूर्ण हो जानेके अनन्तर तुम्हारे पितामह राजा युधिष्ठिरने भगवद्धर्म सुनते हुए यह सुना कि भगवान् भक्तोंकी सम्पत्ति नहीं बढ़ाते हैं, जिसमें सन्देह हो जानेसे यह अर्थ, अच्युतसे पूछने लगा।।६।।

उस पर प्रसन्न हुए वे प्रभु भगवान् मनुष्योंके निःश्रेयसकेलिए जिन्होंने

यदुकुलमें अवतार लिया है, सुननेकी इच्छावाले उसे कहने लगे।।७।।

शास्त्राज्ञा है कि तीन अश्वमेध पूर्ण करनेके बाद भगवद्धर्मोंका श्रवण करे, उसी आज्ञाका पालन करते हुए राजा युधिष्ठिर भगवद्धर्म श्रवण करत था जब सुना, कि भगवान् भक्तोंकी सम्पदाओंको बढ़ाते नहीं है, तब संशय ग्रस्त हो इसही विषयका संशय निराकरण करानेलिए अच्युतसे पूछने लगा.

भगवान् तो वहां ही स्थित थे, देख रहे थे कि यह भगवद्धर्मोंका श्रवण कर रहा है अतः उस पर प्रसन्न थे, जिससे गुह्य सिद्धान्त भी उस सुननेवालेको निःशंक हो कर कहने लगे, कारणकि आप प्रभु, अर्थात् सर्वसमर्थ हैं, जब वहां भगवद्रूप उपदेश करनेवाले व्यासादि भी उपस्थित थे, तब आप कैसे इस तरह कहने लगे इस शंकाको मिटानेकेलिए कहा कि 'नृणां निःश्रेय सार्थाय' आप मनुष्योंके निःश्रेयसार्थं यदुकुलमें प्रकट हुए हैं, अतः आप कहने लगे 'योऽवतीर्ण' 'यः' पदसे यह सूचित किया है कि भक्तोंको मोक्ष देनेकेलिए कृष्ण ही प्रकटे हैं न कि बलरामजी।।६-७।।

भगवान् कहने लगे ''जिस पर मैं अनुग्रह करता हूं.''

श्रीभगवानुवाच

यस्याहम् अनुगृह्णामि हरिष्ये तद् धनं शनैः।
अतोऽधनं त्यजन्त्यस्य स्वजना दुःखदुःखितम्।।८।।

श्रीभगवान् कहने लगे: जिस पर मैं अनुग्रह करता हूं, उसका धन धीरे-धीरे हरण कर लेता हूं; अतः जब दुःखी स्वजनोंसे भी यह विशेष दुःखोंसे दुःखित होता है, तब इस निर्धन दुःखीको अपने जन भी त्याग देते हैं।।८।।

जब अकेले पर ही कृपा करता हूं तब धन न हरकर, उसको ऐसी बुद्धि देता हूं, जो प्रपंचका त्याग कर भक्तोंका जा कर संग करता है और वहां कृतार्थ हो मुख्य भक्त बन जाता है, और जब उसके सब सम्बन्धियों(कुटुम्ब) पर अनुग्रह करना चाहता हूं तब उसका धन हरण करता हूं, क्योंकि वह धन सबका अपकारी होता, 'लट्'लकार दे कर शीघ्रता बताई है, किन्तु 'शनैः' पदसे यह सूचित किया है कि थोड़ा-थोड़ा हरण कर देखता हूं कि, इतने हरणसे इसको विवेक आया है वा नहीं? यदि विवेक आ जाता है, वह धन अपकारी अब नहीं होता है भगवत्सेवादिमें धनको लगाते हैं, तब आगे विशेषका हरण नहीं करता हूं, धन हरणसे क्या होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि, निर्धन होने पर उनके सम्बन्धी उस

कुटुम्बका त्याग करेंगे, यदि निर्धन अवस्थामें भी समर्थ हो शानसे रहता हो तो न छोड़ेंगे, इस पर कहते हैं कि 'दुःख दुखितं' अपने दुखी सम्बधियोंसे भी विशेष जब दुःखी होता है और उन दुःखी सम्बधियोंसे अन्नादिकी भीख मांगता है तब त्याग देते है, यह धनहरण करनेकी जो व्यवस्था है, वह उनकेलिए है जिसमें भक्तिके बीजकी स्थापना होते हुए भी वह सेवादिमें प्रवृत्त नहीं होता है, ऐसे जनके शिक्षार्थ ही यह व्यवस्था कर रखी है।।८।।

बंधुओंके त्याग करनेसे क्या होगा? इस पर ''स यदा वितथोद्योगो'' यह श्लोक कहते हैं.

स यदा वितथोद्योगो निर्विण्णः स्याद् धनेहया।
मत्परैः कृतमैत्रस्य करिष्ये मदनुग्रहम्।।९।।

वह जब धनप्राप्तिकी इच्छासे उद्यम करता है, किन्तु वे सब उद्यम जब उसके असफल हो जाते हैं, तब वह निष्किञ्चन हो, मेरे निष्किञ्चन भक्तोंसे मैत्री करता है; ऐसी अवस्थामें उस पर मैं स्वतः अनुग्रह करुंगा अर्थात् करता हूं।।९।।

जब उसको बन्धुगण त्याग देते हैं, तब वह निश्चय करता है कि अब परिश्रम कर धन इकट्ठा करके बान्धवोंको अपने वशीभूत कर लूंगा, ऐसे विचारवालेका जैसे धन नाश किया वैसे धन इकट्ठा करनेके कारण(साधन) भी नाश करूंगा, जिससे उसका वह उद्योग नष्ट हो जानेसे दुःख़ी हो विरक्त हो जाता है अर्थात् उसका सब(धन, सम्बन्धी और परिश्रम आदि)से प्रेम(सम्बन्ध) टूट जाता है.

'संसारसे विरक्त हो जानेसे योग्य योग्यसे ही मैत्री करता है' इस न्यायानुसार, जो विरक्तिके कारण मेरे परायण है उनसे मैत्री(सम्बन्ध) करता है, तब मुझसे स्वतः अनुग्रह प्राप्त कर सकता है अर्थात् ऐसी दशामें उस पर स्वयं स्वतः अनुग्रह करूंगा।।९।।

कौनसा अनुग्रह करेंगे? इस पर 'तद्ब्रह्म' श्लोक कहते हैं.

तद् ब्रह्म परमं सूक्ष्मं चिन्मात्रं सदनन्तकम्।
अतो मां सुदुराराध्यं हित्वान्यान् भजते जनः।।१०।।

वह ब्रह्म परम, सूक्ष्म, केवल चित् और अनन्त है, अतः बहुत कष्टसे जिसकी सेवा हो सके, ऐसे मुझे छोड़ कर मनुष्य सुआराध्य अन्यदेवोंको भजते हैं।।१०।।

आप कौनसा अनुग्रह करते हो? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि उसको ब्रह्मभाव हो जाता है, यही मेरा अनुग्रह है, उसके बाद मेरी मानसी सेवासे सर्व सुख प्राप्त करता है, यहां यह क्रम है–निष्किंचन होने पर प्रथम मेरे सेवकोंसे मैत्री होती है, जिससे इसके शील, व्यसनादि मेरे सेवकोंके समान हो जाते हैं, पश्चात् उन सेवकों द्वारा मुझसे वा दूसरे किसीसे उसके ज्ञानका उदय होता है फिर ज्ञानसे पूरा हो अकेले ही मेरा भजन करने लग जाता है.

शब्दब्रह्मके भावकी व्यावृत्तिकेलिए 'परम' शब्द दिया है, कार्य ब्रह्मकी व्यावृत्तिकेलिए 'सूक्ष्म' शब्द दिया है. सगुण ब्रह्मकी व्यावृत्तिकेलिए 'केवलचित्' शब्द दिया है, असत् जीवभावकी व्यावृत्तिकेलिए 'सत्' पद दिया है, सत् जीवभावकी व्यावृत्तिकेलिए 'अनन्त' पद दिया है, इस प्रकारकी व्याख्यासे ब्रह्मका 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह श्रुति प्रोक्त लक्षण दे कर यह सूचित किया है कि ऐसे सेवकका मैं 'तत्त्वं' वह तू है इस प्रकारका ब्रह्मभाव सिद्ध करता हूं.

यों करनेसे कौनसा पुरुषार्थ सिद्ध होगा? पहले ही क्यों न ज्ञानका उपदेश किया जाता है? इस पर कहते हैं कि यह सत्य है कि, पहले ही ज्ञानका उपदेश नहीं दिया जाता है, धनादि हरण कर निश्किंचन करनेमें आता है पश्चात् मुक्ति दी जाती है, किन्तु यों करनेमें दूसरा भी प्रयोजन है, इस लोकके सुख मांगने पर भी नहीं दिए जाते हैं, इत्यादि कारणोंसे भगवान् कष्टसे आराध्य है यों समझ कर ही लौकिकजन मुझे त्याग दूसरोंका भजन करते हैं, यदि दूसरोंके भक्त न हो कर मेरे ही भक्त रहें तो मेरे भक्त अनेक प्रकारके दुष्ट वा कोई अच्छे होते, यों न हो तदर्थ मैंने यह व्यवस्था कर रखी है।।१०।।

यदि दूसरा भी वैसा होवे तो आपमें फिर क्या विशेषता रही? इस पर यह 'ततस्त आशुतोषेभ्यो' श्लोक कहते हैं.

ततस्त आशुतोषेभ्यो लब्धराज्यश्रियोद्धताः।
मत्ताः प्रमत्ता वरदान् विस्मरन्त्यवजानते ।।११।।

पश्चात् वे शीघ्र प्रसन्न हो कर कामनाओंको पूर्ण करनेवाले देवोंसे राज्य और लक्ष्मी आदि प्राप्त कर अभिमानमें डूब, घमण्डी हो, वरदाताओंको भी भूल जाते हैं, किन्तु इतना ही नहीं, उनका भी तिरस्कार करने लग जाते हैं।।११।।

भगवानके सिवाय जो अन्य सूक्ष्म और छोटे देव हैं, वे सब शीघ्र प्रसन्न होनेवाले हैं, यह बात लोकमें प्रसिद्ध ही है, इस कारणसे उन शीघ्र प्रसन्न होनेवाले

देवोंको सरलतासे प्रसन्न कर उनसे राज्यादिक प्राप्त कर राज्यकी श्रीसे उद्धत होनेसे अभिमानमें डूब जाते हैं, पहले आत्मा(स्वरूप)को ही नहीं जानते हैं, उससे असावधान बन धर्म आदि कार्योंसे विमुख हो जाते हैं, पश्चात् जिनकी कृपासे ऐसे राज्यादि श्रीसे युक्त हुए उनको भी भूल जाते हैं, कभी याद भी नहीं करते है, अगर वे देव, कृपा कर स्वयं ही अपना स्मरण करावे तो भी उनका तिरस्कार करते हैं, यों करनेसे अन्तमें हानि ही होती है, इसलिए हरि, पहले ही ऐसा अविचारित कार्य नहीं करते हैं।।११।।

धनादि देनेकी वार्ता यों भले हो किन्तु आप आत्मा होनेसे जब न शाप देते है और न अनुग्रह करते हैं तब वरदानकी बात तो दूर रही जिसका निरूपण करनेकेलिए दूसरा उपाख्यान 'शापप्रसादयोः' श्लोकसे प्रारंभ करते हैं.

श्रीशुक उवाच

शापप्रसादयोरीशा ब्रह्म–विष्णु–शिवादयः।
सद्यः शापप्रसादो–ऽङ्ग शिवो ब्रह्मा न चाच्युतः ।।१२।।

श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि वर और शाप देनेके अधिकारी ब्रह्मा, विष्णु और शिव आदि देव है. हे अंग! इन तीनोंमें वर और शाप देनेकी सामर्थ्य है, तो भी शीघ्र देनेवाले ब्रह्मा और शिव हैं, न कि विष्णु।।१२।।

यदि कोई भगवानका विशेष अपराध करे तो भी आप शाप नहीं देते हैं, जैसे शिशुपालने इतना अपराध किया तो भी उसको शाप न दिया कारण कि आप सबकी आत्मा है, इसलिए शिशुपालकी भी आत्मा होनेसे उसको शाप नहीं दिया अत्यन्त कोई सेवा करे तो उसको वर भी नहीं देते हैं, कारणकि सेवा करनेवालेकेलिए सेवा ही आनन्दरूप है, इससे विशेष आनन्द किसीमें हो तो वर देवे. जैसे उपभोगसे आनन्द लेनेवाली, स्त्री कभी भी भोक्ताको वर नहीं देती है क्योंकि यदि वर दे तो उपभोग छूट जावे तो कामिनी आनन्दसे वंचित हो जाय ऐसे सेवकको भगवान् कोई वर दे तो सेवक सेवाके आनन्दसे वंचित हो जावे, इससे सूचित किया हैं कि भगवत्सेवा ही परम पुरुषार्थरूप है.

असमर्थ होंगे, इसलिए वर नहीं देते हैं इस शंकाका निवारण करनेकेलिए ही यह श्लोक कहा है, जिसमें कहते हैं, शाप और वर देनेके अधिकारी, ब्रह्मा, विष्णु और शिव हैं आदि पदसे दुर्गा गणेश आदि भी सूचित किए हैं, यद्यपि शाप और प्रसाद अर्थात् वर देनेमें सब ही समर्थ हैं किन्तु शाप तथा वर, ब्रह्मा और शिव

शीघ्र देते हैं.

श्लोकके उत्तरार्धमें 'सद्यः शापप्रसादोऽङ्ग' पाठ है, 'अंग' सम्बोधन देनेसे यहां एक 'द'का लोप वैदिक व्याकरणानुसार किया है. अन्यथा यहां 'सद्यः शिवप्रसाददः[१]' पाठ समझना चाहिए जिससे अर्थ 'शाप और वरको देनेवाले' होता है, विष्णु तो ऐसे ही विना विचारे वर वा शाप शीघ्र नहीं देते हैं, सेवकका स्वभाव व रूप देख और आगेका विचार कर बादमें शाप वा वर देते हैं।।१२।।

१. 'शापप्रसादौ ददाति, इति शाप प्रसाद दः' यों समास है.

'अत्र चोदाहरन्ती' श्लोकसे उस वरके उपाख्यानका वर्णन करते हैं, जिसमें बिना विचार वर दिया है.

अत्र चोदाहरन्तीमम् इतिहासं पुराविदः।
वृकासुराय गिरिशो वरं दत्त्वाप सङ्कटम्।।१३।।

पूर्व इतिहासको जाननेवाले इस इतिहासको उदाहरणमें कहते हैं कि महादेवने वृकासुरको वर दे कर संकटको पाया।।१३।।

'पुराविदः' इतिहास जाननेवाले यह इतिहास कहते हैं, इससे जाना जाता है कि यह 'परमतभाषा' है, विना विचारे दान करनेका फल क्या होता है? वह संक्षेपमें कहते हैं कि महादेवने बिना विचारे वृकासुरको वर दिया, जिसका फल महादेवको 'संकट' मिला।।१३।।

कैसे संकटको प्राप्त हुए इस आकांक्षाने सर्व वृत्तान्त 'वृको नाम' दो श्लोकोंसे कहते हैं.

वृको नामासुरः पुत्रः शकुनेः पथि नारदम्।
दृष्ट्वाशुतोषं पप्रच्छ देवेषु त्रिषु दुर्मतिः।।१४।।
स आदिदेश गिरिशम् उपाधावाशु सिद्ध्यति।
सोऽल्पाभ्यां गुणदोषाभ्याम् आशु तुष्यति कुप्यति।।१५।।

शकुनिका वृक नामवाला असुर पुत्र था, जो दुर्बुद्धि था. वह मार्गमें नारदजीको देख कर उनसे पूछने लगा कि तीन देवोंमें शीघ्र प्रसन्न होनेवाला कौनसा देव है?।।१४।।

नारदजीने कहा कि 'महादेव' ही शीघ्र प्रसन्न होते हैं, अतः तू उनके पास जल्दी जा कर सेवा करे, तो तेरी कामना जल्दी सिद्ध होगी; क्योंकि शिव थोड़े ही दोषसे कुपित होते हैं और थोड़े ही गुणसे प्रसन्न हो जाते हैं।।१५।।

कर्मसे भी वह 'वृक'(भेड़िये जैसा) था, इसलिए इसका नाम वृक ही था. हिरण्याक्षके पुत्र शकुनिका पुत्र था, वह निश्चय दुष्ट बुद्धिवाला था, जिससे उसने मनमें विचार कर लिया था कि सर्व देवोंको जड़से नष्ट करूंगा, सब देवोंकी जड़ ब्रह्मा, विष्णु और शिव ये तीन देव हैं, इसलिए इन तीनोंके निराकरण किए बिना दूसरे देव, नाश होने कठिन हैं. एकका भी वचन, वे सब मानते हैं अतः उनके कहे हुए उपायसे ही सबका नाश करना चाहिए, यों निश्चयकर, विचारा कि, इनमेंसे एकको प्रसन्नकर, ऐसा वर प्राप्त करूंगा, जिससे अपने मनोरथको सिद्ध करूंगा, इस वास्ते इस विषयके अभिज्ञ नारदजीसे पूछने लगा.

वह नारदजी भी, देवोंके कार्य करनेवाले हैं, मार्गमें देवगतिसे इसको मिल गए, इनसे इस दुरात्मासे पूछा कि तीन देवोंमेंसे शीघ्र प्रसन्न होनेवाले कौन है? नारदने बतलाया कि महादेव 'आशुतोष' हैं वृक तो दुर्मति अर्थात् दुष्ट बुद्धिवाला है ही, नारदजीने भी कहा कि जल्दी उनके पास जा, जल्दी कार्य सिद्ध होगा, सेवाकर, शीघ्र ही फलकी सिद्धि होगी, उनमें कारण बताते हैं कि वह शिव थोड़े ही गुणसे प्रसन्न होते हैं और स्वल्प ही दोषसे कुपित हो जाते हैं।।१४-१५।।

तेरी इच्छाको मैं जानता हूं, इसलिए 'दशास्यबाणयोः' श्लोकमें दृष्टान्त दे कर निश्चय कराते हैं, शिवसे तेरा कार्य सिद्ध होगा.

दशास्यबाणयोस्तुष्टः स्तुवतोर्बन्दिनोरिव।
ऐश्वर्यम् अतुलं दत्त्वा तत आप सुसङ्कटम्।।१६।।

केवल भाटोंकी तरह स्तुति करनेवाले रावण और बाण पर भी शिवजीने प्रसन्न हो कर उनको अतुल ऐश्वर्य दिया. उस दिए हुए ऐश्वर्यके कारण ही आपको उनका पुरपाल(द्वारपाल) होना पड़ा।।१६।।

उन दोनोंने, किस प्रकार उपासना की? इस आकांक्षा पर कहते हैं कि केवल स्तुति की. जिससे ही प्रसन्न हो गए, वह स्तुति भी भक्तिसे नहीं किन्तु जिघृक्षासे (अपने वश कर कार्य सिद्ध करानेकेलिए) की, इसलिए दृष्टान्त देते हैं कि भाटोंकी तरह स्तुति की, उस स्तुतिसे प्रसन्न हो कर उनको अतुल ऐश्वर्य दे दिया, जिससे स्वयं संकटको प्राप्त हुए, अर्थात् उनके द्वारपाल बने।।१६।।

यों अपना हित सुनकर, नारदजीने कहे अनुसार करने लगा. वह 'इत्यादिष्ट' श्लोकमें कहते हैं.

इत्यादिष्टस्तमसुर उपाधावत् स्वगात्रतः।

केदार आत्मक्रव्येण जुहानोऽग्निमुखं हरम् ।।१७।।

इस प्रकार नारदसे उपदेश पाया हुआ असुर केदारमें जा कर अपने शरीरसे मांस निकालकर, अपने उस मांसका हवनकर, अग्निमुख महादेवको प्रसन्न करने लगा।।१७।।

'तं' उसको अर्थात् महादेवको, वह असुर सेवासे प्रसन्न करने लगा, किस प्रकार? वह प्रकार बताते हैं कि अपने शरीरमेंसे अपना मांस निकाल कर उस मांसका उस अग्निमें होम करने लगा, जिससे मन्त्र द्वारा महादेवकी भावना की थी, अर्थात् यह महादेव ही है, किस स्थान पर यों किया? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'केदारे' अतिपवित्र हिमालय पर अग्निमुख महादेवमें, अपना मांस होमा, अर्थात् इस अग्निमें महादेव विराजते हैं, अतः यह अग्नि महादेवका मुख है जिससे मेरी दी हुई यह बलि आप ग्रहण करेंगें।।१७।।

इस प्रकार, सात दिन तक वृकने अपना मांस उस अग्निमें होमा, महादेव और वृक दोनोंने सातवें दिन तक इसकी राह देखी, अर्थात् महादेवने सोचा कि अब तक तो यों किया आगे क्या करता है? इसलिए शांत रहे और वृक भी आशासे होम करता रहा जब देखा कि कुछ फल न हुआ तब जो किया, वह 'देवोपलब्धि' श्लोकमें कहते हैं.

देवोपलब्धिम् अप्राप्य निर्वेदात् सप्तमेऽहनि ।
शिरोऽवृश्चत् स्वधितिना तत्तीर्थक्लिन्नमूर्धजम् ।।१८।।

सातवें दिन भी देवका दर्शन वा वरादि प्राप्त न हुआ, तब निराश हो, केदार तीर्थके जलसे भीगे हुए केशोंवाले अपने मस्तकको कुल्हाड़ी द्वारा धड़से अलग कर दिया।।१८।।

सातवें दिन देवकी प्राप्ति न पा कर यह निश्चय किया कि आज मरूंगा या फलकी प्राप्ति करूंगा, यों निश्चय कर अपनी कुल्हाड़ीसे अपना शिर काट डाला अर्थात् धड़से पृथक् करने लगा. यों अचानक नहीं करने लगा, किन्तु विचार कर किया है यों जतानेकेलिए कहते हैं कि 'तत्तीर्थकिन्नमूर्धजं' हिमालयमें प्रसिद्ध केदार तीर्थके जलसे अपने मस्तकके बाल भिगो दिए बादमें शिरच्छेद करने लगा, यों करनेका कारण बताते हैं कि, इस प्रसिद्ध केदारतीर्थके जलके पान करनेसे उदरमें लिंग उत्पन्न हो जाते हैं, इसलिए ऐसे जलसे अपने केश भिगो दिए अर्थात् गीले किए।।१८।।

इस प्रकार महादेव उसका साहस देख कर यों करनेका जो मूल कारण था उससे मनमें शंकित तो हुए, किन्तु ऐसे साहसके कारण प्रसन्न हुए जिसका वर्णन 'तदा महाकारुणिकः' श्लोकमें करते हैं.

तदा महाकारुणिकः स धूर्जटिर्यथाह्वयं चाग्निरिवोत्थितोऽनलात्।
निगृह्य दोर्भ्यां भुजयोर्न्यवारयत् तत्स्पर्शनाद्भूय उपस्कृताकृतिः ।।१९।।

तब महान् दयालु वह महादेव आवाहनके अनुसार उस अग्निसे अग्निकी तरह प्रकटे. प्रकट होते ही अपनी भुजाओंसे आलिंगन करते हुए उसके हाथ पकड़ लिए और यों करनेसे रोक दिया, उन(महादेवजी)के स्पर्शसे वृकका पहलेके समान सुंदर शरीर हो गया।।१९।।

दूसरेका दुःख देख कर जो स्वयं दुःखी होता है वह 'दयालु' कहा जाता है, और दूसरेको कदाचित् इससे जो दुःख होगा, ऐसी सम्भावना होने पर दुःखी होता है वह परम कारुणिक कहलाता है, महादेवजी ऐसे होनेसे 'महाकारुणिक' हैं, जिसमें हेतुभूत विशेषण देते हैं 'स धूर्जटिः' आपकी जटाएं मैली सी जो देखनेमें आती है, वे इसलिए कि, आप शमशानमें वृथा मृत्युको प्राप्त मनुष्योंको देख दुःखी हो. उनकी धूलिमें लोट-पोट होते हैं जिससे आपकी जटाएं धूसर वर्णवाली हो गई हैं, हवन करते समय 'आगच्छ रुद्र इमं बलि गृहाण स्वाहा' यह मन्त्र पढ़ कर जब शीघ्र बुलानेकी प्रार्थना की तब ही आप पधारे, इसमें किसी प्रकार संशय नहीं है, प्रत्यक्ष देखे हुए देवकी तरह दृष्टान्त देते हैं कि 'अग्निरिव' अग्निकी तरह. 'च' पदसे यह भी सूचित किया कि मनसे भी आह्वानकी संभावना होनेसे आप प्रकटे हैं, प्रकट होते ही जोरसे आलिंगन कर दबाते हुए हाथ पकड़ शिरच्छेदसे रोक लिया, यदि महादेव ऐसे दयालु हैं तो अब रोकनेसे पहले ही शरीरसे मांस निकालनेके समय क्यों न रोक दिया? इसके उत्तरमें कहते हैं कि महादेवजीके स्पर्शसे उसका अर्थात् वृकका शरीर पहले जैसा हो गया, पहले न रोकना इसकी दृढ़ता देखनेकेलिए था।।१९।।

महादेवजीने न केवल इसका शरीर वैसा ही कान्तिमान् बना दिया, किन्तु इससे विशेष देनेकेलिए 'तमाह' श्लोकमें कहने लगे.

तमाह चाङ्गालमलं वृणीष्व मे यथानिकामं वितरामि ते वरम्।
प्रीये यतो येन नृणां प्रपद्यताम् अहो त्वयाऽऽत्मा परितप्यते वृथा ।।२०।।

हे अंग! अब बस कर बहुत किया, मुझसे वर मांग ले. जैसा चाहेगा,

वैसा तुम्हें वर दूंगा, क्योंकि तुम्हारी भक्तिसे मैं प्रसन्न हुआ हूं, जैसी भक्ति तुमने दिखाई है, वैसी किसीने नहीं दिखाई, तुम्हारी भक्ति अचंभेमें डालनेवाली है. अब जब मैं प्रसन्न हो गया हूं तो तूं वृथा कष्ट क्यों करता है? अपना वध पुरुषार्थ नहीं है।।२०।।

वचनोंसे भी निराकरण किया वे वचन कहते हैं हे अंग! अलं अलं, अब शान्त हो जा, शिरच्छेदसे होम मतकर, मुझसे वर मांग लो, जिसको लेनेकेलिए तू इतना दुःख भोग रहा है, तू विचार मतकर, जैसा भी वर तू अपनी इच्छानुसार मांगेगा वह वर दे दूंगा. यदि तुझे शंका हो कि मेरा इच्छित वर क्यों देंगें? जिसका कारण बताते हैं कि मैं तुम पर प्रसन्न हुआ हूं, क्यों प्रसन्न हुए हो? मैं जिस कारणसे प्रसन्न होता हूं वह कारण है शरण आके सेवा करना, वह तुमने की है, उसमें भी तुमने जैसी भक्ति दिखाई है वह आश्चर्यकारक है, ऐसी आगे किसीने नहीं की है, अतः प्रसन्न हो कर मैं यथेच्छ वर देना चाहता हूं तो भी तू जो यह शिरच्छेद कर होम करणार्थ देहको कष्ट दे रहा है, वह व्यर्थ है, आत्माकी हानि करना पुरुषार्थ नहीं है, तू ही अकेला ऐसा है, जो यों कर रहा है दूसरा कोई यों न करे।।२०।।

इस प्रकार अपने मनोरथकी सिद्धि हुई जानकर, 'देवं स वव्रे' श्लोकसे वर मांगने लगा.

देवं स वव्रे पापीयान् वरं भूतभयावहम्।
यस्य यस्य करं शीर्ष्णि धास्ये स म्रियताम् इति ।।२१।।

उस पापीने भूतोंको भयकारक वर मांगा. जिस-जिसके सिर पर मैं हाथ धरुं, वह मर जाए।।२१।।

ऐसे वर मांगनेसे अपनेको कोई सुख प्राप्त नहीं होगा और न दुःख मिटेगा, फिर ऐसा वर मांगनेकी क्या आवश्यकता थी? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'पापीयान्' पापी है, इसलिए ऐसा वर मांगा. पापी, निरन्तर पाप ही करना चाहता है, उसमें किसीको मारनेमें क्लेश-कष्ट करना पड़ता है, बिना कष्टके मारनेका कार्य सिद्ध हो जावे इसलिए ऐसा वर मांगा, यह वर कैसा है? इस पर कहते हैं कि 'भूतभयावहम्' भूतोंको भय करनेवाला है, वरका स्वरूप बताते हैं कि जिस-जिसके शिर पर हस्त रखूं वह मर जावे, केवल हाथ रखनेसे ही दूसरे किसी प्रयत्नके किए बिना उसकी मृत्यु हो जावे।।२१।।

वर श्रवणके अनन्तर महादेवके मनमें शंका उत्पन्न हुई, वह 'तच्छ्रुत्वा' श्लोकसे कहते हैं.

तत् श्रुत्वा भगवान् रुद्रो दुर्मना इव भारत।
ओम् इति प्रहसंस्तस्मै ददेऽहेरमृतं यथा ।।२२।।

हे भारत! ऐसा वर सुन कर भगवान् शिव मानो अनमने(नाराज) हुए, किन्तु मुस्कराते हुए जैसे सर्पको दूध पिलाया जावे, वैसे 'ओम्' कह कर वरकी स्वीकृति दी।।२२।।

प्राणियोंका दुःख देखकर, जो सहन करनेमें असमर्थ होनेसे रो पड़ता है, इसलिए शिव 'रुद्र' नामसे पुकारे जाते हैं ऐसा वर सुननेके बाद शिव नाराज जैसे हुए, बादमें क्या करना चाहिए? यों विचार कर 'वर' देने पर क्या होगा? उस भावीका विचार करने लगे, पश्चात् शिव भगवान् हैं, अतः समझ लिया कि परमेश्वरसे यह फुसलाया जायगा जिससे अपने हस्तसे स्वयं मरेगा, अतः आपने 'ओम्' कह कर वरकी स्वीकृति दी अर्थात् यों ही होगा, जिसके मस्तक पर तू हाथ धरेगा वह मर जायेगा यों हंसते हुए कहा, दूसरोंका अनिष्ट विचारनेके कारण तू ही मरेगा. हे भारत! राजाको यह सम्बोधन विश्वास दिलानेकेलिए है, केवल वरदानसे ही अपना अनिष्ट करेगा, इसको न जान कर वर दिया, जिसके उत्तरमें दृष्टान्त दे कर समझाते हैं कि 'अहेरमृतं यथा' जैसे सर्पको अमृत पिलाया जावे तब पिलानेवाला समझता है कि सर्प तो दुष्ट होनेसे कृतघ्न है मुझे ही काटनेमें देरी न करेगा फिर भी दयालुताके कारण सर्पको दूध पिला ही देता है, वैसे आपने भी सब समझा किन्तु भगवान् होनेसे भावी तो जानते थे, अतः अपना 'आशुतोष' नाम सार्थक करने और सेवककी इच्छा पूर्ण करनेकेलिए वर दे दिया।।२२।।

वर देनेके बाद जो कुछ हुआ वह 'स तद्वर' श्लोकमें कहते हैं.

स तद्वरपरीक्षार्थं शम्भोर्मूर्ध्नि किलासुरः।
स्वहस्तं धातुम् आरेभे सोऽबिभ्यत् स्वकृतात् शिवः ।।२३।।

वह असुर उस वरकी परीक्षा करनेकेलिए महादेवके मस्तक पर अपना हाथ रखने लगा, यह देख अपने किये हुए कर्मसे शिव भयको प्राप्त हुए।।२३।।

'किल' पदसे यह सूचित किया है कि यदि कोई महान् अनिष्ट होनेवाला हो तो उसको स्पष्ट नहीं कहना चाहिए, यह ऐसा महान् अनिष्ट नहीं करेगा, इस शंकाको 'असुर' विशेषण दे कर मिटाते हैं, अर्थात् असुर हैं इसलिए कैसा भी

बड़ा अनिष्ट करनेसे डरेगा नहीं, करेगा ही. अतः अपने हस्तको शिवजीके मस्तक पर रखनेकेलिए प्रयत्न करने लगा, उसका वह उद्यम देख कर वे शिव देवोंके अधिपति होते हुए भी डरने लगे. 'शिव' पद दे कर यह सूचना दी है कि वास्तवमें डरे नहीं, क्योंकि जानते थे कि, परिणाममें इसका ही नाश होनेवाला है अतः केवल भीतिका स्वांग किया था।।२३।।

'तेनोपसृष्टः संत्रस्तः' श्लोकसे स्वांगका पूरा विवरण देते हैं.

तेनोपसृष्टः सन्त्रस्तः अत्यधावत् सवेपथुः।
यावदन्तं दिवो भूमेः काष्ठानाम् उदगाद् उदक् ।।२४।।

वह वृक सिर पर हस्त धरनेकेलिए जब महादेवजीके समीप आया, तब डरके मारे बहुत जल्दी दौडने लगे, डरके कारण कंपित भी हुए, अतः आकाश पृथ्वी और दिशाओंकी सीमा तक भागते हुए उत्तर दिशामें पहुंचे।।२४।।

वृक जब निकट आया तब शिवजी डरे, जिससे जल्दी जोरसे दौड़े और कम्पित भी हुए, पश्चात् आकाश, पृथ्वी और दिशाओंकी सीमा तक भागे, पहले ऊपर आकाशकी तरफ फिर पृथ्वी पर, बादमें चारों दिशाओंमें भागते हुए अन्तमें लोट कर उत्तर दिशामें आए, इतना इसी तरह क्यों दौड़े? जिसका वास्तविक कारण तो उस(वृक)को क्लेश देनेका था, भय तो केवल बहाना था।।२४।।

वहां रहनेवालोंने(देवोंने) महादेवकी सहायता क्यों नहीं की? जिसका उत्तर 'अजानन्तः प्रतिविधिं' श्लोकमें देते हैं.

अजानन्तः प्रतिविधिं तूष्णीम् आसन् सुरेश्वराः।
ततो वैकुण्ठम् अगमद् भास्वरं तमसः परम् ।।२५।।

देव उसके प्रतीकारकी विधि न जाननेके कारण चुप रहे. उत्तर दिशामें आनेके पश्चात् महादेवजी प्रकाशमान प्रकृतिसे परे वैकुण्ठमें गए।।२५।।

व्याख्यार्थ: बडे देव भी चूप हो कर बैठे रहे. यह देख कर महादेव वैकुण्ठमें गए, प्रसिद्ध है कि यह वैकुण्ठ, बदरीनारायणमें, नारायण पर्वतके पश्चिम भागमें स्थित है वहां उस वैकुण्ठका, मूल वैकुण्ठसे धर्म सम्बन्ध है अर्थात् जो धर्म मूल वैकुण्ठमें है वे इसमें भी है, यह बतानेकेलिए 'भास्वरं' और 'तमसः परं' विशेषण दिए है, मूल वैकुण्ठके आवेश होनेके कारण जिसमें 'भास्वरपन' है और तम अर्थात् प्रकृतिसे भी पर है।।२५।।

वह फिर कौनसा वैकुण्ठ है? इस आकांक्षाके होने पर ''यत्र नारायणः

साक्षात्'' श्लोक कह कर इस वैकुण्ठका स्वरूप बताते हैं.

यत्र नारायणः साक्षाद् न्यासिनां परमा गतिः।
शान्तानां न्यस्तदण्डानां यतो नावर्तते गतः ।।२६।।

जहां शांत और दण्डी संन्यासियोंकी परमगतिरूप साक्षात् नारायण विराजते हैं, वहां जो जाता है, वह फिर लौट कर संसारमें नहीं आता है।।२६।।

नारायण अर्थात् बदरीनाथ, सन्यासियोंकी परमगतिरूप जहां विराजते हैं, बांसके दण्ड धारण करनेसे, परमहंस होनेसे, साक्षात् सन्यासियोंका परम आश्रय फलरूप बने हैं, क्योंकि दोनोंमें सजातीयपन है और विशेषता यह है कि, शान्त और दण्डधारियोंकी विशेष परमगति है क्योंकि वे भीतर और बाहर दोनों साधनोंसे युक्त है, वहां भी पहलेकी तरह होगा? इस शंकाका उत्तर देते हैं 'नावर्त्ततेगतः' वहां जो गया वह फिर लौटता नहीं, इससे यह सूचनी दी कि 'वृक' भी वहां पहुच कर फिर लौटेगा नहीं।।२६।।

पश्चात् जो हुआ उसका अर्थ 'तं तथा' श्लोकमें करते हैं.

तं तथाव्यसनं दृष्ट्वा भगवान् वृजिनार्दनः।
दूरात् प्रत्युदियाद् भूत्वा बटुको योगमायया ।।२७।।

महादेवको इस प्रकार दुःखित देख कर सबके कष्टका निवारण करनेवाले भगवान् दूरसे ही योगमायासे बाल ब्रह्मचारीका रूप धारण कर उसके सामने गए।।७।।

'अशक्ये हरिरेवास्ति' जो अपनेसे न हो सके वह हरि ही करते हैं, इसलिए संकटका नाश भी भगवान् ही करेंगे, क्योंकि भगवान् सबके दुःखोंका नाश करते हैं, अतः महादेवका भी दुःख दूर करूंगा, यों निश्चय कर दूरसे ही उस(वृक)के सामने जाने लगे, क्रूरके पास कैसे गये? जिसका उत्तर देते हैं कि, योगमायासे बालरूप ब्रह्मचारी बनकर, और पहली विद्याका स्मरण किया अर्थात् दैत्य मायासे ही मारनेके योग्य हैं. यो स्मरण कर ऐसा रूप धारण किया, जिसको देख कर मोहको प्राप्त होगा कोई भी उपद्रव न करेगा अतः इस प्रकारका वेष बना कर सामने गए।।२७।।

''मेखला जिन दण्डाक्षैः'' श्लोकसे भगवानके वेषका वर्णन करते हैं और उनके वचनोंसे वह असुर मोहित हो गया यों कहते हैं.

मेखलाजिन–दण्डाक्षैः तेजसाग्निरिव ज्वलन्।

अभिवादयामास च तं कुशपाणिर्विनीतवत् ।।२८।।

मेखला, मृगचर्म, दण्ड और अक्षमाला धारण किये हुए और अग्नि सम प्रकाशमान होते बटुकरूप भगवानने हाथमें दर्भ ले कर नम्रकी तरह उसको नमस्कार की।।२८।।

कटिमें मुञ्जकी बनाई हुई मेखला, शरीर पर मृग चर्म, दण्ड, जपार्थ अक्षमाला, इन पदार्थोंसे, जो तेज अन्तःस्थित था वह बाहर अग्निके समान ऐसा प्रकाशमान होने लगा जिसको कोई भी सहन न कर सकता था, हस्तमें कुश ले कर उस हिरण्याक्षके पौत्र वेदज्ञ वृकको नम्र हो कर भगवान् नमस्कार करने लगे, भगवान् एवं ब्रह्मचारी होते हुए असुरको क्यों नमस्कार की? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि नमस्कारसे उसकी आयु खेंच ली, कुश हाथमें ले कर नमस्कार की जिससे उसके पुण्य हरण कर लिए, मेखला आदिसे चार प्रकारके पुरुषार्थ भी छीन लिए, तेजसे उसका तेज, अग्निकी समानताके कारण, उसमें जो बल आदि वीर्य था वह भी हरण किया।।२८।।

इस प्रकार पुण्य आदि सबका हरण कर वचनोंसे शेष बुद्धिको भी भ्रमित करते हैं वह 'शाकुनेय भवान्'से दो श्लोकोंमें कहते हैं.

श्रीभगवानुवाच

शाकुनेय भवान् व्यक्तं श्रान्तः किं दूरम् आगतः।
क्षणं विश्रम्यतां पुंसाम् आत्मायं सर्वकामधुक् ।।२९।।

श्रीभगवानने कहा कि हे शकुनिके पुत्र! प्रकट दीख रहा है कि तुम थके हुए हो, क्या दूरसे आए हो? क्षणभर विश्राम लो, यह देह पुरुषोंकी सर्व कामनाओंको देनेवाली है।।२९।।

हे शकुनिके पुत्र! प्रकट दीख रहा है कि आप थके हुए हो, जिसका प्रत्यक्ष प्रमाण है आप पसीनेसे भीज रहे हैं, इस दुःखके बतानेसे मानो कुशल पूछ रहे हैं?

थकावट तो है, क्या किया जाय? इस पर कहते हैं कि क्या दूरसे आए हो? कोई प्रयोजन नहीं होते हुए भी केवल दौड़ते हुए अनजानमें इतनी दूर आ गए हो क्या? तो यह सब व्यर्थ परिश्रम किया? अच्छा, जिस किसी लिए अथवा जैसे श्रम हुआ, वह तो हो गया, अब हमारे आश्रममें क्षण भर विश्राम कीजिए, यदि कहो कि अपना कार्य जल्दी करना चाहिए, इस पर कहते हैं कि यह देह ही

स्वतन्त्र प्राणी मनुष्योंकी सर्व कामनाओंको पूर्ण करनेवाली है, विशेष श्रमसे देह गिरेगी, यों भास रहा है, देहके नष्ट हो जाने पर, कौनसा कार्य पूर्ण होगा, अतः कार्यको छोड़ पहले शरीरकी रक्षाकेलिए विश्राम कीजिए कहनेका यह भाव है।।२९।।

ऐसा कौनसा कार्य है जिसकेलिए तुमने इतना श्रम किया है ? यह ''यदि नः श्रवणाय'' श्लोकसे पूछते हैं.

यदि नः श्रवणायालं युष्मद्व्यवसितं विभो।
भण्यतां पुरुषव्याघ्र पुम्भिः स्वार्थान् समीहते ।।३०।।

हे समर्थ! तुमने जो कार्य विचारा है, वह यदि कहनेके योग्य हो, तो बताइए; यदि गुप्त हो, तो मत कहिये, हे पुरुष श्रेष्ठ! प्रत्येक मनुष्य अपना कार्य अपने मित्रों द्वारा ही सिद्ध करते हैं।।३०।।

यदि तुम्हारा कार्य गुप्त हो तो न बताइए, जो हमारे सुननेके योग्य हो तो तुम्हारा इच्छित कार्य जिस प्रकारके प्रयत्नसे सिद्ध होगा वह कह दीजिये, इस तरह किए हुए प्रश्नका उत्तर देवे इसलिए उसकी बड़ाई करनेके वास्ते 'पुरुषव्याघ्र' विशेषण दिया है, तुम तो पुरुषोंमें उत्तम हो, मैं सुनाऊं जिससे लाभ क्या होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं कि सब मनुष्य अपना कार्य अपने मित्रोंकी सहायतासे ही सिद्ध करते हैं, अतः बताइए तो हम भी सहायता देंगे।।३०।।

श्रीशुक उवाच

एवं भगवता पृष्टो वचसामृतवर्षिणा।
गतश्रमोऽब्रवीत् तस्मै यथापूर्वम् अनुष्ठितम् ।।३१।।

श्रीशुकदेवजी बोले कि भगवानने अमृत बरसानेवाली वाणीसे जब इस प्रकार पूछा, तब थकावट उतार लेनेके बाद उनको जो कुछ पहले हो चुका है, वह समग्र वृत्तान्त सुनाने लगा।।३१।।

भगवानकी आकृति, नम्रता और वाणीसे प्रसन्न हो गया, भगवानके वचनोंके सामर्थ्यसे श्रमरहित हो कर एवं भगवानको अपना मित्र समझ अपना अभिप्राय और जो सुना था वह सब कहने लगा, नारदजीसे जो पूछा तथा उनके कहनेसे महादेवकी जिस तरह सेवादि की और महादेवसे वर प्राप्तकर, उस वरसे अपनी कामना पूर्ण करनेकेलिए शिवजीके मस्तक पर हाथ धरना, जिससे महादेव भागे, उनके पीछे मैं भी दौड़ता हुआ यहां पहुंचा हूं।।३१।।

भगवान् तो सब कुछ जानते ही थे, फिर भी उनका अपने उपर विश्वास पैदा किया, अब मेरा कहा हुआ कार्य करेगा, यों निश्चयसे जान महादेवको संकटसे छुड़ानेका जो उपाय किया वह 'एवं चेत्' श्लोकमें कहते हैं.

श्रीभगवानुवाच

एवं चेत् तर्हि तद्वाक्यं न वयं श्रद्दधीमहि।
यो दक्षशापात् पैशाच्यं प्राप्तः प्रेतपिशाचराट् ।।३२।।

श्रीभगवान् कहने लगे कि यदि यों है, महादेवने वर दिया है, यही कार्य है. हम तो उनके वचन पर विश्वास नहीं करते हैं; क्योंकि दक्षके शापसे जो पिशाचताको प्राप्त हुए हैं और प्रेत तथा पिशाचोंके स्वामी हैं. ऐसेके वचनों पर कौन विश्वास करे?।।३२।।

हमने तो जाना कि कोई महान कार्य होगा जिसकेलिए इतना परिश्रम किया है, यदि यों केवल महादेवके वचनोंकी परीक्षा ही करनी हो, तो उसका सरल उपाय मैं भी बताता हूं. यदि मेरे वचन पर विश्वास है तो समझ लो कि महादेवके वचनसे कुछ न होगा अर्थात् कोई भस्म न होगा, यों कह कर महादेवके दिए हुए वरको भगवानने निषिद्ध बना दिया जिससे उसको कहा कि यों करनेसे अर्थात् मस्तक पर हाथ धरनेसे कोई भस्म न होगा, वैसा होनेसे उसका मरण, और लोकमें अनिष्ट तथा न महादेवजीको पीड़ा होगी, जो वृक, भगवानके इस कहनेको मान ले, यों निश्चय कर वृकको इन वचनों पर दृढ़ विश्वास करानेकेलिए कहते हैं कि 'न वयं श्रद्धीमहि' हम तो महादेवके वाक्यों पर विश्वास नहीं करते हैं, यदि कहो कि वह महादेव महान् है, इस पर कैसे विश्वास न किया जाय? इसके उत्तरमें कहते हैं कि 'यो दक्ष शापात् पैशाच्य' पहले दक्षने शाप दिया कि 'देवोंके साथ इनको भाग न मिले और देवगणोंमें यह अधम देव होवे, देवोंमें अधम पिशाच है, इसलिए यह भी पिशाचताको प्राप्त हुआ, और इसका पिशाचपन प्रत्यक्ष दीख रहा है, जो श्मशान आदि स्थानोंमें ही भ्रमण कर रहा है और विशेषमें फिर 'प्रेतपिशाच राट्' स्वभावसे भी प्रेत और पिशाचोंके राजा हैं, पिशाचोंका राजा पिशाच ही होता है, तू भी यदि मेरी तरह इसका विचार कर देखेगा तो तुझे भी निश्चय हो जावेगा कि महादेवका दिया हुआ वर सत्य नहीं होता है, इसी तरह इसको झूठा समझ अंगीकार न कर निश्चिन्त हो जा।।३२।।

फिर भी यदि तुझे विश्वास है तो मेरे कहे अनुसार उसकी परीक्षा करने यों

'यदि वस्तत्र' श्लोकमें कहते हैं.

यदि वस्तत्र विश्रम्भो दानवेन्द्र जगद्गुरौ।
तर्ह्यङ्गाशु स्वशिरसि हस्तं न्यस्य प्रतीयताम् ।।३३।।

हे दानवेन्द्र! यदि इस विषयमें तुम्हारा जगद्गुरु पर विश्वास है, तो हे अंग! शीघ्र ही अपने सिर पर अपना हाथ धर कर परीक्षा कर ले।।३३।।

'वः' यह बहुवचन गौरव देनेकेलिए दिया है. और हे दानवेन्द्र! यह भी गौरवार्थ विशेषण दिया है. इस प्रकार पुरस्कृत होने पर अपना माहात्म्य स्मरण करेगा, न कि शत्रुकी बड़ाई सोचेगा, 'जगद्गुरौ' महादेवका विशेषण देकर, यह सूचित किया कि, इसलिए उसके वरमें विश्वास करता है, मेरा उसमें विश्वास है तब क्या करना चाहिए? यदि यों कहो तो हे अंग! मुझ पर विश्वास रखोगे तो तेरा हित होगा और महादेव पर विश्वास करोगे तो तेरी हानि ही होगी, अंग! यह सम्बोधन, विश्वास उत्पन्न करानेकेलिए दिया है, जल्दी ही बिना बिचार किए अपने शिर पर हाथ धरके देखले कि वर सच्चा है वा झुठा है?।।३३।।

यदि वर सत्य निकला तो तुम्हारी परीक्षा उत्तम होगी, जो वर झूठा निकला तो मैं दण्ड करुंगा यह 'यद्य सत्यं' श्लोकमें कहते हैं.

यद्यसत्यं वचः शम्भोः कथञ्चिद् दानवर्षभ!।
तदन्ते जह्यसद्वाचं न यद्वक्तानृतं पुनः ।।३४।।

हे दानवोत्तम! यदि किसी प्रकार भी महादेवका वचन झूठा निकले, तो झूठे होनेके कारण उसको तूं दण्ड देना, जिससे फिर वह अनृत न बोलेगा।।३४।।

किसी भी अंशसे, इस अध्यायके २१वें श्लोकमें 'यस्य यस्य' दो बार वीप्सा अर्थमें कहा है, इससे यदि वृकके सिवाय दूसरा अभिप्रेत हो अथवा मैं (भगवान)ने उनके(महादेवके) वचन अंगीकार न किये हो तो वह वचन असत्य ठहरता है. हे दानवोत्तम! यह सम्बोधन पहले की तरह महत्ता दिखनेकेलिए कहा है, अपराधके बिना महादेव मारा नहीं जाता है, यदि वर झूठा निकले तो असत्यवादी ठहरेंगे तब उस अपराध सिद्ध होने पर तू उस असत्यवादीको मारना, मारने पर तुझे मारनेका दोष भी नहीं लगेगा, क्यों दोष नहीं लगेगा? जिनके प्रमाणमें कहते हैं कि महादेव फिर झूठ न बोल सकेगा, जिस झूठ बोलनेके दोषसे पुरुष नीचे जाता हैं अर्थात् अधम होता है, इससे उसका वध उसके कल्याणार्थ ही है यों असुरका पक्ष कह बताया।।३४।।

इसके बाद जो हुआ वह 'इत्थं भगवतं' श्लोकसे कहते हैं.

इत्थं भगवतश्चित्रैः वचोभिः स सुपेशलैः।
भिन्नधीर्विस्मृतः शीर्ष्णि स्वहस्तं कुमतिर्व्यधात्।।३५।।

इस तरह भगवानके विचित्र मोहक सुंदर वचनोंसे जिसकी बुद्धि अस्थिर हो कर बदल गई है और जो स्मृतिहीन हो गया है. ऐसे कुमति वृकने अपना हस्त अपने सिर पर धर दिया।।३५।।

भगवानके विचित्र अर्थात् बराबर समझमें न आवे ऐसे मोहक वचनोंसे वृक मोहित हो गया, भगवानका वचनरूप स्वरूप भी मोहक था, जैसे जगतमें सुन्दररूप पर मनुष्य मोहित होता है वैसे ही भगवानके वाक्योंके सौन्दर्यसे वह वृक मोहित हो गया, जिससे वृकको बुद्धि भिन्न-भिन्न समझने लगी स्थिर न रह सकी, भगवानका कथन असत्य भी हो सकता है, यह पक्ष भी उसके हृदयमें स्फुरित होने लगा, अतः उसकी बुद्धिमें दो पक्ष फैल गए, इसलिए कहा कि 'भिन्नधीः' दूसरे पक्ष पर चलनेसे तो कार्यकी असफलता होगी, जो महादेवजीका वाक्य शतांशसे भी झूठा निकले तो स्वयं इतना क्लेश[१] क्यों करें? इसके बाद उस(वृक)की बुद्धिमें ऐसा भेद कैसे हो गया? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि भगवानके वाक्य[२] सुन कर पूर्व भावको भूल गया, अतः अपना हस्त अपने मस्तक पर धर दिया, पाक्षिक दोषको भी मिटाना चाहिए, दूसरे पक्षमें अपना स्वयं नाश करनेका महादोष है, वह कैसे अंगीकार किया, जिसका उत्तर दिया है कि 'दुर्मति' दुष्ट बुद्धिवाला असुर था।।३५।।

१.आकाश, पृथ्वी दिशाओंमें भागते रहनेका क्लेश. २.'न वयं श्रद्धीमहि' हम विश्वास नहीं करते हैं.

पश्चात् जो हुआ, उसका वर्णन 'अथापतत्' श्लोकमें करते हैं.

अथापतद् भिन्नशिराः वज्राहत इव क्षणात्।
'जय'शब्दो 'नमः'शब्दः 'साधु'शब्दोऽभवद् दिवि।।३६।।

हाथ रखते ही सिर अलग हो गया और धड़ क्षणमें यों गिरा जैसे वज्रसे पर्वत चूर्ण हो जाता है, तब आकाशसे 'जय' शब्द, 'नमः' शब्द और 'साधु' शब्द सुननेमें आए।।३६।।

जिसका सिर धड़से अलग हो गया है ऐसा हो कर वह पृथ्वी पर गिर गया, 'अथ' पद दे कर यह सूचित किया है कि अब दूसरा प्रक्रम(सिलसिला) है,

भगवद् वाक्यके अनुसार महादेवके वचन झूठे न निकले, कुछ संदेह भी न हुआ, किन्तु सत्य ही हुए भक्तवत्सल भगवानने यों किस लिए किया? जिसके उत्तरमें कहा कि 'वज्राहत इव' वज्रसे नाश किए पर्वतकी तरह चूर्णसम हो गया, सारांश यह कि भगवानने यों(वृकको यों मरवाय) इसलिए किया कि यदि यह जीवित रहता तो जगतका अपकार करता क्योंकि लोकापकारी दुष्ट बुद्धिवाला असुर था अतः इस प्रकार इसकी मृत्यु कराया पश्चात् भगवानका यह प्रभाव देखकर, देवताओंने जय शब्द कहा, और महादेवको संकटसे छुड़ाया इसलिए 'नमः' शब्द कहा अर्थात् नमन किया, भगवानने मोहक वाक्योंसे असुरको भ्रमित कर अपने हाथसे मरवाया, ये वाक्य स्मरण आते ही उनके मुखसे 'साधु'(बहुत अच्छा किया) शब्द स्वतः निकले.

इस प्रकार राजस, सात्विक और तामस इन तीन प्रकारके देवोंके तीन तरहके ये शब्द आकाशमें हुए. 'दिवि' पदसे यह भाव बताया है कि फुसला कर मरवानेका कार्य देवोंके अनुमोदनसे ही किया है, महादेवकी जो भगवानने निन्दा की, वह केवल, असुरको भुलावेमें डालनेकेलिए की है स्वयं तो उसको सत्य नहीं समझते व नहीं मानते थे, इसलिए जो भगवानने अन्यथा वचन कहे वे दोषकेलिए नहीं है इससे यों सूचित किया है।।३६।।

'मुमुचुः पुष्प वर्षाणि' श्लोकसे कहते हैं कि देवोंने कायिक अभिनन्दन भी किया.

मुमुचुः पुष्पवर्षाणि हते पापे वृकासुरे।
देवर्षिपितृगन्धर्वा मोचितः सङ्कटात् शिवः ।।३७।।

देवर्षि, पितृ, गन्धर्वादि सबदेवोंने वृकासुरके मरने पर और महादेव संकटसे छूटे, इसलिए अपनी प्रसन्नता प्रकटकरणार्थ पुष्पवर्षासे अभिनन्दन किया।।३७।।

देव, ऋषि, पितर और गन्धर्व ये सब देव कहे जाते हैं.

इस विषयमें भगवानका चरित्र कौनसा हुआ? ऐसी शंका होने पर कहते हैं कि 'मोचितः संकटात् शिव' शिवको संकटसे छुड़ाया, महादेव संकटमें किस प्रकार थे? वह कहते हैं कि, यदि वृक, महादेवके मस्तक पर हाथ धरे और शिव भस्म न होवे तो शिवजीका वर झूठा होता है, यदि भस्म होते हैं तो शिवका अजरामरत्व झूठा पड़ता है इस प्रकार शिव संकटमें थे जिससे ही भागते फिरते थे.

जैसे एक तरफ व्याघ्र हो दूसरी तरफ गुफा हो तो उस समय मनुष्य संकटमें पड़ जाता है, वैसी दशा महादेवजीकी थी, अतः ऐसे समयमें इस संकटसे भगवानने महादेवको छुड़ाया।।३७।।

ऐसी दशामें महादेवजी तो लज्जाके मारे खेद करते होंगे, इसके निवारणार्थ 'मुक्तं गिरिश' श्लोकसे भगवान् उनकी स्तुति करते हैं.

मुक्तं गिरिशमभ्याह भगवान् पुरुषोत्तमः।
अहो देव महादेव पापोऽयं स्वेन पाप्मना।।३८।।

भगवान् पुरुषोत्तम संकटसे मुक्त महादेवजीको कहने लगे कि अहो देव! महादेव! यह पापी अपने पापसे ही मरा है।।३८।।

हतः को नु महत्स्वीश जन्तुर्वै कृतकिल्बिषः।
क्षेमी स्यात् किमु विश्वेशे कृतागस्को जगद्गुरौ।।३९।।

हे ईश! कोई भी जीव यदि महान् आत्माओंमें पापाचरण करता है, तो उसका कभी भी कल्याण होता है क्या? अर्थात् नहीं होता है. फिर इसने तो विश्वके ईश, जगतके गुरु आपका अपराध किया है. वह कभी सुखी हो सकता है? अर्थात् नहीं हो सकता है?।।३९।।

श्रीकृष्णस्वरूप नारायण पुरुषोत्तम होनेसे, सबसे उत्तम है. अतः उनकी समानता कोई नहीं कर सकता है, जिससे वे कोई कर्म करे तो, उस कर्मसे उनको किसी भी प्रकार हानि नहीं होती है, यों पुरुषोत्तम विशेषणसे सूचित किया है.

अब महादेवजीकी महिमाका गान करते हैं, अहो देव! महादेव! इन नामोंसे आपका अमरत्व तथा सर्व पूज्यत्व प्रतिपादन कर यह बताया है कि आपका मरना तो दूर रहा किन्तु उसकी सम्भावना ही नहीं हो सकती है, वृकने मर कर मुझ पर उपकार किया है, यदि महादेव यों समझते हों तो, इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते हैं कि, वह पापी था. अतः अपने पापोंसे ही भस्म हुआ हैं, सब पाप यदि इकट्ठे किए जावें तो वे सब पाप, ईश्वरकी मात्र अवज्ञाके समान हैं, वह ईश्वरावज्ञारूप महापाप इसने किया है, महान् आत्मा अर्थात् जो ज्ञानी व भक्त हैं उनका भी अपराध करनेवाला कल्याणको नहीं पाता है, उसको तो आप ही मारते हो क्योंकि आप ज्ञानी व भक्तोंके स्वामी हो, यह 'ईश' पदसे कहा है.

जहां सेवकोंके अतिक्रम करनेसे यह दण्ड मिलता है तो स्वामीके अतिक्रम पर कौनसा दण्ड मिलेगा? वह कहा नहीं जाता है, जगद्गुरौ' विशेषणसे

यह सूचन किया है कि इसका मरना अदृष्ट उपायसे हुआ है।।३८-३९।।

यह चरित्र मतान्तरका है किन्तु चालू प्रसंगमें उपयोगी होनेसे कैमुतिक न्यायसे कहने पर, इसके श्रवणका फल 'य एव' श्लोकसे कहते हैं.

य एवम् अव्याकृतशक्त्युदन्वतः परस्य साक्षात् परमात्मनो हरेः ।
गिरित्रमोक्षं कथयेत् श्रुणोति वा विमुच्यते संसृतिभिस्तथाऽरिभिः ।।४०।।

विकार रहित अनन्त शक्तियोंके समुद्र, सबसे उत्तम साक्षात् परमात्मा हरिका यह महादेवको संकटसे छुड़ानेवाला चरित्र कहे अथवा सुने, वह संसार बन्धनोंसे और शत्रुओंके भयसे छूट जाता है।।४०।।

भगवान् विकार रहित शक्तियोंके समुद्र हैं, यों कह कर भगवानकी शक्तियोंकी अनन्तता तथा चरित्रोंका आनन्त्य बताया है, उनमेंसे एक यह महादेवको संकटसे छुड़ानेका चरित्र भी है, भगवान् जो चरित्र करते हैं, वे केवल शक्तिसे सम्बन्धित होने पर करते हैं यों नहीं है किन्तु गुणातीत स्वरूपसे किए हुए चरित्र भी अनन्त हैं, यह 'परस्य' पदसे सूचित किया हैं अर्थात् जो प्रकृतिका भी नियन्ता है.

भगवान् इस प्रकार अनन्त और अद्भुत चरित्रोंके करनेसे महान नहीं है, किन्तु 'परमात्मनः' अर्थात् सबकी आत्मा होनेसे महान् हैं, ऐसे तीन तरहसे हित ही करते हैं, केवल इतना ही नहीं है किञ्च 'हरि' होनेसे सबके दुःख भी हरण करते हैं, शास्त्रदृष्टिसे तो सब ही परमात्मरूप हैं फिर इनमें विशेषता कौनसी है? जिसके उत्तरमें 'साक्षात्' पद दिया है अर्थात् आप स्वयं परमात्मा है, अन्य उनके रूपान्तर हैं.

वृकसे उत्पन्न संकटसे महादेवजीको मुक्त किया यह लोकसिद्ध मोक्ष नहीं है. इस चरित्रको जो सुनता है वा कहता है यानि दूसरोंको सुनाता है, वह अज्ञान और वासनारूप जो संसारके बन्धन हैं उनसे छूट जाता है वैसे ही शत्रुओं(काम, क्रोध, मद लोभादि)के बन्धनसे भी मुक्त हो जाता है.

वह भगवान् महादेव अहंकारके अधिष्ठाता देव हैं, अतः अहंकारकी निवृत्ति कर सबकी मुक्ति कराते हैं, वैसे महादेवको भी जिस पुरुषोत्तमने जब संकटसे छुड़ाया तब उनके चरित्र महादेवसे भी हैं वे चरित्र संसार और शत्रुओंसे कैसे न छुड़ा सकेंगे? अर्थात् छुड़ाएंगे ही.

विवेकके भण्डार भगवानके 'श्री' गुणका वर्णन करते हुए दानके

स्वरूपका निरूपण किया, लोगोंको दान देनेवाले महादेवजी हैं उनके दिए हुए दानसे अनर्थ उत्पन्न हुआ अर्थात् महादेव संकटमें पड़े, जिनको भी उस संकटसे छुड़ानेवाले भगवान् हैं।।४०।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंधके ८५वें अध्याय की
श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृतटीका)के गुण प्रकरणके
चतुर्थ अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण।

अध्याय ८६

भृगुजी द्वारा त्रिदेवोंकी परीक्षा और मरे हुए ब्राह्मण बालकोंको वापस लाना

एवं दातृत्वसन्देहः कृष्णस्य विनिवारितः।
अनेनैव महत्त्वं च हरौ निर्धारितं भवेत्।।का.१।।

कारिकार्थ: श्रीकृष्ण दाता नहीं है इस प्रकारके संशयका उत्तरार्धके ३९वें अध्यायमें विशेषतः निवारण किया, और इससे ही हरिके महत्वका भी निर्धार होगा।।१।।

तथापि स्पष्टमै ध्याये चत्वारिंशे निरूप्यते।
माहात्म्यं द्विविधं लोके प्रमाणाच्च प्रमेयतः।।का.२।।

कारिकार्थ: तो भी स्पष्ट निर्णय इस उत्तरार्धके ४०वें अध्यायमें स्पष्टरूपसे किया जाता है, लोकमें प्रमाण द्वारा और प्रमेय द्वारा माहात्म्य कहा जाता है अतः माहात्म्य दो प्रकारका होता है।।२।।

वेदानां मूलरूपेण प्रथमं विनिरूप्यते।
द्वितीयं च प्रमेयेण हरिणैव निरूपितम्।।का.३।।

कारिकार्थ: प्रमाण माहात्म्य वेदोंका मूलरूप होनेसे पहले कहा जाता है, और दूसरा माहात्म्य प्रमेयरूप है अतः उसका हरि ही निरूपण करते हैं. इस प्रकार निरूपणका तात्पर्य यह है कि वेद प्रमाणरूप है अतः वे प्रमाण माहात्म्य कहते हैं और प्रभु प्रमेयरूप है जिससे प्रमेयरूप माहात्म्यका वे निरूपण करते हैं।।३।।

ज्ञानशक्तिश्च पूर्णात्र क्रियापर्यवसायिनी।
मूलत्वात् सर्वसहनं जनकस्येव रूप्यते।।का.४।।

कारिकार्थ: श्रीकृष्ण स्वरूपमें जो पूर्ण ज्ञानशक्ति है, वह क्रियामें पर्यवसान पानेवाली है अतः वे(श्रीकृष्ण) मूल स्वरूप होनेसे, जनककी तरह सर्व सहन करते हैं, यह निरूपण किया जाता है।।४।।

यदा गुणा भगवतः चत्वारो विनिरूपिताः।
तदावशिष्टद्वितयं स्वयमेवावदत् शुकः।।का.५।।

कारिकार्थ: अब तक ४ अध्यायोंमें भगवानके ऐश्वर्यादि ४ गुणोंका वर्णन कर दिया है, शेष बचे हुए दो गुण 'ज्ञान' और 'वैराग्य'का वर्णन

श्रीशुकदेवजी स्वयं करते हैं।।५।।

कारिकार्थ समाप्त.

आभासार्थः महत्त्व लक्षणवाली ज्ञानशक्तिके निरूपण करनेकेलिए श्रीशुकदेवजी पहले ही सिद्ध निर्णयरूप कथाको 'सरस्वत्यास्तटे' श्लोकसे प्रारंभ करते हैं.

श्रीशुक उवाच

सरस्वत्यास्तटे राजन् ऋषयः सत्रम् आसत।
वितर्कः समभूत् तेषां त्रिष्वधीशेषु को महान्।।१।।

श्लोकार्थः श्रीशुकदेवजी कहने लगे कि हे राजन्! सरस्वती नदीके तट पर ऋषियोंने सत्र प्रारंभ किया था. वहां संवाद हुआ कि तीन देवों(ब्रह्मा, विष्णु व महादेव)में बड़ा देव कौन है?।।१।।

व्याख्यार्थः पहले किसी समयमें सरस्वती नदीके किनारे पर ऋषि, ऋषिसत्र कर रहे थे इससे सम्बन्धी देश, कर्ता और कर्म तीनोंकी उत्तमता बताई, उस सत्रमें कर्म करनेवाले यज्ञ उन ऋषियोंमें यह जाननेकी इच्छा उत्पन्न हुई कि इस कर्मका फल किस देवको अर्पण करना चाहिए, तब कितनेक कहने लगे कि ब्रह्मा उत्पन्न कर्ता होनेसे सबके पिता हैं अतः उनको अर्पण करना चाहिए, दूसरे कहने लगे कि, विष्णु ही यज्ञरूप है इसलिए उनको समर्पण करना उचित है, अन्य कहने लगे कि महादेवजी ज्ञानोपदेष्टा होनेसे गुरु हैं इस कारणसे उनको अर्पण करना योग्य है. इस प्रकार विवाद होते हुए तीनोंमें कौनसा एक है जो अपने कर्मसे फल अर्पण करने योग्य है? जिसका निर्णय न हो सका तब यह निर्णय हुआ कि इन तीनोंमेंसे गुणानुसार महान कौन है? यह परीक्षा करनी चाहिए, महत्ता, सद्गुणोंसे परखी जाती है, सद्गुणोंमें महान सद्गुण है, 'क्षोभ'का अभाव, क्रोध न होना इसकी किस तरह परीक्षा ली जावे इस विषय पर वाद-विवाद होने लगा, अन्तमें यह निर्णय हुआ कि जो किसी तरह अपमानित होने पर भी क्रोध न करे वह तीनोंमें महान् है।।१।।

तीनोंमेंसे किसमें यह महत्त्व है उसको कैसे जाना जाए? इस जिज्ञासा पर कहते हैं कि विचार करनेसे ही उसके महत्त्वका ज्ञान होता है, यों निश्चय कर विचार करनेकेलिए अन्य प्रमाण न मानकर, प्रत्यक्ष प्रमाण ही सबने स्वीकार किया, पश्चात् जिसका महत्व प्रत्यक्षसे सिद्ध हो उसको ही हम मानेंगे, इस

कार्यको सिद्ध करनेकेलिए प्रवृत्त हुए, यह 'तस्य जिज्ञासया' श्लोकसे कहते हैं.

तस्य जिज्ञासया ते वै भृगुं ब्रह्मसुतं नृप!।
तज्ज्ञप्त्यै प्रेषयामासुः सोऽभ्यगाद् ब्रह्मणः सभाम्।।२।।

हे नृप! इस विषयको जाननेकी इच्छासे उन ऋषियोंने ब्रह्माजीके पुत्र भृगु ऋषिको इस(तीनोंमें कौन महान् है?)को जान कर आनेकेलिए भेजा. वह(भृगुऋषि) पहले ब्रह्माकी सभामें गए।।२।।

भृगु सब ऋषियोंमें महान तो थे ही, फिर विशेषता यह हुई जो सर्व ऋषियोंने ज्ञानात्मिका अपनी ब्रह्मशक्ति भृगुजीमें धर दी, तब भृगु साक्षात् परब्रह्मरूपके[१] आवेशवाले हुए. आवेशके कारण देहका सम्बन्ध भूल गए, सब ब्राह्मणोंने भृगुको इसलिए भेजा कि तीनों देवोंमें उत्तम कौन है? अतः पहले ब्रह्माकी सभामें गए।।२।।

(१.मूलमें ऐसा कोई पद नहीं जिससे भृगुमें परब्रह्मके आवेशका ज्ञान हो किन्तु आचार्यश्रीने अर्थापत्ति प्रमाणानुसार लिखा है, यदि भृगुमें आवेश न होवे तो परब्रह्मके स्वरूपकी परीक्षा न कर सके–लेख)

यदि वह(ब्रह्मा) क्रोधित न हुए तो, सृष्टिकर्ता होनेसे सबके पिता भी हैं, ब्रह्म शब्दसे कहे भी जाते हैं, प्रवृत्तिकर्ता भी आप ही हैं अतः इतनेसे कार्य सिद्ध हो जानेसे यहांसे ही लौट चलूंगा यों निश्चय कर वहां ब्रह्माकी सभामें जा कर ब्रह्माका थोड़ा सा ही अपमान किया, जिसका 'न तस्मै' श्लोकसे वर्णन करते हैं.

न तस्मै प्रह्वणं स्तोत्रं चक्रे सत्त्वपरीक्षया।
तस्मै चुक्रोध भगवान् प्रज्वलन् स्वेन तेजसा।।३।।

भृगुने जा कर सभा विराजमान ब्रह्माजीको नमस्कार नहीं की और न उनकी स्तुति की. इस प्रकारके अपमानसे भगवान् ब्रह्मा अपने तेजसे प्रज्वलित हो, उस पर क्रोध करने लगे।।३।।

पहले ब्रह्माकी सभामें जितने आते वे सब प्रणाम और स्तुति कर फिर बैठते थे, भृगुने इन दोनोंमेंसे एक भी नहीं किया, यों करनेसे भृगुने ब्रह्माजीका मानस अपमान किया, ऋषि और ज्ञानी होते हुवे भी अपना कर्तव्य क्यों नहीं किया? जिसका कारण बताते हैं कि भगुको ब्रह्माके सतोगुणकी परीक्षा करनी थी कि, इनको क्रोध तो नहीं आता है? यह ब्रह्म कहे जाते हैं किन्तु इनमें सतोगुणके लक्षण विवेकधैर्य आदि हैं या नहीं? इसकी परीक्षा करनी चाहिए अतः भृगुने न

नमस्कार की और न स्तुति की, न कि स्वभावसे नमन और स्तुतिका त्याग किया था, जिससे कि भृगु दोषी बने हों. किन्तु ब्रह्माजीने तो देखा कि भृगुको यह समय था मुझे नमस्कार करने और मेरी स्तुति करनेका, इस प्रकार सेवा करनेका मौका आने पर भी भृगुने सेवा नहीं की यह द्वेषकी जड़ है, अतः ब्रह्माको क्रोध आया. यद्यपि भृगुजी महान् ब्रह्माण थे किन्तु ब्रह्माजी भगवान् हैं इसलिए भृगुको प्रणाम और स्तुति करनी उचित थी, यदि कहो कि भृगुमें भी ब्रह्मत्व है, इस पर कहते हैं कि ब्रह्माजी वेदगर्भ होनेसे ब्रह्मतेजसे स्वयं प्रकाशमान हो रहे हैं, किन्तु भृगुमें अब कार्यार्थ ऋषियोंने अपना-अपना ब्रह्मतेज स्थापित किया, तब उसमें ब्रह्मत्व आया है।।३।।

पश्चात् सहज और कृत्रिम होते हुए भी दोनोंका स्वरूप तो समान था, अर्थात् ब्रह्मामें ब्रह्मत्व स्वाभाविक अपना था, अतः ब्रह्माका ब्रह्मत्व सहज है, और भृगुमें ऋषियोंकी दी हुई ब्रह्मशक्ति थी, अतः भृगुका ब्रह्मत्व कृत्रिम था तो भी ब्रह्मपन तो तुल्य(एक जैसा) था ब्रह्मास्त्रोंकी तरह स्वतः एवं वह तेज शांत हो गया, जिसका वर्णन 'स आत्मन्युथितं' श्लोकमें करते हैं.

स आत्मन्युत्थितं मन्युम् आत्मजायात्मना प्रभुः।
अशीशमद्यथा वह्निं स्वयोन्या वारिणात्मभूः ।।४।।

ब्रह्माजीने मनमें उत्पन्न क्रोधको भृगु मेरा पुत्र है, इस विचारसे शांत कर दिया, अग्निको शांत करनेमें अग्निसे उत्पन्न जल ही कारण है. वैसे ही यहां ब्रह्माके क्रोधको शांत करनेमें भृगुका पुत्रपन ही कारण बना।।४।।

जैसे पुत्र भृगु अपनेमेंसे उत्पन्न हुवा है, वैसे क्रोध भी अपनेमेंसे उत्पन्न है, अतः दोनोंका बल समान होनेसे घोर कलह हो जायगा, यों विचारकर, ब्रह्माजीने अपने ही तेजसे क्रोधको शान्त कर दिया, यों करनेकी आपमें सामर्थ्य थी क्योंकि 'प्रभु' सर्वकरण समर्थ हैं, यह तो ब्रह्माका केवल मनोरथ ही था, वास्तवमें तो भृगुके तेजसे ही क्रोध शान्त हो गया, जिसको दृष्टान्त दे कर समझाते हैं कि, कोई मनुष्य अग्निको जब बुझाना चाहता है तब जलसे ही बुझाता है, वह जल अग्निसे पैदा हुआ है, जैसाकि भगवती श्रुति कहती है कि 'अग्नेरापः' अग्निसे जल उत्पन्न हुए, कारणसे कार्यका नाश बहुत करके सर्वत्र, स्वतः वा धर्मसे देखा जाता है किन्तु यह प्रभु लीला अलौकिक है।।४।।

ततः कैलासम् अगमत् स तं देवो महेश्वरः।

परिरब्धुं समारेभ उत्थाय भ्रातरं मुदा ।।५।।

पश्चात् वह कैलाशमें गए. वहां महेश्वर देवने अपना भ्राता समझ, प्रसन्न हो, उठकर, उनका आलिंगन करनेकेलिए तैयारी की।।५।।

इस प्रकार ब्रह्माजीको क्रोधित देख, निश्चय किया कि यह महान् नहीं है. अब कहां चलना चाहिए? यों विचार करने लगे? तब मनमें आया कि विष्णु भोगाविष्ट हैं अतः कदाचित् वे भी ऐसे होंगे, इसलिए पहले ज्ञानोपदेष्टा महादेवके पास चलना चाहिए, यों निश्चय कर कैलाशमें गए, वहां भी जा कर यों ही बैठ गए इससे वाचनिक अपराध किया, ब्रह्माके आत्मज होनेसे महादेवने भृगुको भ्राता समझ क्रोध न किया, भाई-भाई समान होते हैं, समानतामें नमस्कार आदिकी आवश्यकता नहीं, अनन्तर महादेवजी भ्राताको आया हुआ देख और उनको तेजस्वी जान, यद्यपि आप देव, ज्ञानशक्ति युक्त और ऐश्वर्यसे युक्त होते हुए भी भ्राताके सम्मान करनेकेलिए उठ कर आलिंगन करनेके वास्ते आगे आने लगे, यों ही नहीं किन्तु प्रसन्नतासे आगे बढे, इससे मन काया और इन्द्रियोंसे आदर किया।।५।।

'नैच्छत्त्व' इस श्लोकमें भृगुने महादेवका अपराध कैसे किया? वह बताते हैं.

नैच्छत् त्वमस्युत्पथग इति देवश्चुकोप ह ।
शूलम् उद्यम्य तं हन्तुम् आरेभे तिग्मलोचनः
पतित्वा पादयोर्देवी सान्त्वयामास तं गिरा ।।६।।

भृगुने महादेवजीसे आलिंगन करना न चाहा और कहा कि तुम उत्पथगामी हो. यह वचन सुन कर महादेवको क्रोध उत्पन्न हुआ नेत्र लाल हो गए, तत्क्षण ही त्रिशूल ले कर भृगुको मारनेकेलिए तैयार हो गए, पार्वतीजीने चरण पकड़ कर वाणीसे शांति कराई।।६।।

भृगुने वाचनिक और मानस दोनों अपराध किए, आलिंगन न करनेकी इच्छा मानस अपराध है, आप उत्पथ(उल्टेमार्ग पर) चलनेवाले हैं, यों कहना वाचनिक अपराध है, इस प्रकार मान होनेसे महादेवजी कुपित हुए, क्रोध करना दोष है कुपित होनेसे महादेव दोषी हुए, जिसके उत्तरमें कहते हैं कि देव जैसा भी करे तो उनको दोष नहीं लगता है, ये तो महादेव हैं इसलिए क्रोध करनेसे इनको दोष नहीं लगा, 'ह' पदसे यह भाव प्रकट किया है कि महादेव ज्ञानी तथा

ज्ञानोपदेष्टा हैं, उनको क्रोध आना तो अचम्भेकी बात है पहलेकी अपेक्षा ब्रह्माके अपमान करनेसे जो दण्ड मिला, उससे अब दण्ड भी अधिक हुआ वह बताते हैं कि, 'शूलमुद्यम्य तिग्मलोचनः' महादेवजीने त्रिशूल उठा लिया और आंखें लाल कर दी, जिससे ज्ञानशक्ति तिरोहित हो गई, तब पार्वती जो ज्ञानशक्ति है, वह महादेवका स्वरूप जान कर अपनी क्रियासे उन(महादेव)के दण्ड देनेके कार्यमें रुकावट होने लगी, कैसे रुकावट हुई? वह प्रकार कहते हैं कि पार्वती महादेवजीके चरणोंमें गिर गई और वचनोंसे भृगुके स्वरूपका ज्ञान कराके मारनेसे रोका।।६।।

स्थानके अनुरूप गुणको धारण कर ब्रह्मा और शिवके लोकमें गए थे, अर्थात् रजोगुण धारण कर ब्रह्माके लोकमें गए, तामस गुणको धारण कर शिव लोकमें गए अब विष्णु लोकमें दूसरे स्वरूपसे सत्वगुण धारण कर गए यह 'अथाजगाम' श्लोकसे कहते हैं.

अथाजगाम वैकुण्ठं यत्र देवो जनार्दनः
शयानं श्रिय उत्संगे पदा वक्षस्यताडयत्।।७।।

वहां जनार्दन देव लक्ष्मीकी गोदमें सो रहे थे, वहां वैकुण्ठमें गए और जाते ही भगवानके वक्ष(छाती) पर लात मार दी।।७।।

वे भगवान् जनार्दन, लक्ष्मीपति होनेसे भृगुऋषिके जामाता(दामाद) लगते हैं. इसलिए द्वारपालोंने भीतर जानेसे रोका नहीं, भीतर जा कर देखाकि भगवान् लक्ष्मोजीकी गोदमें सो रहे हैं, पूर्व किए हुए अनादरसे भी विशेष अनादर करने लगे, वहां तो केवल नमन नहीं किया और स्तुति नहीं की यहां तो जाते ही सोये हुए भगवानकी छाती पर लात मार कर उनको जगा दिया।।७।।

परीक्षाकेलिए आए थे, इसलिए विलंब सहन न कर सकते थे, भगवान् सो रहे थे इसलिए कोई दूसरा अपराध हो नहीं सकता था, यह महान् कायिक अपराध है इस एक ही महान् अपराध करनेसे, देश, काल, अवस्था सन्निधिकरण क्रिया और फल इत्यादि छ ही दोष इस महान् कायिक अपराध करनेसे हो गए, जो जनार्दन प्रत्येक भगवद्गुणसे वा सर्व गुणोंसे युक्त भगवान् न होते तो इनको भी उन दोनोंकी तरह क्रोध आ जाता, भगवान् तो स्वभावसे सहज षड्गुणोंके मूलभूत हैं अतः अपने सहज षड्गुणोंको प्रकाशित करने लगे, इसलिए आपको क्रोध न हुआ जिसका वर्णन 'तत उत्थाय' श्लोकसे ले कर ४ श्लोकोंमें करते हैं.

तत उत्थाय भगवान् सह लक्ष्म्या सतां गतिः।
स्वतल्पाद् अवरुह्याथ ननाम शिरसा मुनिम् ।।८।।
आह ते स्वागतं ब्रह्मन् निषीदात्रासने क्षणम्।
अजानतामागतान् वः क्षन्तुमर्हथ नः प्रभो ।।९।।
अतीव कोमलौ तात! चरणौ ते महामुने!।
इत्युक्त्वा विप्रचरणौ मर्दयन् स्वेन पाणिना ।।१०।।

सत्पुरुषोंके शरण भगवान् लक्ष्मीके सहित उठकर, पलंगसे नीचे उतरकर, शीघ्र ही मुनिको मस्तकसे प्रणाम करने लगे और कहने लगे कि हे प्रभो! आप भले पधारे, किन्तु मुझे जो देरी हो गई, उस दोषकेलिए मुझे आप क्षमा करोगे, इस आसन पर विराजो. हे तात! हे महामुनि! आपके चरण कोमल हैं, मेरी कठोर छातीसे आपको जरूर चोट आई होगी, यों कह कर भगवान्, भगवान् भृगुके चरणोंका मर्दन(चांपी) करने लगे।।८-१०।।

मानसान् षड्गुणान् आदौ ततः काये सुसंस्थितान्।
ततो वाचनिकान् आह पूर्णोऽतो भगवान् हरिः।।का.६।।

कारिकार्थः मनके छ गुण, कायामें अच्छी तरह स्थित छ गुण और वाचनिक छ गुण कहे हैं, अतः इस प्रकार गुणोंके होनेसे भगवान् हरि पूर्ण हैं.

व्याख्यार्थः विष्णुको क्षोभ न हुआ, क्योंकि भगवान् हैं, उनके मानस छ गुणोंको कहते हैं. भृगुने लात मारी यो अपमानित हो कर भी उसका समादर करनेकेलिए उठ कर खड़े हुए, यह आपमें (१)ऐश्वर्यसे विरुद्ध गुण है, लक्ष्मीके साथ उठना यह (२)वीर्यसे विरुद्ध गुण है, जिसमें सामर्थ्य होता है वह अपने सुखको नहीं छोड़ता है यह (३)'यश'के भी विरुद्ध है, आप सत्पुरुषोंकी गति है, यदि इस प्रकार स्वतः सुख छोड़ देंगे तो भक्त कैसे आपकी शरण ग्रहण करेंगे? क्योंकि, इस प्रकार करनेसे आपका अपकर्ष बढ़ता है, अपने पलंगसे उतर आनेका कार्य (४)'श्री' गुणके भी विरुद्ध है, क्योंकि इससे शोभा तिरोहित हो जाती है, शीघ्र कहनेसे अपनी निर्बलता प्रकट की यह श्रीके विरुद्ध गुण हैं, भृगुको नमस्कार की यह (५)'ज्ञान'के विरुद्ध गुण है, नमस्कार वह करता है जो हीन होता है, उसमें भी शिरसे नमस्कार करना तो अति हीनता द्योतक है क्योंकि भगवानके मस्तकमें बह्मादि देव विराजते हैं, और मुनिको प्रणाम करना यह (६)वैराग्यके भी विरुद्ध हैं, आपने भृगुको नमस्कार इस इच्छासे की है कि भृगु

मुनि है, नमस्कार न करनेसे क्रोध करेगा, यह क्रोध न करे, इस इच्छासे प्रणाम किया यह कार्य भी वैराग्यके विरुद्ध है, वैराग्यवालेको इच्छा नहीं होती है।।८।।

भगवानके जो कायिक सहजधर्म हैं, उनके विरुद्ध जो अब आप कर दिखाते हैं उनका वर्णन करते हैं. ''आप भले पधारे, आपका पधारना सुखपूर्वक तो हुआ है?'' इस प्रकार कुशल प्रश्न उससे किया जाता है, जो अपने समान होता है, भृगु जीव और आप भगवान् हो कर भी इस प्रकार प्रश्न करने लगे, जिससे आपके ऐश्वर्यके विरूद्ध यह गुण है.

और 'हे ब्रह्मन्!' इस प्रकारका सम्बोधन भी आपसे उसका(भृगुका) उत्कर्ष प्रकट करना जिसमें यह गुण वीर्य विरूद्ध है. 'अत्रासने क्षणं निषीद' इस आसन पर क्षण विराजो, इस प्रकार की हुई प्रार्थना, कीर्ति गुणके विरुद्ध है, 'क्षण' पदसे अतिदीनता प्रकट कर अपना 'श्री' विरुद्ध गुण बताया है, 'अजानताम् आगतान्' इस पदसे बताया है कि मुझको ज्ञान नहीं है, अतः यह ज्ञान विरुद्ध गुण है, 'नः अपराधं क्षमस्व' हमारा अपराध क्षमा करो, यों कह कर अपनेको सापेक्ष्य प्रसिद्ध किया है. इसलिए यह वैराग्यके विरुद्ध गुण है, हे प्रभो! विशेषणसे भगवान् सूचित करते हैं कि, मैंने अपने गुण इनमें स्थापित किए हैं.

भगवान् अभिमानी नहीं है और अन्योंको मान देनेवाले हैं. यों परीक्षा होने पर पूर्ण निर्णय हो जायगा, इस प्रकार वाणीसे अपना अपकर्ष प्रकट किया और अपराधीकी स्तुति प्रकट की।।९-१०।।

निम्न दो श्लोकोंसे, पहलेकी तरह वाणीसे विरुद्ध कायिकधर्मोंका प्रतिष्ठान करते हैं.

पुनीहि सह लोकं मां लोकपालांश्च मद्गतान्।
पादोदकेन भवतः तीर्थानां तीर्थकारिणा।।११।।

तीर्थोंका भी तीर्थ करनेवाले आपके चरणजलसे मेरे भीतर स्थित लोकपालोंको तथा लोकों सहित मुझे पवित्र कीजिये।।११।।

पवित्रतामें सब पवित्रताओंसे विशेष पवित्रता धारण कर पवित्रतामें भी ऐश्वर्य प्राप्त किया है, जिससे परम पवित्ररूप भगवान् हैं, इस कारणसे ही नखोंके जलरूप गंगामें अपनी आज्ञासे पवित्रता स्थापित की है, जो आप इसमें पवित्रता स्थापित न करते तो शास्त्र निषिद्ध नखजलमें पवित्रता कैसे आती? इसलिए जो स्वयं परम पवित्ररूप हैं और निषिद्ध जल भी पवित्र कर सकते हैं वह कहते हैं, मुझे

पवित्र करो, यतः यह विरुद्धधर्म है, न केवल अपनेको लोक सहित सुतरां अपनी अपवित्रता प्रकट करनी, विरुद्ध है, यह सब भगवान् तब कह रहे हैं जब भगवानने अपने धर्म भृगुमें स्थापित किए हैं उनको आपने ले लिए है, भगवान् यों न करते तो ब्राह्मणका नाश हो जाता, प्रमेयबलसे सन्मार्ग नाश ही हो जाय जैसे प्रजा महान् राजद्रोह जब करती है तब राजकर्मचारी उन द्रोहियोंका नाश ही करें, किन्तु यदि राजा स्वयं उन द्रोहियोंको राज्य दे देवे तो, तब वे सब राजद्रोही राज़मित्र बन द्रोह करना छोड़ देते हैं. फिर किसीको भी कष्ट नहीं करते हैं यदि राजा उनको राज न दे तो वे कैसे भी कर राजाको नष्ट कर ही छोड़े, इस कारणसे ही भगवान् इस नीतिको ले कर ही भृगुकी स्तुति करते हैं, दोनोंमें समता नहीं होनेसे भगवान् अपने धर्म उसमें(भृगुमें) स्थापित करते हैं, उनके धर्म आप ग्रहण करते हैं, यह भगवानकी लीला मोहिका है, जिससे भगवानका हीनत्व प्रतिपादन कर रही, भगवान् अति दैन्य प्रकट कर दिखानेकेलिए अपने वीर्यसे विरुद्ध वचन कहते हैं, जैसेकि 'मद्गतान् लोकपालांश्च पुनीहि' मुझमें जो लोकपाल स्थित हैं उनको पवित्र करो, मुझमें स्थित पदसे यह सूचित किया है कि भृगुका इनसे कुछ भी सम्बन्ध नहीं हो तो पवित्र करना तो दूर रहा, भगवान् अपने और लोकपालोंको पवित्र करनेकेलिए भृगुके चरणजलकी याचना करते हैं; वह तो असीम कीर्ति विरुद्ध है, भृगुका चरणजल कैसे पवित्र करेगा? इस शंकाको मिटानेकेलिए कहते है कि यह चरणजल, साधारण नहीं है किन्तु तीर्थोंको भी तीर्थ बनानेवाला है, यह हेतु दे कर उस(पादजल)के पवित्रताका निरूपण किया है।।११।।

लक्ष्मीसे विरुद्ध धर्मको 'अद्याहं' श्लोकसे कहते हैं.

अद्याहं भगवंल्लक्ष्म्या आसम् एकान्तभाजनम्।
वत्स्यत्युरसि मे भूतिः भवत्पादहतांहसः ।।१२।।

हे भगवन्! आज मैं लक्ष्मीके निवासका निश्चित् स्थान बना हूं, क्योंकि आपके चरणसे नष्ट पापवाले मेरी छाती पर वे रहेंगे।।१२।।

भगवानमें नित्य सिद्ध लक्ष्मी जो है वह आधिदैविकी है, और यह आधिभौतिकि भी नित्य है, पश्चात् इस प्रकारके वाक्य, लक्ष्मीजीके स्वरूपसे तथा अपने स्वरूपसे विरुद्ध है. 'मेरी छाती पर बैठेंगी' यह वचन ज्ञानके विरुद्ध है कारणकि जिसमें ज्ञानशक्ति पूर्ण है वहां क्रियाशक्ति नहीं रह सकती है, उसमें भी वह अन्तरंग हो कर रहेगी, इस प्रकारकी इच्छा प्रकट करनेसे तो, वैराग्यका भी

विरोध आता है, आपके चरणारविन्दके सम्बन्धसे अपने पापोंका क्षय कहना, धर्मी स्वरूपसे भी विरुद्ध है.

इस प्रकार जो भगवानने कहा है वह पहले अपनेको धर्मसहित भृगुमें स्थापितकर, उसके स्वरूपको स्वयं ग्रहण कर पीछे बोला है.

इससे ही उसको प्रायश्चितका भी उपदेश दिया है कि जब कभी मेरे चरणोंकी सेवा करोगे, तब यह तेरा पाप क्षीण होगा, इस प्रकार अपना अमानित्व और दूसरेको मान देनेपनका गुण, प्रकट करते हुए भगवानने सत्पुरुषोंके मार्गका समर्थन किया है।।१२।।

पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'एवं ब्रुवाणे' श्लोकमें कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

एवं ब्रुवाणे वैकुण्ठे भृगुस्तन्मन्द्रया गिरा।
निर्वृतस्तर्पितस्तूष्णीं भक्त्युत्कण्ठोऽश्रुलोचनः ।।१३।।

श्रीशुकदेवजीने कहा कि जब भगवान् इस तरह कह रहे थे, तब भृगु ऋषि यह गंभीर वाणी सुन कर परमानन्दमें मग्न हो गए और तृप्त हो गए, जिससे कुछ कह न सके, भक्तिकी उत्कण्ठा उद्‌भुत होनेसे नेत्रोंमें प्रेमाश्रु भर गए।।१३।।

वह(भृगु) तो तीन देवोंकी परीक्षार्थ निकले थे, दोकी परीक्षा कर इनकी परीक्षार्थ यहां आए थे, इसलिए उसने भगवानमें हीनभाव नहीं माना, किन्तु काया, वाणी और मनसे जो कुछ भगवानने किया उनको गुणरूपसे स्वीकार किया अतएव सर्वभावसे वह सन्तुष्ट हुआ, यह कहते हैं पहले उनकी गंभीर वाणी सुन कर परम आनन्दमें मग्न हुआ, भृगुमें अपने धर्म स्थापित कर उसको तृप्त कर दिया, अतः सनकादिकोंकी तरह प्रश्नोत्तर एवं संदेह न किया, मौन धारण कर ली, अद्भुतकर्मा भगवानने भक्तिके विरूद्धकर्म द्वारा उसको भक्ति दी, प्रेमलक्षण भक्तिकी प्राप्तिसे भृगु भगवानमें परमोत्कण्ठावाला हुआ जिससे मनमें आया कि अहो! भगवानके ऐसे आश्चर्यमय चरित्र हैं यों विचार होते ही नेत्र अश्रुओंसे पूर्ण हो गए।।१३।।

भगवानका माहात्म्य जानकर, निर्णय सुनानेकेलिए फिर वहां सत्रके स्थान पर लौट आए यों निम्न श्लोकमें कहते हैं.

पुनः स्वसत्रम् आव्रज्य मुनीनां ब्रह्मवादिनाम्।
स्वानुभूतम् अशेषेण राजन् भृगुरवर्णयत् ।।१४।।

हे राजन्! भृगु ब्रह्मवादी मुनियोंके अपने सत्रमें लौट कर अपना सम्पूर्ण अनुभव वर्णन करने लगे।।१४।।

'मुनीनां ब्रह्मवादिनां' पदोंसे यह सूचित किया है कि, सत्रमें दीक्षित, मुनि तथा ब्रह्मवादी थे जिनसे उनमें ज्ञान एवं क्रिया दोनों मौजूद थी, उससे मैं जो इनको बताऊंगा उस पर विश्वास करेंगे तथा उसको समझेंगे भी, अतः शंकारहित हो अपना सम्पूर्ण अनुभव वर्णन किया अन्तमें 'भृगु' पद देनेसे उसकी वैष्णवता प्रकट कर दिखाई है।।१४।।

भृगुके अनुभवको सुननेके बाद भी उनको संदेह रहा वा नहीं, इस शंकाको मिटानेकेलिए 'तन्निशम्य' श्लोकमें कहते हैं कि संदेह न रहा.

तन्निशम्याथ मुनयो विस्मिता मुक्तसंशयाः।
भूयांसं श्रद्दधुर्विष्णुं यतः शान्तिर्यतोऽभयम्।।१५।।

प्रथम भगवानके चरित्र श्रवण करनेसे अचंभेमें पड़े अनन्तर सर्व संशयोंसे रहित हुए, विष्णु भगवानमें श्रद्धावाले हो गए, जिससे ही शांति और निर्भयताकी प्राप्ति होती है, यों निश्चय किया।।१५।।

आदिमें भगवानका अद्भुत चरित्र श्रवण कर आश्चर्ययुक्त हो गए. स्वल्प उत्कर्षको जाननेकेलिए प्रवृत हुए किन्तु परमोत्कर्षका ज्ञान प्राप्त किया, उससे संशय नष्ट हो गए और यह निश्चय हो गया कि भगवान् ही महान् हैं, यों होते हुए भी विष्णुरूपमें विशेष पूर्ण श्रद्धावान् होने लगे, ये ही महान् हैं, यों निश्चय कर इस पदार्थ(स्वरूप)में विश्वास करने लगे.

'भृयांसः' इस शब्दके कहनेका भावार्थ बताते हैं कि जो लोग ब्रह्माको पिता समझ और महादेवको गुरु जान कर उनमें श्रद्धावाले थे, उन श्रद्धावालोंको समझानेकेलिए शास्त्र प्रमाण भी समर्थ नहीं हैं, अतः वे भगवानको भी अपने सेव्य (ब्रह्मा और महादेव)के समान जानने लगे, इसलिए उनकी अवगणना करनेके वास्ते 'भूयांसः' पद दिया है.

सत्पुरुषोंके मार्गमें अथवा श्रेष्ठमार्गमें, भगवानको ही उत्तम मानना चाहिए, यह प्रकट करनेकेलिए सन्मार्गकेलिए जो उपयोगी गुण हैं, वे भगवानमें ही हैं, यो 'शान्ति' पदसे ले कर १९वें श्लोकके अन्तिम पद 'तत्तीर्थसाधनम्' तक बताते हैं, इसमें पहले सन्मार्गमें इसकी आवश्यकता है कि गुणोंमें क्षोभ न होनेसे ही भगवद्धर्म और भगवन्मार्गकी रक्षा होती है. यों होते हुए भी भगवान् और उनके

छ गुण कहने चाहिए.

इसी प्रकार भक्तिमार्गमें १६कलावाले[१] भगवानका वर्णन हो जायगा, विष्णुसे शान्ति और अभय प्राप्ति होती है.

१–शान्ति, आन्तर भीतरी–अन्दरका धर्म है, इस धर्मसे इन्द्रियोंमें जो रजोगुणसे क्षोभ होता है वह क्षोभ(घबराहट) होना रुक जाता है, २–अभय, धर्म सतोगुणसे उत्पन्न क्षोभकी निवृत्ति होती है।।१५।।

१.गुण तीन भगवानके ६ धर्म, भक्तिमार्गकी रक्षामें छ गुण और एक धर्मी, यों मिल कर ३+६+६+१=१६ होते हैं अतः षोड़शकला पुरुष है.

धर्मः साक्षाद् यतो ज्ञानं वैराग्यं च दयान्वितम्।
ऐश्वर्यं चाष्टधा यस्माद् यशश्चात्ममलापहम् ।।१६।।

जिससे धर्म, दयासहित ज्ञान और वैराग्य प्राप्त होता है और जिससे आठ प्रकारके ऐश्वर्य तथा अन्तःकरणके मलका नाश करनेवाले यशकी प्राप्ति होती है।।१६।।

३–धर्म, धर्मसे तमोगुणका अभाव होता है, अर्थात् तमोगुणसे उत्पन्न क्रियाओंका नाश हो जाता है, इसके अनन्तर भगवानके धर्म बताते हैं, ४–जिससे सकल प्राणी, साक्षात् निरुपाधिक ज्ञान एवं ५–वैसा ही वैराग्य प्राप्त होता है, वे दोनों(ज्ञान तथा वैराग्य) दयासहित प्राप्त होते हैं, दयासहित ज्ञान और वैराग्य प्राणियोंको पीड़ा देनेवाला नही होता है, दयारहित ज्ञान और वैराग्य पीड़ाकारक होते हैं. दयाभावके कारण ही अर्जुनको भगवानने उपदेश दिया. वैराग्यसे सम्बन्धियोंको कष्ट होता है, यह लोकसिद्ध है. किसी पुस्तकमें 'दयान्वितं'के स्थान पर 'तदन्वितं' पाठ है जिसका अर्थ है वैराग्य हो तो ज्ञानसहित होना चाहिए, ज्ञान बिना जो वैराग्य है वह(वैराग्य) वैसा होता है जैसा वानरका वैराग्य है, जिस भगवानसे ६–अणिमादि प्रकार अष्टविध ऐश्वर्य और ७–यश प्राप्त होता है, वह यश, अन्तःकरणके मलका नाश करनेवाला होता है, न कि नट तथा विदूषक आदिको पारितोषक देनेसे लोकमें नामवरी होती है वैसा दिखावटी यश प्राप्त होता है.

चालू प्रसंगमें ८–श्री और ९–वीर्यका उपयोग न होनेसे पृथक न कह कर शुकदेवजी वीर्यका दयामें और श्रीका अष्टविध ऐश्वर्योंमें अन्तर्भाव मानते हैं।।१६।।

भगवानसे प्राणियोंको इस प्रकार अष्टविध ऐश्वर्यादिकी प्राप्ति होती है, यह निरूपणकर, भक्तिमार्गकी सिद्धिकेलिए, मार्गके अनुकूल भगवानमें गुणोंका निम्न श्लोकोंसे वर्णन करते हैं.

मुनीनां न्यस्तदण्डानां शान्तानां समचेतसाम्।
अकिञ्चनानां साधूनां यम् आहुः परमां गतिम्।।१७।।

जिन(भगवान)को शांत, समचित्तवाले, अकिञ्चन साधु तथा संन्यास धारण किये हुए मुनियोंका परम फल कहते हैं।।१७।।

जो भगवान्, छ गुणवालोंकी भी गति है अर्थात् फलरूप हैं, 'आहु' पदसे इसकी प्रमाणता कही है, अर्थात् वेदादि शास्त्र कहते हैं कि छ गुणोंवालोंका फल यह भगवान्(विष्णु) हैं, कारणकि उनको प्राप्त करनेके बाद, वहां कोई लौट कर संसारमें नहीं आता है, और उससे आगे कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां जा कर आनन्द पाया जाय, जिन मुनियोंका ये परम फलरूप है उन(मुनियों)के छ गुणोंका वर्णन, इसलिए करते है कि, सबको यह ज्ञात हो जावे कि ये भगवान् किनको और कैसे गुणोंवालोंको प्राप्त होते हैं.

मनन करनेवालेको 'मुनि' कहा जाता है, मनन करना यह ज्ञानका साधन है, मनन करनेसे ज्ञानकी सिद्धी होती है. किसीको भी दण्ड न देना यह वैराग्यका लक्षण है अर्थात् जो अपराधीको भी दण्ड(सजा) नहीं देता है वह सन्यासी (वैराग्यवाला) है, मुनियोंमें शान्ति होती है जिससे उनमें कीर्ति गुण रहता है मुनि हमेशा सबमें समदृष्टिवाले होते हैं, यह गुण 'श्री'का द्योतक है उनमें वीर्य गुण होता है, जिसका सूचन उनकी अकिंचनता करती है. अपेक्षा होते हुए भी कुछ न लेना, यह वीर्य गुणके बिना हो नहीं सकता है, साधु अर्थात् सत् आचरणवाले होते हैं, इससे ऐश्वर्यका निरूपण किया है, यदि भगवान् किसीको लौकिक सामग्री देते हैं तो समझना चाहिए कि इससे वैदिक क्रिया मर्यादामार्गीय कर्म कराना चाहते हैं. सन्मार्ग अर्थात् उत्तम भक्तिमार्गमें भगवानकी फलरूपता ही एक मूल विशेष(खास) गुण है।।१७।।

इस मार्गमें साधनोंका उत्कर्ष 'सत्वं यस्य' श्लोकसे कहते हैं.

सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः ब्राह्मणास्त्विष्टदेवताः।
भजन्त्यनाशिषः शान्ता यं वा निपुणबुद्धयः।।१८।।

जिन भगवानको सत्वमूर्ति प्रिय है, ब्राह्मण जिनके इष्ट देवता हैं, अथवा

निष्काम, शांत और कुशल बुद्धिवाले जिनको भजते हैं।।१८।।

सत्त्वगुण ही भगवानका निरूपण करनेवाला है, सत्त्वको उत्पन्न करनेवाले ही वहां सुलभ हैं, एवं बाह्मण तो भगवानके इष्टदेव हैं, यों कह कर यह सिद्ध कर बताया है कि इस मार्गमें प्रमाण रुकावट नहीं कर सकता है. और विशेषता यह है कि इस मार्गमें तीन गुणवाले ही(१.निष्काम, २.शान्त(साधन दोषरहित), ३.विवेक और ज्ञानसे युक्त भक्त ही) भगवानका भजन करते हैं, यों कह कर साध्य भगवानका उत्कर्ष वर्णन किया है, 'वा' पद देनेका प्रयोजन यह है कि भगवानके भजन करनेमें चतुराई अत्यन्त प्रयोजनवाली नहीं है, इस प्रकार ४ गुण कहे।।१८।।

अन्य गुण कहे, शेष दो गुण 'त्रिविधाकृतयः' श्लोकमें कहते हैं.

त्रिविधाकृतयस्तस्य राक्षसा असुराः सुराः।
गुणिन्या मायया सृष्टाः सत्त्वं तत्तीर्थसाधनम् ।।१९।।

उनकी तीन प्रकारवाली गुणमयी मायाने राक्षस, असुर और सुर वैसी तीन प्रकारकी आकृतिवाली सृष्टि बनाई हैं, इनमें जो सत्व है वह तीर्थका साधन है।।१९।।

भगवानके रूप तीन तरहके हैं, वे बताते हैं. १.राक्षस, वे तामस है २.असुर, वे राजस है, ३.देव वे सात्विक हैं, यों कहनेसे यह सिद्ध किया है कि भगवान् सर्वरूप है, इसलिए सर्वत्र भगवद्बुद्धि रखनी चाहिए, यह एक गुण है.

उनमें भी जो सत्त्व है, वह जो पवित्र करनेवाले हैं, उनकेलिए साधन है, यह साधन वैराग्यरूप ही है. इससे पहले जो(सर्वमें भगवद्बुद्धि रखनी), कहा वह ज्ञानरूप ही है, भजन 'श्री' है ब्राह्मण कीर्ति हैं, सत्त्व 'बल'(वीर्य) है और गति 'ऐश्वर्य' है. 'यस्मात्' पद १६वें श्लोकमें जो दिया है उसमें धर्मी भगवानका ही निर्देश किया है, इससे सिद्ध है कि 'कृष्ण' ही सर्व प्रकार महान् है।।१९।।

इस प्रकार प्रस्तुत विषयका वर्णन कर अब 'इत्थं सारस्वता' श्लोकसे बताते हैं कि जिनने निर्णय करानेकेलिए भृगुको भेजा था, भृगुने आ कर सर्व वृत्तान्त कह सुनाया अनन्तर उन्होंने यों किया.

श्रीशुक उवाच
इत्थं सारस्वता विप्रा नृणां संशयनुत्तये।
पुरुषस्य पदाम्भोजसेवया तद्गतिं गताः ।।२०।।

श्रीशुकदेवजीने कहा, इस प्रकार सारस्वत ब्राह्मणोंने विष्णु भगवानके चरणारविन्दकी सेवा कर उत्तमगति(वैष्णवी गति) प्राप्त की, और इस निर्णय तथा कर्त्तव्यसे मनुष्योंके संशय नष्ट किये।।२०।।

सरस्वती तीर निवासी मुनि, इस प्रकार प्रमाणके उत्कर्षको प्राप्त हुए, केवल कहनेसे मनुष्योंका संशय मिटेगा नहीं, इसलिए संशय मिटानेकेलिए विष्णु ही उत्तम है इस प्रकारके निर्णयको मान्य कर स्वयं विष्णुकी सेवा करने लगे, जिससे ही प्राप्त करने योग्य भगवत्स्वरूपको प्राप्त हुए, शास्त्रमें भगवानकी प्रसन्नता तथा मुक्तिकी प्राप्तिका साधन सेवा ही है, जिसका प्रमाण–''भक्त्यैव तुष्टिमभ्येति विष्णुर्नान्येन केनचित्।स एव मुक्तिदाता च भक्तिस्तत्रैव कारणम्'' इति वाक्यात् अर्थ–भक्तिके सिवाय अन्य कोई साधन भगवान् विष्णुको प्रसन्न नहीं कर सकता है, वह विष्णु भगवान् ही मुक्तिदाता है. इसमें भक्ति ही कारण है।।२०।।

यों इस उपाख्यानकी फल पर्यन्तता कह कर अब सूतजी, 'इत्येतन्मुनि' श्लोकमें बताते हैं कि इससे जो फल मिलता है वह सदैव स्थिर रहता है.

सूत उवाच

इत्येतन्मुनितनयास्यपद्मगन्ध–पीयूषं भवभयभित्परस्य पुंसः ।
सुश्लोकं श्रवणपुटैः पिबत्यभीक्ष्णं पान्थोऽध्वभ्रमणपरिश्रमं जहाति।।२१।।

इस प्रकार, यह व्यासमुनिके पुत्र शुकदेवजीके मुखरूप कमलका सुगन्धितवाला अमृतरूप, संसारके भयको मिटानेवाला पर पुरुषका सुंदर श्लोकोंवाला चरित्र जो पथिक कर्णरूप दोनों से बार–बार पीता है वो मार्गकी थकावटको मिटाता है।।२१।।

'इति' पदसे कथा सम्पूर्ण हुई यह सूचना देते हैं 'एतत्' पद सूचित करता है कि यह कहना 'अनुवाद' मात्र है, किसीके भी मुखसे सुना हुआ भगवानका चरित्र कार्यको सिद्ध करता ही है, साधारणोंको भी भक्तमुखसे ही श्रवण करने पर फल प्राप्ति होती है, यों जतानेकेलिए 'मुनितनयास्यपद्मगन्ध पियुषं' विशेषण दिया है, यह चरित्र तो मुनिके पुत्र शुकदेवजीसे सुना है, यों कहनेसे यह सूचना दी है कि इस श्रवणसे जो ज्ञान प्राप्त हुआ है वह झूठा नहीं है, 'मुखकमल' पद दे कर यह सूचित किया है कि इस चरित्रामृत पान करनेमें कलेश नहीं होता है क्योंकि, यदि कमल नीचे पड़ा हो तो नीचे होनेका क्लेश होता है, यह तो मुखकमल होनेसे

ऊपर है अतः नीचे नमना नहीं पड़ता है जिससे क्लेश नहीं होता है, यह अमृत निर्गन्ध नहीं है किन्तु गन्धपूर्ण है, तात्पर्य यह है कि यह चरित्र रसमय है, इससे यों निरूपण किया है कि यह चरित्र स्वतः पुरुषार्थरूप है. इस चरित्रका साधकपन भी कहते हैं कि 'भवभयभित्' संसारके भयको तोड़नेवाला है, 'भव' पदसे यह सूचित किया है कि इससे उत्पन्न भय मिटनेवाला नहीं है, किन्तु यह चरित्र इसको भी मिटा देता है, 'कीर्ति' इसके साधकपनमें हेतु कहते हैं. 'परस्य पुंसः' यह चरित्र पर पुरुषका होनेसे कीर्ति आदि सब देते हैं, जो प्रकृतिके मध्यमें(प्राकृता सकला देवाः) स्थित है उनका चरित्र वैसा नहीं होता है. शब्दसे भी उत्तमता दिखलाते हैं कि, व्यासादि महर्षियोंने सुन्दर श्लोकोंमें स्तुति की है, 'श्रवण पुटैः' बहुवचनवाले पदसे, खड़े हुए श्रवणरूप दोनों कह कर यह कहा कि वरदानसे ऐसे कान प्राप्त होते हैं, 'विधत् स्वकर्णायुतम्' 'दश हजार कान करो', भगवच्चरित्र सुननेकी इच्छावाले इस प्रकारका वर प्राप्त करते हैं, ऐसा वर प्राप्त कर जो पथिक, बार-बार चरित्रका पान करता है उसका क्लेश साधन दशामें भी निवृत्त हो जाता है।।२१।।

इसी तरह प्रमाणबलसे भगवानकी ज्ञानशक्तिका वर्णनकर, अब प्रमेयबल द्वारा ज्ञानशक्तिका निरूपण करनेकेलिए, शुकदेवजी स्वयं, 'एकदा' श्लोकसे 'इतीदृशां' श्लोक तक दूसरे उपाख्यानका आरंभ करते हैं.

श्रीशुक उवाच

एकदा द्वारवत्यां तु विप्रपत्न्याः कुमारकः।
जातमात्रो भुवं स्पृष्ट्वा ममार किल भारत।।२२।।

हे भारत! किसी दिन द्वारकामें ब्राह्मणकी स्त्रीको पुत्र उत्पन्न हुआ, वह जन्मते पृथ्वीका स्पर्श होते ही मर गया, यह कथा प्रसिद्ध है।।२२।।

प्रमेयबलको निरूपण करते समय, पूर्वपक्षमें कालके बलका भी निरूपण करना चाहिए, इससे देश आदिके बलसे विरोध नहीं होता है, ये[१] देश भी भगवानके दस लीलारूप अथवा दस प्राणरूप थे, अथवा निर्गुण भक्ति सहित दशविध[२] भक्तिरूप थे, जिनको लेनेकेलिए भगवान् दूर पधारेंगे. कोई कहते हैं कि तेजको लौटा कर लाना चाहिए इसलिए भगवानका गमन हुआ, यह चरित्र भगवानने अनिरुद्ध स्वरूपसे किया है इसलिए अर्जुनके साथ गए, अजुनके पास सकल देवोंके अस्त्र हैं, इस प्रकार उसकी सामर्थ्यका निराकरण करनेसे सबकी

सामर्थ्यका निराकरण हो जायगा यो जतानेकेलिए अर्जुनकी कथा कही गई है.

किसी समय भगवानको अपनी सामर्थ्यका प्रदर्शन करनेकी इच्छा हुई 'तु' पद, वैकुण्ठमें भगवानको इच्छा कैसे हुई? इस शंकाको मिटानेकेलिए दिया है, सारांश कि भगवान् स्वतन्त्र, सर्वसमर्थ होनेसे कोई भी इच्छा कभी भी और कहीं भी कर सकते हैं यह सूचित करनेकेलिए 'तु' शब्द दिया है.

कथा–एकदिन भगवानको अपनी सामर्थ्य दिखानेकी इच्छा हुई, तब किसी ब्राह्मणकी स्त्रीको पुत्र जन्म हुआ, जन्मते पृथ्वीका स्पर्श होते ही वह मर गया, कारणकि उस समय, काल पृथ्वी पर था, इसलिए पृथ्वी स्पर्श मात्रसे बालककी मृत्यु हो गई 'किल' पद दे कर यह बताया है कि यह चरित्र प्रसिद्ध ही है, मैं नहीं कहता हूं, जिससे शुकदेवजीने अपने पर, दोष आनेका परिहार कर दिया है, हे भारत! यह सम्बोधन विश्वास जमानेकेलिए कहा है।।२२।।

१.ब्राह्मणीके जन्मे हुए पुत्र. २.'श्रवणं कीर्तनं विष्णोः' श्लोकमें कही हुई नवविधभक्ति और एक निर्गुण प्रेमलक्षणा भक्ति.

ऐसा अनर्थवाला कार्य आगे कभी नहीं हुआ है, भगवानने प्रथम, कालका पूर्व भोग भी रोक दिया था, तो भी भगवानके विराजते हुए मेरा पुत्र मरा है, वह शम्बूकन्यायसे(शूद्र शम्बूककी तपस्याके कारण) हुआ है, अर्थात् जैसे राम राज्यमें शूद्र शम्बूककी तपस्यासे पिताके जीते ब्राह्मणका पुत्र मरा था रामने शम्बूकका वध किया तो वह जिवीत हो गया, वैसे मेरा पुत्र राजदोषसे मरा है किन्तु भगवान् विराजते हैं अतः वह पीछे लौट आएगा, जैसे कमलादियुक्त मानसरोवरमें मोती होते हैं किन्तु जलदोषसे सीप भी पैदा हो जाती है वैसे राजदोषसे मेरा बालक मरा है, ये शब्द राज दरबारमें सभासदोंको कहते हुए, मृत पुत्र राज दरबारमें धर दिया, वह 'विप्रो' श्लोकमें कहते हैं.

विप्रो गृहीत्वा मृतकं राजद्वार्युपधाय सः।
इदं प्रोवाच विलपन् आतुरो दीनमानसः ।।२३।।

दुःखित वह ब्राह्मण, मृतपुत्रको लेके, राजाके द्वारपर उसको रख कर विलाप करता हुआ, दीन बन कर निम्न शब्द कहने लगा।।२३।।

मृतक विशेषण दे कर यह सूचित किया है कि अब इसका औषध आदिसे किसी प्रकार उपचार नहीं हो सकता है, शवको ले जानेवालोंके वचन पर विचार करनेका शास्त्रमें नषेध है. इसलिए कहा है कि शवको राजके द्वार पर

धरकर, फिर यों कहने लगा, 'विलाप करता हुआ' इस पदसे यह सूचित किया है कि यह ढोंग नहीं करता है, जिससे बाहरका भाव प्रकट किया है, 'दीनमानसः' इस पदसे भीतरका भाव प्रकट किया अर्थात् पुत्र मरनेका भीतर भी घाव है यह बता दिया है।।२३।।

मरनेका कारण समझानेकेलिए 'ब्रह्मद्विष' 'हिंसा' ये दो श्लोक कहते हैं.

ब्रह्मद्विषः शठधियो लुब्धस्य विषयात्मनः।
क्षत्रबन्धोः कर्मदोषात् पञ्चत्वं मे गतोऽर्भकः ।।२४।।

ब्राह्मण द्वेषी, शठ बुद्धि, लोभी, विषयी और नामधारी क्षत्रियोंके कर्मदोषसे मेरा पुत्र मरा है।।२४।।

प्रकृत तथा अप्रकृत भेदसे जैसा राजा द्वारकामें होना चाहिए वैसा यह उग्रसेन नहीं है, जिससे बहुत कर मेरे पुत्रके मरनेमें उसका ही दोष होगा, इस आशयको प्रकट करनेकेलिए पहले राजाके तीन बड़े दोष दिखलाते हैं, १.ब्राह्मणोंसे द्वेष, २.दोष पूर्ण बुद्धि, ३.लोभ, ४.विषयी होना साधारण दोष है, प्रायः यह राजा इन ४ दोषोंसे पूर्ण है, ब्राह्मण द्वेष करनेसे जाना जाता है कि इसमें धर्मका अभाव है, अर्थात् अधर्मी है, दोषयुक्त बुद्धिवाला होनेसे इसके पास अर्थ नहीं है लोभके कारण काम नहीं है, विषयासक्तिसे मोक्ष नहीं है इसलिए वह राजा सर्व पुरुषार्थोंसे वंचित है.

उस राजाके ऐसे दोषयुक्त कर्म इसकी(राजाकी) हानि करनेमें असमर्थ होनेसे मेरे ऊपर आ कर पड़े जिससे मेरा पुत्र मरा है, राजामें कोई पुरुषार्थ नहीं है, चार दोष राजाने पा लिये हैं यदि वह(राजा) पंचत्वको प्राप्त होता अर्थात् मर जाता तो क्षत्रबन्धु होनेसे उसकी रक्षा नहीं हो सकती, ब्राह्मण उसके हैं इस कारणसे उन कर्मोंका फल ब्राह्मणों पर पड़ा है।।२४।।

शास्त्रमें 'गुरौ शिष्यश्च याज्यश्च' यह वचन जो कहा है उसका आशय है कि यज्ञ करनेवाले(यजमान) और शिष्यका पुरोहितमें समावेश होता है, इस वाक्यानुसार राजा(यजमान)के कर्म; उसके पुरोहितको भोगना पड़ता है, तुम तो पुरोहित नहीं साधारण ब्राह्मण हो तो तुम दुःखी कैसे हुए? इस शंकाका निवारण 'हिंसाविहार' श्लोकमें करते हैं.

हिंसाविहारं नृपतिं दुःशीलम् अजितेन्द्रियम्।
प्रजा भजन्त्यः सीदन्ति दरिद्रा नित्यदुःखिताः ।।२५।।

हिंसामें आनन्द माननेवाले, दुष्ट स्वभाववाले, जिसने इन्द्रियोंको अपने वशमें नहीं रखा है, ऐसे राजाकी सेवा करनेवाली प्रजा नित्य दरिद्रता और दुःखोंसे पीड़ित रहती है।।२५।।

राजाके बड़े तीन दोष बताते हैं, वे, राज्यमें रहनेवाली सर्व जनताको लगते हैं, वे तीन दोष हैं, १.जिस हिंसादि कर्म करनेका शास्त्रमें निषेध है उसको तो करता है, २.जिन पुण्यकर्म करनेकी आज्ञा है वे, नहीं करता है और ३.दुष्टोंकी पालना करता है.

उन तीनोंको स्पष्ट कर क्रमपूर्वक कहते हैं, १.हिंसा(जीवोंको दुःख देने)में जिस राजाको आनन्द आता है, २.जिसका स्वभाव दोषपूर्ण है, ३.जिसने इन्द्रियोंको न जीत सकनेसे विषय त्याग नहीं किया है एसे दोष पूर्ण राजाकी सेवा जो प्रजा करती है, वह उन-उन दोषोंवाली होती है अर्थात् वे दोष उसमें भी आ जाते हैं, जिससे पहले हिंसाका फल विषाद वा नाश पाती है, दुःशीलपनसे धर्मके अभावसे दरिद्र होती है, पश्चात् शत्रु पर जयके अभावसे नित्य दुःखी रहती है यों उपदेश दे कर बालकको ले चला गया।।२५।।

इसी प्रकार एकबार कथा कह कर 'एवं द्वितीयं' श्लोकोंमें वही कथा अन्य प्रसंगोंसे सम्बद्ध करते हैं.

एवं द्वितीयं विप्रर्षिः तृतीयं त्वेवमेव च।
विसृज्य स नृपद्वारि तां गाथां समगायत ।।२६।।

इसी प्रकार उस ब्रह्मर्षिने अपने मरे हुए दूसरे, तीसरे पुत्रको ला कर राजद्वार पर रखे, पहलेकी तरह फिर भी वे ही वाक्य कहने लगे।।२६।।

दूसरेके बाद तीसरेको भी इसी तरह ही बालकको ला कर ही कहता था, यों करनेसे पुत्रोंके मरनेका कारण लोक जान गए. इसलिए शेष दूसरे पुत्र नहीं लाए, किन्तु केवल आप ही आ कर वह वाक्य कहता था, तीसरे मरे पुत्रको तो वहां ही पड़ा हुआ छोड़ दिया, यों समझमें आता है, 'तु' पदसे यह सूचित होता है दूसरेको भी ले गया किन्तु तीसरेको नहीं ले गया, द्वारकामें मुख्य भगवान् चुप रहे तो तब वहां वाले सब चुप रह गए क्योंकि, जैसे पहले ब्राह्मणका कायिक अपराध सहन किया है, वैसे अब यह वाचनिक अपराध भी सहन करना चाहिए, जैसे ब्रह्मके विचार करनेसे प्रवृत्त पुरुषोंके कार्य सहन करने पड़ते हैं वैसे यह भी सहन करने चाहिए कारणकि यह भी ब्रह्मका कार्य है, वैसे यहां भी इनको भगवान् ले

जाते हैं इसलिए मौन धारण की है।।२६।।

पश्चात्, पृथक् स्वभाववाले जीवभावको प्राप्त द्वारकामें गए हुए भी लौकिक बुद्धि होनेसे 'मैं प्रजापति हूं' यों अभिमानके साथ 'तामर्जुन' श्लोकमें कहने लगे.

ताम् अर्जुन उपश्रुत्य कर्हिचित् केशवान्तिके।
परेते नवमे बाले ब्राह्मणं समभाषत ।।२७।।

किसी कालमें अर्जुन भगवानके पास बैठे थे और नवमी बेर भी बाह्मणका लड़का मर गया तथा तब वह ब्राह्मण आ कर उसी तरहके वचन कहने लगा, उनको सुन कर अर्जुन ब्राह्मणको कहने लगे।।२७।।

केशवके पास ही बैठे थे, वहां ही ब्राह्मणके वचन सुने और उसको कहने लगे, इस प्रकार वाक्यका सम्बन्ध है, भगवान् जो कुछ करते हैं वह भक्तके वास्ते ही हैं, यों जतानेकेलिए और उस(भक्तके कार्य)में विलम्ब न हो इसीलिए कहा कि नवम लड़का भी मर गया, इससे यह सूचित किया कि जब गुणोंका कार्य पूरा हुआ, तब अहंकारकी देवता, उनके कार्यको सहन न कर सकी अतः वैसे कहने लगी 'दशास्यां पुत्रा नाधेहि' इस श्रुतिके अनुसार एक स्त्रीसे दस पुत्र ही उत्पन्न करने चाहिए यों मर्यादा है, नवके मर जानेसे एक ही बचता है, अतः जल्दी ब्राह्मणको कहने लगे।।२७।।

अर्जुन यों मानते थे कि ब्राह्मण बालकोंको मृत्यु ले जाता है, वह मृत्यु ब्राह्मण तथा क्षत्रियोंका मित्र है, शास्त्रमें यों प्रतिपादन किया हुआ है जैसेकि ''यस्य ब्रह्म च क्षत्र च उभे भवत ओदन मृत्युर्यस्योपसेचनम्'' अर्थ–जिसका ब्रह्म और क्षत्रिय दोनों ओदन है एवं मृत्यु घृतरूप हैं, यों कह कर बताया है कि समान व्यसनवाले होनेसे इनका आपसमें मित्रपन है, वहां देखा जाता है कि दोनों ब्राह्मण और क्षत्रिय अपने–अपने धर्ममें व्यस्त है की नहीं? केवल नाम मात्र ब्राह्मण वा क्षत्रिय हो तो उनकी आवश्यक्ता नहीं है यह 'किंस्विद्ब्रह्मं' श्लोकमें कहते हैं.

।।अर्जुन उवाच।।
किं स्विद् ब्रह्मन् त्वन्निवासे इह नास्ति धनुर्धरः।
राजन्यबन्धवो ह्येते वै ब्राह्मणाः सत्रम् आसते ।।२८।।

हे ब्राह्मण! तुम्हारे निवास स्थानमें कोई धनुषधारी नहीं है, ये तो नामधारी क्षत्रिय हैं, ब्राह्मण तो सत्र कर रहे हैं।।२८।।

तुम जहां रहते हो वहां कोई धनुषधारी क्षत्रिय नहीं है क्या? यदि कहो कि बहुत हैं, वे सब यहां सभामें बैठे हैं, ये तो नाम मात्रके क्षत्रिय हैं, उत्तम क्षत्रिय नहीं है, क्षत्रिय इनके पूर्वज(बड़ेरे) थे ये तो राजाओंके मात्र वंशज होनेसे क्षत्रिय कहलाते हैं क्षत्रियोंकेलिए ही दोष निकालते हो? ब्राह्मणोंका दोष क्यों नहीं निकालते हो? जिसके उत्तरमें कहा है कि 'ब्राह्मणा सत्रमासते' ब्राह्मणोंका दोष कैसे निकाले वे तो सत्र कर रहे हैं अर्थात् अपना धर्म पाल रहे हैं।।२८।।

अलौकिकदोषसे[१] बालक नहीं मरे हैं, क्षत्रियोंके दोषसे मरे हैं यह 'धनदारा' श्लोकमें कहते हैं.

१.ब्राह्मण यज्ञादि कर्म न करे तो जगतमें अलौकिक दोष उत्पन्न होवे, वे तो यज्ञ कर रहे हैं अतः अलौकिकदोष है ही नहीं, इसलिए ये पुत्र अलौकिकदोषसे नहीं मरे हैं.

धनदारात्मजापृक्ता यत्र शोचन्ति ब्राह्मणाः।
ते वै राजन्यवेषेण नटा जीवन्त्यसुम्भराः ।।२९।।

जिस राज्यमें धन, स्त्री और पुत्रके कारण ब्राह्मण दुःखी हैं, उस राज्यके राजा नृप नहीं है किन्तु नटोंकी तरह राजन्यवेष धारण कर जीवित रहे हैं।।२९।।

गृहस्थमें जिन(स्त्री, धन और पुत्र)की सर्व प्रकार सदा अपेक्षा रहती हैं वे यदि जिस राजाके राज्यमें ब्रह्मणके पास नहीं है, वह अकेला ही दुःख भोगता है, वे राजा वास्तविक राजा नहीं है किन्तु राजवेषधारी नट हैं, केवल वेष द्वारा प्रजासे अन्न ले कर अपने प्राणोंका पोषण करनेवाले हैं।।२९।।

क्षत्रिय(राजा) द्वारा जब ब्राह्मणकी रक्षा होवे तो, रक्षित ब्राह्मण दूसरोंकी रक्षा करे, यदि वह रक्षित नहीं तो दूसरोंकी(क्षत्रिय आदिकी) रक्षा कैसे कर सकेगा? यदि कहो कि ब्राह्मण अपनी रक्षा स्वयं क्यों नहीं करते हैं, जिसका उत्तर यह है कि यदि ब्राह्मण अपनी रक्षा स्वयं करे वा कर सकते तो क्षत्रिय बनानेकी कौनसी आवश्यक्ता थी? उनकी रचना ही व्यर्थ हो जाती अतः ब्राह्मण एवं क्षत्रिय परस्पर रक्षण करते हैं, ब्राह्मणोंकी रक्षाकेलिए हम(क्षत्रियों)को भगवानने बनाया है, अतः इस प्रसंगमें क्षत्रियको अवश्य रक्षा करनी चाहिए, जिससे मैं इसकी रक्षा करुंगा यों 'अहं प्रजा' श्लोकमें कहते हैं.

अहं प्रजां वां भगवन् रक्षिष्ये दीनयोरिह।
अनिस्तीर्णप्रतिज्ञोऽग्निं प्रवेक्ष्ये हतकल्मषः ।।३०।।

हे भगवान्! मैं आप दोनोंकी प्रजाका रक्षण करुंगा, यदि प्रतिज्ञा पूर्ण न

करुं, तो अग्निमें प्रवेश करुंगा, जिससे पाप रहित बनूंगा।।३०।।

बालक रक्षा करनेसे तुम दोनों(स्त्री तथा पति)का हित होगा, आप दोनों पुत्रोंके अभावके कारण दीन हो अतः आप पर दया करनी चाहिए. राजाको दीन प्रजा पर दया करनी चाहिए, उग्रसेन राजा हो कर दया क्यों नहीं करता है? जिसके उत्तरमें आचार्यश्री स्पष्टता करते हैं कि उग्रसेनमें दयाका अभाव अर्थात् निर्दयी है, किन्तु अर्जुन सिद्ध करता है कि मैं दयावान हूं अतः रक्षा करूंगा, तेरे कहने पर विश्वास कैसे करें? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि यदि मैं अपनी प्रतिज्ञाका पालन न कर सका तो अग्निमें प्रवेश करूंगा, अग्निमें प्रवेशसे क्या बालक जीवित होगा? यदि नहीं तो प्रवेशसे क्या लाभ? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि उसका पाप न लगेगा, कारणकि क्षत्रिय देहका परित्याग हो जायगा।।३०।।

अर्जुनके ये वचन सुन कर ब्राह्मणने जान लिया कि यह मूर्ख है किन्तु अब मेरा मित्र है अतः इसको समझना चाहिए अतः 'संकर्षणो वासुदेवः' श्लोकसे उस(अर्जुन)को उपदेश करता है.

ब्राह्मण उवाच

सङ्कर्षणो वासुदेवः प्रद्युम्नो धन्विनां वरः।
अनिरुद्धोऽप्रतिरथो न त्रातुं शक्नुवन्ति यत्।।३१।।

ब्राह्मण कहने लगा कि संकर्षण, वासुदेव, धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ प्रद्युम्न और अप्रतिरथ अनिरुद्ध ये सब हमारी संततिकी रक्षा नहीं कर सकते हैं।।३१।।

ब्राह्मण कहता है कि चतुर्मूति भगवान् तो सर्व प्रकार और स्वभावसे भी रक्षा करनेवाले हैं, संकर्षण धनुषधारियोंमें श्रेष्ठ है, इस विशेषणसे लौकिक सामर्थ्यकी भी सूचना की है, वासुदेव और प्रद्यम्नका सामर्थ्य देखा हुआ ही है, अनिरुद्ध तो किसीसे भी रोका जाता नहीं एवं इसके सामने कोई ठहर नहीं सकता है, ये चारों मिल कर भी हमारे पुत्रकी रक्षा न कर सके, अतः समझा जाता है कि इसमें कुछ किसी प्रकारका रहस्य ही है जिससे वे भी न बचा सकते हैं।।३१।।

यों होनेसे क्या? इस पर ब्राह्मण 'तत्कथं' श्लोकमें उसका भावार्थ बतलाता है.

तत् कथं नु भवान् कर्म दुष्करं जगदीश्वरैः।
चिकीर्षसि त्वं बालिश्यात् तन् न श्रद्दध्महे वयम्।।३२।।

जो कर्म जगतके ईश्वरोंसे न हो सका, वह कर्म तुम करना चाहते हो, यह

तो हम तुम्हारा बचपन समझते हैं, अतः तुम्हारे उपर हम विश्वास नहीं कर सकते हैं।।३२।।

ये संकर्षणादि भगवानके अवतार होनेसे जगतके ईश्वर हैं, उनसे न होने पर मैं समझता हूं यह कार्य असाध्य है, होनेवाला नहीं फिर भी तुम कहते हो कि मैं करूंगा, ये तेरे बचन, बचपनके वा मूर्खताके हैं, इसलिए तुम्हारे वचन पर हम विश्वास नहीं कर सकते हैं।।३२।।

अर्जुन तो इस प्रकार समझ बैठे हैं कि चतुर्मूर्ति जो भगवान् हैं वो जो–जो कार्य उनकेलिए नियत हैं वे ही कार्य करते हैं, उसका अंश भी वहां ही समाविष्ट हो जाता है और जो उसका अंश नहीं भी है, किन्तु विशेष कार्योंकेलिए उत्पन्न हुआ है, वह इस प्रकारका कार्य कर सकता है, यों कह कर 'नाहं संकर्षणो' श्लोकसे कहता है कि मैं न मूर्ख हूं और न मैं बचपनसे कहता हूं.

अर्जुन उवाच

नाहं सङ्कर्षणो ब्रह्मन् न कृष्णः काष्णिरिव वा।
अहं वै अर्जुनो नाम गाण्डीवं यस्य वै धनुः ।।३३।।

अर्जुनने कहा कि हे ब्राह्मण! मैं संकर्षण, कृष्ण, प्रद्युम्न, अथवा अनिरुद्ध नहीं हूं, किन्तु गाण्डीव धनुषधारी अर्जुन हूं।।३३।।

इस कार्य करनेमें जगदीश्वरत्व अप्रयोजक है, क्योंकि प्रत्येकका कार्य नियत है वह नियतता इस कार्य करनेमें प्रतिबन्धक है, 'काष्णि' पदका अर्थ प्रद्युम्न है, वा शब्दसे बताते हैं कि इस(काष्णि)का अर्थ अनिरुद्ध भी हो सकता है किन्तु उस अर्थमें आदर नहीं हैं तथा अजुन स्वयं अनिरुद्धांश होनेसे स्पष्ट निषेध नहीं करता है, यदि निषेध करे तो 'असत्यवादी' कहा जावे, मैं निश्चयसे अर्जुन हूं, जो अर्जुन गौओंको लौटा कर लाया था, मेरे कार्य और साधन दोनों असाधारण है, जिस अर्जुनका 'गाण्डीव' है. इससे साधनका उत्कर्ष निरूपण किया है।।३३।।

मावमंस्था मम ब्रह्मन् वीर्यं त्र्यम्बकतोषणम्।
मृत्युं विजित्य प्रधने आनेष्ये ते प्रजां प्रभुः ।।३४।।

हे ब्रह्मन्! महादेवको भी प्रसन्न करनेवाले मेरे वीर्यका तिरस्कार मत करो. युद्ध करके भी मृत्युको जीत कर तुम्हारी प्रजाको लाउंगा, क्योंकि मैं सर्वसमर्थ हूं।।३४।।

'त्र्यम्बकतोषणम्' इस पदसे यह सूचित किया है कि मैं बड़े-बडे कार्य कर सकता हूं, एवं अपने कार्यका उत्कर्ष दिखाया है, महादेव मृत्युको जीतनेवाले हैं उनके सिवाय कोई दूसरा मृत्युको नहीं जीत सकता है, वह भी जब मेरे वीर्य(पराक्रम)से प्रसन्न होता है तब मैं मृत्युको जीतूंगा. इसमें कौनसा सन्देह है? यदि मृत्यु प्रार्थना करनेसे लौटा देंगे तो कोई चिन्ता नहीं है, जो न देंगे लड़ेंगे तो भी लड़ाईमें उसको जीत कर तेरी संतति ले आऊंगा, क्योंकि मैं सर्वसमर्थ हूं।।३४।।

यों हेतुपूर्वक समझानेसे ब्राह्मणको विश्वास हुआ यह कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

एवं विश्रम्भितो विप्रः फाल्गुनेन परन्तप।
जगाम स्वगृहं प्रीतः पार्थवीर्यं निशामयन्।।३५।।

हे परन्तप! अर्जुनने ब्राह्मणको इस प्रकार विश्वास दिलाया, उसने भी विश्वास कर लिया, प्रसन्न हो अर्जुनका पराक्रम सुनाता हुआ अपने घर गया।।३५।।

इस प्रकार ब्राह्मणने विश्वास कर लिया क्योंकि ब्राह्मण पाछिल बुद्धिवाले होते हैं, परंतप! यह सम्बोधन विश्वासार्थ दिया है, 'फाल्गुन' पद लोकमें बिजलीको रोकनेवाला प्रसिद्ध है, इसलिए वह नाम मृत्युको कैसे न निवारण करेगा, इसलिए विश्वास हो गया, पश्चात् अपने गांवमें सर्वत्र अर्जुनके पराक्रमकी प्रशंसा करता हुआ अपने घर गया।।३५।।

पश्चात् ब्राह्मण एकवर्ष तक आनन्दमें रहा, अनन्तर जो कुछ हुआ वह 'प्रसूतिकाल' श्लोकमें कहते हैं.

प्रसूतिकाल आसन्ने भार्याया द्विजसत्तमः।
पाहि पाहि प्रजां मृत्योरित्याहार्जुनमातुरः।।३६।।

जब स्त्रीका प्रसव समय निकट आया, तब उस ब्राह्मणने आतुरदशामें आ कर अर्जुनको कहा कि मेरी प्रजाकी रक्षा करो, रक्षा करो।।३६।।

'द्विजसत्तमः' पदसे यह बताया कि वह ब्राह्मण साधारण नहीं है किन्तु महान है. यदि अर्जुन अपना वचन न पालेंगे तो उनको शाप दे देगा, ब्राह्मणने कहा अब प्रजा होनेवाली है उसको मृत्युके पाशसे बचा लो उस समय ब्राह्मण 'आतुर' था जिससे उसके शरीरमें उदासी थी, यों भास रहा था।।३६।।

पश्चात् 'स उपस्पृश्य' श्लोकमें अर्जुनने जिस प्रकार रक्षाका प्रबन्ध

किया वह कहते हैं.

स उपस्पृश्य शुच्यम्भो नमस्कृत्य महेश्वरम्।
दिव्यास्त्राणि संस्मृत्य सज्जं गाण्डीवमाददे।।३७।।

अर्जुन पवित्रजलका स्पर्श(आचमन)कर, महादेवको नमस्कार कर और दिव्य अस्त्रोंका स्मरण कर तैयार किया हुआ गाण्डीव धनुष ले लिया।।३७।।

महादेवके बलसे सब करूंगा यों कह कर अर्जुन सर्वदेवोंसे आविष्ट हो, यों करने लगा, देवताओंकी सन्निधि प्राप्त करनेकेलिए मन्त्रोंके पवित्रजलसे आचमन किया, अनन्तर देवताओंकी प्रार्थनाकेलिए पहले नमन किया, दिव्य अस्त्रोंका सम्यक् स्मरण किया जिससे उन दिव्यास्त्रोंका सर्वत्र सर्वशास्त्रोंसे सम्बन्ध हो जावे, तैयार(जिस पर धनुषकी डोरी चढाई हुई है) गाण्डीव ले लिया, उसकी प्रत्यक्ष सामग्रीका वर्णन किया।।३७।।

न्यरुणत्सूतिकागारं शरैर्नानास्त्रयोजितैः।
तिर्यगूर्ध्वमधः पार्थश्चकार शरपञ्जरम्।।३८।।

अनेक प्रकारके अस्त्रोंसे जोड़े हुए बाणोंसे तिरछा, उंचा और नीचा चौतरफसे प्रसूतिका गृह आच्छादित कर दिया, घरको शरपंजर सा बना दिया।।३८।।

अनेक प्रकारके अस्त्रोंसे बनाए हुए शरों(बाणों)से ऐसा चारों तरफ शरपंजर बना दिया जिससे कोई भी देवता वहां प्रवेश न कर सके।।३८।।

ततः कुमारः सञ्जातो विप्रपत्न्या रुदन् मुहुः।
सद्योऽदर्शनमापेदे सशरीरो विहायसा।।३९।।

पश्चात् ब्राह्मण पत्निको रोता हुआ बालक उत्पन्न हुआ, किन्तु शीघ्र ही शरीर सहित आकाश मार्गसे चला गया, किसीको देखनेमें भी न आया।।३९।।

पश्चात् ब्राह्मणपत्निको पंजरके मध्यमें पुत्र उत्पन्न हुआ जिससे उस बालकका पृथ्वीसे स्पर्श न हुआ, कठिन मार्गसे जाता हूं यों कह कर वह बालक शीघ्र छिप गया देखनेमें नहीं आया इसलिए भूमिका स्पर्श न हुआ, यदि भूमिका स्पर्श होता तो यों आकाशमार्गसे शीघ्र जानेका सामर्थ्य न रहता, शरीर सहित आकाशमार्गसे चला गया, आकाश, काल और मायाको तोड़ कर भगवानके स्थानमें जा कर भगवानके साथ, लोकालोकपर्वतके पर भागमें उत्पन्न हुआ।।३९।।

तदाह विप्रो विजयं विनिन्दन् कृष्णसन्निधौ।

मौढ्यं पश्यत मे योऽहं श्रद्दधे क्लीबकत्थनम् ।।४०।।

ब्राह्मण कृष्णके सन्निधिमें अर्जुनकी निन्दा करता हुआ कहने लगा कि मेरी मूर्खता तो देखो कि इस नपुंसकके वचन पर मैंने विश्वास कर लिया।।४०।।

तब स्त्रीसे सब वृतान्त सुन कर भगवानके पास आ कर अर्जुनकी बहुत निन्दा करता हुआ ब्राह्मण क्षोभ पैदा करनेवाले वचन कहने लगा. डेढ श्लोकसे अर्जुनकी निन्दा करता है कि अर्जुनका तो कोई दोष नहीं है, मैं ही भ्रान्त हूँ, यह कैसे? इस पर कहता है कि मेरी ही मूर्खता देखिए, जो मैंने नपुंसकके वचनों पर विश्वास कर लिया, यदि इसमें थोड़ा भी पराक्रम होता तो क्लीबता न होनी चाहिए, अतः इसमें पराक्रमकी संभावना भी नहीं है।।४०।।

जो कार्य पराक्रमवालोंसे भी नहीं हो सकता है वह नपुंसक कैसे कर सकेगा, यह 'न प्रद्युम्न' श्लोकमें कहता है.

न प्रद्युम्नो नानिरुद्धो न रामो न च केशवः ।
यस्य शेकुः परित्रातुं कोऽन्यस्त्रातुमधीश्वरः ।।४१।।

जिस बालककी रक्षा प्रद्युम्न, अनिरुद्ध, राम, और केशव न कर सके, उसकी रक्षा दूसरा कौन ऐसा सामर्थ्यवान है, जो कर सकेगा।।४१।।

जो धन देनेसे पुत्रोंकी रक्षा हो सकती तो प्रद्युम्न कर सकते, जो बलसे रक्षा हो सकती तो अनिरुद्ध कर देते, यदि रमण करानेसे रक्षा होती तो राम ही करते, सृष्टि और प्रलयसे रक्षा करनी होती तो केशव ही कर सकते, इनके नगरमें रहते, शक्ति होते पालन आवश्यक था, किन्तु इनसे भी रक्षा न हो सकी, इससे जाना जाता है कि इनकी रक्षाका कोई दूसरा ही उपाय है, ऐसी परिस्थितिमें दूसरा कौन ऐसा सामर्थ्यवान् है जो रक्षा कर सके, यदि धर्मसे[१] रक्षा हो सकती तो मैं ही रक्षा कर देता, इस तरह रक्षाके उपाय चार ही गिन लिए।।४१।।

१.यज्ञादि अनुष्ठान कर्मसे रक्षा हो सकती तो मैं ब्राह्मण हूं, अभिषेक जपादि कर इनको बचा लेता.

धिगर्जुनं मृषावादं धिगात्मश्लाघिनो धनुः ।
दैवोपसृष्टं यो मौढ्यादानिनीषति दुर्मतिः ।।४२।।

धिक्कार है झूठ बोलनेवाले अर्जुनको और धिक्कार है अपनी प्रशंसा करनेवाले वे धनुषको, जो दुर्बुद्धि दैवसे नष्ट हुए पदार्थको मूर्खतासे रक्षा करना चाहता है, उसको तो धिक्कार है ही।।४२।।

रक्षाके जो पांच साधन हैं, वे तो अर्जुनके पास नहीं थे तो भी अर्जुनने जो रक्षाकी हांक मार दी. इससे अर्जुनको धिक्कार है क्योंकि झूठ बोलता है उसके धनुषको भी धिक्कार है उसको जला दो, यदि कहो कि धनुषका कौनसा दोष है? जिसका उत्तर देते हैं कि यह धनुष उसका है जो अपनी प्रशंसा आप ही करता है, यदि कहो कि शूरवीर तो, प्रतिज्ञा करते ही हैं, वह कभी पूर्ण होती है कभी नहीं भी होती है. इसमें प्रतिज्ञा करनेवालेका कोई दोष नहीं है, इस पर कहते हैं कि 'दैवोपसृष्टं' जो देवसे ही बनी बनाई है, उसके विपरीत प्रतिज्ञा करना कि, मैं ले आऊंगा यह दुर्बुद्धि है और ऐसी प्रतिज्ञा करना मूर्खता है. जिस कार्यमें संशय हो वहां तो प्रतिज्ञा की भी जा सकती है, किन्तु निश्चितमें प्रतिज्ञा नहीं करनी चाहिए यह भाव है।।४२।।

पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'एवं शपति' श्लोकमें कहते हैं.

एवं शपति विप्रर्षौ विद्याम् आस्थाय फाल्गुनः।
ययौ संयमिनीम् आशु यत्रास्ते भगवान् यमः ।।४३।।

अर्जुन ब्रह्मर्षिको यों अपशब्द कहते हुए सुन, विद्याको धारणकर, शीघ्र ही संयमिनीपुरीमें जा कर पहुंचे, जहां महाराज यम बिराजते हैं।।४३।।

देवोंकी विद्यामें यह शक्ति है कि, जो पुरुष उस विद्याको धारण करता है वह जहां भी जाना चाहे वहां बिना रुकावट जा सकता है, अतः अर्जुन, इस विद्याको धारण कर निर्भय हो, संयमिनी नामवाली यमकी पुरीमें गए, संयमिनी नामवाली दो पुरी हैं, एक यातना भूमिरूपा जहां यमकी राजधानी है दूसरी जहां यमराज स्वयं रहते हैं, अर्जुन यातना भूमिरूप यमकी राजधानी संयमिनीमें न जा कर सीधा यमके पास यमपुरीमें गया, क्योंकि जिसका जन्म, ब्राह्मणके घरमें और विशेषतः द्वारकामें हुआ है वह यातनाके स्थल पर जा नहीं सकता है यह निश्चय कर जहां भगवान् यम रहते है वहां ही गए यों कहा है।।४३।।

विप्रापत्यम् अचक्षाणः तत ऐन्द्रीम् अगात् पुरीम्।
आग्नेयीं नैर्ऋतीं सौम्यां वायव्यां वारुणीम् अथ।
रसातलं नाकपृष्ठं धिष्ण्यान्यन्यान्युदायुधः ।।४४।।

वहां ब्राह्मणपुत्र न देख सीधे इन्द्रकी पुरीमें गए. वहां भी न देखा, तब शस्त्र हाथमें ले कर निर्भय हो अग्नि, निर्ऋति, सौम्य, वायव्य, वरुणकी पुरी देखी; फिर पाताल, स्वर्ग आदि सब स्थान ढूंढ़े।।४४।।

पश्चात् वहां भी न देखकर, पूर्वदिशाके क्रमसे दश दिशाएं ढूंढी, उत्तर दिशा, रसातल(पृथ्वीसे नीचेका भाग), स्वर्ग(पृथ्वीसे उपरका भाग), गन्धर्व आदिके जो अन्य स्थान थे वे सब देख लिए. यह सर्वत्र निर्भय हो कर गए जिसका कारण था अपने हाथमें शस्त्र लिया था, इसलिए निडर हो सर्वत्र गए।।४४।।

पश्चात् क्या किया! इस आकांक्षामें 'ततोऽलब्ध' श्लोक कहते हैं.

ततोऽलब्धद्विजसुतो ह्यनिस्तीर्णप्रतिश्रुतः।
अग्निं विविक्षुः कृष्णेन प्रत्युक्तः प्रतिषेधता।।४५।।

अर्जुनने देखा कि कहीं भी पुत्र न मिला, तब मैं अपनी प्रतिज्ञा पूरी न कर सका, यों समझ दूसरी प्रतिज्ञा अग्निमें प्रवेश करुंगा, वह प्रतिज्ञा पालनेकेलिए उद्यत होने लगा, तब श्रीकृष्णने यों करनेसे रोका और कहने लगे।।४५।।

ब्राह्मणके पुत्र न मिलनेसे जिनकी प्रतिज्ञा पूर्ण न हुई है, वैसे अर्जुन अपनी दुसरी प्रतिज्ञा पूर्ण करनेकेलिए अग्निमें प्रविष्ट होनेको उद्यत हुए, वह प्रतिज्ञा पूर्ण न कर सके, क्योंकि कृष्णने यों करनेसे रोक दिया, और इस प्रकार कहा।।४५।।

जो वचन भगवान् कहने लगे वे 'दर्शये' श्लोकमें कहते हैं.

दर्शये द्विजसूनूंस्ते मावज्ञामात्मनः कृथाः।
एतेन कीर्तिं विमलां मनुष्याः स्थापयिष्यन्ति।।४६।।

हे फाल्गुन! तुम अपना अपमान स्वयं मत करो, तुम्हें ब्राह्मण पुत्रोंको दिखाता हूं कि कहां है? जिससे मनुष्य तुम्हारा यश बहुत ही स्थापित करेंगे।।४६।।

तुम्हें ब्राह्मणके पुत्र दिखा दूंगा, इसलिए तुम अपना अपमान अपने हाथसे मत करो, यदि कहो कि मेरी अपकीर्ति होगी इस शंकासे आप अपनेको जलाते हो तो, यों करनेसे विशेष अपकीर्ति होगी, यदि मैं जैसे कहता हूं उसी प्रकार कर जीवोगे तो उस प्रकार जीनेसे तुम्हारा विशेष यश लोकमें मनुष्यों द्वारा स्थापित होगा, मनुष्य परमार्थको नहीं जानते हैं, किन्तु प्रत्यक्षको ही मानते हैं, अतः पुत्रको देख कर तुम्हारा यश ही गाएंगे।।४६।।

इति सम्भाष्य भगवान् अर्जुनेन सहेश्वरः।
दिव्यं स्वरथम् आस्थाय प्रतीचीं दिशम् आविशत्।।४७।।

भगवान् यों कह कर अर्जुनके साथ अपने दिव्य रथमें स्थित हो कर

पश्चिम दिशाकी ओर गए।।४७।।

इस प्रकार कहकर, सर्वज्ञ भगवान्, अर्जुनके ही साथ अपने गरुड़की ध्वजावाले आधिदैविकरूप अलौकिक रथमें विराजमान हो पश्चिम दिशाको प्रस्थान कर गए।।४७।।

बहूत दूर गए जिसका वर्णन निम्न श्लोकमें करते हैं.

सप्तद्वीपान् सप्त सिन्धून् सप्तसप्त गिरीन् अथ।
लोकालोकं तथातीत्य विवेश सुमहत्तमः ।।४८।।

सात द्वीप, सात समुद्र, सात-सात पर्वत तथा सुवर्णभूमिके अनन्तर लोकालोक पर्वतको भी उल्लंघनकर, उसके पर भागमें जो गाढ़ अन्धकार है, उसमें प्रविष्ट हुए।।४८।।

जम्बूद्वीप आदि सात द्वीप क्षारोद आदि सात समुद्र और प्रत्येकमें जो सात-सात मर्यादा गिरि(पर्वत) थे उनको लांघ कर उनसे पर भाग जो घोर अन्धकार उसमें प्रवेश किया।।४८।।

'तत्राश्वाः' श्लोकमें अन्धकार माहात्म्य कहते हैं.

तत्राश्वाः शैब्यसुग्रीवमेघपुष्पबलाहकाः।
तमसि भ्रष्टगतयो बभूवुर्भरतर्षभ ।।४९।।

हे भरतवंशमें श्रेष्ठ! वहां शैब्य, सुग्रीव, मेघपुष्प और बलाहक; ये चारों अश्व अन्धकारमें आगे चलनेमें असमर्थ हो गए।।४९।।

भगवानके चारों अश्व जो प्रसिद्ध अप्रतिहत गतिवाले हैं, वे भी इस अन्धकारमें भ्रष्टगति हो गए, भरतर्षभ! यह सम्बोधन विश्वासकेलिए दिया।।४९।।

तान् दृष्ट्वा भगवान् कृष्णो महायोगेश्वरेश्वरः।
सहस्रादित्यसङ्काशं स्वचक्रं प्राहिणोत्पुरः ।।५०।।

महायोगेश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् कृष्णने घोड़ोंकी यह दशा देख, हजार सूर्यके समान प्रकाशवाले अपने चक्रको आगे चलनेकी आज्ञा की।।५०।।

तब घोड़ोंका रुक जाना देख, महायोगेश्वरों(ब्रह्मादिकों)के भी ईश्वर, सर्वसमर्थ भगवानने निश्चय किया कि जहां बालक हैं वहां तो चलना ही है, अतः हजार सूर्यसम प्रकाश करनेवाले अपने सुदर्शन चक्रको आगे चलनेकी आज्ञा की।।५०।।

पश्चात् उस अन्धकारमें सुदर्शनकी गति 'तमः सुघोरं' श्लोकमें कहते हैं.

तमः सुघोरं गहनं कृतं महद्विदारयद्भूरितरेण रोचिषा ।
मनोजवं निर्विविशे सुदर्शनं गुणच्युतो रामशरो यथा चमूः ।।५१।।

अपने अतिशय विशेष तेजसे गाढ़ और गहन अन्धकारका नाश करता हुआ वह भगवानका सुदर्शनचक्र जैसे रामके धनुषसे छूटा हुआ शर सीधा सेनामें जाता है, वैसे ही मन जैसे वेगसे उस गाढ़ अन्धकारमें भीतर घुसा।।५१।।

बहुत गाढ़ अन्धकारको विदीर्ण करता हुआ उसमें भीतर घुसा, यों सम्बन्ध(अन्वय) है. वह अन्धकार ऐसा था जिसका निराकरण करनेकेलिए उसका स्पर्शमात्र भी कठिन है, यों जतानेकेलिए 'सुघोरपन' कहा है अर्थात् अति भयानक अन्धकार था और गहन अर्थात् अति गम्भीर था तथा तेजसे आकार(डील)में भी बड़ा था; न केवल आकारमें, किन्तु परिमाण और बलमें भी महान् था. इतना महान् बनानेकी कौनसी आवश्यकता थी? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि आगमन प्रतिषेधार्थं कोई इसमें आ न सके, ऐसे सर्वप्रकार घोर(जबर्दस्त) अन्धकारको हटा कर कैसे आगे प्रवेश किया? इस पर उत्तर देते हैं कि 'भूरितरेण रोचिषा' अतितीव्र तेजसे अर्थात् उस अन्धकारसे भी महान् तेजसे उसमें घुस गए. उसका प्रदेश भी बड़ा है, जिसमें पहुंचनेमें सारी आयू चली जाय, इसलिए यह प्रयास ही व्यर्थ है. यदि यों कहो तो जिसका उत्तर यह है कि उस तेजके जानेका वेग मनके समान है, जिससे कहीं भी पहुंचनेमें इसको समय नहीं लगता है, कहां जाता है? उस देशका तो सुदर्शनको ज्ञान नहीं है फिर वह आगे कैसे चला? जिसका उत्तर दृष्टान्त दे कर समझाते हैं 'गुणच्युत' जैसे रामचन्द्रजीका शर(बाण) डोरीसे छूट कर सीधा जिस देशके उद्देश्यसे छोड़ा जाता है, वहां पहुंच जाता है, यद्यपि वह जड़ है तो भी चेतनकी तरह प्रेरणाकी गतिके सामर्थ्यसे रेखा मात्र भी दूसरी जगह नहीं गिरता है, वैसे जब ही भगवानने सुदर्शनको आज्ञा दे कर फेंका तब जिस देशमें उनको चलाना था उस देशकी तरफ ही फेंका था, जैसे शर डोरीसे छूटनेकी अपेक्षा रखता है वैसे ही चक्र भी इष्ट देशमें जानेकेलिए हस्तसे छूटनेकी अपेक्षा रखता है अतः दूसरी जगह नहीं जा सकता है।।५१।।

पश्चात् चक्रने ही मार्ग दिखा दिया इसलिए उस ही मार्गसे रथ जाने लगा यों 'द्वारेण' श्लोकसे कहते हैं.

द्वारेण चक्रानुपथेन उत्तमः परं परं ज्योतिरनन्तपारम् ।

समश्नुवानं प्रसमीक्ष्य फाल्गुनः प्रताडिताक्षोऽपिदधेऽक्षिणी उभे ।।५२।।

गाढ़ अन्धकारके कारण जो मार्ग देखनेमें नहीं आता था, चक्रने अपने तेजसे वह मार्ग दिखा दिया, तब उस मार्गसे जाने लगे. किन्तु उससे बहुत दूर अनन्त और चारों ओर व्याप्त चमकता हुआ तीक्ष्ण तेज देखनेमें आने लगा, जिसे देख कर अर्जुनके नेत्रोंमें चकाचौंध होने लगी, जिससे अर्जुनने आंखे मूंद ली।।५२।।

जानेका मार्ग देखनेमें न आया यह अन्धकारका कर्म है, उत्कृष्ट तेजसे अन्धकारका नाश कर मार्ग दिखा देना यह सुदर्शनका कर्म है, अतः चक्रने अपने तेजसे जानेका द्वार खोल दिया, उस मार्गसे जाने लगे.

'अनन्तपारं' यह पद 'परं' और 'परं ज्योति' दोनों पदोंका विशेषण है, अन्धकार और प्रकाश, रथके आगे और पीछेके भागमें फैले हुए थे, ऐसे रथको देखकर, अर्जुन(फाल्गुन) बिजलीका निवारक होते हुए भी इस तेजसे ऐसे डर गए जैसे बिजलीसे आंखोंमें चकाचौंध होने पर भय उत्पन्न होता है, अगाधमार्गमें जाते हुए अर्जुन आगे पीछे रथको देखनेकेलिए चंचल दृष्टिवान हो गए, अंधकार और प्रकाश दोनों समान देख जैसे गाढ अन्धेरी रात्रिमें बिजली देख भयसे आंख मूंद ली जाती है वैसे अर्जुनने आंख मूंद ली, यों कहनेसे यह बताया है कि इस स्थानका अर्जुनको ज्ञान था या भगवानके बिना जा सकता था? ऐसी शंका भी नहीं होती अर्थात् अर्जुनको न इस रास्तेका ज्ञान था और न वह भगवानके बिना एकाकी जा सकता था।।५२।।

पश्चात् भगवदिच्छासे ब्रह्माण्डका उल्लंघन कर चारों तरफ फैले हुए जलमें रथ प्रविष्ट हुआ, 'ततः प्रविष्टौ' श्लोकमें इसका वर्णन करते हैं.

ततः प्रविष्टौ सलिलं नभस्वता बलीयसैजद्बृहदूर्मिभीषणम् ।
तत्राद्भुतं वै भवनं द्युमत्तमं भ्राजन्मणिस्तम्भसहस्रशोभितम् ।।५३।।

बलिष्ठ अर्थात् तीव्र वायु द्वारा कंपित होनेसे बड़ी-बड़ी लहरोंके कारण भयानक जलमें प्रविष्ट हुए. ऐसे जलके मध्यमें मणियोंके सहस्र स्तंभोंसे शोभित अतिशय प्रकाशवाला एक अद्भुत भवन था।।५३।।

तब जलके मध्यमें रथ प्रविष्ट हुआ तो रथमें बैठे हुए दोनों भी जलमें प्रविष्ट हुए, उस जलका वर्णन करते हैं, महान् बलवान् वायुसे कम्पित हो रहा था जिससे उसमें बड़ी-बडी लहरें उठ रही थी, उन तरंगोसे वह जल विशेष भयानक

दीखता था, यों कह कर दिखाया कि यह प्रदेश ऐसा भयानक है, अजुन भगवानके बिना जहां अकेले मनसे भी जा नहीं सकते और न इस मार्गको वे जानते हैं, इस प्रकारके जलके मध्यमें एक गृह था, उसमें घुस गए यों कहनेकेलिए उस गृहका वर्णन करते हैं.

उस जलमें एक अद्भुत भवन है, वह अपने तेजसे ही प्रकाशित हो रहा है क्योंकि वहां प्रकाश करनेवाले सूर्य आदि कोई नहीं है, और वहां जो मणियोंके सहस्र स्तम्भ हैं उनसे भी वह भवन सुशोभित हो रहा है, इससे भवनका सबसे उत्कर्ष वर्णन किया है।।५३।।

उस भवनमें एक शेष देखा जिसका वर्णन 'तस्मिन्महाभीम' श्लोकमें करते हैं.

तस्मिन् महाभीममनन्तमद्भुतं सहस्रमूर्धन्यफणामणिद्युभिः ।
विभ्राजमानं द्विगुणेक्षणोल्बणं सिताचलाभं शितिकण्ठजिह्वम् ।।५४।।

उस भवनमें महाभयं कर एवं अद्भुत, सहस्र सिरोंके रत्न और फणोंके मणियोंकी कान्तिसे दैदीप्यमान, दो सहस्र नेत्रोंसे भयं कर श्याम कण्ठ और जिह्वावाले, हिमालय जैसे श्वेत कान्तिवाले अनन्तको भगवान् कृष्णने देखा।।५४।।

जलमें प्रविष्ट हुए और फिर भवनमें भी प्रविष्ट हुए, पश्चात् भगवान् कृष्णने उस भवनमें महान् भयानक अनन्त शेषको देखा, उस(शेष)की[४] काया पर सुखपूर्वक विराजमान भगवानको भी देखा. यह सब वर्णन, अर्जुनको भय और आश्चर्य रस उत्पन्न हो, इसलिए है.

अतिभयानक, अद्भुत और सर्व विशेष अर्थात् आगे कभी भी जिसको देखा नहीं है, इस प्रकार स्वरूपभूत तीन गुण कहकर, विशेष वर्णन करते हैं कि, सहस्र संख्यावाले मस्तकोंमें जो रत्न हैं और फणोंकी जो मणि हैं, उनकी कान्तिसे विशेष चमकदार थे, यदि ऐसे न होते तो उसके दर्शनसे वैसा भय न होता, यों दर्शनका उपाय कहा. जिसकेलिए इस तरह कहा वह प्रकार कहते हैं, दो हजार नेत्र थे जिनके कारण अति क्रूर थे, ऐसेका भी महत्व कहते हैं, श्वेत पर्वत हिमालय वा कैलास जैसे वर्णवाले जिनकी कण्ठ और जिह्वा दोनों काले थे, यह महादेवका आधिदैविकरूप है, जिससे जिह्वामें मृत्यु और कण्ठमें कालकूट रहता है, इसलिए दोनोंका रूप काला कहा है।।५४।।

१.यह पंक्ति ५५ श्लोककी है उसके साथ अन्वय(सम्बन्ध) होनेसे यहां अर्थ कहा है.

ददर्श तद्भोगसुखासनं विभुं महानुभावं पुरुषोत्तमोत्तमम् ।
सान्द्राम्बुदाभं सुपिशङ्गवाससं प्रसन्नवक्त्रं रुचिरायतेक्षणम् ।।५५।।

ऐसे शेषजीके शरीर पर सुखसे पौढ़े हुए, बड़े प्रतापी, व्यापक व उत्तमोंमें भी उत्तम पुरुषोत्तम प्रभुके दर्शन किये. वे कैसे हैं? गाढ़ मेघके समान श्याम, पीत वर्ण वस्त्रधारी, प्रसन्न मुखारविन्दवाले, सुंदर और बड़े नेत्रोंवाले भगवानको देखा।।५५।।

ऐसे अति भयानक सर्पशरीर पर सुखपूर्वक विराजमान भगवानको देखा जो सर्प पर स्थित है वह सुखसे कैसे बिराज सकता है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'विभु' भगवान् व्यापक हैं अतः सर्प लोकोंको ही भयानक है, न कि भगवानकेलिए भयानक है, क्योकि भगवान् तो उसके भी नियामक हैं. नियामक नियम्यसे नहीं डरता है, अतः सुखसे बिराजते हैं भगवान् महान् प्रभाववाले हैं, अतः वह सर्प ऐसा क्रूर होते हुए भी भगवानकी स्थिति होनेसे, भगवानके प्रभावसे बहुत सीधा हो गया है.

उस पर बिराजमान भगवानके स्वरूपका वर्णन करते हैं जो पुरुष, सर्व पुरुषोंमें अति सुन्दर हैं और सर्व लक्षणोंसे युक्त उत्तम पुरुष है. उनसे भी उत्तम हैं, इस पदसे सुन्दरताका वर्णन कर अब रूपका वर्णन करते हैं. बहुत गाढ़ मेघके समान कान्तिवाले हैं. अर्थात् नीलमेघ सदृश श्याम है, यह भगवानका सहज स्वरूप है, आपके सतोगुणी होनेसे. सतोगुणका रूप नील है, उसके आधारके कारण भगवानमें नीलत्व आ जाता है, अथवा कालके कारण भी कृष्ण श्याम हैं, कारणकि कलिकालका वर्ण श्याम है अतः भगवान् कलियुगमें श्याम रंग ग्रहण करते हैं, इन्द्रियां रूपवाले द्रव्यको ग्रहण करती हैं, दूर होने पर इन्द्रियोंकी देखनेकी शक्ति न होनेसे वहां नीलता देखनेमें आती है, भगवान् रूपवाला द्रव्य न होनेसे चक्षुमें उनके देखनेकी शक्ति न होनेसे, नीलश्यामरूपसे दर्शन देते हैं, इसी प्रकार शृंगाररसका वर्ण श्याम है, आप शृंगाररूप होनेसे श्यामवर्ण हैं, कामका वर्ण श्याम है, आप अलौकिक कामभाव होनेसे श्याम हैं अथवा आनन्द स्वभावसे भी श्याम हैं अथवा भगवानकी स्वरुचिसे भी श्याम हैं अथवा लक्ष्मीकी रुचि श्यामवर्णमें होनेसे उसकी रुच्यनुसार आप श्याम है, या ऐसे सहजपनसे भगवान् नीलरूप हैं, यों समझना चाहिए.

जिसके वस्त्र पीतवर्णके हैं, इस प्रकार रूप और वस्त्र दोनोंकी परब्रह्मता और शब्दब्रह्मता दिखलाई इसी तरह प्रमेय और प्रमाण दोनोंका निरूपण कर अब कहते हैं कि ऐसे प्रभुकी प्राप्तिका साधन, भक्ति है, उसका निरूपण करते हैं, 'प्रसन्नं वक्त्रं' जिसका मुखारविन्द आनन्दमय है, आनन्दरूप मुखारविन्दमें प्रेम ही सरल साधन है, भक्तिके सिवाय दूसरे साधन ज्ञान-विज्ञानका निरुपण करते है, 'रुचिरायतेक्षणम्' सुन्दर बड़े नेत्र जिसके हैं, नेत्रों द्वारा कृपा होनेसे ज्ञान-विज्ञानरूप साधन सिद्ध होते हैं, यह भाव है।।५५।।

इसी तरह सर्व साधन सहित भगवानका निरूपणकर, फलरूपके वर्णनार्थ प्रथम 'महामणिव्रात' श्लोकसे बाहरकी शोभा कहते हैं.

महामणिव्रातकिरीटकुण्डल-प्रभापरिक्षिप्तसहस्रकुन्तलम् ।
प्रलम्बचार्वष्टभुजं सकौस्तुभं श्रीवत्सलक्ष्मं वनमालया वृतम् ।।५६।।

अनेक महामणियोंसे जटित किरीट और कुण्डलोंकी प्रभासे व्याप्त सहस्र केशधारी, लंबी सुंदर आठ भुजावाले कौस्तुभमणि और श्रीवत्सके चिह्नवाली वनमालासे आवृत्त, ऐसे प्रभुको देखा।।५६।।

महामणियोंके समूहवाले किरीट कुण्डलादिकी प्रभासे चकाचौंधवाले जिसके सहस्र केश है, यों केशोंके मध्यमें रत्नोंके तेजके प्रवेशसे नीलवर्ण मणियोंसे खचित पदकके उपरिभागका वर्णन किया है, अब मध्यभागका वर्णन करते हैं, आपकी सुन्दर आठ भुजाएं जानुपर्यन्त लम्बी है, इतनी लम्बी होते हुए भी स्वल्प भी विकृत नहीं है, भगवानके अणिमा आदि जो प्रकृतिरूप आठ गुण हैं उनके मूलभूत क्रियाशक्तिरूप जो योग है उनकी आधारभूतकी ये भुजाएं हैं, भगवानका कण्ठ भाग कौस्तुभ सहित है, और श्रीवत्स चिन्ह है एवं वनमालासे आवृत है, इन तीन विशेषणोंसे यह सूचित किया है कि, १-जीव, २-माया और ३-कीर्ति ये तीन भगवदाश्रित हैं।।५६।।

इस प्रकार भगवानके स्वरूपका वर्णन होनेसे कदाचित् यह शंका उत्पन्न होवे कि, भगवान् वहां अकेले रहते होंगे? इस शंकाको मिटानेकेलिए निम्न श्लोकमें कहते हैं कि वहां सुनन्द आदि उत्तम पार्षद और सेवक सेवा करते रहते हैं.

सुनन्दनन्दप्रमुखैः स्वपार्षदैश्चक्रादिभिर्मूर्तिधरैर्निजायुधैः ।
पुष्ट्या श्रिया कीर्त्यजयाखिलर्धिभिर्निषेव्यमाणं परमेष्ठिनां पतिम् ।।५७।।

सुनन्द, नन्द आदि अपने पार्षद, सुदर्शनचक्र आदि अपने शस्त्र और पुष्टि, श्री, कीर्ति और जया व अष्ट सिद्धियां इनसे सेव्यमान परमेष्ठियोंके पति प्रभुको देखा।।५७।।

'स्वपार्षदैः' अपने(अनिरुद्ध स्वरूपके) सेवकोंसे सेव्यमान यों अन्वय है, सुदर्शनचक्र आदि शस्त्र स्वरूपधारी थे क्योंकि वहां शस्त्र अधिदैविकरूपसे विराजते हैं :

चक्रं शंखस्तथा खड्गश्चर्म शाङ्र्गं गदा तथा।
बाणः पद्मं तथान्यानि मुशलाद्यायुधानि हि।
मूर्तिमन्ति हरेः पार्श्वे तिष्ठन्ति परितः सदा।।का.।।

कारिकार्थ : चक्र, शंख, खड्ग, ढाल, धनुष, गदा, बाण, कमल, मूशल आदि दूसरे भी आयुध सदैव भगवानके पास आधिदैविक स्वरूपसे मूर्तिमान हो कर विराजते हैं.

व्याख्यार्थ: 'निजायुधैः' पदसे अनिरुद्ध स्वरूपके आयुध कहे हैं, पश्चात् पुष्टि आदि चार शक्तियां वे भी अनिरुद्धकी ही हैं, १.पुष्टिः, २.श्रीः, ३.कीर्ति ४.अजा(प्रकृति) अखिल ऋद्धियां, (धान्य आदि सम्पदाओंके आधिदैविकरूप हैं) इन सबसे सेव्यमान हो रहे हैं, इतना कहनेसे तो साधारण ऐश्वर्य ही सिद्ध होता है, इस पर कहते हैं कि आपका ऐश्वर्य साधारण नहीं है किन्तु असाधारण ऐश्वर्य उस असाधारण ऐश्वर्य सिद्धिकेलिए कहते हैं कि आप परमेष्ठियोंके पति हैं, एक-एक ब्रह्माण्डका एक-एक परमेष्ठी पति होता है, ऐसे सहस्रों ब्रह्माण्ड हैं उतने ही परमेष्ठी है, उन सबके पति हैं।।५७।।

अपने अंशके मूलभूत वैसे स्वरूपको देख कर भगवानने लोकशिक्षार्थ जो कुछ किया वह 'ववन्द' श्लोकमें कहते हैं.

ववन्द आत्मानमनन्तमच्युतो जिष्णुश्च तद्दर्शनजातसाध्वसः।
तावाह भूमा परमेष्ठिनां प्रभुर्बद्धाञ्जली सस्मितमूर्जया गिरा।।५८।।

श्रीकृष्णने अपने स्वरूपभूत अनन्तको प्रणाम किया और उनके दर्शनसे भयभीत अर्जुनने भी नमन किया, परमेष्ठियोंके स्वामी भूमाने हाथ बांध कर खड़े हुए उन दोनोंको मुस्कराते हुए गंभीर वाणीसे कहा।।५८।।

अपनेको ही भगवान् श्रीकृष्णने नमन किया, दोनों स्वरूपमें प्रत्यक्ष भेद दिख रहा है, तब अपनापन कैसे हुआ? इस पर कहते हैं कि 'अनन्त' श्रीकृष्णके

स्वरूप अन्तरहित हैं, वह स्वरूप भी आपका ही है, अनन्तमूर्ति होते हुए भी भगवान् एक ही है, यही तात्पर्य है, तब तो आपकी अनन्तता खण्ड-खण्ड होगी, इस पर कहते हैं कि नहीं, क्योंकि आप अच्युत हैं, कितने भी स्वरूप धारण करें तो भी स्वरूपसे आपमें च्युति(कमी) नहीं होती है, और भगवानके दर्शनसे डरे हुए अर्जुनने भी प्रणाम किया, 'च' पदसे यह सूचित किया है कि भगवान् अर्जुनकी भी आत्मा हैं, पश्चात् भगवान् अनिरुद्धने दोनोंको कुछ कहा, 'भूमा' शब्द अनिरुद्ध वाचक है, 'यो वै वाचो भूमा तं न्यर्बुदम्' जो वाणीके भूमा हैं उसको दश करोड़ कहते हैं. इसी तरह यहां वाकसे सम्बन्धवाले भूमाके उद्देश्यसे दश करोड़ कहा है, अनिरुद्ध तो मनसे सम्बन्धित पुरुष होनेसे यहां उनका शब्दात्मक मन सिद्ध है, इसलिए ही अनिरुद्धका भूमत्व है और अतएव परमेष्ठियोंका प्रभु भी है, जो भी ब्रह्माण्डमें आता है उस पर इनकी आज्ञा चलती हैं, इस कारणसे ही पुत्रोंको ले आनेमें इनको कोई भय न हुआ और वैसा कहनेमें भी डर न हुआ, कृष्ण और अर्जुन दोनों अनिरुद्धके आगे हाथ जोड़ खड़े थे, श्रीकृष्णने हाथ क्यों जोड़े? जिसका भाव आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि अर्जुनको ठगनेकेलिए ऐसा नाट्य किया है, अतः श्रीकृष्ण और भूमा सर्वथा एक ही है. केवल अर्जुनके अहंकारको तोड़नेकेलिए ही और निरोधकार्यमें लग जानेसे, प्रपंच विस्मृति करानी है इसलिए यों करते हैं यह सूचना दी है. लोकप्रसिद्ध वाणीसे अर्थात् लोकमें जिस प्रकारकी वाणीसे कहा जाता है उससे भी बलवती वाणीसे कहने लगे।।५८।।

जिस किसी प्रकारसे कुछ अचंभेमें डालनेवाला वाक्य भी कहना चाहिए, यह 'द्विजात्मजामी' श्लोकमें कहते हैं.

द्विजात्मजामी युवयोर्ददृक्षुणामयोपनीता द्विजधर्मगुप्तये।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान् हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ।।५९।।

भूमा भगवानने कहा कि आपके दर्शन करनेकी इच्छासे ये ब्राह्मणके पुत्र मैं लाया हूं, धर्मकी रक्षाकेलिए मेरी कलासे पृथ्वी पर अवतार लिए हो, पृथ्वी पर जो भाररूप असुर हैं, उनको मार कर फिर मेरे पास शीघ्र आ जावें।।५९।।

इस श्लोकमें 'द्विजात्मजामी' यह सन्धि आर्ष(वैदिक) हैं, यों यह पद इस प्रकारका है 'द्वीजात्मजा अमी' अथवा 'द्विजात्मज अमी' यदि 'द्विजात्मजा अमी' पद लिया जाय तो इसका अर्थ 'अमी' ये 'द्विजात्मजा' ब्राह्मणके पुत्र होता

है (मैं लाया हूं) यदि 'द्विजात्मज अमी' पदच्छेद करे तो द्विजात्मज सम्बोधन अर्जुनकेलिए होता है, अर्जुन व्यासका पुत्र होनेसे दीर्घदर्शी नहीं है क्योंकि ब्राह्मणोंकी मति वैसी ही होती है. यह सूचित करनेकेलिए अर्जुनको यहां 'द्विजात्मज'[१] कहा है, और इस पदके कहनेका यह भी आशय है कि अर्जुन दो पिताओंकी जायदादका हकदार है.

मैं ब्राहाण पुत्र यहां लाया हूं जिसका हेतु है मुझे आपके देखनेकी इच्छा थी, आप दोनों महान् हैं इसलिए आपका साक्षात् आकर्षण नहीं हो सकता है इसलिए ब्राह्मणके पुत्रोंको लाया. हम कौन हैं? हमारे देखनेकी आपको क्यों इच्छा हुई? जिसका उत्तर देते हैं 'द्विजधर्मगुप्तये अवतीर्णो मम कलारूपौ' आप दानों मेरी कलाके अवतार हैं अतः कलाके कारण आपमें स्नेह है जिससे देखनेकी इच्छा हुई. कलावतार धारण करनेका प्रयोजन, द्विजोकी और धर्मकी रक्षा है, एक द्विजोंकी रक्षाकेलिए दूसरा धर्मकी रक्षार्थ है, अथवा प्रत्येक दोनोंकेलिए है, अनिरुद्धका धर्म रक्षा करना प्रयोजन है, ब्राह्मण तो स्वतएव स्वभावसे ही अपने धर्मका पालन करेंगे वहां दोनोंको क्या कर्तव्य करना है? इसका उत्तर देते हैं कि पृथ्वी पर भाररूप असुरोंको मार कर फिर आप शीघ्र यहां मेरे पास आइए, यों कह कर यह सूचित किया कि अब लौट कर भूलोकमें पधारिए।।५९।।

१.'द्विज़' पद ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंकेलिए है किन्तु ब्राह्मणकेलिए देनेमें भी दोष नहीं है.

केवल धर्मकी रक्षा नहीं करनी है, किन्तु धर्म भी प्रवृत्त करना है, यह 'पूर्ण कामावपि' श्लोकमें कहते हैं.

पूर्णकामावपि युवां नरनारायणावृषी।
धर्ममाचरतां स्थित्यै ऋषभौ लोकसङ्ग्रहम्।।६०।।

आप दोनों पूर्णकाम, नर और नारायण, श्रेष्ठ ऋषिरूप हो, अतः जगतकी स्थितिकेलिए और लोकसंग्रहार्थ धर्मका आचरण कीजिये।।६०।।

आपको अपनेलिए धर्म करनेका कोई प्रयोजन नहीं है. फिर भी आप पूर्ण काम हो अर्थात् आपमें धर्म करनेकी सामर्थ्य है और किसी प्रकारकी अपनेलिए कुछ इच्छा भी नहीं है, क्योंकि नर और नारायण ऋषि हैं, नर-नारायण होनेसे पूर्णकाम हो ऋषि होनेसे धर्म करनेकी सामर्थ्य भी आपमें है.

तो भी 'प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते' मूर्ख मनुष्य भी प्रयोजनके

बिना किसी कार्यमें प्रवृत्ति नहीं करता है, इसलिए प्रयोजन कहना चाहिए. इस पर कहते हैं कि 'स्थित्यै' अनिरुद्ध पालना करनेवाले हैं इसलिए जगतकी स्थितिकेलिए धर्मका प्रचार करना चाहिए, यदि कहो कि नारायण ही स्थिति कर रहे हैं इसलिए, भूभारहरण करनेकेलिए आए हुए हमारा धर्मसे कोनसा सम्बन्ध है? इस पर कहते हैं 'लोकसंग्रहम्' लोकसंग्रहकेलिए आपका धर्मसे सम्बन्ध है, आप धर्माचरण कर दिखाओगे तब लोक करेंगे।।६०।।

पश्चात् जो कुछ हुआ वह 'इत्यादिष्टौ' श्लोकमें कहते हैं.

इत्यादिष्टौ भगवता तौ कृष्णौ परमेष्ठिना।
ओमित्यानम्य भूमानमादाय द्विजदारकान्।।६१।।

भगवान् परमेष्ठीसे अर्जुन व कृष्ण यों आज्ञा पा कर एवं 'ओम' उस आज्ञाको स्वीकार कर द्विज बालकोंको लेकर, भूमाको प्रणामकर, अपने धामको लौटे।।६१।।

यहां दोनोंको कृष्ण नाम देनेका भावार्थ यह है कि दोनों समान अंश है, भगवान् भगवानको कैसे आज्ञा देते हैं? इसलिए 'परमेष्ठिना' कहा है, यह भगवान् ब्रह्माण्डमें रक्षाकेलिए ही प्रवृत्त हुए हैं, अतः अपने सब अंशोंको ही वैसे बोध करते हैं अतः आपका स्वरूप वैसा ही है इसलिए ॐ कह कर उन्होंने जो कहा वह स्वीकार कर लिया, भूमा भगवानको प्रणाम कर जिस कार्यकेलिए गए थे वह कार्य पूर्ण कर अर्थात् ब्राह्मणके पुत्रोंको ले कर लौटे।।६१।।

न्यवर्तेतां स्वकं धाम सम्प्रहृष्टौ यथागतम्।
विप्राय ददतुः पुत्रान् यथारूपं यथाप्रभू।।६२।।

जिस मार्गसे गए थे, उस ही मार्गसे प्रसन्नतापूर्वक अपने धाम द्वारकाको लौट आए और दोनों समर्थोंने ब्राह्मणको वैसी ही अवस्था और रूप आदिवाले सब पुत्र दिए।।६२।।

जिस कार्यकेलिए गए थे वह कार्यकर, अर्थात् ब्राह्मणपुत्रोंको ला कर निःशंक और प्रसन्न हो, अपने धाम द्वारकामें जिस मार्गसे गए थे उसी ही मार्गसे लौट आए, यह लीला दूसरोंके साथ भगवानकी समता और हीनता दिखलाती है.

पश्चात् प्रतिज्ञाकी सिद्धि करनेकेलिए ब्राह्मणको सब पुत्र दिए, यद्यपि ब्राह्मणने एक पुत्रकी रक्षाकेलिए प्रार्थना की थी, परन्तु सब ही दिए, इसमें महत्त्व

प्रकट किया, वैसे रूपवाले ही सब पुत्र दिए, रूप शब्दसे आयु और स्वभाव आदि भी, जैसे जन्म समयमें थे अब भी वैसे ही हैं, न कम और न उनमें किसी प्रकार कुछ भी परिवर्त्तन था. सान्दीपिनिऋषिके पुत्र समान इनकी भी व्यवस्था थी. इसी प्रकार प्रतिज्ञा कर कैसे गए? इसका उत्तर देते हैं 'प्रभु' सर्वसमर्थ थे अथवा यों करनेमें यह कारण था।।६२।।

१.जैसे दूसरे देव अंशसे अवतरे हैं, वैसे ही भगवान् भी अंशसे अवतरे हैं अतः अन्य देवोंके साथ समानता दिखाई है, और इस कारणसे अनिरुद्ध स्वरूपसे हीनता प्रकट की है, क्योंकि वहां भगवान् नारायणांश स्वरूपसे पधारे थे, इसलिए अंशको अंशीके साथ यों करना चाहिए, यह लीला लोकके शिक्षार्थ की है–लेखकार.

ये दोनोंके किये हुए चरित्रका वर्णन कर दोनोंमें समानता होनेकी शंकाको 'निशम्य' श्लोकसे मिटाते हैं.

निशम्य वैष्णवं धाम पार्थः परमविस्मितः।
यत्किञ्चित्पौरुषं पुंसां मेने कृष्णानुकम्पितम्।।६३।।

विष्णु भगवानका धाम देख कर अर्जुन बहुत आश्चर्ययुक्त हुए और समझ गए कि जो कुछ भी पुरुषोंमें पुरुषार्थ है, वह श्रीकृष्णकी कृपासे ही है।।६३।।

अर्जुन वहां जा कर लौट आए तब तक उसके स्वरूपका कुछ भी ज्ञान इसको(अर्जुनको) न हुआ, पश्चात् जब भगवानने उसको स्वरूपका वर्णन कर सुनाया तब अर्जुनने जाना, इसलिए 'निशम्य' पद दिया है, जान कर बहुत आश्चर्यान्वित हो गए मनमें कहा कि अहो विष्णुका ऐसा स्थान है? वह तो पहले यों जानते थे कि जैसे इन्द्रादिकका स्थान है वैसा विष्णुका भी होगा, सुननेके बाद जान लिया कि इनमें तो मेरु और सर्षप जितना अन्तर है, इससे परम आश्चर्यको प्राप्त हुए, इससे अर्जुनको क्या मिला? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि स्वतः कार्य करनेमें अहंकार हो जाता है, अब अर्जुनने समझ लिया कि पहले मैने जो भी किया वह दूसरे(कृष्ण)ने किया है, वह सब कृष्णकी कृपासे हुआ है, इस प्रकार नन्दजीसे अर्जुन तक निरोध किया है, फाल्गुन तक आवेशवाले हैं।।६३।।

भगवानके आवेशवाले अर्जुनका भी निरोध किया, इससे दूसरे निरोध कहने नहीं है, तब तो इतने ही निरोध होंगे, इस संशयको मिटानेकेलिए 'इती दृशानि' श्लोकमें निरोधके प्रकार बताते हैं.

इतीदृशान्यनेकानि वीर्याणीह प्रदर्शयन् ।
बुभुजे विषयान् ग्राम्यान् ईजे चात्यूर्जितैर्मखैः ।।६४।।

इस लोकमें ऐसे अनेक पराक्रम दिखाते हुए भगवानने ग्राम सम्बन्धी विषयोंको भोगा और अति समृद्धिवाले यज्ञोंसे यज्ञपुरुषका पूजन किया।।६४।।

भगवान् भूमि पर अपने माहात्म्यकेलिए तथा अपनेमें आसक्ति करानेके वास्ते ज्ञानरूप और निरोधरूप अलौकिक सामर्थ्यवाले वीर्योंको दिखाते हुए ग्राम सम्बन्धी भोगोंको भोगने लगे, यदि यों लोक समान धर्मोंको धारण न करते तो लीलाकी पूर्णता न होती और लोगोंको विश्वास न होता जो अलौकिक प्रकारसे करते तो दर्शन मात्रसे सबकी मुक्ति हो जाती, जो अभीष्ट नहीं थी अतः भगवानने लौकिक प्रकारसे लौकिक-वैदिक दोनों कार्य किए जैसे कि भोग भी लौकिक रीतिसे कर दिखाया तथा उत्तम यज्ञोंसे हरि पूजन कर दिखाया, भगवानने ऐसे यज्ञ छ वर्ष तक किए ऐसी प्रसिद्धि है।।६४।।

दान भी यज्ञके समान लोकमें उत्कर्ष करानेवाला है, अतः 'प्रववर्ष' श्लोकमें उसका विशेष रूपसे वर्णन करते हैं.

प्रववर्षाखिलान् कामान् प्रजासु ब्राह्मणादिषु ।
यथाकामं यथैवेन्द्रो भगवान् श्रैष्ठ्यमास्थितः ।।६५।।

जैसे इन्द्र समय-समय पर वर्षा कर जगतकी सम्पूर्ण कामनाओंको पूर्ण कर उनको आनन्दित करता है, वैसे ही श्रेष्ठताकी निधि भगवानने भी ब्राह्मणादि सबकी कामनाओंको उनकी इच्छानुसार पूर्ण कर उनको संतुष्ट किया।।६५।।

प्राणिमात्रकी कामनाएं तो पूर्ण की, बल्कि विशेषमें ब्राह्मणादिकी सर्व प्रकारकी कामनाएं उनकी इच्छानुकूल पूर्ण की, जो यों न करते तो, सर्वका नाश हो जाता, यों जतानेकेलिए दृष्टान्त देते हैं 'यथैवेन्द्र' सब प्राणी अन्नसे ही जीते हैं, उस अन्नकी उत्पत्ति वृष्टिके अधीन है, यदि मेघ क्षणमात्र उदासीन हो जाय, अर्थात् वृष्टि न करे तो प्राणी दुष्कालके कारण अन्नाभावसे नष्ट हो जावे, वैसे ही भगवान् क्षण मात्र उदासीन हो जाय तो लोक नष्ट हो जावे, पर्जन्यसे भी भगवानकी विशेषता इसलिए दिखाते हैं कि लोक उनका भजन करे, अतः कहा है कि भगवान् 'श्रैष्ठ्यमास्थित' सबसे अपनी श्रेष्ठता जनाते हुए ही अखिल कामनाओंकी वर्षा करते है जिससे कृतार्थता प्रकट होती है।।६५।।

इसी तरह प्रजापालन कह कर विशेषतासे अपने अवतार कार्यका

उपसंहार करने लगे, यह 'हत्वा' श्लोकमें कहते हैं.

हत्वा नृपानधर्मिष्ठान् घातयित्वार्जुनादिभिः।
अञ्जसा वर्तयामास धर्मं धर्मसुतादिभिः ।।६६।।

अर्जुन आदि द्वारा अधर्मी राजाओंका नाश करा कर और युधिष्ठिर आदिसे सम्पूर्णतया धर्मको प्रवृत्त कराया।।६६।।

राजाओंके वध करनेमें कोई दोष नहीं, क्योंकि वे अधर्मी थे, यो 'अधर्मिष्ठान्' विशेषणसे बताया है, वे राजा कंस आदि थे, 'अर्जुनादिभिः' आदि पदसे भीष्म, भीम, अर्जुन आदि कहे हैं, किन्हींको(दुर्योधनादिको) मारनेसे जब निष्कण्टक भूमि हो गई तब सम्पूर्ण रीतिसे धर्म प्रवृत्त कराने लगे, धर्म प्रवृत्तिमें हेतु थे युधिष्ठिर आदि, अर्थात् युधिष्ठिर आदिसे धर्म प्रवृत्त कराया, भगवानके इस प्रकार लीला करनेमें दो प्रकारके साधन थे १.दुष्टोंके नाश करनेमें अर्जुन आदि साधन थे और २.धर्मके प्रवृत करनेमें युधिष्ठिर आादि साधन थे।।६६।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंधके ८६वें अध्याय की
श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृतटीका)के गुण प्रकरणके
पञ्चम अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण।

अध्याय ८७

भगवान् श्रीकृष्णकी लीला विहारका वर्णन

एवं सर्वान् समुद्धृत्य क्रीडत्यस्माकमीश्वरः।
क्रीडायां प्राप्तसंसारः स्त्रीणामपि निवार्यते।।का.१।।

कारिकार्थ: इसी[१] तरह सबका उद्धार कर हमारे प्रभु क्रीड़ा करते हैं (यह लीला इस अध्यायमें कही है) क्रीड़ा करते हुए जो संसार स्त्रियोंमें उत्पन्न हो जाता है उसका भी इस लीलासे निवारण किया जाता है।।१।।

१.''भक्तोंको प्रपञ्चका विस्मरण करा कर अपनेमें उनके मनका प्रवण कराना'' इस प्रकारके निरोधका वर्णन पूर्वाध्यायमें किया है. अब इस(४१वें) अध्यायमें 'निरोधोऽस्यानुशयनम्' पंक्तिसे श्रीकृष्ण अपनी दुर्विभाव्य शक्तियोंसे जो प्रपंचमें रमण करते हैं इस प्रकारके निरोधका वर्णन किया है, इस निरोधके सिद्ध्यर्थ क्रीड़ा करते हैं, इस क्रीड़ासे उत्पन्न संसारका भी निरोध द्वारा निवारण करते हैं, यौगिक अर्थवाले निरोधका यह निरोध अंग नहीं है.

ज्ञानं निरूप्य वैराग्यं निरूपयितुमुद्यतः।
अद्भुतत्वाच्चरित्रस्य रागलीला निरूप्यते।।का.२।।

कारिकार्थ: ज्ञानका निरूपण कर अब श्रीशुकदेवजी वैराग्यका निरूपण करनेके लिए उद्यत हुए हैं, चरित्रके अद्भुतपनसे राग, प्रेम, रतिकी लीलाका वर्णन किया जाता है।।२।।

स्वार्थं रतिः पूर्वमेव भगवत्वान्निवारिता।
स्त्रीणां तु रागसम्प्राप्तिस्ततोऽत्र विनिवार्यते।।का.३।।

कारिकार्थ: श्रीकृष्ण यह रतिलीला अपनेलिए करते हैं इसका निवारण पहले ही कर दिया है क्योंकि आप भगवान्[१] हैं, इस लीलासे भगवान् कृष्ण आसक्त न भी होवें, किन्तु स्त्रियोंकी तो रागासक्ति होगी, इसलिए इनकी रागासक्ति इस अध्यायके १३वें श्लोकमें कही हुई चेष्टाओंसे भगवान् निवृत्त करते हैं।।३।।

१.षडैश्वर्य पूर्ण होनेसे आप्तकाम हैं अतः आप अपनेलिए रतिलीला नहीं करते हैं.

एकचत्वारिंशेऽध्याये भक्तानां सुखसिद्धये।
परमोत्सवलीलां हि श्रीशुको वर्णयन् मुदा।।का.४।।

कारिकार्थः इस ४१वें अध्यायमें भक्तोंकी सुख सिद्धिकेलिए श्रीशुकदेवजी परमोत्सवकी लीलाका वर्णन आनन्दसे करते हैं।।४।।

आभासार्थः पूर्वाध्यायमें सर्व लोकोंके हितार्थ किये हुए चरित्रोंका उपसंहार किया, इस अध्यायमें भक्तोंका मन भगवानमें स्थिर करनेकेलिए परमानन्दरूप लीला निरूपण करते हैं, जिसका यह 'सुखं स्वपुर्यां' पहला श्लोक श्रीशुकदेवजी कहते हैं.

श्रीशुक उवाच

सुखं स्वपुर्यां निवसन् द्वारकायां श्रियः पतिः।
सर्वसम्पत्समृद्धायां जुष्टायां वृष्णिपुङ्गवैः ।।१।।

श्लोकार्थः सर्व प्रकारकी सम्पदाओंसे समृद्ध श्रेष्ठ यादवोंसे सेवित अपनी पुरी द्वारकामें सुखपूर्वक रहते हुए लक्ष्मीके पति रमण करने लगे।।१।।

व्याख्यार्थः यह स्वभाव सिद्ध है कि अपनी पुरीमें किसी प्रकारकी चिन्ता नहीं रहती है, फिर साधारण नगरी नहीं है किन्तु 'द्वारका' है जहां लक्ष्मीके पति सदैव विराजते है, यों कह कर यह बताया है कि इस पुरामें विलासोंके साधनोंकी सर्व प्रकार सम्पत्ति है, 'सर्व सम्पत्समृद्धायां' पदसे सब तरहकी लौकिक सम्पतियोंसे भी यह पुरी भरपूर है, कदाचित् कोई साधारण उपद्रव होवे तो उसको मिटानेकेलिए आपको प्रयत्न करनेकी आवश्यकता नहीं, क्योंकि वहां श्रेष्ठ योद्धा यादव रहते हैं, वे उनका निवारण कर सकते हैं।।१।।

असाधारणोंकी पहले ही निवृत्ति होनेसे अब भोगके मुख्य साधनोंको कहते हैं.

स्त्रीभिश्चोत्तमवेषाभिर्नवयौवनकान्तिभिः।
कन्दुकादिभिर्हर्म्येषु क्रीडन्तीभिस्तडिद्द्युभिः ।।२।।

जिस पुरीके महलोंमें उत्तम वेषवाली नवीन यौवनकी कांतियोंसे दैदीप्यमान और दामिनीकी दमकसे दीप्त अंगनाएं गेंद आदिसे अनेक प्रकारके खेल खेलती विलास कर रही है।।२।।

पुरुष चैतन्य स्वरूप एवं काममय(कामसे पूर्ण कामरूप) है. जबतक उसकी कामपूर्ति नहीं होती है तब तक उसे दुःख भासता है, उस दुःखकी निवृति करनेके साधन इन्द्रियां हैं, इन्द्रिय अपने कार्यमें प्रवृत्ति करें, इसलिए उनको सुख दिया जाता है, तात्पर्य यह है कि इन्द्रियों द्वारा ही आत्माको सुख मिलता है,

उनको पृथक् कर नहीं सकते हैं, अतः कहा है कि आत्माकाम स्त्रियोंसे ही पूर्ण होता है, स्त्रियां ही षड् इन्द्रियोंको किस प्रकार आनन्द देती है जिसका वर्णन करते हैं, उत्तम दिव्य वस्त्रोंको धारण करनेसे पुरुषके मन और नेत्रोंको आनन्द देती है, नव यौवनकी दीप्तिसे, कोमल स्पर्श ओर(आलिंगनादि द्वारा) अधररसका(चुम्बनादिसे) सुख देती है, महलोंमें गेंदकी क्रीड़ा करते, शब्द और गन्धका सुख देती है, गेंद खेलते हुए जो गान करती हैं उससे शब्दका सुख देती हैं और गेंद पुष्पोंकी बनी हुई होती है जिससे सुगन्धीका आनन्द देती हैं, अथवा इस प्रकार चित्त तथा चक्षुओंको आनन्द देती हैं, यों भावार्थ लिया जावे तो पहले दिए हुए विशेषणोंसे परिवर्तन करना चाहिए, इससे कामशास्त्रमें दिखाए हुए विभाव और अनुभाव कहे हैं 'विद्यतु सम कान्तिवाली' विशेषणसे यह बताया है कि पुरुषका अन्य पदार्थोंमें जो प्रेम हो उसको विस्मृत करा देती है.

स्त्रियां धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप फलं भी इन वेषादिसे देती हैं, इस प्रकार भगवानके वास्ते सर्वपुरुषार्थरूप स्त्रियां हैं, अथवा यह साधारण नागरियों (नगरकी स्त्रियों)का वर्णन है।।२।।

१.ये केवल चार विशेषण है और ये भी चार है इससे समानताके कारण यों कहा है इससे योग्यताका विचार नहीं.

यदि द्वारका गन्धर्वोके विमानोंकी तरह केवल भोग स्थान होगी तो उसका लोकमें उत्कर्ष न रहेगा, इसलिए ''नित्यं संकुल मार्गायां'' श्लोकमें सेना भी वहां है ऐसा वर्णन करते हैं.

नित्यं सङ्कुलमार्गायां मदच्युद्भिर्मतङ्गजैः।
स्वलङ्कृतैर्भटैरश्वै रथैश्च कनकोज्ज्वलैः ।।३।।

जिस पुरीके मार्गमें सदैव मद झरते हस्तियों, सुंदर शृंगार किये योद्धों व घोड़ों और सुवर्ण मण्डित रथोंकी भीड़-भाड़ बनी रहती है।।३।।

मद झरते हाथियोंसे सर्वदा ही द्वारकाके मार्गमें भीडभाड बनी रहती है, वैसे ही मार्गमें अलंकृत योद्धा, घोडे और रथोंकी भीड रहती है इस प्रकार सेनाके चारों अंग द्वारकामें उत्कृष्ट हैं, यों निरूपण किया।।३।।

यों शूरवीरकी सिद्धिकेलिए सेनाका निरूपण कर भोगकी सिद्ध्यर्थ उद्यानोंका निरूपण करते हैं.

उद्यानोपवनाढ्यायां पुष्पितद्रुमराजिषु।

निर्विशद्भृङ्गविहगैर्नादितायां समन्ततः ।।४।।

फुलवारियां और उपवनोंसे सम्पन्न, फूलोंवाले वृक्षोंकी पंक्तियोंमें विहार करते हुए भ्रमर और पक्षीगण जिसमें नाद कर रहे हैं. ऐसी द्वारकापुरीमें वसते हुए लक्ष्मीके पति रमण करने लगे।।४।।

'उद्यान' शब्दसे वहाँ फुलवाड़ियोंका होना बताया है, और 'उपवन' शब्दसे फलोंवाले वृक्षोंकी प्रधानता बताई है, उनसे भरपूर नगरी है, कामकलामें गन्धका उत्कर्ष बता कर अब शब्दोंका उत्कर्ष वर्णन करते हैं फूलोंवाले पेड़ोंकी पंक्तियोंमें प्रविष्ट भ्रमर और पक्षीगण जहां कलरव कर रहे हैं, 'राजि' पदसे यह सूचित किया है कि एक पंक्तिमें एक जातिके ही पक्षी प्रवेश करते हैं, यदि पृथक्-पृथक् जातिके पक्षी एक पंक्तिमें होते तो विजातीय शब्दकी संकरतासे कोलाहल हो जाता अर्थात् वह आनन्दप्रद मधुर ध्वनि न होती, चारों तरफ कहनेसे पूर्व कहे हुए उद्यान आदि सर्वत्र हैं, यो जानना चाहिए।।४।।

रेमे षोडशसाहस्रपत्नीनामेकवल्लभः ।
तावन्ति बिभ्रद् रूपाणि तद्गृहेषु महर्द्धिषु ।।५।।

सोलह सहस्र स्त्रियोंका एक ही प्रियतम उतने(१६ सहस्र) ही रूप धारण कर उन(स्त्रियों)को भी महती समृद्धिवाले घरोंमें रमण करने लगे।।५।।

ऐसे भोगकी सामग्रीसे युक्त स्थानमें सोलह हजार स्त्रियोंके एक ही प्रियतम रमण करने लगे सब स्त्रियोंका स्नेह, एक स्थान (एक ही प्रियतम) पर इकठ्ठा हुआ, सोलह विकारोंमेंसे प्रत्येक विकारका सम्बन्धी जो मन है, उस प्रत्येक मनको एक सहस्र प्रकारका आनन्द प्राप्त हो तदर्थ स्त्रियां भी १६ हजार थीं, किन्तु ये स्त्रियां साधारण स्त्रियां नहीं थीं, क्योंकि साधारण होती तो धर्मका व्यतिक्रम हो जाता, अतः पत्नी पद दिया है कि ये पत्नियां थीं इसलिए इनमें धर्म साधकत्व था.

यदि भगवान् यह रमण अपनी कामना पूर्तिकेलिए नहीं करते हैं किन्तु स्त्रियोंकी कामना पूर्तिकेलिए करते हैं, तो इस प्रकारकी लीलासे कामकी सर्वथा पूर्ति न होगी, क्योंकि एक पति, १६ सहस्र स्त्रियोंके कामकी पूर्ति कर नहीं सकता है, पुरुषके कामसे स्त्रियोंमें अष्टगुणा काम रहता है, जब एक पुरुषके एक गुणावाली कामकी पूर्तिकेलिए बहुत स्त्रियोंकी अपेक्षा होती है, तब अष्ट गुणाकामवाली १६ सहस्र स्त्रियोंके कामकी पूर्ति एक पतिसे कैसे होगी? इस

शंकाको मिटानेकेलिए कहा है, 'तावन्ति बिभ्रद्रूपाणि' आपने भी १६ सहस्ररूप धारण कर लिए. इस प्रकार उनके कामकी पूर्तिकेलिए ही वे रूप प्रकट हुए, जिससे एक स्त्रीका अष्टगुणाकाम भी उसी एक स्वरूपसे पूर्ण होगा.

स्त्रियोंमें मात्सर्यदोष स्वाभाविक है, इसलिए एकत्र यानि एक ही स्थानमें रमणसे मात्सर्य होगा, उसके निवारणार्थ प्रत्येकको महल पृथक-पृथक् दिए, वे महल भी सबके समान सर्व समृद्धि युक्त बने हुए थे उन अलग-अलग महलोंमें प्रत्येकके साथ पृथक्-पृथक् रमण किया, जिससे मत्सरता भी न हुई, आप प्रत्येक महलमें एक स्वरूपसे प्रविष्ट हुए और जब तक सम्यक् प्रकारसे उनको पूर्ण आनन्द प्राप्त हो, वैसे तब तक रमण करते रहे, यों तात्पर्य है।।५।।

एक-एक स्त्रीके साथ अकेले घरमें रमण तो गृहस्थके समान(रमण) हुआ अतः विशेष प्रकारके समुदायके साथ किये हुए उत्तम रमणका वर्णन 'प्रोत्फुल्ल' श्लोकसे सात श्लोकोंमें करते हैं.

प्रोत्फुल्लोत्पलकह्लारकुमुदाम्भोजरेणुभिः।
वासितामलतोयेषु कूजद्विजकुलेषु च ।।६।।

जलमें उत्पन्न प्रफुल्लित कल्हार, कुमुद तथा कमलोंकी रेणुओंसे सुगंधित निर्मल जलवाले और जहां पक्षियोंके समूह कलरव कर रहे हैं, वैसे छोटे तालाबोंमें घरोंके भीतर रमण(जलक्रीड़ा) करने लगे।।६।।

जलमें उत्पन्न पुष्पोंकी जातिवाले कल्हार, कुमुद तथा कमल जहां खूब खिल रहे हैं, ये क्रमशः सन्ध्या, रात्रि और दिनमें खिलते हैं, उन पुष्पोंकी रेणुओंसे सुगन्धित और निर्मल जलवाले छोटे तालाबोंसे युक्त मकानोंमें भगवान् समुदाय रमण करने लगे. जहां पक्षियोंके कुल कलरव कर रहे हैं, इसी प्रकार वहां गन्ध सम्पत्तिका वर्णन किया, स्पर्श और रस दोनों वहां सहज ही है, रूप[१] तो सिद्ध ही है।।६।।

१.रूप तो भगवानने इसलिए ही इस प्रकारके धारण किए हैं-'लेखकार'

विजहार विगाह्याम्भो हृदिनीषु महोदयः।
कुचकुङ्कुमलिप्ताङ्गः परिरब्धश्च योषिताम् ।।७।।

भगवान् जब उन सरोवरियोंके जलमें प्रवेश कर विहार करने लगे, तब आलिंगन करते समय स्त्रियोंके स्तनों पर लगी हुई कुमकुम(केसर)से आपके श्रीअंग भी लिप्त हो गए हैं।।७।।

वहां पानीमें प्रवेश कर जलक्रीडा करने लगे, जलमें क्रीड़ा लाभ क्या? जिसके उत्तरमें कहा है कि 'महोदयः' क्रीड़ासे भगवानका महान् वैभव प्रकट हो रहा है, इससे यों (ही) करना चाहिए, यह भावार्थ है, वहांकी शोभाका वर्णन करते हैं, आलिंगनसे स्त्रियोंके स्तन पर लगी कुमकुम(केसर)से भगवानके सकल अंग लिप्त हो गए थे, उसके दूर करनेकेलिए जलमें अवगाहन किया. वहां जो रस प्रकट हुआ उसके स्वरूपका वर्णन करते हैं, 'योषितां परिरब्धः' पदसे बताया है, कि भगवानको स्त्रियोंने आलिंगन किया है एवं आप स्त्रियोंके सम्बन्धी हैं अतः इस लीलासे भीतर रहे हुए रसको बाहर प्रकट कर दिखाया है।।७।।

उस कालमें महलोंसे बाहर स्थितोंको रसके उत्पादनकेलिए गान स्तोत्रादि करने चाहिए, वह भी करने लगे, वह 'उपगीयमानो' श्लोकमें कहते हैं.

उपगीयमानो गन्धर्वैर्मृदङ्गपणवानकान्।
वादयद्भिर्मुदा वीणाः सूतमागधबन्दिभिः ।।८।।

गन्धर्व प्रेमसे मृदंग, पणव, आनक और वीणा बजा रहे थे तथा सूत, मागध व बंदीजन भगवानका यश गा रहे थे।।८।।

भगवानके नाम गीतोंका गान होने लगा और मृदंग, पणव, आनक तथा वीणा आदि वाद्य बजने लगे, गन्धर्वोंके सिवाय सूत, मागध और बन्दीजन भी प्रशंसा करने लगे।।८।।

इस प्रकार बाहरसे कामोत्तेजक साधनादि कह कर अनन्तर 'सिच्यमानो' श्लोकमें स्त्रियोंकी मनमानी स्वच्छन्द लीलाका वर्णन करते हैं.

सिच्यमानोऽच्युतस्ताभिः हसन्तीभिः स्म रेचकैः।
प्रतिषिञ्चन् विचिक्रीडे यक्षीभिर्यक्षराडिव ।।९।।

स्त्रियां हंसती-हंसती भगवानको पिचकारियोंसे भिगोती थी और भगवान् उनको भिगो रहे थे, उस समयकी शोभा ऐसी हो रही थी, जैसी कुबेर और यक्षिणियोंकी परस्पर क्रीड़ा करनेके समय होती है।।९।।

स्त्रियां बहुत थी जिससे भगवानके काममें कमी हुई? इस शंकाके निवारणकेलिए 'अच्युत' नाम दिया है, जिसे बताया है कि बहुत स्त्रियां होते हुए भी भगवानके काममें च्युति(हानि) नहीं हुई, चमडे अथवा बांसकी बनी हुई पिचकारियोंसे भगवानको भिगोती हुई हंस रही थी, कारणकि स्त्रियोंका एक स्वभाव मुस्कुरानेका होता है फिर भगवान् पिचकारियोंसे उतना न भिगो सके

जितना कि इन्होंने भिगोया इस विजयसे हंस रही थी, दोनों तरह इनको परम सन्तोष कहा है, 'स्म' पद कहनेका भावार्थ यह है कि, ईश्वरके कामको स्पष्टरीतिसे निरूपण करना उचित नहीं है, भगवानने भी इन स्त्रियों पर पिचकारियोंसे जल वर्षाया, इस प्रकार विशेषतया खेलने लगे.

यक्ष कामरसके कलहमें चतुर हैं, वैसे प्रकृत प्रकरणमें स्त्रियां तथा भगवान् इस प्रकार कामकलह करते हैं. यह केवल एक देशमें प्रसिद्धि भगवानके माहात्म्यकी सूचक है, यद्यपि कुबेर यक्षिणियोंके कामकलहकी समता बताना अनुचित है किन्तु मात्र दृष्टान्तभावसे इसका निरूपण किया है. जैसे कहा जाता है कि गम्भीरतामें समुद्र समान, धैर्यमें हिमालय समान; ये भी केवल दृष्टान्त ही हैं. भगवानका गाम्भीर्य वा धैर्य इतना तो नहीं है।।९।।

पश्चात् वे स्त्रियां रसका भीतर प्रवेश हो जानेसे देहको भूल कर जो कामलीला करने लगी, उसका 'ता क्लिन्नवस्त्र' श्लोकसे वर्णन करते हैं.

ताः क्लिन्नवस्त्रविवृतोरुकुचप्रदेशाः सिञ्चन्त्य उद्धृतबृहत्कबरप्रसूनाः ।
कान्तं स्म रेचकजिहीरषयोपगुह्य–जातस्मरोत्सवलसद्वदना विरेजुः ।।१०।।

वस्त्र भीग जानेसे जिनके स्तन और उरुप्रदेश स्पष्ट दीख रहे हैं और पिचकारियों से बचनेकेलिए भगवानका आलिंगन करनेसे कामके उत्तेजित हो जाने पर जिनके मुखकमल खिल रहे हैं एवं भारी केशपाशोंसे फूल बिखर रहे हैं. ऐसी वे स्त्रियां भगवानको भिगोती हुई विशेष दीप्त हो रही थी।।१०।।

भीगे हुए वस्त्रोंके कारण जिनके स्पष्ट दीख रहे हैं–स्तन और जांघप्रदेश. ऐसी भी वे स्त्रियां निर्लज्ज हो, पिचकारियोंसे भगवान् पर जलवर्षा कर उनको अपनी विजय होनेकेलिए भिगो रही थी. जैसे वे स्त्रियां पिचकारियोंसे जल सिंचन करती हुई उसमे मग्न हो भगवानके पास आती थी, वैसे ही भगवान् भी पिचकारियोंसे उनको भिगोते हुए उनके पास जब पधारते थे तब उनके केशपाशोंसे पुष्प ले लेते थे. इससे यह भी जानने आता है कि पुष्पोंकी तरह पिचकारियां भी भगवानने ले ली हैं. पुष्प लेनेकेलिए जब भगवानने भुजा उठा कर पुष्प ले लिए और पिचकारियोंको लेनेकेलिए यों ही खड़े रहे. उस समय काममत्त कामिनियोंने कान्त भगवानका आलिंगन किया, जिससे विशेष कामके उद्भूत होनेसे जो उनको परमानन्द प्राप्त हुआ, उससे उनके मुख चमकने लगे और आप यों सुशोभित होने लगी जैसे कि नीलमणिके चारोंओर पद्मराग शोभते हैं।।१०।।

इसी तरह स्त्रियोंने सुख प्राप्तिकेलिए भगवानका अतिक्रम किया, तो भी उनको जैसे सौन्दर्य प्राप्ति हुई, वैसे ही भगवानको भी सुख हुआ; यह 'कृष्णस्तु' श्लोकमें वर्णन करते हैं.

कृष्णस्तु तत्स्तनविषज्जितकुङ्कुमस्रक्-क्रीडाभिषङ्गधुतकुन्तलवृन्दबन्धः ।
सिञ्चन्मुहुर्युवतिभिः प्ररिषिच्यमानो रेमे करेणुभिरिवेभपतिः परीतः ।।११।।

स्त्रियोंके स्तनों पर लिप्त कुमकुम(केसर)से जिसकी माला लिप्त हो गई है, क्रीड़ामें आसक्तिके कारण जिसके केशपाशके बन्धन शिथिल हो गए हैं. ऐसे श्रीकृष्ण उन पर जल सिंचन करते थे, इसी तरह स्त्रियां भी आप पर जल सिंचती थी. जैसे चारोंओर हथिनियोंसे घिरा हुआ हस्ती उनसे जलक्रीड़ा करता है, वैसे आप भी स्त्रियोंसे जलक्रीड़ा करते थे।।११।।

स्त्रियोंके स्तनों पर लिप्त कुमकुमसे जिनकी माला लिप्त हो रही है. ऐसे श्रीकृष्ण एवं क्रीड़ासे आसक्त होनेसे जिनके केशपाश बन्धन खुल गए हैं, यह अनेक प्रकारका बन्ध भगवान् कृष्णने कौतुककेलिए किया है, यों भासता है. जैसे-जैसे उन (स्त्रियों)के स्तन खुलते रहते थे, वैसे-वैसे उन खुले स्तनों पर लिप्त कुमकुमका सम्बन्ध भगवानके साथ हो जाता था और उनके केशपाशके बन्धन ढीले पड़ते जाते थे. इसी प्रकार स्वयं भगवान् तुल्यतासे उन पर जल सींचते थे, वे स्त्रियां तो मर्यादा मुक्त हो भगवान् पर सिंचन करती थी. इस प्रकार भगवान् उनसे जलविहार करते हुए रमण करने लगे.

यह रमण मर्यादारहित है, यों प्रतिपादन करते हुए, गोपियोंके चरित्र कहते हुए जैसा दृष्टान्त दिया था, वैसा ही दृष्टान्त देते हैं कि 'करेणुभिरिवेभपतिः' जैसे हस्ती हस्तिनियोंसे घिरा हुआ उनसे रमण करता है, वैसे ही भगवान् भी इन स्त्रियोंसे घिरे हुए हो कर उनसे रमण करते हैं।।११।।

इस प्रकार समुदाय रमणका वर्णन कर और यह लीला षड्गुणवाली है. यह छः श्लोकोसे बताकर, उस पर आश्रितोंको दान दे कर इस लीलाका 'नटानां' श्लोकसे उपसंहार करते हैं.

नटानां नर्तकीनां च गीतवाद्योपजीविनाम् ।
क्रीडालङ्कारवासांसि कृष्णोऽदात्तस्य च स्त्रियः ।।१२।।

नट, नर्तकी और गीत तथा वाद्यों पर आजीविका करनेवालोंको भगवान् कृष्ण और उनकी स्त्रियोंने क्रीड़ा सम्बन्धी अलंकार और वस्त्र दिए।।१२।।

गीत और तालके अनुसार जो नाचते हैं, वे नट केवल नृत्यसे जो रसका अभिनय करती हैं, वे नर्त्तकियां अथवा 'नट और नर्त्तकियां' पदोंसे नट ही कहे हैं, वे स्त्रियां वा पुरुष हो. 'च' पदसे यह सूचित किया है कि भगवानने नटोंके सम्बन्धियोंको भी पारितोषिक दिए. नटोंके अलावा दूसरे गीत और वाद्य पर आजीविका करनेवाले कहे हैं. क्या दिया? क्रीड़ाके साधन अलंकार और वस्त्र. क्रीड़ाकेलिए ही जो अलंकार हैं, उनकेलिए जो वस्त्र हैं, वे सब कामशास्त्रमें कहे हुए हैं, वे सब दूसरे समय उपयोगकेलिए नहीं रखे, किन्तु बन्दीजनोंको भगवान् और उनकी स्त्रियोंने सब दे दिए।।१२।।

इसी तरह साधारण और असाधारण दोनों प्रकारकी लीलाओंका निरूपण किया. इन लीलाओंका फल लौकिक नहीं है. यह बतानेके लिए इस 'कृष्णस्यैवं' श्लोकमें उन लीलाओंका फल अलौकिक बताते हैं.

कृष्णस्यैवं विहरतो गत्यालापेक्षितस्मितैः।
नर्मकेलिपरिष्वङ्गैः स्त्रीणां किल हृता धियः ।।१३।।

इसी तरह विहार करते हुए श्रीकृष्ण भगवानने भाषण, गति अवलोकन और मन्द-मन्द मुस्कान, ठठ्ठा-ठठोली, हास्य वचन व आलिंगन से स्त्रियोंकी बुद्धियां (अन्तःकरण) हर ली।।१३।।

इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने सामान्य तथा विशेष प्रकारसे विहार करते हुए स्त्रियोंके अन्तःकरण चतुष्टयको चतुर्विधभावोंसे हर लिया.

प्रथम सन्मुख आए, पश्चात् आलाप बादमें वाणीसे बन्ध(प्रतिज्ञा) होने पर कामकी कलाओंसे देखना. भावोंको प्रकाशित करनेवाली मन्द-मन्द मुस्कान, अनन्तर काया आदिके विलास-परिहासके वचन, मानसी क्रीड़ा; पश्चात् बारह प्रकार अथवा आठ प्रकारके आलिंगन, यों सर्व प्रकारोंसे श्रीकृष्णने स्त्रियोंके अन्तःकरणोंको हर लिए. 'किल' पद देनेका भावार्थ है कि पूर्ववत् प्रसिद्धि है. ये सब क्रीड़ाएं प्रपंचकी विस्मृतिमें साधन बनी, न कि प्रपंचमें भावकी साधक हुई।।१३।।

इस विषयमें स्त्रियोंके वचन प्रमाण है, यों बतानेकेलिए 'उचुर्मुकुन्दैक-धियो' श्लोक कहते हैं.

ऊचुर्मुकुन्दैकधियो गिर उन्मत्तवज्जडम्।
चिन्तयन्त्योऽरविन्दाक्षं तानि मे गदतः शृणु ।।१४।।

मुकुन्द भगवानमें ही आश्रित बुद्धिवाली वे स्त्रियां कलमनयनवालेका ही चिंतन करती हुई, उन्मत्त और जड़के समान जो वचन बोली, वे वचन मैं कह रहा हूं; आप सुनिये।।१४।।

प्रपंच और कामको भुला कर मोक्षदाता मुकुन्दमें स्थिर बुद्धिवाली वे स्त्रियां अपने हृदयके भाव वाणी द्वारा प्रकट करने लगीं, तब तो ब्रह्मवेत्ताओंके समान इनके वचन सत्य होंगे? इस शंकाके निवारणकेलिए कहते हैं कि 'उन्मत्तवत्' इनके वचन उन्मत्त(मस्त)की तरह असम्बद्ध(टूटे-फूटे) हैं जैसे उन्मत्त गन्धर्वके आवेशवाला होता है, वैसे ये स्त्रियां भगवानके आवेशवाली थीं. अतः ये स्त्रियां लौकिक स्वस्थ नहीं थीं, उसमें भी जैसे जड़ होता है, वैसे ये हो गई थी कारणकि अचेतन आदिमें चेतन धर्मका आरोप करनेसे वह वाणी जड़ समान थी, केवल प्रपंचका विस्मरण जड़ धर्म है. अतः इस प्रपंच विस्मरण मात्रसे जगतमें निन्दा होती है. इस संशयका निवारण करनेकेलिए कहते हैं कि इन स्त्रियोंको केवल प्रपंच विस्मृति नहीं हुई थी, किन्तु साथमें कमलनयन प्रभुका चिन्तन भी हो रहा था. इससे यह सिद्ध कर बताया कि उनका मनोरथ भी पूर्ण तरह सिद्ध हो गया था.

इस चरित्रसे निरोध सिद्ध होगा, इसलिए वह सर्व मैं कह रहा हूं, जिसको मुझसे सुनो. कदाचित् यह शंका होवे कि वह वाणी प्राकृत थी. इस संशयको मिटानेकेलिए ही कहा है कि वह सर्वथा सुननी चाहिए; क्योंकि वह अप्राकृत है।।१४।।

'कुररि विलपसि' श्लोकसे दश श्लोकोंमें वे वाक्य कहती हैं.

महिष्य ऊचुः

कुररि विलपसि त्वं वीतनिद्रा न शेषे।
स्वपिति जगति रात्र्यामीश्वरो गुप्तबोधः।
वयमिव सखि कच्चिद्गाढनिर्भिन्नचेता।
नलिननयनहासोदारलीलेक्षणेन ।।१५।।

स्त्रियां कहती है कि हे टिटिहरि ! तूं क्यों नहीं सोती है? केवल विलाप कर रही है, जिससे जिस परमेश्वरका ज्ञान कभी भी तिरोहित नहीं होता है, वे तो जगतमें रात्रिके समय सो रहे हैं; तूं विलाप कर उनकी निद्रामें भंग डाल रही है. हे सखी! हमारे समान तुम्हारा चित्त भी कमलनयन भगवानके उदार हास्य और

लीलापूर्वक ईक्षणसे घायल हो गया है क्या ?।।१५।।

कुररी चक्रवाकोऽब्धिश्चन्द्रमा मलयानिलः।
मेघकोकिलकेल्यद्रितन्नद्यो हंस एव च।।का.।।
दशधा भगवत्स्नेहैरुक्ताः स्त्रीभिः स्वभावतः।
मनसैव तिरोधानमुक्त्वैवोक्तं न पूर्ववत्।।का.।।
वाचिकेऽपि तिरोधानं वाक्यैरेव निरूपितम्।
विद्यमानेऽतिसम्भोगसौख्यदेऽपि विशेषतः।।का.।।
तत्सङ्गलालसाः प्रोक्ता दृढासक्तिप्रसिद्धये।
आसक्तिगृहकार्यादिनिद्रादिविनिवृत्तये।।का.।।
स्वधर्मान् स्वप्रियं चापि कल्पयित्वाखिलेषु हि।
बहिस्तत्त्वं निरीक्ष्यैवं प्रलपन्त्यस्तथा जगुः।।का.।।

कारिकार्थः १. टिटिहरि २. चक्रवाक ३. समुद्र ४. चन्द्रमा ५. मलयका पवन ६. मेघ ७. कोयल ८. केलि करनेका पर्वत स्थान ९. पर्वतोंकी नदियां और १०. हंस –इन दसका वर्णन स्त्रियोंने यह दिखलानेकेलिए किया है कि नव सगुण और एक निर्गुण भेदसे भगवानके भीतरके स्नेहरूप साधन दस प्रकारके ही हैं. इन वाक्योंसे यह बताया है कि इस लीलामें भगवान् पहलेकी तरह स्वरूपसे तिरोहित नहीं हुए हैं, किन्तु मनसे तिरोहित हो गए हैं.

वाक्योंसे ही वाचिक तिरोधान भी बता दिया है. प्रत्यक्षमें तो स्वरूपसे संभोगका अति आनन्द प्राप्त हो रहा है तथापि प्रभुके संगमकी लालसाको प्रकट करनेका हेतु अपनी दृढ़ आसक्तिकी प्रसिद्धिका द्योतक है.

अन्यमें आसक्ति अर्थात् भगवानके अतिरिक्त गृहकार्य आदि तथा निद्रा आदिमें जो आसक्ति है, उस आसक्तिकी निवृत्ति करनेकेलिए भगवद्वियोगके कारण जो विलाप आदि अपनेमें जो गुण थे, उनकी और अपने प्रियकी सर्व पदार्थोंमें कल्पना कर और बाहर भी उनका स्वाभाविक विलापादि धर्मपन देखकर, प्रलापवाली हो कर वैसा गान करने लगी.

अपनी अभिलषित लीलाके अनन्तर जब भगवान् शयनलीला करने लगे, तब उन्होंने बाहरसे टिटिहरीका स्वाभाविक विलाप सुना, जिससे राजस–राजस भाववाली महिषियों(रानियों)को शंका हुई कि इस विलापसे भगवानकी निद्राका भंग होगा. महारानियोंका भगवानमें अतिशय स्नेह था, जिससे वे चाहती

थीं कि भगवानकी निद्राका भंग न हो, यों तो यदि भगवान् जगते तो महारानियोंको काम लीलाका सुख प्राप्त होता. किन्तु उस अपने सुखका भी त्याग कर अपने प्रियका सुख ही चाहने लगीं–यह है सच्च स्नेहका स्वरूप; जिससे अपनेको भले सुख न मिले, किन्तु प्रेमी आनन्दमें रहे. इस आशयसे उन्होंने टिटिहरीको इस प्रकार विलाप करनेसे रोकी एवं टिटिहरीको दुःखी देख समझ उसको आश्वासन देनेकेलिए सम्बोधन करती हुई करने लगीं कि हे टिटिहरी! वे महिषियां भगवानके अतिरिक्त सकल जगत् स्त्रीरूप है, यों देखती हैं. इस कारणसे वे समझती थीं कि जैसे हमारा पति भगवान् है, वैसे सर्वके पति एक भगवान् ही हैं; क्योंकि उनके अलावा कोई दूसरा पुरुष ही नहीं है. अतः जो कोई भी जगतमें दुःख पाता है, जिसका कारण भगवानका विरह ही है. इसके अलावा अन्य दुःख तो भगवान् ही दूर करते हैं ही. अतः यह भी स्त्री है और भगवानके विरहसे व्याकुल है. भगवानने इसको भी सम्भोगकेलिए ला कर अपने कटाक्षरूप बाणोंसे घायल किया है. इसलिए यह विलाप कर रही है, यों निश्चय कर उसको कहने लगी कि हे टिटिहरी! हम लोगोंने जाना कि तू विलाप कर रही है, यह अनुचित है. तू विलाप न कर. इसलिए(तुम्हें रोकनेकेलिए) हम आई हैं, तू क्यों विलाप करती है? यह बहुत दुःखकी बात है कि यह विलाप मिटाया नहीं जा सकता है, क्योंकि इस विलापका कारण दुःख है, वह तो वेदनाकी तरह उत्पन्न होता ही रहता है. अतः वेदनाकी तरह इसको भी हम मिटा नहीं सकती हैं, यह भाव है. जैसे हमको नींद नहीं आती है, हम जग रही है, वैसे तू भी नींद न आनेसे सोती नहीं है. नींद न आने पर भी कितनी ही स्त्रियां शय्यासे नीचे पड़ी रहती हैं, तू तो यों भी नहीं करती है.

यदा देहेऽतिचिन्ता स्यात् धातुवैषम्यमेव वा।
भयादिना विशेषेण तदा निद्रा न जायते।।का.।।

कारिकार्थ: जब अतिशय चिंता होती है, तो देहमें जो धातु(कफ, पित्त, वायु) है इनमें वैषम्य(कमी–वेशी) होती है और विशेष कर भय आदिसे नींद नहीं आती है.

भगवान् दुराराध्य हैं, वे कैसे वशमें आएंगे? यह महती चिन्ता है, जिससे निद्रा नहीं आती है.

यदाङ्गेषु समस्तेषु तापोऽनिवृत्तिरेव वा।
तदैकत्र जनः स्थातुं न शक्नोति कथञ्चन।।का.।।

कारिकार्थ: जब समस्त अंगोमें पीड़ा हो चित्तमें क्षोभ हो अर्थात् शांति न हो, तब मनुष्य किसी भी तरह एक स्थान पर स्थिति करनेमें असमर्थ होता है.

व्याख्यार्थ: दुःख विरहसे होता है, ये दोनों(नींद और शयनका अभाव) अपने धर्म हैं. अतः यह मेरा दुःख भगवानको कहना. यदि टिटिहरी यों कहे, इसलिए पहले ही कह देती हैं कि 'स्वपिति' भगवान् पोढे हैं. यदि कहो कि भगवान् परब्रह्मको तो नींद नहीं होती है, वे कैसे सो रहे हैं? इस पर कहती हैं कि यह शयन(सोना) सोनेके समयमें आवश्यक है, इसलिए हम उसका निषेध नहीं कर सकती हैं. अतः 'रात्र्यां' पद दिया है अर्थात् रात्रिको अवश्य सोना चाहिए तथा 'जगति' पद दे कर भी यह बताया है कि जगतमें सर्वत्र भगवान् ही शयन करते हैं, भगवानके अलावा दूसरा कोई निद्राके सुखका भोक्त नहीं है अथवा भगवान् जो शयन करते हैं, वह समस्त प्राणियोंको सुख देनेकेलिए जगतमें जगतकेलिए निद्राका विस्तार करते हैं.

लोगोंके हितार्थ स्वीकृत उस निद्रासे आपको भी मोह होगा? इसके उत्तरमें कहती हैं कि नहीं; क्योंकि आपका ज्ञान कभी भी तिरोहित नहीं होता है, निद्रामें भी आपका ज्ञान प्रबुद्ध ही रहता है, तो मेरा दुःख आप उनको क्यों नहीं बता देती हो? जिसके उत्तरमें कहती हैं कि 'ईश्वरः' वे ईश्वर है. अतः ईश्वर लीलासे भी जब सोए रहते हैं, उस समय भी उनको हम कह नहीं सकती हैं. अतः तू हमारे साथ प्रीतमकी प्रेम कहानियां कह कर अपने दुःखको दूर कर दे इसलिए कहा है कि 'वयमिव' जैसे हम आपसमें प्रीतमकी लीलाओंको कह कर दुःख मिटाती हैं, वैसे तू भी कर. 'हे सखि' सम्बोधनसे यह सूचित किया है कि जैसा दुःख हमको है, वैसा तुम्हें भी, इसलिए हम दोनों समान व्यसनवाली होनेसे सखियां हैं. 'कच्चित्' पदसे यह बताया है कि जो प्रश्न करना है, वह कोमलतासे किया है. 'अत्यन्त घायल चित्तवाली' इस पदसे दुःखके साथ महान् हेतुकी कल्पना की है; क्योंकि पीड़ा कामके कारण ही होती है. कामका आयुध पुष्प हैं, भगवानके नेत्र भी पुष्परूप कहे जाते हैं, जो पुष्प खिला हुआ नहीं है, वह क्या कर सकेगा? इसके उत्तरमें कहा है कि जिनके कमल समान नेत्रोंमें हास्य भरा हुआ है, हास्य कहनेसे उनका विकास सिद्ध किया है. जब तक हृदय बींधा नहीं जाता, तब तक पीड़ा नहीं होती हैं. इस पर कहा कि 'ईक्षणेन' दृष्टिसे बींध डाला है. आपका ईक्षण(दृष्टि) तो तीखे बाणके समान है, यों होते हुए भी दयालु हैं, इसलिए दया

करके मारेंगे नहीं? इसका उत्तर देती हैं कि 'उदार' आपके ईक्षणरूप धनुषके आरे ऊँचे हैं अथवा जिनकी स्त्रियां बलवती तथा कटाक्षोंसे पीड़ा करनेवाली हैं; ऐसे आप उदार हैं. इससे स्वयं पीड़ित होते हुए दूसरोंको भी पीड़ा देंगे और विशेषमें कहती हैं कि आपका देखना लीलासे युक्त हैं. जो क्रीड़ामें आसक्त है. वह किसीके भी सुखका विचार नहीं करता है, इससे जैसे अत्यन्त घायल हो, वैसा ही घायल किया है.

ज्ञानशक्तिः क्रियाशक्तिर्भक्तियोगस्तथैव च.
मायावैभवकालौ च सतां हितकरौ तथा।।का.।।
पञ्चैते हरिसम्बद्धा यस्यान्तर्हृदये सदा.
विराजन्ते स्वभक्तषु भक्तोऽनिवृत उच्यते।।का.।।

कारिकार्थः ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति वैसे ही भक्तियोग, वैसे ही सत्पुरुषोंके हितेच्छु माया तथा वैभवके काल, ये पांच हरिके सम्बन्धी हो कर जिसके हृदयमें सदा विराजते हैं, वह भक्त भक्तोंमें निवृत्त नहीं कहा जाता है.

इस प्रकार उसका दुःख अनुवादरूपसे अंगीकार किया है।।१५।।

फिर दूसरी राजस-सात्त्विकियां जैसे टिटिहरिको पहले उन्होंने विलाप करनेसे रोका था, वैसे ये भी चक्रवाकको रोकनेकेलिए प्रवृत्त हुई हैं, जिसका वर्णन 'नेत्रेऽनिमीलयसि' श्लोकमें कहते हैं.

नेत्रेऽनिमीलयसि नक्तमदृष्टबन्धुस्त्वं रोरवीषि करुणं बत चक्रवाकि ।
दास्यं गता वयमिवाच्युतपादजुष्टां किं वा स्रजं स्पृहयसे कबरेण वोढुम् ।।१६।।

हे चकवी! क्या तूं अपने प्रियका रात्रिमें दर्शन न होनेसे नेत्र खोल रही है? और दुःख है कि तूं इस प्रकार क्रन्दन कर रही है, जिसके सुननेसे दिलमें दया उत्पन्न हो रही है अथवा तूं भी हमारे समान दासी होनेसे भगवानके चरणोंसे स्पृष्ट मालाको केशपाशमें रखना चाहती है क्या?।।१६।।

उन महिषियोंने मान लिया कि हमारे विशेष अवयवोंके पास रमणकेलिए दो चकवे रखे हुए हैं, उनको देखनेकेलिए कोई चकवी आई है. पश्चात् उसको अपने समीप आई हुई जानकर, वह भी रो रही है, यों विचार कर उसके दुःखको भी दूर करनेकेलिए, उसके दुःखका वर्णन करती हैं, नींद न आती हो तो भी कोई नेत्र बन्द कर ही बैठता है तू तो वह भी नहीं करती है, अर्थात् आंखोंको मूदती भी नहीं यह क्यों? 'नक्तं' रात्रिका समय तो नींदका ही है, नींद न आवे तो भी नेत्र तो

मूंद लेने ही चाहिए प्राणी जब स्वस्थ अर्थात् निश्चिन्त होता है तब नींद ले सकता है अथवा आंखें मूंद आराम करता है हम समझती हैं कि तू निश्चिन्त नहीं है क्योंकि, भर्ताको ढूंढ रही है मेरा भर्ता कहां है, अतः नेत्र खोल कर बैठी है, इन कारणसे ही तू जोरसे शब्द कर रही है अर्थात् रो रही है, वह तेरा रोदन भी ऐसा है जिसको सुन कर दया आ जाती है, अतः खेद है. उस समय वहां दूसरा चकवा भी आ गया, जिससे सिद्ध होने लगा कि इसका पति तो यहां ही है, फिर वह रोती क्यों है? जिसके उत्तरमें कहती है कि यह साधारण पति विहीना स्त्री नहीं है, किन्तु भगवद्भक्ता है अतः भगवानकी दासी है. जैसे हम दासियां ही सारे दिनकी सेवा कर फिर फल प्राप्तिकी इच्छा करती है वैसे ही यह भी सेवाके अवसानमें फल इच्छा कर रही हैं, वह फल भगवानकी प्रसादरूप वस्तुकी प्राप्ति, वह प्रसादरूप वस्तु है, आपके चरणमें समर्पित की हुई माला यदि वह भगवान् कृपा कर देवे तो हम समझेंगी भगवानने हमारी सेवा स्वीकार की है यों समझ वह माला अपने केशपाशमें पधरा कर कृतार्थता सम्पादन करेंगी, इसको तो वह नहीं मिली है अतः उसकी प्राप्तिकेलिए खेद कर रही है, इसलिए कहती है कि क्या तू भी चरण स्पष्ट माला प्राप्त कर केशपाशमें पधराना चाहती है? केशपाश आदि बनाने हम स्त्रियोंके धर्म हैं।।१६।।

'भो भो सदा' श्लोकसे राजस–तामसी महिषियां समुद्रकी ध्वनि सुन कर उसको भी पहिलेकी तरह समझाती है.

भो भो सदा निष्टनसे उदन्वन्नलब्धनिद्रोऽधिगतप्रजागरः ।
किं वा मुकुन्दापहृतात्मलाञ्छनः प्राप्तां दशां त्वं च गतो दुरत्ययाम् ।।१७।।

अरेरे समुद्र! तुम्हें भी नींद नहीं आती है, जिससे तूं जग रहा है और सदा चिल्लाया करता है अथवा क्या तुमने भी हमारे समान दुरत्यय दशाको प्राप्त किया है? जैसे हमारे चिह्न भगवानने हर लिए हैं, वैसे तुम्हारे भी चिह्न मुकुन्दने हर लिए हैं क्या?।।१७।।

'भो भो' दो बार कहनेका श्राशय है कि जो हम कहती हैं वह समुद्र सुने, तुम जो सदा जोरसे गर्जते रहते हो जिससे जाना जाता है कि, तुम भी रात्रिमें सोते नहीं हो, न सोनेका कारण है कि तू 'उदन्वत्' है, अर्थात् जलवाला है, जो जलवाला (आद्र) होता है वह शीत(ठंड)से पीड़ित होता है, इस कारणसे ही उसको कैसे भी नींद तो नहीं आती बल्कि, जागरण ही प्राप्त होता है, जहां जल

होता है वहां लक्ष्मीका रमण सुन्दर नहीं हो सकता है, इसलिए वहां(उसके भीतर) इन्द्र और इन्द्राणी भोग नहीं करते हैं, जिससे निद्राके कारणका[२] अभाव होनेसे जागना ही प्राप्त होता है, नींद आती ही नहीं.

नींद भले न आवे किन्तु आक्रोश(जोरसे चिल्लाने)की क्या आश्यकता है? इस पर कहते हैं कि 'किं वा मुकुन्दा इति' पहले जैसे हमारे हृदयमें भगवान् शयन (लीला स्थिति) करते थे, वैसे समुद्रमें भी शेषरूप पलंग पर सो रहे थे(लीला कर रहे थे) वहां(शेषशय्या)से अब यहां आ कर विराजे हैं, इसी प्रकार हमारे हृदयसे भी तिरोहित हो गए हैं, इस कारणसे, सर्वस्व चले जाने पर आक्रोश करना उचित ही है, जैसे पटराणियोंके चिन्ह[३] मोक्षदाता भगवानने हर लिए हैं वैसे समुद्रके भी ले लिए हैं जिससे संसार न रहा और भगवानके तिरोधानसे मोक्ष भी न हुआ, दोनोंने भ्रष्ट हो कर जैसे हमने दुरत्यय दशाको पाया है वैसा तुमने भी पाया है.

इस प्रकार दुःखका वर्णनकर, कहने लगी कि 'पांचोंके साथ रहनेसे दुःख दूर हो जाता है' इस नियमानुसार हमने मिल कर रहनेसे उस दुःखको दूर किया है तू भी यों कर इस दुःखको मिटानेका दूसरा उपाय बताती है कि यह दुःख दुरत्यय होनेसे इसके मिटानेका कोई अन्य उपाय नहीं है अतः इस दुःख पर ध्यान ही न देना चाहिए, यह ही एक उपाय है।।१७।।

१.'स्तन'का अर्थ सदा शब्द करते रहना है, 'नि' पूर्वमें आनेसे जोरसे शब्द करना अर्थात् गर्जना करता हुआ.

२.(अ)दक्षिणनेत्रमें इन्द्र, वामनेत्रमें इन्द्राणी आ कर नींदके समयमें भोग करते हैं, इसलिए ही नींद आती है, (आ)नींदका कारण है इन्द्र और इन्द्राणीका भोग, उसके न होनेसे नींद नहीं आती है 'लेख'

३.देह, इन्द्रियां, प्राण और अन्तःकरण.

तामस-तामसी महिषियां तो, कालको शाप देती थी, कि तूने हमारे सुखमें विघ्न डाला है आदि मनमें कहती थी कि रात्रि पूरी हो तो हमारा दुःख निवृत्त हो जावे यों निश्चय कर चन्द्रको देख रही थी कि कब चन्द्र अस्त होता है, तारोंकी गतिका ज्ञान होता नहीं, शेष चन्द्रमा धीरे-धीरे ऐसे चलता है मानो चलता ही नहीं है ऐसी शंका उत्पन्न हो जाती है, इस प्रकार मनमें निश्चय कर अतिकामके कारण अन्धसम हो गई सबको अन्धकारसे व्याप्त देखने लगी,

जिसका वर्णन 'त्वं यक्ष्मणा' श्लोकमें करती है.

त्वं यक्ष्मणा बलवताऽसि गृहीत इन्दो क्षीणस्तमो न निजदीधितिभिः क्षिणोषि ।
कच्चिन्मुकुन्दगदितानि यथा वयं त्वं विस्मृत्य भोः स्थगितगीरुपलक्ष्यसे नः।।१८।

हे चन्द्र! क्या तूं प्रबल क्षयरोगसे ग्रस्त होनेसे क्षीण हो गया है? जिससे अपनी किरणोंसे अन्धकारको नहीं मिटा सकता है अथवा हम तो यों समझती हैं कि भगवानकी रहस्यमय वाणीको भूल जानेसे तुम्हारी वाणी भी हमारे समान बन्द हो गई है।।१८।।

'यक्ष्मा' पदका अर्थ है 'क्षयरोग' वह भी दक्षके शापसे तुमको बलवान हुआ हैं, उस रोगसे ग्रसित होनेसे तू चल नहीं सकता है, यह तो उचित ही है किन्तु यह तो अत्यन्त आश्चर्य है कि अपनी किरणोंसे अन्धकार नाश नहीं करती है, इस विषयमें हम लोगोंका अनुभव ही प्रमाण है, इसी तरह चन्द्रमाके दोषका वर्णन कर कहने लगी कि बहुत कर इसका यह दोष स्वाभाविक नहीं है, यों निश्चय कर चन्द्र शीघ्र नहीं चलता है और अन्धकारको नाश नहीं करता है, इन दोनोंके कारणोंकी कल्पना करती है, मुकुन्द भगवानने मोक्षार्थ कितने उपदेश वचन कहे, उनको दुर्लभ समझ भुला दिया, अनन्तर उस भूल जानेकी तुमको बहुत चिन्ता हुई जिससे तेरी वाणी बन्द हो गई है. मुखसे वाक्य भी नहीं निकलता है, 'गो' शब्दका अर्थ वाणी और किरण आदि होता है अतः 'गो' शब्दसे चन्द्रमाका वाक्य 'गो' होनेसे किरणरूप है, और इन्द्रियरूप होनेसे चरणरूप है, इससे तुम वाणीके रुक जानेसे बोल नहीं सकते हो, चरणरूप होनेसे वह भी रुके हुए हैं जिससे जल्दी चल नहीं सकते हो एवं अन्धकार मिटा नहीं सकते हो, भो! सम्बोधन प्रश्नरूपमें है, हम जो कहती हैं वह यों है वा नहीं? तुम कैसे जानती हो? इस पर कहती हैं कि इस प्रकार हमको तू भास रहा है।।१८।।

तामस-राजसी महिषियों कामसे पीड़ित होनेसे 'किं वाचरितमस्माभिः' श्लोकसे मलयके वायुको कोसती है.

किं वाचरितमस्माभिर्मलयानिल तेऽप्रियम् ।
गोविन्दापाङ्गनिर्भिन्ने हृदीरयसि नः स्मरम् ।।१९।।

हे मलयाचलके वायु! हमने तुम्हारा क्या बुरा किया है? जिससे तूं भगवानके कटाक्षसे भिन्न हुए हमारे हृदयमें कामकी प्रेरणा करता है।।१९।।

हे मलयके पवन! हमने तुम्हारा कौनसा अप्रिय किया है? अर्थात् क्या

बिगाड़ा है? मलयानिलका अप्रिय है उसको उष्णता देना, वह तो हमने किया नहीं, बल्कि हम जब भगवानके साथ थीं तब अपने हृदयके चन्दनादि शीतल पदार्थोंसे तुमको विशेष शीतल बनाया, इस प्रकार उपकार करनेवालियों पर तू अपकार(बुरा) केसे करता है? यदि कहो कि हमने कौनसा अपकार किया? इस पर कहती है कि गोविन्दके अपांग(कटाक्षों)के स्मरण होनेसे घायल हृदयमें कामको प्रेरते हो, जैसे कोई वृक्षके कोटरमें अग्नि डाले तो वह वृक्ष आर्द्र हो तो भी जल जाता है, वैसी हालत तुम हमारी कर रहे हो, 'गोविन्द' नाम लेनेसे गोकुलके भगवानकी लीलाका स्मरण हो आया, जिससे जाना कि भगवान् हमारे मनसे तिरोहित हो कर गोकुल पधार गए हैं इस भावनाके जागृत होनेसे महान् दुःख हुआ, यह सूचित किया, यदि इस समय हम पूर्ववत् शीतल न हो कर तप्त हुई आई हैं जिससे तुमको रोष हैं तो भी जो मलयवायु सर्प आदिसे ग्रसित हो कर आ रही है उसका अपकार कौन कर सकता है? यह सूचित किया है।।१९।।

तामस-सात्त्विकी(महाराणियों)को तो मेघको भगवानके समान वर्णवाला देखा और वह चन्द्रमाको ढांक रहा है जिससे क्षण भर मानो शीतलताके आनन्दको प्राप्त हुई अतः उसकी स्तुति करने लगी, पश्चात् उसमें अपने धर्मोंका आरोपण कर उसमें भी दुःखी होनेकी कल्पनाकर, उसके दुःखको साम्यभावसे मिटाती है, जिसका वर्णन 'मेघ श्रीमन्' श्लोकमें करती है.

मेघ श्रीमंस्त्वमसि दयितो यादवेन्द्रस्य नूनं
श्रीवत्साङ्कं वयमिव भवान् ध्यायति प्रेमबद्धः।
अत्युत्कण्ठः शबलहृदयोऽस्मद्विधो बाष्पधाराः
स्मृत्वा स्मृत्वा विसृजसि मुहुर्दुःखदस्तत्प्रसङ्गः ।।२०।।

हे श्रीमन् मेघ! तूं अवश्य भगवान् यादवेन्द्रका प्यारा है. प्रेमके बन्धनसे बद्ध तुम हमारी तरह श्रीवत्सके चिह्नवाले प्रीतमका ध्यान करते रहते हो; क्योंकि तुम्हारे हृदयमें उनकेलिए अतिशय उत्कण्ठा व्याप रही है, जिससे तुम बार-बार उनका स्मरण कर हमारे समान आंसूओंकी धारा बहा रहे हो, इससे तुम्हारा हृदय भी लौकिक कर्म पूर्ण न करनेसे निन्दाका पात्र बन गया है, उनसे मित्रता करनी भूल है; क्योंकि दुःख देनेवाली है।।२०।।

मेघको श्रीमान् विशेषण इसलिए दिया गया है कि मेघ विद्युत आदिसे शोभावाला है ऐसे उस मेघका ये आदर करती हैं, तू भगवानका प्रीतम है, क्योंकि

तु वर्णमें भगवानके श्यामवर्ण सम वर्णवाला है, वस्त्र भी उनके सदृश पीले हैं, तथा प्राणियोंको जीवन भी देते हो, और उनके तापको भी मिटानेवाले हो, इन कार्योंके कारण तू भगवानको प्रिय है तब तो मैं सुखी हूं, जिससे तुम लोगोंको भी सुखी करूंगा, यदि मेघ यह कह दे तो इस पर कहती हैं कि तू भी सुखी नहीं है क्योंकि तू भी हमारी तरह श्रीवत्सके चिन्हवालेका मात्र ध्यान कर रहे हो तुझे भी उनके दर्शन नहीं होते हैं, कारणकि इस वक्त भगवान् सो रहे हैं मित्र ही मित्रके भावोंको जानता है, भगवानके दर्शन होने पर वा मिलने पर ही आनन्द होता है वह भी सुखसे सो रहे हैं, इससे मित्र(भगवान्)की सुखावस्था देख कर मित्र(मेघ) सुखी होता है, कभी भी दुःख नहीं करता है, इस प्रकारकी शंका पर कहती हैं कि भगवान् श्रीवत्सके चिन्हवाले है, ब्राह्मण उसका अतिक्रमण करते हैं, इसकी चिन्तासे दुःख होता है यों अर्थ है, जैसे लक्ष्मी श्रीवत्समें रहती है किन्तु अब वह लक्ष्मी भगवानके पास है, जिससे भगवान् लक्ष्मीके साथ होनेसे हमको ध्यानमें भी नहीं लाते हैं, इससे हमको दुःख है, वैसे ब्राह्मण लक्ष्मीके अतिक्रमसे भगवानका अपमान करते हैं. जिसकी चिन्तासे मेघको दुःख होता है, एक ही श्रीवत्स, दोनोंके दुःखमें कारण है, इसलिए कहा है कि 'वयमिव' हमारी तरह, यदि कहो कि दुःख भूल जाओ तो इस पर कहा है कि 'प्रेमबद्धः' जिसको अन्तःकरणमें प्रेमरज्जुसे बांध रखा है उसको भुला नहीं सकते, मैं तो सुखी हूं, मुझमें आपने कौनसे दुःखितके धर्म देखे हैं? इस प्रकारकी आकांक्षा होने पर कहता है कि पांच प्रकारके क्लेश तुझमें हम देख रही हैं, १.भगवानके दर्शनकी उत्कण्ठा, यह पहला मानस क्लेश है, २.तेरा हृदय, बहुत जोरसे नाद(शोर) करनेके कारण लोकमें निन्दाका पात्र हुआ है, यह दूसरा क्लेश है, अतः प्राप्त हुई गजनाको भी रोक दे, ३.इससे तु हमारे समान धूसर, गतिरहित और निस्तेज हो गया है, महिषियां आकाशमें स्थित मेघको देख कर ये वचन कह रही हैं, ४.इन सब दुःखोंके नियामक दुःखको कहती है कि तू रुक-रुक कर आसुओंकी वर्षा करता है, ५.बहुत दुःख होता है, तू बार-बार प्रियका स्मरण करता है, कारणकि बार-बार स्मरण करनेसे दुःख होनेसे तुम इस प्रकार रुक-रुक कर आंसू बहाते हो.

यदि मेघ कहे कि हमने कौनसा अपराध किया है? जो हमको इतना दुःख देते हैं? जिसका उत्तर देती है कि 'दुःखदस्तत्प्रसङ्गः' उनका प्रसंग मात्र ही जब दुःखका हेतु है तो विशेष संग तो दुःखदायी होगा ही यदि यों न होता तो हम

महिषियोंने कौनसा अपराध किया है? जगतमें कोई भी ऐसा नहीं दीखता है जिसने भगवानसे प्रेम कर क्षणमात्र भी सुख पाया हो, यह दोष तो भगवानसे सन्बन्ध जोड़नेके बाद जाननेमें आता है, जिसने इसका अनुभव नहीं किया है उसकेलिए यह दोष बाधक नहीं, अतः जो अनुभवी नहीं है वे भगवानसे प्रेम करना चाहते हैं।।२०।।

'प्रियराव पदानि' श्लोकसे सात्त्विक-सात्त्विकी महिषियां निरूपण करती है.

प्रियरावपदानि भाषसे मृतसञ्जीविकयानया गिरा ।
करवाणि किमद्य ते प्रियं वद मे वल्गितकण्ठ कोकिल ।।२१।।

हे वल्गित कण्ठवाली कोयल! तुम्हारा स्वर हमारे प्यारेके समान है, जिससे तूं मरनेवालोंको जीवनदान देनेवाली वाणीसे प्यारेके पद बोल रही है. अतः हम तुम्हारा क्या प्रिय करे? वह बता दे।।२१।।

महिषियोंने कोयलका शब्द सुन कर यों जान लिया कि भगवान् हमको बुला रहे हैं, जिससे एकक्षण परमानन्दका अनुभव किया, अनन्तर जान लिया कि ऐसा यह सुख हमको कोयलके वाक्यसे हुआ है; इसलिए उसकी स्तुति करती हैं.

हे कोयल! तेरा शब्द प्यारेके शब्द जैसा है क्योंकि इस शब्दमें भगवानका सम्बन्ध है, इसलिए तेरे साथ बातचीत करनेमें किसी प्रकारका दूषण नहीं है.

आपने यह कैसे जानाकि, वह शब्द भगवानका नहीं है कोयलका है जिसके उत्तरमें कहती है कि 'पदानि भाषसे' कोयलका इसलिए जानाकि उन पदोंमें कोई अर्थ नहीं था, इसलिए वह वाक्य नहीं, किन्तु केवल भगवानके कहे हुए पदोंका स्मरण कराती है, इसलिए सदृशताके कारण इनमें पदत्व है, यदि कहो कि जब यों है तो ऐसी वाणीका उपयोग कहां होगा? इन पर कहती हैं कि इसका उपयोग हमारे जीवनमें हुआ है, यदि एक क्षण भी यह पद न सुनती तो मर ही जाती, कोयलकी यह वाणी मृतकोंको जिलानेवाली है. इस ऐसी वाणीके कारण ही तू पहचाननेमें आई है, अब ऐसी आपका हम क्या और कैसे स्वागत करें? यदि यह स्वागत उपकार वा बदला समझा जावे तो कोयलकी वाणी प्रत्युपकाररूप मानी जाएगी, इसलिए वह तृतीया विभक्तिमें कही गई है, वहां एक कहती है कि 'मे वद' अर्थात् मुझे एकान्तमें बताओ कि भात मिला हुआ दूध दूंगी, कहनेका यही भाव है, किन्तु तू ऐसा शब्द फिर-फिर कहती रहना, इस

अभिप्रायसे 'वल्गित कण्ठ' विशेषण दिया है तुम्हारा कण्ठ सुन्दर है, शब्द उच्चारण करनेका यत्न(कोशिश) करती हो किन्तु बोलती नहीं, इसलिए कथनका बोध करानेकेलिए यह सम्बोधन दिया है, तू तो बोलनेमें मुख्य है अतः कोकिल! यह दूसरा सम्बोधन दिया है।।२१।।

सात्त्विक–राजसी 'न चलसि' श्लोक कहने लगी.

न चलसि न वदस्युदारबुद्धेक्षितिधर चिन्तयसे महान्तमर्थम् ।
अपि बत वसुदेवनन्दनाङ्घ्रिं वयमिव कामयसे स्तनैर्विधर्तुम् ।।२२।।

हे उदार बुद्धि पर्वत! तूं न तो हिलता है और न कुछ बोलता है, जिससे प्रतीत होता है कि तुम किसी महान् विषयका चिंतन कर रहे हो? हमारी तरह तुम भी भगवानके चरण अपने स्तनों पर रखना चाहते हो क्या?।।२२।।

यह पर्वत भी भगवानके चरणारविन्दको धारण करता है जिससे जाना जाता है कि भगवद्भक्त है यों निर्णय किया जाता है, ऐसा(भगवद्भक्त) हो कर भी भगवन्नामका उच्चारण नहीं करता है, जिसका कारण पूछती है और भ्रान्तपनको मिटाती ही हैं, हे उदार बुद्धिवाले पर्वत इस विशेषणसे यह सूचित करती है कि उदारबुद्धि होनसे उसकी बुद्धि इस तरह विचार करती है कि नामोच्चारणसे क्या लाभ? केवल आश्रय लेनेसे ही जीव कृतार्थ हो जावेगा, इसलिए ऐसा उपाय करना चाहिए जिससे सकल विश्व कृतार्थ हो जावे, अतः सब पुरुषार्थी बने ऐसी बुद्धि उदारबुद्धि कही जाती है, अतएव तू महान् विषयका चिन्तन कर रहा है इस कारणसे तेरा मन और काया दोनों स्थिर हैं, जिससे तू न हिलता है और न बोलता है इसकी इस प्रकारकी सुबुद्धिमें जो उपपत्ति है वह कहती है 'क्षितिधर' जो तू भूमि पर स्थित हो कर उसको धारण कर रहा है इसलिए तू असीम सुबुद्धिवाला है.

ऐसा कौनसा महान् विषय होगा? उसका विचार कर स्वयं ही उस विषयको कहती है कि, वसुदेवनन्दनका ही ऐसा चरण है जिसका चिन्तन यदि एक भी करे तो वह एक, समग्र विश्वको मुक्त करानेमें समर्थ हो सकता है, अतः भगवच्चरणका चिन्तन करना ही तुनको अभिलषित है, यदि कहो कि इसको आप कैसे जान सकी हो, साधारण मनुष्य तो इस अर्थको नहीं जान सकता है, इसके उत्तरमें कहती है कि 'वयमिव कामयसे' हमारी भी यही कामना है कि अपने स्तनों पर भगवानके चरणोंकी स्थापना करें, यह हमारा मनोरथ तो भगवानके शयन

समय पाद संवाहन आदिसे सिद्ध होगा, तेरा तो तब होगा जब तेरे ऊपर भगवान् भ्रमण करेंगे, पर्वतके प्रत्यन्त भाग ही स्तन है, विशेषसे धारण बन्ध आदिमें होता है, भगवानके चरण स्थापन होनेसे उसके प्रस्तर आदिमें सात्त्विकभावके उद्रेकसे कोमलता आ जानेसे चरणचिन्ह लग जाते हैं जैसे गयामें है–इतनी विशेषता है।।२२।।

अब 'शुष्यद्ध्रदाः' श्लोकमें सात्त्विक–तामसी अपने विचार प्रकट कर रही हैं.

शुष्यद्ध्रदाः करशिता बत सिन्धुपत्न्यः सम्प्रत्यपेतकमलश्रिय इष्टभर्तुः ।
यद्वद्वयं यधुपतेः प्रणयावलोकमप्राप्य मुष्टहृदयाः पुरुकर्शिताः स्म ।।२३।।

हे समुद्रपत्नियों नदियों! जैसे हम भगवानके कृपा कटाक्षको न पा कर हृदय चुराये जानेसे अति दुर्बल हो गई हैं, वैसे तुम भी अभी मेघ द्वारा समुद्रका जल न पा कर दुर्बल, शुष्क ह्रद और कमलोंकी शोभासे रहित हो गई हो क्या?।।२३।।

क्रीड़ा पर्वतोंसे उत्पन्न नदियां अब अन्तःपुरमें स्थित हैं, वे पहले वर्षाके दिनोंमें अगाध जलवाली थीं, अब ग्रीष्मऋतुमें धीरे–धीरे क्षीण होने पर शुष्क ह्रदा हो गई हैं, यह निरूपण कर अपनी अतिशय कृशता बताई हैं, 'बन' शब्द खेद प्रकट करनेकेलिए दिया है, यदि यों होता रहा तो कुछ समयके अनन्तर शरीर भी नष्ट हो जायगा, कौनसी उपपत्तिसे नदियोंका ग्रहण किया जाता है, उनमें तो कोई भी भगवदीयधर्म नहीं है, जिसकी सिद्धिकेलिए कहती हैं कि 'सिन्धुपत्न्यः' ये भी जलके भण्डार महान् समुद्रकी पत्नियां हैं अतः जैसे ये बहुत ही क्षीण हो गई हैं, वैसे हम कोटि ब्रह्माण्डके अधिपति आनन्दस्वरूपकी पत्नियां भी परम खेदको प्राप्त हुई हैं. यह निरूपण करनेकेलिए उनकी कथा कही है. शरीरसे क्लेश होने पर भी यदि चिन्ता न होवे तो भी अन्तमें जा कर मुखकी विवणता न होवे, वह भी नहीं है, यों जतानेकेलिए कहती हैं कि 'संप्रत्यपेतकमलश्रिय' अब कमलोंकी शोभा भी नहीं रही है, इस प्रकार अन्तःकरणमें क्लेश और शरीरमें क्लेश कहांसे उत्पन्न होता है? इस आकांक्षाके होने पर स्वयं ही हेतुकी कल्पना करती है, इष्टभर्ता यदुपतिके प्रणय अवलोकनको न पा कर यह दशा हुई है, इष्टकी अप्राप्तिसे ये मनमें क्लेश हुआ है, और आनन्दको बढ़ानेवाली दृष्टिके अभावसे कृशत्व हुआ है. यद्यपि नदियोंका पति समुद्र है, किन्तु वह इष्ट नहीं है, भगवान्

तो सबके पति होनेसे इष्टभर्ता है, यहां 'भर्ता' पदका आशय यह है कि वह पूर्णरीतिसे पालन करनेवाले हैं, दृष्टान्तमें व्यावृतिकी प्रसिद्धि नहीं है, जिस तरह हम प्रियभर्ताका अब ही प्रणयका अवलोकन नहीं है इसलिए क्षणमात्र ही कृश हुई हैं, सजातीयका भर्ता सजातीय होता है, यदि महान् होवे तो वहां(असजातीयमें) भी स्नेह करे अर्थात् उसका भी पालन करे, यह जतानेकेलिए कहती हैं कि 'यदुपतेः' देखना तो बाहरका आनन्द है और स्नेह भीतरका आनन्द है, दोनोंको भी न पा कर भीतर तथा बाहर अत्यंत कृश हुई हैं, जब यों उनसे कृश हुई हो तो अन्यसे क्यों न पुष्ट होती हो? जैसे मिष्टान्न न मिले तो जिस किसीसे भी लोक अपनेको पुष्ट कर ही लेते हैं, इसका उत्तर देती हैं कि जिस हृदयसे दूसरेको ग्रहण कर पुष्ट होवें उस हृदयको ही पहले उन्होंने(भगवानने) हर लिया है, अब दूसरेको किस साधनसे ग्रहण करें? अतः दूसरेसे पुष्ट हो नहीं सकती हैं, यों तात्पर्य है।।२३।।

इस प्रकार बाहर विचार करती हुई कितनी ही गुणातीत दूर चली गई पश्चात् अन्तःपुरमें ही नदी आदिके किनारे पर हंसको देख कहने लगी 'हंस स्वागतम्'.

हंस स्वागतमास्यतां पिब पयो ब्रूह्यङ्ग शौरेः कथां
दूतं त्वां नु विदाम कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त उक्तं पुरा।
किं वा नश्चलसौहृदः स्मरति तं कस्माद्भजामो वयं
क्षौद्रालापय कामदं श्रियमृते सैवैकनिष्ठा स्त्रियः ।।२४।।

अचानक आए हुए हंसको देख कर उसमें दूतत्वकी कल्पना कर कहने लगी कि हे हंस! तूम भले आए. आओ! बैठो, दूधका पान करो, भगवानकी बातें करो, यों न कहना कि मैं नहीं जानता हूं; क्योंकि हम जानती हैं कि तुम भगवानके दूत हो, दूत सब कुछ जानता ही है. भगवान् अच्छी तरह तो है? क्षणिक स्नेह रखनेवाले, चञ्चल मनवाले भगवान् स्वयं जो कुछ हमें कह गए थे, उसे कभी याद करते हैं? हे मधुर सा बोलनेवाले! यदि वे हमें याद नहीं करते हों, तो हम उनको क्यों भजे? यदि स्मरण करते हैं, तो उनको ले आइये, किन्तु अकेलेको लाइये. यदि कहो कि लक्ष्मी इनकी प्रिय सेविका है, उसको छोड़ कर आऐंगे, तो अन्य स्त्रियोंसे वे कनिष्ठ नहीं है क्या? सर्व स्त्रियां सेवाकी ही परायण होती है।।२४।।

वे तो शुद्ध भाववाली हैं, अतः कभी भी भगवानमें दोषरोपण नहीं करती हैं और यही भावना करती रहती हैं कि भगवान् सदैव भक्तोंका हित ही करते हैं. कभी भी अहित नहीं करते हैं 'मात्र' पदका आशय यह है कि भक्तोंके हितके सिवाय दूसरा कोई कार्य भगवान् नहीं करते हैं और अपना हित भगवानसे सम्बन्ध होने पर ही होता है, वह सम्बन्ध माननियोंके मानके अपनोदके सिवाय, स्वतः नहीं होता है, इस कारणसे भगवानने मानापनोदार्थ इस(हंस)को भेजा है, यह हंस सद् और असत्के विवेकको जानता है, अतः हम गुणातीतोंको भगवानके पास ले चलेगा, यों मनमें निश्चय कर उसको सम्बोधन करती है कि, हे हंस! अपने कामकेलिए तुम आये हो? यों कह कर कुशल पूछती है, फिर कहती हैं कि 'आस्यतां' बैठिए, जिसका आशय है कि हम तुम्हारे कहनेमें सरल रीतिसे शीघ्र न फसेंगी इसलिए बैठ कर विचार विमर्श कीजिए, यदि कहो कि हम पक्षी हैं नित्यके भूखे ही हैं, उसकी(भूखकी) निवृत्तिका पहले उपाय कीजिए, इस पर कहती हैं कि भूखके मारे यदि तुम बैठना नहीं चाहते हो तो हम उसका प्रबन्ध करती हैं आरामसे बैठ कर पहले पयपान कीजिए, दूधके पान कहनेका यह भाव है कि यहां तो आए हुए आप हमको दुग्धकी तरह ले चलोगे, दूसरे स्थान पर तो जलकी तरह जो अव्यक्त मधुरा है उनको ले जाओगे, यदि कहो कि यहां ठहर कर क्या करूंगा? इस पर कहती हैं कि 'ब्रूह्यंग शौरेः कथां' हे अंग शौरीकी कथाए कहिए, पिताका नाम दे कर शौर्यका प्रतिपादन कर कथाका सत्व कह रही है अर्थात् उनकी कथाएं ऐसी है जिनके सुननेकी आकांक्षा प्रत्येकको रहती है, मैं नहीं जानता हूं यों नहीं कहना, क्योंकि हम जानती हैं कि तुम उनके दूत हो, दूत स्वामीके सर्व कार्योंको जानता ही है, 'नु' यह पद वितर्कमें दिया है, पहले समयमें भी हंस दूतकार्य करते थे. अतः तुम भी हंस हो जिससे निश्चय है कि तुम हो कर यहां आए हो. उसके सिवाय यहां आनेका कोई प्रयोजन नहीं हैं, आपका दूतत्व हमने निश्चय कर लिया है, इसलिए उनकी कथा कहिए, यदि कहो कोनसी कथा कहूं पूछे बिना नहीं कही जाती है, इस पर कहती हैं कि 'कच्चिदजितः स्वस्त्यास्त इति' अजित भगवान् कुशल तो हैं? यदि वे अजित हैं तो वे कुशल ही हैं फिर उनके कुशलका प्रश्न क्यों? इस पर कहती है कि सबको मार कर व्यग्र तो नहीं हुए हैं? इसलिए कुशल प्रश्न है, अथवा 'स्वस्ति' कल्याणरूप अर्थात् शुद्धरूपमें तो हैं? 'शयनादुत्थिता नारी शुचिः स्यादशुचिः पुमान्' शयनसे उठी हुई नारी

पवित्र है किन्तु पुरुष अपवित्र है, इस वाक्यसे यह बताया है कि भगवानका किसीसे सम्बन्ध तो नहीं हुआ है? यदि सम्बन्ध हुआ होगा तो अशुचि होंगे, यदि यों सम्बन्ध हुआ होवे तो अशुचि हो तो हमारा वहां जाना ही व्यर्थ होगा, अजित होनेसे उसका पराभव भी नहीं हो सकता है. इसलिए संदेह होनेसे ही प्रश्न है, 'कुशलेन वर्तते' इस अंगीकारसे उत्तरकी सिद्धि हो जाने पर दूसरा प्रश्न करती हैं, 'उक्तं पुरा किं वा नश्चलसौहृदः स्मरति' पहले जो कहा था कि 'तुम्हारे समान प्रणयिनी घरोंमें नहीं देखता हूं' इस बातको याद करते हैं कि भूल गए हैं? वे सर्वज्ञ हैं अतः कैसे भूल जाएंगे? जिसका उत्तर 'चलसौ हृदः' पदसे दिया है कि वे क्षणिक स्नेहवाले हैं, कोई भी किसीको हमेशा स्मरण नहीं करता है, सौहार्द है तो स्मरण रहता है, भगवान् क्षणिक सौहार्द है, यदि कहो कि स्मरण करते हैं आपको चलना चाहिए, जिसके उत्तरमें कहती हैं कि, क्षणिक मैत्री करनेवालेको हम क्यों भजे? अन्य[१] कार्य निपट हो गए, सौहार्दमें भी सन्देह है कारण कि अभावसे हम उनको क्यों भजें? वहां भी आप प्रसिद्ध हैं, वैसे भी तुमको क्रोध अब त्यागना चाहिए, क्रोध त्याग कर चलना चाहिए. यदि यों कहते हो तो हम कहती हैं कि तू मीठे बोल बोलनेवाला है तुझमें केवल वाणीकी मधुरता है.

क्षौद्रालापय! जिसका अर्थ है मीठे आलापकी तरफ जाता है अर्थात् मीठी बोली बोलनेवाला, इस सम्बोधन देनेमें भी मिठास प्रकट होता है, (कोई इसका अर्थ करते हैं हे क्षुद्रके सम्बन्धी! हे क्षौद्र! यह निन्दापरक अर्थ है.) जो भगवान् कामनाओंको देनेवाले हैं उनका गान करो. कामद भगवानका आप मधुर आलापसे गान करनेवाले हैं, अतः मधुर ध्वनिसे करो, किन्तु उस गानमें लक्ष्मीका आलाप नहीं करना चाहिए, जिसकेलिए 'श्रियमृते' पद दिया है, यदि कहो कि वह(लक्ष्मीजी) परमभक्ता है और भगवानके ही परायण है. ऐसीका भगवानके साथ कैसे गान न किया जावे? इसका उत्तर देते हुए कहती हैं कि 'सबैकनिष्ठा श्रिपः' क्या वह(लक्ष्मी) ही एकनिष्ठ है? अपितु सब स्त्रियां सेवामें एकनिष्ठ हैं, अथवा स्त्रियोंके मध्य(स्त्रियोंमेंसे)में इसलिए षष्ठि विभक्ति दी है, कोई कहते हैं जातिकी अपेक्षासे एकवचन दिया है, इस भाववाली स्त्रियां निरुद्ध वर्णित की गई हैं।।२४।।

१.अन्य नायिकाएं समीप हैं ही जिससे हमारे सम्बन्धी भोग निवृत हो गए.

इस प्रकार स्त्रियोंकी क्रीड़ा करते हुए जो संसार प्राप्त हुआ था, उसका

निवारण किया, पश्चात् एक अविकल शुद्ध भगवद्भाव ही उनमें प्रकट हो गया, इसलिए 'इतीदृशेन' श्लोकसे फलका वर्णन किया जाता है.

इतीदृशेन भावेन कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।
क्रियमाणेन माधव्यो लेभिरे परमां गतिम् ।।२५।।

योगेश्वरोंके भी ईश्वर श्रीकृष्णमें इस प्रकारके भाव करनेसे माधवकी महिषियोंने परम गति पाई।।२५।।

यद्यपि इस प्रकारका शुद्धभाव सर्व प्रकार लोकातीत है, केवल भगवानने ही इसमें भ्रान्तता उत्पन्न कराई, इस भावका मोक्ष साधकपन तो प्रमेयबलसे ही है, यों जतानेकेलिए 'कृष्णे योगेश्वरेश्वरे' पद दिया है, अर्थात् इसका शुद्धभाव, योगेश्वरोंके ईश्वर कृष्णमें ही हैं, यद्यपि योग आदि भी फल देते हैं किन्तु भगवदनुग्रह होने पर दे सकते हैं. वह अनुग्रह कर्ता भगवान् कृष्ण ही हैं, यदि वह कृष्ण इनके पति हैं तो इनके परमानन्द प्राप्तिमें कौनसा सन्देह है? क्योंकि योगेश्वर जो महादेव आदि हैं, उनके भी आप नियामक हैं. साधनोंमें योग महान् साधन हैं, इसलिए वह ही कहा है, भक्तियोग आदि भी योग पदसे कहे जानेके कारण 'योग' ही है 'माधव्य' 'माधवकी स्त्रियां, 'परमगति' पदका अर्थ है भगवानकी प्राप्ति, यद्यपि वे भगवत्सम्बद्ध न थी तो भी उसी क्षणमें ही भगवानको प्राप्त हो गई, इनका फल सम्बन्ध नियमविधिके[१] समान कहना चाहिए, नहीं तो शरीर, आत्मा आदि विकल्पोंका माधवी[२] आदि पदोंसे विरोध प्राप्त होगा।।२५।।

१. 'नियमः पाक्षिके सति' इस न्यायानुसार भगवत्सम्बन्ध दीखनेसे पक्षमें फल सम्बन्ध प्राप्त ही है. 'लेभिरे' इस लिट्के प्रयोगसे सूचित किया है कि जिनको दर्शन मात्र हुआ है, सम्बन्ध न हुआ हैं, उनको भी फल प्राप्ति(भगवत्प्राप्ति) हुई है, कारणकि भगवानसे सम्बन्ध न होनेकी दशामें भी इस प्रकारके केवल शुद्धभावसे भीतर(हृदय)में भगवानका सम्बन्ध तो था ही, इसलिए इनकी भी परमगतिरूप फल प्राप्तिमें कोई सन्देह नहीं है.

२. 'माधवी' पदसे यह प्रकट होता है कि ये माधवकी स्त्रियां थी, तो 'स्त्रीत्व' देहका ही होता है, जिससे सिद्ध होता है कि देहको ही भगवानकी प्राप्ति हुई, न कि इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, जीव आदिको भगवत्प्राप्ति हुई है. इस प्रकार अपूर्व विधिवत् व्याख्या करनेसे देहातिरिक्त संघातका 'माधवी' पदसे विरोध होता है. नियमविधि पक्षमें तो अपूर्वपनसे भगवानकी प्राप्ति पहले ही कही है. वहां विरोध परिहार 'आत्मानं भूषयां चक्रुः' इस श्लोकमें 'आत्मानं' पदसे सर्व संघात भगवद्भोग्य

होनेसे 'आत्मा' पदसे कहा गया है, वह ही यहां भी समझना चाहिए और वैसे सर्व संघात ही भगवद्भोग्य है. अतः सर्व संघातको स्त्रीपन है, न कि केवल देहको. अपूर्वविधि पक्षमें विरोध परिहार भी अपूर्व ही करना चाहिए. वह नहीं किया है, जिससे विरोध उपस्थित है.

नियमपक्षमें तो पहले कहा हुआ फल सम्बन्ध ही यहां स्थिर किया जाता है. इसलिए विरोध परिहार भी पहले जो कहा है, वह ही समझना चाहिए यों भाव है.

अपूर्वपक्षमें 'इदृशेन भावेन' इस भावका फल सम्बन्धमें कारणपन है और वैसे भावका साधनरूपपन है, न कि फलरूपत्व है.

नियमपक्षमें तो वैसे नियममें भावको केवल हेतुपन है, इससे फलरूपत्व निश्चित् सिद्ध होता है, कहनेका यही निगूढ आशय है–लेखकार)

संसाराविष्ट चित्तवाले बहिर्मुखोंका संसारके प्रकार तरीकेसे ही भगवानके शरणागतोंका इस प्रकार कैसे सर्वसंघात सहित भगवानमें प्रवेश हुआ? इस पर 'श्रुतमात्र' श्लोक कह कर इस शंकाका निवारण करते हैं.

श्रुतमात्रोऽपि यः स्त्रीणां प्रसह्याकर्षते मनः।
उरुगायोरुगीतानां पश्यन्तीनां कुतः पुनः ।।२६।।

अनेक प्रकारसे गुण–गान करनेवाली तथा गुणोंको केवल श्रवण करनेवाली स्त्रियोंका भी जो भगवान् बलपूर्वक मनको हर लेते हैं, वे दर्शन करनेवालियोंका मन हरण कर लेवें, तो इसमें कौनसा आश्चर्य है?।।२६।।

भगवान् श्रीकृष्णका प्राकट्य स्त्रियोंको आनन्द देनेकेलिए ही हुआ है, यों पहले कहा है. अतः उनकेलिए ही अवतार धारण करनेसे उनका कार्य करना आवश्यक है, इसलिए केवल सम्बन्धकी ही अपेक्षा है. उसमें केवल श्रवण करना यह अति सरल सम्बन्ध है, इसलिए वह ही कहा है. 'मात्र' पद देनेका भावार्थ यह है कि अन्य विचारादि साधनोंकी अनावश्यकता बनाई है. यहां प्रमेयबल ही मुख्य है. इससे स्वयं ही बलपूर्वक मनको खींच कर अपनेमें स्थापित करते हैं, उसकी अपेक्षा कीर्तन करनेवालोंकी विशेषता दिखाते हैं 'उरुगायोरुगीतानां' जिन्होंने भगवानका बहुत कीर्तन किया है. 'उरुगाय' पदसे यह प्रकट किया है कि बहुतोंने भगवानके गुणोंका गान किया है, तो भी भगवान् अप्रतिहत ही रहे हैं तथा वह कीर्तन गानरूप होनेसे उसको 'अविगीत' कहा हैं. उनका भी मन बलपूर्वक अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं, यद्यपि यहां भी कैमुतिकन्याय कहना चाहिए, किन्तु आगे ही कहा हुआ है, उसका यहां भी अनुसन्धान कर लेना चाहिए.

जो भगवानके पास ही उपस्थित हैं और भगवानके दर्शन कर रही हैं, उनका मन खींचते हैं. यों कैसे कहा जाय? कारणकि उनका मन भगवानमें स्थित है, यों सिद्ध ही है; क्योंकि विषयकी सुन्दरतासे ही मनका वशीकरण हुआ है. अतः यहां प्रमेयबलकी अपेक्षा नहीं है–ये तीन प्रकारकी सगुणा निरूपण की गई हैं।।२६।।

गुणातीत महिषियां कैमुतिकन्यायसे 'सुतरां याः संपर्यचरन्' श्लोकसे स्तुति करती है.

याः सम्पर्यचरन् प्रेम्णा पादसंवाहनादिभिः।
जगद्गुरुं भर्तृबुद्ध्या तासां किं वर्ण्यते तपः ।।२७।।

जो महिषियां जगद्गुरु भगवानको पति समझ कर उनकी प्रेमपूर्वक पांव दबाने आदिकी सेवा कर रही हैं, उनकी तपस्याका वर्णन क्या करें?।।२७।।

जिनका भगवानके साथ सर्वभावसे साक्षात् देह सम्बन्ध है, किन्तु वह प्रेमपूर्वक होनेके कारण आन्तर सम्बन्ध है.

पांव दबाने आदिसे जो सेवा है, वह बाह्य सम्बन्ध है. 'जगद्गुरुम्' पदसे बताया है कि क्रियासे भी और वह सेवा शास्त्रोक्त प्रकारसे करने पर भी फल सिद्धिका उपाय कहा है. पश्चात् 'भर्तृ बुद्धया' पतिकी बुद्धिसे सेवा करती हैं. इससे यह बताया है कि इनकी बुद्धि उत्तम है, गोपियोंकी[१] तरह जार बुद्धि नहीं है यह भाव है.

१.अन्तगृहमें रही हुई गोपियां सोपाधिक प्रेमवालियां थीं. वह सोपाधिक (कामोपाधिवाला) स्नेह दो प्रकारका है, १.भर्ता मान कर स्नेह करना और २.जार मान कर स्नेह करना. इसमें भर्ता मान कर स्नेह करना उत्तम है; क्योंकि वह शास्त्र प्रमाणानुकूल है, यह निरुपाधिक स्नेहवालियोंका प्रकरण ही नहीं है.

बुद्धिः प्रपत्तिः सम्बन्धो द्विविधोऽपि विधेर्बलम्।
प्रमेयबलमित्यासां षोढा कृष्णे निरूपिताः।।का.।।
एकैकोऽपि महत्पुण्यसाध्यः षण्णां तु का कथा।
अतस्तपः प्रशंसां हि तासां वक्तुं क ईशते।।का.।।

कारिकार्थः बुद्धि अनन्यभक्ति(शरणभक्ति) सम्बन्ध दो प्रकारके होते हुए भी शास्त्रविधिके बलवाली भर्तृबुद्धि उत्तम है, जिससे कृष्णमें इनका छः प्रकारसे प्रमेयबल निरूपण किया है. जहां एक–एक महान् पुण्यसे सिद्ध होता है

वहां छहोंकी सिद्धिमें क्या कहा जाय? अतः उनके तपकी प्रशंसा कहनेमें कौन समर्थ है? कोई नहीं।।२७।।

अतः श्लोकमें वह ही कहा है कि ''तासां कि वर्ण्यते तपः'' उनके तपका क्या वर्णन किया जाए? इस प्रकार प्रसंगसे भी किया हुआ सबका निरोध कह कर भगवानने उसकी उपेक्षा की है. यह जतानेकेलिए उपसंहार करनेके समय ''एवं वेदोदितं धर्मम्'' श्लोकसे निरूपण करते हैं.

एवं वेदोदितं धर्ममनुतिष्ठन् सतां गतिः।
गृहं धर्मार्थकामानां मुहुश्चादर्शयत्पदम्।।२८।।

इस प्रकार सत्पुरुषोंकी गति भगवान् कृष्णने वेदमें कहे हुए धर्मका पालन करते हुए बार-बार यह ही दिखाया है कि धर्म, अर्थ और काम; इन तीन पुरुषार्थोंकी सिद्धिका स्थान गृह(गृहस्थाश्रम) ही है।।२८।।

भगवानको जैसे निरोध अभीष्ट है, वैसे ही वैदिकधर्म भी लोककी शिक्षाकेलिए अभीष्ट है. उसमें कारण यह है कि आप 'सतां गति' सत्पुरुषोंकी गति हैं. यदि भगवान् यों न करें, तो सन्मार्गकी व्यवस्था न रहे, जिससे सत्पुरुषोंकी रक्षा खतरेमें हो जावे. न केवल वैदिकधर्म ही भगवानको अभीप्सित है, किन्तु धर्म, अर्थ और कामको देनेवाला स्मार्तधर्म भी इच्छित हैं. उस स्मार्तधर्ममें आसक्तोंकी बुद्धिके संग्रहार्थ यह त्रिवर्ग साधक स्मार्तधर्म भी अभिप्रेत है. इसलिए ही 'गृहं धर्मार्थ कामानां' 'त्रिवर्ग' अर्थात् धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंकी सिद्धि स्थान गृह अर्थात् गृहस्थाश्रम है. बार-बार(१६००० प्रकारसे) लोगोंको यह दिखा दिया है।।२८।।

इस प्रकार भगवानकी धर्म परायणता कह कर स्त्रियां तो वैसी नहीं है, उनका गार्हस्थ्य धर्म विरुद्ध है, इस शंकाको मिटानेकेलिए वे भी धर्म परायण हैं, यों कहनेकेलिए 'आस्थितस्य' श्लोक कहते हैं.

आस्थितस्य परं धर्मं कृष्णस्य गृहमेधिनाम्।
आसीत् षोडशसाहस्रं महिष्यास्तु शताधिकम्।।२९।।

गृहस्थियोंके उत्तमधर्मका आचरण करनेवाले श्रीकृष्णकी स्त्रियोंकी संख्या सोलह सहस्र एक सौ आठ थी।।२९।।

परमोत्कर्षको प्राप्त धर्ममें पूर्ण रीतिसे स्थित स्वरूपसे एक कृष्णके गृहस्थापनसे नानारूपवाले कृष्णकी १६००० पत्नियां थीं. श्लोकमें 'महिष्याः'

पद षष्ठी विभक्तिके एकवचनमें दिया है जिसका आशय आचार्यश्री प्रकट करते हैं कि जैसे कृष्ण एक होते हुए भी प्रत्येक गृहमें स्थित होनेसे १६००० रूपवाले दीखते हैं, वैसे ही एक ही महिषी १६००० संख्यावाली है. 'तु' शब्द अन्य प्रकारका निवारण करता है. यहां 'शताधिकम्' पद सहस्रका विशेषण है, जिससे इसका अर्थ शतसंख्या युक्तोंसे भी अधिक है. तात्पर्य यह है कि एक स्त्री भी शत स्त्रियोंसे भी सर्वभावके कारण अधिक है।।२९।।

इस प्रकार धर्म और अर्थत्वका निरूपण कर उनमें प्रजासम्पत्यर्थत्व भी मुख्य है, यों उपसंहारमें वह भी 'तासां स्त्रीरत्नभूतानां' श्लोकमें कहते हैं.

तासां स्त्रीरत्नभूतानामष्टौ याः प्रागुदाहृताः।
रुक्मिणीप्रमुखा राजंस्तत्पुत्राश्चानुपूर्वशः ।।३०।।

महाराज! स्त्रियोंमें रत्नरूप इन स्त्रियोंमें रुक्मिणी आदि जो आठ पटरानियां पहले कही गई है, उनके पुत्रोंके नाम भी कहे जाते हैं।।३०।।

यद्यपि प्रत्येकके दस-दस पुत्र थे, तो भी यहां मुख्योंके ही उपसंहारमें कहे गए हैं. 'रत्न' पदके प्रयोगसे यह जताया है कि सब ही सबसे श्रेष्ठ थीं. उनमें भी रुक्मिणी प्रभृति आठ मुख्य थीं.

रुक्मिणी सत्यभामा च कालिन्दी ऋक्षकन्यका।
सत्या भद्रा मित्रविन्दा लक्ष्मणेत्यष्टनायिकाः।।

कारिकार्थः १.रुक्मिणी २.सत्यभामा ३.कालिन्दी ४.जाम्बवती ५.सत्या ६.भद्रा, ७.मित्रविन्दा और ८.लक्ष्मणा-ये आठ नायिकाएं हैं.

व्याख्यार्थः 'हे राजन्' इस सम्बोधनके देनेका यहां यह आशय हैं कि राजा होनेसे आप भी बहुत स्त्रियोंके रसको जानते हो, बड़ेसे ले कर क्रमपूर्वक पुत्र भी कहे हैं तथा 'च' पौत्र भी कह दिया है।।३०।।

जिनके नाम नहीं कहे हैं, उन सबोंकी पुत्रादि सम्पत्ति समान है; यों इस ''एकैकस्यां दश दश'' श्लोकमें कहते हैं.

एकैकस्यां दश दश कृष्णोऽजीजनदात्मजान्।
यावत्य आत्मनो भार्या अमोघरतिरीश्वरः ।।३१।।

सत्य संकल्प ईश्वर श्रीकृष्णचन्द्रने अपनी सब स्त्रियोंमेंसे दस-दस पुत्र उत्पन्न किये कारणकि आपकी रति निष्फल नहीं है।।३१।।

इच्छासे पुत्रत्वकी व्यावृत्तिकेलिए 'आत्मज' पद दिया है. किसीमें हुआ

किसीमें न हुआ इसकी व्यावृत्तिकेलिए 'यावत्यः' पद दिया है. जितनी ही स्त्रियां थीं उन प्रत्येकमेंसे दस-दस पुत्र उत्पन्न किए. काम दस इन्द्रियोंसे साध्य होनेसे उसके दस भाव हैं. अतः सर्वभावोंमें भगवान् सफल रतिवाले हैं अर्थात् रतिसे फल होना यह ही अमोघत्व है यानि रतिकी सफलता है. दस-दस क्यों उत्पन्न किए? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि श्रुतिमें आज्ञा है कि 'इसमें दस पुत्र उत्पन्नकर'. अतः श्रुति वाक्यकी सार्थकता दिखानेकेलिए दस-दस पुत्र उत्पन्न किए. श्रुतिमें तो कहा है, किन्तु लोकमें ऐसा नियम नहीं दीखता है. इस पर कहते हैं कि 'ईश्वरः' आप सर्व समर्थ हैं. जो असक्त हैं, वे श्रुतिकी पालना न करें; किन्तु आप समर्थ हो कर न करें, यह अनुचित है. अतः श्रुतिका पालन कर इतने पुत्र पैदा किए।।३१।।

भगवानने धर्मार्थ ही पुत्र उत्पन्न किये. इसलिए अष्टादश विद्याके अनुसार अष्टादश पुत्र जो महान् वीर्यवाले हुए, उनका निरूपण 'तेषामुद्दाम' श्लोकमें करते हैं.

तेषामुद्दामवीर्याणामष्टादश महारथाः।
आसन्नुदारयशसस्तेषां नामानि मे शृणु।।३२।।

उन पुत्रोंमेंसे जो अठारह पुत्र महारथी और बड़े पराक्रमी तथा यशस्वी हुए उनके नाम सुनो।।३२।।

लक्षं षष्टिः सहस्राणि तथाशीतिर्निरूपिताः।
केचित् सहस्रमधिकं प्राहुर्नैतन्मतं सताम।।का.।।

कारिकार्थः वे पुत्र सब मिल कर १,६०,०८० हुए. कितने ही तो इससे एक सहस्र अधिक कहते हैं, वह मत सत्पुरुषोंका नहीं है.

उन पुत्रोंमेंसे अठारह महारथी हुए और सब ही अर्थात् अठारह ही बड़े पराक्रमी हुए. वास्तवमें तो सर्व पुत्र महारथी थे, किन्तु इन अठारह पुत्रोंने अपना महारथीपन प्रकट कर दिखाया है, यों ज्ञापन करते हैं. विद्याओंकी प्रमाणता सिद्ध करनेकेलिए उन्होंने ही वीर्य प्रकट किया. भगवानके विद्यमान होनेसे दूसरोंका कोई प्रयोजन नहीं है।।३२।।

अतः लोकमें प्रसिद्धि हो, इसलिए उनके नाम कहते हैं.

प्रद्युम्नश्चारुदेष्णश्च दीप्तिमान् भानुरेव च।
साम्बो मधुर्बृहद्भानुश्चित्रभानुर्वृकोऽरुणः।।३३।।

पुष्करो वेदबाहुश्च श्रुतदेवः सुनन्दनः ।
चित्रबाहुर्विरूपश्च कविर्न्यग्रोध एव च ।।३४।।
एतेषामपि राजेन्द्र तनुजानां मधुद्विषः ।
प्रद्युम्न आसीत् प्रथमः पितृवद् रुक्मिणीसुतः ।।३५।।

प्रद्युम्न, चारुदेष्ण, अनिरुद्ध, दीप्तिमान, भानु, साम्ब, मधु, ब्रहद्भान, चित्रभानु, वृक, अरुण, पुष्कर, वेदबाहु, श्रुतदेव, सुनन्दन, चित्रबाहु, विरूप, कवि और न्यग्रोध नामवाले पुत्र थे, जो महारथी थे।।३३-३४।।

हे राजेन्द्र! भगवानके पुत्रोंमें रुक्मिणीका प्रथम पुत्र प्रद्युम्न पिताके समान महान् बलवान महारथी थे।।३५।।

दूसरा चारुदेष्ण था. 'अनिरुद्ध' इस प्रकारके पाठमें भी कोई पुत्र अनिरुद्ध नामवाला था, यों जानना चाहिए. उन पुत्रोंके भी शत-शत पुत्र थे. पौत्रोंमें एकने ही महारथीपन प्रकट किया है. उसको कहते हैं 'एतेषामपि' इन्होंमें भी भगवानका 'मधुद्विट्' नाम दे कर जो तनुज कहे हैं जिसका आशय है कि वे भी अत्यन्त सामर्थ्यवाले थे. उनमें भी प्रथम उत्पन्न प्रद्युम्नकी विशेषता बताते हैं, जिस(विशेषता)का प्रयोजन प्रकट करनेकेलिए 'पितृवत्' कहा है अर्थात् यह एक ही पिता जैसा पराक्रमी आदि था, यों इसमें विशेषता क्यों हुई? जिसका कारण 'प्रथमो रुक्मिणीसुतः' रुक्मिणीका यह प्रथम पुत्र है. महिषियोंमें रुक्मिणी श्रेष्ठ थी, उस पर भी पहला बालक महान वीर्यवाला होता है।।३३-३५।।

वंशके निरूपण प्रस्तावमें जो नवमस्कन्धमें शेष रह गया था उस भगवानका निरूपण किया, मध्यमें प्रश्नके अनुरोधसे वीर्योका भी निरूपण कर उसके अन्तमें शेष रहे वंशका वर्णन ''स रुक्मिणो दुहितरं'' श्लोकमें करते हैं.

स रुक्मिणो दुहितरमुपयेमे महारथः ।
तस्मात्सुतोऽनिरुद्धोऽभून्नागायुतबलान्वितः ।।३६।।

इस महारथी प्रद्युम्नने रुक्मिकी पुत्रीसे विवाह किया. उसमेंसे प्रद्युम्नजी को दस सहस्र हस्तियोंके बलवाला अनिरुद्ध पुत्र उत्पन्न हुआ।।३६।।

'महारथ' विशेषण देनेका भावार्थ यह है कि जीत कर हरण प्रकट किया है, पश्चात् प्रद्युम्नसे अनिरुद्ध उत्पन्न हुआ, अन्य पुत्रोंका वर्णन न कर केवल अनिरुद्धके वर्णन करनेका भावार्थ यह है कि यह सबसे विशेष था, क्योंकि इसमें दश सहस्र हस्तियोंका बल था अन्योंमें नहीं था।।३६।।

उसमें भी वंश हुआ जिसका वर्णन 'स चापि' श्लोकमें करते हैं.

स चापि रुक्मिणः पौत्रीं दौहित्रो जगृहे ततः ।
वज्रस्तस्यामभूद् यस्तु मौसलादवशेषितः ।।३७।।

इस अनिरुद्धने रुक्मिकी पोतीसे विवाह किया, जिससे वज्रनाभ पुत्र हुआ, जो मूसल(मूसलके कारण सब यादवोंका नाश हुआ था जिससे यह बच गया)से होनेवाली मृत्युसे बच गया था।।३७।।

रुक्मिणः, पौत्रीं, दौहित्रः इन तीन पद देनेसे मूल और संसर्ग दोष, दोनों दोषोंका निरूपण कर यह बताया है कि कलियुगमें ऐसे दोष रहेंगे, उस(पौत्री)से अनिरुद्धने वज्रनाभ पुत्र उत्पन्न किया, जो मौसल युद्धसे बच गया था।।३७।।

उससे भी जो वंश हुआ, उसका वर्णन 'प्रतिबाहुरभूत्' श्लोकमें करते हैं.

प्रतिबाहुरभूत्तस्य सुबाहुस्तस्य चात्मजः ।
सुबाहोः शान्तिसेनोऽभूच्छ्रुतसेनस्तु तत्सुतः ।।३८।।

वज्रनाभको प्रतिबाहु पुत्र हुआ, प्रतिबाहुको सुबाहु पुत्र हुआ, सुबाहुको शान्तिसेन पुत्र हुआ, उस(शान्तिसेन)को श्रुतसेन पुत्र हुआ।।३८।।

वज्रनाभको प्रतिबाहु, उसको सुबाहु पुत्र हुआ, सुबाहुको शान्तिसेन और उसको श्रुतसेन पुत्र हुआ, ये चार चतुर्विध पुरुषार्थोंके साधक निरूपण किए गए हैं।।३८।।

क्या दूसरे पुरुषार्थोंको सिद्ध नहीं कर सकेंगे? इस शंकाका निवारण करनेकेलिए 'नह्यै तस्मिन्' श्लोक कहते हैं.

न ह्येतस्मिन् कुले राजन् अधना अबहुप्रजाः ।
अल्पायुषोऽल्पवीर्याश्च अब्रह्मण्याश्च जज्ञिरे ।।३९।।

हे राजन्! इस कुलमें कोई भी निर्धन, अल्प प्रजावाला, अल्पायु, अल्प वीर्य और ब्राह्मणोंका अभक्त जन्मा नहीं है।।३९।।

हे राजन्! यह सम्बोधन संमतिकेलिए है, दरिद्र, 'एष्टव्या बहवः पुत्राः' इस वाक्यानुसार इनमें कोई भी ऐसा नहीं था जो अपनी इच्छानुकूल पुत्र पैदा न करे, अर्थात् जिसको जितने पुत्रोंकी इच्छा होती थी वह उतने ही पुत्र पैदा कर सकता था. ये दो तो बाहरके विषय हैं, अब भीतरका विषय कहते हैं कि, अल्प पराक्रमी तथा अल्प आयुवाले भी नहीं होते थे, इस प्रकार इन ४से गार्हस्थ्यका निरूपण कर ब्रह्मचर्यकी तरह निरूपण करते हैं कि, ब्राह्मणोंके भक्त थे।।३९।।

अर्थकामौ तथा धर्मश्चिरजीवित्वमेव च।

एतत् साधारणं प्रोक्तं वीर्यं तु क्षत्रियत्वतः।।का.।।

कारिकार्थ: अर्थ, काम, धर्म और महती आयु यह साधारण कहा है इनमें वीर्य तो क्षत्रियपनसे स्वाभाविक है ही।।३९।।

वे कितने थे इसका हमको ज्ञान हो जावे इसलिए उनकी संख्या कहनी चाहिए, जिसका वर्णन 'यदुवंश प्रसूताना' श्लोकमें करते हैं.

यदुवंशप्रसूतानां पुंसां विख्यातकर्मणाम्।

सङ्ख्या न शक्यते कर्तुमपि वर्षायुतैर्नृप।।४०।।

हे नृप! जिनके कर्म प्रसिद्ध हैं और जो यदुवंशमें प्रकट हुए हैं, उनकी संख्या लाखो वर्षोमें भी नहीं गिनी जा सकती है।।४०।।

इतनी संख्या है, जिसकी गिनती कर नहीं सकते उसका अज्ञान ही उसके महत्त्वका सूचक है. योगजधर्मसे जान कर कहना नहीं चाहिए, मार्कण्डेय जैसी आयुष्यवाला एक पुरुष लाखों वर्षोमें उनकी संख्या नहीं कह सकता है।।४०।।

तो उसका ज्ञान कैसे होगा? यदि कहो कि कोटि और अर्बुद संख्यासे भी बुद्धि कुण्ठित हो जाती है, इसके उत्तरमें 'तिस्रः कोट्यः' श्लोक कहा है.

तिस्रः कोट्यः सहस्राणामष्टाशीतिशतानि च।

आसन् यदुकुलाचार्याः कुमाराणामिति श्रुतम्।।४१।।

यदुकुलके बालकोंको पढानेवाले तीस अर्बुद और आठ सहस्र आठ सौ आचार्य थे, यों सुना है।।४१।।

तीस अर्बुद आठ हजार आठ सौ यदुकुलमें उत्पन्न आचार्य थे जो कुमारोंको विद्याभ्यास कराते थे, यों सुना है, एक लाखकी संख्या तो केवल भगवत्पुत्रोंकी निरूपण की हुई हैं, इसलिए कोटि संख्या, सहस्र संख्या, शत संख्या उससे न्यून संख्या भी कही है, बहुतोंमेंसे कोई आचार्य होनेके लायक हो सकता है, और बालक तो एकके पास बहुत ही पढते हैं, इससे ही इनका(यादवोंका) बाहुल्य जानना चाहिए।।४१।।

तब तो इसी ही प्रकारसे यादवोंकी संख्या बता दें, इस शंका पर 'संख्यानं यादवानां' श्लोक कहते हैं.

सङ्ख्यानं यादवानां कः करिष्यति महात्मनाम्।

यत्रायुतानामयुतलक्षेणास्ते स आहुकः।।४२।।

महात्मा यादवोंकी संख्या कौन कर सकता है? जहां कई लक्ष यादव केवल उग्रसेनके राज्यमें प्रजा है, वैसे ही सेवक अनेक हैं।।४२।।

यादव अनन्त होनेसे स्वरूपसे भी उनकी गिनती अशक्य है, फिर उनमें विशेषता यह है कि महात्मा हैं. एक-एक महान् पुरुषके पास कोटि-कोटि जितने सेवक हैं, इस मुख्य गुणभावसे गणना करने पर सुतराम उनकी अनन्तता प्रकट हो जाती है अतएव एक ही मुख्यके पास सेवकोंकी अनन्तताका निरूपण करते है, दश सहस्रका एक यूथ गिना जावे तो ऐसे दश हजार यूथ थे, इसके सिवाय लक्षका यूथ एक गिना जावे तो वे भी दश हजार यूथ थे, इतने यादव तो केवल उग्रसेनकी प्रजामें थे और इतने ही सेवक थे, इस प्रकार दूसरोंके पास भी सेवक जानने चाहिए. ऐसी अवस्थामें इनकी गिनती कैसे की जावे।।४२।।

लोकमें तो कोई-कोई जीव उत्तम उत्पन्न होते हैं फिर यहां इतनी बडी संख्या एक ही स्थान पर एक ही समय कैसे उत्पन्न हुई? जिसका उत्तर 'देवासुरा' श्लोकमें देते हैं.

देवासुराहवहता दैतेया ये सुदारुणाः।
ते चोत्पन्ना मनुष्येषु प्रजा दृप्ता बबाधिरे।।४३।।

देवासुर संग्राममें जो भयं कर दैत्य मारे गए. वे मनुष्योंमें प्रकट हो कर गर्वी बन कर प्रजाको पीड़ा देने लगे।।४३।।

पूर्वकालमें देव असुरोंकी अनेक लड़ाईयां हुई हैं, उनमें जो दैत्य मरे, वे देवोंकी जड़, जो ब्राह्मण हैं उनके नाशार्थ मनुष्योंमें उत्पन्न हुए 'च' पदसे यह सूचित किया कि दूसरे भी इनके सम्बन्धी थे, उन(दैत्यों)के उत्पन्न होते हुए उनमें पहलेके धर्म आ गए थे यों बतानेकेलिए कहते हैं कि गर्वमें आ कर प्रजाको पीड़ित करने लगे।।४३।।

तन्निग्रहाय हरिणा प्रोक्ता देवा यदोः कुले।
अवतीर्णाः कुलशतं तेषामेकाधिकं नृप।।४४।।

हे नृप! उनका दमन करनेकेलिए भगवदाज्ञासे देव लोग यदुकुलमें प्रकट हुए, जिनके एक सौ एक कुल थे।।४४।।

पश्चात् जगतकी रक्षा करनेमें प्रवृत्त भगवानने उन दैत्योंके संहारार्थ देवोंको आज्ञा दी कि तुम यदुकुलमें जन्म ग्रहण करो, आज्ञा पा कर वे कोटिशः देवगण यदुकुलमें कहीं-कहीं प्रकट हुए, वे जो जन्मे उन यादवोंको एक सौ एक

कुल हुए, यादवोंमें ये कुल मुख्य गिने गए, नृप यह सम्बोधन संतोषकेलिए है।।४४।।

आभासार्थ – इतने सब देव ही अवतरे हैं इसमें क्या प्रमाण है? इस पर ''तेषां प्रमाणं'' श्लोक कहते हैं.

तेषां प्रमाणं भगवान् प्रभुत्वेचाभवद्धरिः।
ये चानुवर्तिनस्तस्य ववृधुः सर्वयादवाः ।।४५।।

ये सब यादव श्रीकृष्णचन्द्रको अपना प्रभु मानते थे और सब बातमें इनके ही प्रमाण स्वीकार करते थे. जो यादव इनके अनुगामी रहे, वे सर्व प्रकार बढ़ते रहे।।४५।।

वे देव थे इसमें प्रमाण भगवान् ही हैं, यदि कहो भगवान् प्रमाण कैसे? इस पर कहते हैं कि ये श्रीकृष्णको ही अपना स्वामी मानते थे जिससे जाना जाता है कि वे देव हैं, भगवान् दूसरोंके स्वामी नहीं बनते हैं. प्रभु और सेवकमें एक जातीयताकी अपेक्षा रहती है, अर्थात् स्वामी और सेवककी एक ही जाति होती है, यदि दैत्योंका दर्प दलन करना था तो देवोंको ही भेजना था स्वयं क्यों पधारे? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'हरि' है, दुःखोंको हरण करनेवाले होनेसे, उनके दुःख दूर करने स्वयं भी पधारे हैं, भगवानके पधारनेसे, कालादि द्वारा कोई प्रतिबन्ध नहीं हो सकता था, सर्व ही यादव आपके थे उनके सिवाय जो दूसरे भी भगवानके अनुयायी हो कर रहे थे वे सब अत्यन्त बढ़े होंगे, ऐसे बढ़े होंगे, ऐसे बढ़े जैसे बट(बड़)के बीजसे बट बढ़ता हीं रहता है, इस प्रकार प्रसंग होनेसे उनका माहात्म्य एवं उनकी अनन्तता भगवानके सम्बन्धसे हुई यों निरूपण किया।।४५।।

अतएव(भगवत्सम्बन्धी होनेसे ही) वे सब परि कर सहित निरोधमें निरूपण किये हैं, वहां पर शंका होती है कि, अधिकार प्राप्त उनमें व्यग्रताका सम्भव होनेसे और बहिर्मुखत्वका भी संभव होनेसे, निरोध सिद्ध हुआ वा नहीं हुआ? इस शंकाको मिटानेकेलिए 'शय्याशनाटनालाप' श्लोक कहा है.

शय्यासनाटनालापक्रीडास्नानासनादिषु।
न विदुः सन्तमात्मानं वृष्णयः कृष्णचेतसः ।।४६।।

यादवोंका चित्त कृष्णमें ही इस प्रकार लग रहा है, जो वे सोते, खाते, फिरते, बोलते, खेलते, नहाते, और अन्य कार्य करते अपने शरीरका भान ही भूल गए थे।।४६।।

लोकमें सात पदार्थ अर्थात् सात प्रकार(तरीके) हैं जिनके करनेसे मनुष्य भगवानको भूल जाता है क्योंकि प्रतिदिन करनेसे उनमें आसक्ति हो जाती है, परन्तु ये यादव इन सात पदार्थोंको करते हुए भी भगवानको न भूले, किन्तु उन सातोंको अनासक्तिसे कर रहे थे, इस श्लोकमें इस प्रकारसे उनका निरोध सिद्ध करते हैं.

सात पदार्थ है, षड्गुण भगवान् ही उनको वैसे हो गए, यह जतानेकेलिए वे सात पदार्थ निरूपण किए हैं, जैसेकि १.सोना, २.भोजन, ३.फिरना, ४.बोलना, ५.क्रीड़ा(द्युत आदि), ६.स्नान और ७.बैठना, ये सात पदार्थ-प्रकार पर हैं, इनमें ऐश्वर्य आदि धर्मोंको जोड़ना, उन धर्मोंको जोड़नेसे वे प्रकारताको प्राप्त होते हैं, बहुत क्या कहें? सब अवस्थामें अपनेको भूल गए, यह नहीं जानते कि हम क्या कर रहे हैं क्योंकि प्रपंच भूल गए थे, कारणकि चित्त श्रीकृष्णमें निरुद्ध हो गया था, गोकुलमें स्थितोंका तो पहले ही कहा गया है, स्त्रियोंका, और राजस तथा सात्विकोंका यह निरोध कहा है, यों अब निरोधलीला सम्पूर्ण हुई।।४६।।

इस प्रकार लीला प्रतिपादन करते हुए महाभारतकी तरह इसमें भूमाहरण लीलाका विशेष प्रकारसे निरूपण नहीं किया है, इस शंकाको मिटानेकेलिए 'कैमुतिकन्याय' के निरूपणार्थ, भगवानकी अनेक प्रकारकी लीलाओंका माहात्म्य 'तीर्थंचक्रे' श्लोकमें कहते हैं.

तीर्थं चक्रे नृपोनं यदजनि यदुषु स्वः सरित्पादशौचं
विद्विट् स्निग्धाः स्वरूपं ययुरजितपरा श्रीर्यदर्थेऽन्ययत्नः।
यन्नामामङ्गलघ्नं श्रुतमथ गदितं यत्कृतो गोत्रधर्मः
कृष्णस्यैतन्न चित्रं क्षितिभरहरणं कालचक्रायुधस्य ।।४७।।

हे राजन्! भगवानने यदुकूलमें प्रकट हो, कीर्तिरूप तीर्थ प्रकट कर अपने पादशौचरूप गंगा आदि तीर्थको उससे न्यून कर दिया. शत्रु और मित्र दोनोंको सारूप्य दिया. किसीसे भी जो जीती नहीं गई है, ऐसी लक्ष्मी भी श्रीकृष्णका आश्रय कर रही है. जिस लक्ष्मीकी प्राप्तिकेलिए अन्य महादेव आदि प्रयत्न कर रहे हैं, तो भी उनको नहीं मिलती है. जिनका नाम केवल मुखसे बोलो या कानसे सुनो तो सर्व अमंगल नष्ट हो जाते हैं, वे ही भगवान् सर्वधर्मका आश्रय होनेसे जिस-जिस ऋषिवंशकी लोकमें प्रवृत्ति होने लगी, उसमें प्रवर्तक भी आप हुए, इसमें किञ्चिन्मात्र भी आश्चर्य नहीं है. इसी प्रकार जिनका आयुध कालचक्र है,

वे श्रीकृष्ण पृथ्वीका भार उतारे, इनमें कौनसी आश्चर्यकी बात है? कुछ आश्चर्य नहीं।।४७।।

भगवानने यादवोंमें प्रकट हो कर जो कुछ कर्म किए उनका कुछ माहात्म्य कहना चाहिए, चरित्र, गुण, पुरुष और भगवत्सम्बन्धी जो कुछ भी हैं वो सब ही आपके चरणसे प्रकट हुए गंगा तीर्थसे भी उत्तमतीर्थ है, यदुकुलमें प्रकट हुए भगवानसे जिस किसीका भी सम्बन्ध हुआ है वह सब ही अर्थात् प्रत्येक पदार्थ मात्र भी गंगासे उत्तम है, ये सब गंगा आदि तीर्थोंसे कैसे उत्तम माने जावे? जिनके उत्तरमें कहा कि 'चक्रे' भगवानने इन सबको अपने सम्बन्ध होनेके कारण गंगादिसे उत्तम किया है, आपने ही इन चरित्रादिकोंको इतना माहात्म्य दिया है परन्तु, जो पुरुष युक्तिसे ही किसी भी बातको मानते हैं उनकी बुद्धि इसमें स्थिर कैसे होगी? अर्थात् वे कैसे मानेंगे? जिसका उत्तर देते हैं कि 'स्वः सरिदपि पाद शौचम्' गंगाजी भी आपके चरणोंका शौचजल है, प्राणीके सर्व प्रकार सम्बन्ध हुए पदार्थोंकी अपेक्षा पादशौच अनुत्तम अर्थात् निकृष्ट है, जिस जलसे पैर धोये जाते हैं उस जलका फिर स्पर्श भी नहीं किया जाता है, गंगाजी, पृथ्वी पर रहनेके समय पृथ्वीके दोषोंके सम्बन्धवाली होती है और पातालमें रहनेके समय पातालके दोषोंके सम्बन्धवाली हो जाती है, इससे कदाचित् उसमें दोष भी आ जावे, किन्तु अब भगवानसे जिनका सम्बन्ध हुआ है वे निर्दोष तीर्थरूप बन गए हैं अतः वे उत्तम तीर्थरूप हैं, इस प्रकार एक माहात्म्य जो जड़ साधारण और सामान्यरूप है उसका निरूपण किया, अब जीवोंमें आपका माहात्म्य वर्णन करते हैं. शत्रु और मित्र दोनोंको अपने स्वरूपमें लय कर दिखाया. इससे दिखा दिया है कि कृष्णको द्वेषी और मित्र दोनों समान हैं, जिससे द्वेष करनेवाले और राग–प्रेम करनेवाले दोनोंको मोक्ष दिया है. इसलिए यह सिद्ध किया है कि कृष्णावतारमें प्रत्येक धर्म मोक्ष देगा अर्थात् कृष्णमें किसी प्रकार भी आसक्त हो, तो मोक्ष प्राप्ति हो जाती है. अब भगवानसे इस लोकके पदार्थोंकी सिद्धि भी होती है, जिसका कारण बताते हैं कि लक्ष्मी जो अजित है अर्थात् जिसको जीत कर कोई भी अपने आधीन नहीं कर सकता है, वह लक्ष्मी भगवानके परायण है अर्थात् आधीन है. अतः भगवान् लक्ष्मीपति होनेसे सेवकोंके ही सर्व मनोरथ बिना श्रमके पूर्ण कर देते हैं, यह तीसरा माहात्म्य परम्परा प्रकारसे आ गया, प्रसंगसे भगवत्सम्बन्धिनी लक्ष्मीका माहात्म्य कहते हैं, जिससे भगवानके सिवाय दूसरोंके माहात्म्यका

निराकरण हो जाता है.

'यदर्थे अन्ययत्नः' जिस लक्ष्मीकी प्राप्तिकेलिए अन्य देव महादेवादि पुरुषार्थ करते रहते हैं, किन्तु प्राप्ति संदिग्ध ही है अर्थात् प्राप्त नहीं होती है. इससे यह कहा है कि जहां अर्थमें ही हीन हैं अर्थात् अर्थ प्राप्त नहीं कर सकता है, दूसरोंमें संदिग्ध है, तब धर्म आदिकी वार्ता क्या की जाय? इस प्रकार भगवानके सम्बन्धी जो भी पदार्थ हैं और जीवोंके शक्तिका माहात्म्य निरूपण कर अब भगवानके नामका माहात्म्य कहते हैं. 'यन्नामामंगलघ्नं' जिस भगवानके नाम अमंगलोंको नाश करते हैं. नामसे केवल सम्बन्ध होना चाहिए, वह सम्बन्ध सुननेके कारण ही तो अमंगल नष्ट हो जाते हैं. यदि नामका वाणीसे सम्बन्ध हो अर्थात् नामोच्चारण मात्र किया जावे. तो किसी भी कारणसे अमंगल हुआ हो, तो वह भी नाश हो जाता है.

यह ऋषि परम्परागत धर्मका माहात्म्य होगा? इस शंकाका निवारण करते हैं कि ऋषि परम्पराएं भी भगवानने की हैं, इसी तरह षड्विध माहात्म्य कहा. जिस भगवानका इतना माहात्म्य है. उसने स्वयं प्रत्यक्ष भूभारहरण कार्य न कर अर्जुनादिसे कराया. इसमें किसी प्रकारका आश्चर्य नहीं है; क्योंकि यह जीवधर्म होनेसे जीव कार्य है.

कोई धर्म सेवक ही कर सकते हैं, स्वामी नहीं कर सकता है. इसलिए यों क्यों न कहा जाय भूभारहरणकार्य भगवानकेलिए अशक्य था? इस शंकाका निवारण करते हैं कि 'काल चक्रायुधस्य' जिन भगवानका कालरूप चक्र आयुध है, कालका सहस्रांश भी जब भूभारहरण करनेमें समर्थ है, तब पूर्ण कालरूप भगवानका सुदर्शनचक्र दैत्योंका नाश कर भूभारका हरण करें, इसमें कौनसा सन्देह है? कुछ भी सन्देह नहीं है[१]।।४७।।

१.इसका स्पष्टीकरण भगवानने गीतामें कर दिया है कि ये सब मैंने मार दिए है, तू केवल लौकिक रीतिसे निमित्त बन. अतः वास्तवमें भगवानने ही भूभारहरण किया है.–'लेख'.

ऐसे भगवान् अब कहां है? इस आकांक्षाके होने पर 'जयति जननिवास' श्लोक कहते हैं.

जयति जननिवासो देवकीजन्मवादो
यदुवरपरिषत्स्वैर्दोर्भिरस्यन्नधर्मम्।

स्थिरचरवृजिनघ्नः सुस्मितश्रीमुखेन

व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवम् ।।४८।।

जनमात्र(जगत)में निवास करनेवाले, जिसकेलिए देवकीसे जन्म लिया, यों कहना केवल वाद ही है. इच्छामात्रसे अधर्मको मिटानेमें समर्थ होते हुए भी उत्तम यादवोंकी सभामें उपस्थित अपने भुजारूप सेवकों द्वारा क्रीड़ा करते हुए अधर्मको दूर करनेवाले, स्थावर और जंगम दोनोंके पापोंको नाश करनेवाले अपने सुंदर मन्द-मन्द हास्य और शोभायुक्त मुखारविन्दसे व्रज व पुरकी स्त्रियोंके कामदेवकी वृद्धि करते हुए श्रीकृष्ण सदा सर्वत्र सबसे जय पा रहे हैं।।४८।।

वे श्रीकृष्ण भगवान् अब भी उनके(अपने) सम्बन्धी जनोंमें सर्व प्रकारके उत्कर्षसे विराज रहे हैं; क्योंकि आप स्वभावसे भी सकल जनों(जगत् भर)में निवास करनेवाले हैं ही. जैसेकि कहा है 'परमात्मा सर्वान्तरः' परमात्मा सबके भीतर विराजते हैं. हम परमात्माके विषयमें नहीं पूछते हैं, केवल जिसने देवकीके यहां जन्म लिया था, वह देवकी पुत्र अब कहां है? जिस शंकाका निवारण करते हुए कहते हैं कि 'देवकी जन्मवादः' देवकीसे जन्म लिया, यह केवल कहनेकेलिए ही है. जब लोग विवाद(बहस) करते हैं कि भगवान् तो कहीं भी नहीं हैं, तब उनके विवादका निराकरण करनेकेलिए वीतराग(भक्त व ज्ञानी) कहते हैं कि देवकीमेंसे जो प्रकट हुए हैं, वे भगवान् हैं, किन्तु भगवान् इतने ही हैं, यों नहीं समझना. वे भगवान् सर्वत्र किसलिए व क्या करते हुए विराजते हैं? ऐसी आकांक्षा होने पर उनके तीन प्रकारके कर्मका वर्णन करते हैं, जिनसे यह ज्ञात हो जायगा कि वे सर्वत्र किसलिए व क्या करनेकेलिए विराज रहे हैं? इन तीन प्रकारके कर्मोंमेंसे पहले सात्त्विककर्मका निरूपण करते हैं. 'यदुवर परिषत्-स्वैर्दोभिरस्यन्नधर्मम्' यदुश्रेष्ठोंकी सभामें भी जो केवल लौकिक परायण अपने सेवक हैं, उन सेवकोंसे अधर्मोत्पन्न समस्त दैत्योंका नाश कराते हुए आज भी भगवान् द्वारकामें यादव सभामें सेवकोंके साथ विराज रहे हैं अर्थात् यदि कोई इनमें दैत्य प्रकट हो जाय, तो तब वहांसे ही किसीको भेज कर उसका नाश करा देते हैं.

दूसरा तामसकर्म कहते हैं. 'स्थिरचरवृजिनघ्न' स्थावर और चेतनोंके पापोंका नाशक, यह विशेषण दे कर तामसकर्म कहा है. द्वारकाके[१] सिवाय अन्य स्थानोंमें जहां भी आप(भगवान्) भ्रमण करते हैं, वहां जो भी पुरुष वा वृक्ष आदि

होते हैं, उन सबके दोनों तरहके पापोंका नाश करते हैं पाप दो तरहके हैं, एक वे जिन कर्मोंके करनेका शास्त्रमें निषेध है; जैसे हत्या आदि. उन कर्मोंके करनेसे उत्पन्न पाप स्थिर(स्थावर) हैं, वे पाप भोगे बिना नष्ट नहीं होते हैं. दूसरे पाप मनसे भावना करने पर वासना द्वारा उत्पन्न होते हैं, वे पाप चर हैं, वे बिना भोगके भी नाश हो जाते हैं. इस वर्णनसे यह सूचित किया है कि जहां भी भक्त होता है. वहां सर्वत्र भगवान् विराजते हैं.

तीसरा राजसकर्म कहते हैं. ''सुस्मितश्रीमुखेन व्रजपुरवनितानां वर्धयन् कामदेवं'' शोभायुक्त सुन्दर स्मितवाले मुखारविन्दसे गोकुल, मथुरा और द्वारकाकी स्त्रियां जो गोपी, कुब्जा आदि तथा पटरानियां उनके हृदयमें कामदेवको बढ़ाते रहते हैं. कामको यहां देव कहनेसे यह सिद्ध किया है कि इस कामसे मोक्ष प्राप्ति होती है, जो काम सब स्त्रियोंमें पहले ही स्थित है, उसको ही बढ़ाते हुए अपने सम्बन्ध मात्रसे मोक्ष देते हैं, यों अर्थ है.

यह पूर्वकथा जैसे पहले थी वैसी ही अब भी है. वैसे ही उन स्थानोंमें करते हैं. यहां दूसराभाव भी प्रकट होता है. लोकमें परम सौन्दर्यको प्राप्त अत्यन्त मोहिका भक्तिसे व्रजमें स्थित, पुरोंमें स्थित और ग्राम वा अरण्यमें स्थित सबके कामको जागृत करते रहते हैं, इसलिए इस काममें देवत्व[२] है. विशेषमें भगवद्रूपत्व है, यों मानना चाहिए।।४८।।

१.द्वारकामें स्थित जनोंमें पाप प्राप्ति नहीं होती है. इसलिए द्वारकाके सिवाय कहा है.

२.भगवानका मुखारविन्द स्वतः भक्तिरूप है, यदि उसमें मुस्कराहट और शोभा उत्पन्न होती है तो वह मोहक हो जाता है, जिससे व्रज और पुरोंकी स्त्रियोंमें पूर्व स्थित काम जागृत हो, आधिदैविकरूप होता है और वैसे ही भगवद्भोग्याओंमें स्थित काम भगवद्रूप बन जाता है, यों अर्थान्तर पदसे ध्वनित होता है.–लेख.

इस प्रकार भगवच्चरित्रका प्रतिपादन, उस चरित्रका नित्य श्रवण करना चाहिए, यों शुकदेवजी 'इत्थं परस्य' श्लोकमें कहते हैं.

इत्थं परस्य निजधर्मरिरक्षयात्तलीलातनोस्तदनुरूपविडम्बनानि ।
कर्माणि कर्मकषणानि यदूत्तमस्य श्रूयादमुष्य पदयोरनुवृत्तिमिच्छन् ।।४९।।

अपने भक्तोंकी रक्षार्थ, लीला विग्रह धारण करनेवाले अक्षरसे उत्तम और यदुकूलमें श्रेष्ठ श्रीकृष्णके चरणारविन्दोंकी सेवाकी इच्छावाले पुरुषोंको चाहिए कि उनके किये हुए लीलाचरित्रोंको नित्य श्रवण करें, क्योंकि

उन(श्रीकृष्ण)के कर्म(चरित्र) कर्मोंके बंधनको नाश करनेवाले हैं।।४९।।

पूर्वोक्त प्रकारवाले दूसरे भी भगवच्चरित्र श्रवण करने चाहिए यों 'इत्थं' पदसे भाव प्रकट किया है. भगवान् अक्षरसे भी उत्तम हैं जिन्होंने अपने भक्तोंके रक्षार्थ लीलाविग्रह धारण किया है, ऐसे परम कृपालुके वे सब चरित्र जो नाट्यरूपसे भोजन, शयन आदि किए हैं, वे चरित्र लोक प्रकारका अनुकरण मात्र करते हैं, उनको अवश्य सुने इस प्रकारकी आज्ञा हैं, जिसके उल्लंघनसे प्रत्यवाय(पाप) लगता है, सुननेसे क्या लाभ? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि 'कर्मकषणानि' कर्मके बन्धनोंको तोड़ देते हैं. पापक्षय तो उनका अनुषंगिक (प्रासंगिक) फल है, यद्यपि अन्य अवतारोंके चरित्र भी पाप मिटानेवाले हैं, तो भी 'यदूत्तमस्य श्रूयात्' यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णके ही चरित्र सुनने चाहिए. श्रीकृष्णचरित्र श्रवणमें कौनसी विशेषता है? जिसके उत्तरमें कहते हैं कि यदि श्रीकृष्णके चरणोंकी सेवाकी इच्छा हो, तो इनके ही चरित्र श्रवण करने चाहिए।।४९।।

इस प्रकार नित्य सेवा करनेसे वा चरणारविन्दकी सेवा करनेसे क्या लाभ होगा? ऐसी आकांक्षा होने पर यह 'मर्त्यस्तया' श्लोक कहते हैं.

मर्त्यस्तयातनुसवमेधितया मुकुन्द–श्रीमत्कथाश्रवणकीर्तनचिन्तयैति।
तद्धाम दुस्तरकृतान्तजवापवर्गं ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः ।।५०।।

प्रतिक्षण श्रीकृष्णचन्द्रकी सुंदर कथाका श्रवण व कीर्तन सहित चिंतन करनेसे वृद्धिगत हुई सेवासे मनुष्य कालके दुस्तर वेगको शांत करनेवाले भगवानके धामको प्राप्त होते हैं. जिस धामकी प्राप्तिकेलिए बड़े–बड़े राजा भी अपना राज्य छोड़ अन्तमें वनवासी होते हैं।।५०।।

भगवानके चरणोंकी सेवासे मरण धर्मवाला होने पर भी यह पुरुष उसी शरीरसे भगवद्धामको प्राप्त होता है. उसी समय ऐसा ज्ञान नहीं होता है कि यह मर्त्य वैकुण्ठमें आ रहा है. इस पर कहते हैं कि 'तनु समेधितया' जब मरण धर्मवाला तेलकी धाराके समान निरन्तर श्रवण करता रहता है, तब शरीर शनैः–शनैः पुष्ट होता है अर्थात् शरीर सेवा करनेसे अलौकिक बन जाता है और सेवा भी 'चेतस्तत्प्रवणं' सेवाका धीरे–धीरे रूप धारण कर पुष्ट हो जाती है. उस सेवाकी अनुवृत्तिके पोषणार्थ तीन अंगोंका निरूपण करते हैं. 'श्रीमत्कथा श्रवण चिन्तयति' कथाके श्रवण, कीर्तन और चिन्तनसे वह सेवा बढ़ती है. 'कथा' शब्दका विशेषण 'श्रीमत्' दे कर यह सूचित किया है कि कथा कहनेवाला कोई

पामर वा अजान नहीं हो. ऐसेके मुखसे कथा श्रवण नहीं करनी वैसा मर्त्य जिस भगवद्धाममें जाता है, वह सबसे उत्कृष्ट फल है. यह बतानेकेलिए 'दुस्तर-कृतान्तजवापवर्ग' विशेषण दिया है, जिसका भावार्थ है कि जिस दुस्तर कालका वेग रोका नहीं जाता, वह भी जहां समाप्त हो जाता है. इसलिए कहा है कि 'मृत्युस्तावत् धावति यावदक्षरं' काल अक्षर तक ही दौड़ कर जा सकता है, आगे नहीं. इससे यह सूचित किया हैं कि भक्त तो व्यापि वैकुण्ठमें जाता है, यह फल(व्यापि वैकुण्ठकी प्राप्ति) ज्ञानियोंको भी दुर्लभ है. यह बतानेकेलिए कहते हैं कि 'ग्रामाद्वनं क्षितिभुजोऽपि ययुर्यदर्थाः' पूर्व समयमें भूपति अपने राज्यमें रह कर राज्यकी पालनारूप धर्मके अनुभवसे परिपक्व हो कर ज्ञानमें स्थिति हो, इसलिए नगर आदिका त्याग कर कलाप आदि शान्त ग्रामोंमें ज्ञाननिष्ठ हो कर रहते थे, पश्चात् भगवानके माहात्म्यको जान कर उस गांवका भी त्याग कर सर्वसे गुप्त स्थान ऐसे वनमें रहते थे. 'ग्राम' शब्द बहुत छोटे गांवके अर्थमें जानना चाहिए. भगवानके धामकी सबसे उत्कृष्टता इससे भी सिद्ध होती है कि जिसके श्रवण मात्रसे अनुभवी राजा लोग अपने राज्यका स्थिर सुख एवं वैभव छोड़ वनमें चले जाते हैं, अन्यथा नहीं जाते. जो स्थान ही जिनका पुरुषार्थ है, वे 'यदर्थाः' अर्थात् राजाओंका पुरुषार्थ अब भगवद्धाम प्राप्ति ही रहा है।।५०।।

इत्येवं दशमस्कन्धे संक्षेपेणात्र लेशतः।
अर्थो मयातियत्नेन स्वभावेन निरूपितः।।का.१।।
अनेक युक्तिसन्दर्भमाला कारेण योजितः।
कृष्णपादाम्बुजे न्यस्ता वाक्पुष्पाञ्जलिरुज्वला।।का.२।।

कारिकार्थ: आचार्यश्री आज्ञा करते हैं कि इस प्रकार हमने अति संक्षेपसे अनेक युक्तियोंसे दशमस्कन्धके अर्थकी यह माला गूंथ कर भगवान कृष्णके चरणोंमे उत्तम वाक्पुष्पाञ्जलि अर्पण की है।।१-२।।

सिद्धान्ताः सकलागमाश्च विवता लोकेऽधुना सर्वतः
ते प्रायेण निरूपिताः सुबहुशो भक्त्यै मुकुन्दांघ्रये।
विस्तारस्तु गुणाय कृष्णचरणे चित्तं भवेद्विस्तृतं
तेनाहं हृदयस्थितेन हरिणा यावद् यथा रूपितम्।।का.३।।

कारिकार्थ: इस समयमें चारों और सिद्धान्त और सकल शास्त्र जो लिखे जा रहे हैं वे सब प्रायः भक्ति तथा मुकुन्द भगवानकी प्राप्तिकेलिए ही हैं, इनका

विस्तार तो भगवानके चरणारविन्दमें चित्तका प्रवण हो, इस गुणकेलिए ही है. इससे हृदयमें स्थित हरिने जैसी और जिस प्रकार प्रेरणा की, उसी तरह मैंने लिखा है।।३।।

अहं निरुद्धो रोधेन निरोधपदवीं गतः।
निरुद्धानां तु रोधाय निरोधं वर्णयामि ते।।का.१।।
हरिणा ये विनिर्मुक्तास्ते मग्ना भवसागरे।
ये निरुद्धास्त एवात्र मोदमायान्त्यहर्निशम्।।का.२।।

कारिकार्थ: आचार्यश्री इन श्लोकोंमें बताते हैं, कि मैं निरोधसे भगवानमें निरुद्ध हुआ हूं, अतः निरोधास्थितिको प्राप्त मैं निरुद्धोंकी हरिमें निरोधरूप स्थिति सदैव रहे इसलिए आपके पास निरोधका वर्णन करता हूं।।१।।

जिनका हरिने त्याग किया है, वे भवसागरमें डूब रहे हैं और जो भगवानमें निरुद्ध हैं, वे ही यहां दिन-रात हरिके आनन्दको पा रहे हैं।।२।।

इति श्रीमद्भागवत महापुराण दशम स्कंधके ८७वें अध्याय की
श्रीवल्लभाचार्यचरण विरचित श्रीसुबोधिनी(संस्कृतटीका)के गुण प्रकरणके
षष्टम अध्यायका हिन्दी अनुवाद सम्पूर्ण।